

चरणानुयोगसूचक चूलिका महाधिकार

(आचरणप्रज्ञापनाधिकार)

अब दूसरों को चरणानुयोगकी सूचक चूलिका^१ कहते हैं।

[उसमें, प्रथम श्री अमृतचन्द्राचार्य देव श्लोक द्वारा आगामी गाथा की उत्थानिका करते हैं।]

(इन्द्रव्रजा छन्द)

द्रव्यस्य सिद्धौ चरणस्य सिद्धिः, द्रव्यस्य सिद्धिश्चरणस्य सिद्धौ।

बुद्ध्वेति कर्माविरताः परेऽपि, द्रव्याविरुद्धं चरणं चरंतु ॥१३॥

(दोहा)

द्रव्यसिद्धि से चरण अर चरण सिद्धि से द्रव्य।

यह लखकर सब आचरो द्रव्यों से अविरुद्ध ॥१३॥

अर्थ : ह्व द्रव्य की सिद्धि में चरण की सिद्धि है और चरण की सिद्धि में द्रव्य की सिद्धि है ह्व यह जानकर, कर्मों से (शुभाशुभ भावों से) अविरत दूसरे भी, द्रव्य से अविरुद्ध चरण (चारित्र) का आचरण करो।

श्लोक १३ पर प्रवचन

आत्मा का सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान करने से वीतरागी परिणाम प्रगट होते हैं। आत्मा नित्य वस्तु अनंतगुणों का पिण्ड है। शरीर-मन-वाणी से भिन्न आत्मा परिणामी नित्य द्रव्य है। यदि आत्मा परिणामन न करे तो दुःख पलटकर अनुभव की प्राप्ति न हो और यदि आत्मा नित्य न हो तो दुःख को नाश करनेवाला और अनुभव करनेवाला पदार्थ नहीं रहेगा। अतः आत्मा नित्य परिणामी है। यदि वह नित्य न हो तो किसी से उत्पन्न हुआ सिद्ध होगा; परन्तु ऐसा हो नहीं सकता; इसलिये आत्मा अनादि-अनंत शाश्वत पदार्थ है। अज्ञानी परपदार्थ में सुख मानकर वर्तमान अवस्था में अज्ञानभाव करता है। आत्मा ज्ञाता-दृष्टा और सुख का निधान है ह्व ऐसी सच्ची समझ करे तो शांति की प्राप्ति होती है। इसप्रकार द्रव्य की सिद्धि में चरण की सिद्धि

१. चूलिका = जो शास्त्र में नहीं कहा गया है उसका व्याख्यान करना, अथवा कहे गये का विशेष व्याख्यान करना या दोनों का यथायोग्य व्याख्यान करना।

होती है। देहादि और विकल्पादि से भिन्न ह्व ऐसे शुद्ध आत्मस्वभाव में ही जमना, रमना, लीन होना चरण अथवा आचरण है।

जिसप्रकार कोठी को धोने से कीचड़ निकलता है; उसीप्रकार शरीररूपी कोठी का लक्ष्य करने से आत्मा का कल्याण नहीं होता। आत्मा त्रिकाल शांत स्वभावी है, उसमें दुःख नहीं हो सकता; परन्तु अपना स्वभाव छोड़कर पर के आश्रय से सुख प्राप्त होता है ह्व ऐसा विकल्प करना, दुःख की विकृत अवस्था है। वह दुःख की अवस्था परपदार्थ के कारण नहीं है। नरक में भी जीवों को वहाँ के प्रतिकूल संयोगों से दुःख नहीं है; अपितु शरीर मेरा है और उसकी प्रतिकूलता में मुझे दुःख होता है ह्व ऐसी एकत्वबुद्धि ही दुःख का कारण है।

यह जीव अनंतभवों में अनेक प्रकार से औपाधिक भाव करता आ रहा है, ये औपाधिक भाव कैसे मिटे ? जिसप्रकार ये उपाधि भाव पर के कारण नहीं हैं, उसीप्रकार निरुपाधि स्वभाव में भी नहीं है।

स्वभाव तो उपाधि-रहित है ह्व ऐसे सच्चे श्रद्धान-ज्ञानपूर्वक द्रव्य का आश्रय उपाधि रहित होता है और उसमें लीनता करके शांति प्राप्त होती है। पुण्य-पापरूप भाव आचरण नहीं है; किन्तु पुण्य-पाप से रहित आत्मा है ह्व ऐसे द्रव्य की सिद्धि में चरण की भी सिद्धि है, इसप्रकार वीतरागी परिणाम की सिद्धि होती है।

आत्मा के लक्ष्यपूर्वक जितने वीतरागी परिणाम होते हैं, उतने प्रमाण में द्रव्य की सिद्धि होती है। चरण की सिद्धि में द्रव्य की सिद्धि है। जितने प्रमाण में राग का अभाव होता है, उतने प्रमाण में द्रव्य की शुद्धि होती है और शांति बढ़ती है ह्व यही द्रव्य की सिद्धि है।

अज्ञानी जीव 'मैं परद्रव्य का कर्ता हूँ' ह्व ऐसा अभिमान करता हुआ दुःख उठाता है तथा जो जीव यथार्थ स्वभाव की समझ-ज्ञान करता है, वह सुखी होता है। इसप्रकार आत्मस्वभाव की बात करने के पश्चात् चरणानुयोग की बात की है।

आत्मस्वभाव समझे बिना किया गया चारित्र गधे के सींग के समान है। जितने प्रमाण में आत्म-स्वभाव के लक्ष्य से काम-क्रोधादि नष्ट होते

हैं, उतने प्रमाण में स्थिरता आती है, शांति बढ़ती है और द्रव्य की सिद्धि होती है।

ज्ञाता-दृष्टा शांत स्वभाव के अनुसार विशेष वीतरागी परिणाम ध्यान में आते हैं ह्व ऐसा जानकर शुभाशुभ भावों से विराम पाकर सम्यक्ज्ञानी गृहस्थ भी द्रव्य से अविरुद्ध चारित्र को ध्याता है।

यहाँ आचरण की बात मुनिराजों के लिये नहीं है; क्योंकि वे तो वीतरागी चारित्र सहित ही परिणमन कर रहे हैं; अपितु जो सम्यग्ज्ञानी गृहस्थ हैं तथा जिन्होंने परपदार्थ में आसक्ति भाव कम होने से शुभाशुभ भावों से विराम पा लिया है, उनसे आचार्य भगवान कहते हैं कि जिसप्रकार द्रव्य की श्रद्धा की है, उसीप्रकार उसमें लीनता करो, इससे विरुद्ध-विकल्पों को मन में मत लावो तो शुभाशुभ भावों को छोड़ने का हठ भी नहीं रहेगा।

आत्मस्वभाव में जितनी स्थिरता बढ़ती है, उतना चारित्र प्रगट होते हुए यह जीव शुभाशुभ भावों से सहज छूट जाता है। द्रव्य से चरण अविरुद्ध है ह्व ऐसा कहा। 'अविरुद्ध' अर्थात् स्वभाव से ही अभिन्न है। ज्ञानस्वभाव शांति से परिपूर्ण है; अतः तदनुसार यथाशक्ति वीतरागी परिणाम होते हैं। अज्ञानरूप तप में बहुत थकान है, खेद देखने में आता है; परन्तु ऐसी थकान और खेद ज्ञानपूर्वक चारित्र में कभी नहीं है; अतः सहज वीतरागी परिणाम हो ह्व ऐसा आचरण करो; क्योंकि चरण के वीतरागी आचरण में ही द्रव्य की सिद्धि होती है।

(१) आत्मा ज्ञानानन्दस्वभावी शुद्ध है, ऐसे श्रद्धान-ज्ञानपूर्वक जो चरण हो, उससे आचरण की सिद्धि होती है।

(२) आत्मा के भानसहित राग को छोड़कर जितने परिमाण में वीतरागी परिणाम होते हैं, उतनी शांति होती है तथा उससे ही द्रव्य की सिद्धि होती है।

(३) सम्यक्ज्ञानी गृहस्थ एक दूसरे की परस्पर अपेक्षा जानता है। द्रव्य की श्रद्धा-ज्ञान विशेष रखकर शांत-वीतरागी परिणामों को आचरता है। इसी विधिपूर्वक सम्यक्दृष्टि गृहस्थ को मुनिपना अंगीकार करना चाहिए, तत्पश्चात् भूमिकानुसार उपदेश प्रारंभ करना चाहिए।

इसप्रकार यह निश्चित हुआ कि चरण अर्थात् आचरण का पालन अंतरभान सहित होने से उन्हें (भावलिङ्गी संतों को) तो विशेष शांति बढ़ गई है। अतः हे जीव ! यदि तुम भी यह शांति प्राप्त करना चाहते हो तो हम जैसा सदाचरण बताते हैं, वैसा आचरण करो।

सदाचरण अर्थात् क्या ? लौकिक में कहते हैं कि इस जीव के सदाचरण है; किन्तु अज्ञानी जीवों को सदाचरण शब्द के भाव की ही खबर नहीं है। फिर उनके सदाचरण कैसे हो ? सदाचरण का व्युत्पत्ति अर्थ तो सत् + आचरण है।

‘सदाचरण’ यह तो शब्द है और शब्द वाचक है। वाचक शब्द का वाच्य (भाव) क्या है ? यह समझना अत्यन्त आवश्यक है। जिसप्रकार शक्कर शब्द में शक्कर नहीं है; किन्तु शक्कर रूप भाव में शक्कर (मिठास) है, उसीप्रकार सदाचरण तो शब्द है, शब्द में सदाचरण नहीं है; किन्तु उसका भाव समझे तो सदाचरण समझा हूँ ऐसा कहा जाए।

सत् = कायमस्वरूपी आत्मा। जो सत् पदार्थ है, उसमें रमणता करना, उसमें ही आचरण करना सदाचरण है। इसलिये सत् क्या है ? प्रथम उसका ज्ञान करना चाहिये। सत् के ज्ञान बिना सत् का आचरण नहीं हो सकता तथा सत् का ज्ञान होवे और तदनुसार तत्काल ही आचरण हो हूँ ऐसा भी नहीं है।

अज्ञानी जीव सच्चा स्वरूप समझे बिना कुछ भी कहे तो वह वस्तु-स्वरूप नहीं है, अतः सच्चा ज्ञान करना चाहिए, जिसके होने पर अपनी आत्मा में खेद नहीं होता।

आत्मशांति में निरन्तर वृद्धि के लिए प्रमादरहित आचरण करेंगे तो तुरन्त ही चारित्र्य होगा ऐसा भी नहीं है; किन्तु सहज पुरुषार्थ के अनुसार लीनता करने से चारित्र्य होता है।

यहाँ आचार्यदेव स्वयं से कहते हैं कि हम तो भावलिङ्गी संत हैं, हमने चारित्र्य अंगीकार किया है। हम तो स्वरूप में रमण करनेवाले हैं। यदि तुम्हें भी ऐसी शांति प्राप्त करना हो तो हमने जैसा कहा है, वैसा करो।

[इस अधिकार की गाथा प्रारंभ करने से पूर्व उसकी संधी के लिए श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने पंचपरमेष्ठी को नमस्कार करने के लिए ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन अधिकार की प्रथम तीन गाथायें लिखी हैं।]

प्रवचनसार गाथा २०१

अब इस चरणानुयोगसूचक चूलिका अधिकार की गाथा प्रारंभ करते हैं।

एवंपणमिय सिद्धे जिणवरवसहेपुणोपुणोसमणे।

पडिवज्जदुसामण्णंजदिइच्छदिदुक्खपरिमोक्खं॥२०१॥

(हरिगीत)

हे भव्यजन ! यदि भवदुखों से मुक्त होना चाहते।

परमेष्ठियों को कर नमन श्रामण्य को धारण करो॥२०१॥

अन्वयार्थ : हूँ [यदि दुःखपरिमोक्षम् इच्छति] यदि दुःखों से परिमुक्त होने की (छुटकारा पाने की) इच्छा हो तो, [एवं] पूर्वोक्त प्रकार से (ज्ञानतत्त्व-प्रज्ञापन की प्रथम तीन गाथाओं के अनुसार) [पुनः पुनः] बारंबार [सिद्धान्] सिद्धों को, [जिनवरवृषभान्] जिनवरवृषभों को (अर्हन्तों को) तथा [श्रमणान्] श्रमणों को [प्रणम्य] प्रणाम करके, [श्रामण्यं प्रतिपद्यताम्] (जीव) श्रामण्य को अंगीकार करो।

टीका : हूँ जैसे दुःखों से मुक्त होने के अर्थी मेरे आत्मा ने हूँ “किञ्चा अरहंताणं सिद्धानं तह णमो गणहराणं । अज्झावयवग्गाणं साहूणं चव सव्वेसिं ।। तेसिं विमुद्धदंसणणाणपहाणासमं समासेज्ज । उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती ।”^१ इसप्रकार अर्हन्तों, सिद्धों, आचार्यों, उपाध्यायों तथा साधुओं को प्रणाम-वंदनात्मक^२ नमस्कारपूर्वक विशुद्धदर्शन-ज्ञानप्रधान^३ साम्यनामक श्रामण्य को हूँ जिसका इस ग्रंथ में कहे हुए

१. यह ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन की चौथी और पाँचवीं गाथायें हैं।

२. नमस्कार प्रणाम-वंदनमय है।

३. विशुद्धदर्शनज्ञानप्रधान = जिसमें विशुद्ध दर्शन और ज्ञान-प्रधान हैं ऐसा। (साम्य नामक श्रामण्य में विशुद्ध दर्शन और ज्ञान प्रधान है।

(ज्ञानतत्त्व-प्रज्ञापन और ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन नामक) दो अधिकारों की रचना द्वारा सुस्थितपन हुआ है उसे ह्व स्वयं अंगीकार किया, उसीप्रकार दूसरों का आत्मा भी, यदि दुःखों से मुक्त होने का अर्थी (इच्छुक) हो तो, उसे अंगीकार करे। उस (श्रामण्य) को अंगीकार करने का जो यथानुभूत^१ मार्ग है उसके प्रणेता हम यह खड़े हैं।

गाथा २०१ पर प्रवचन

हे जीवों ! यदि तुम्हें परिपूर्ण सुख की प्राप्ति करना हो तो बाह्य-आभ्यन्तर वीतरागी मुनिपना अंगीकार करो। यदि तुम्हें अपने संसार-दुःख से परिपूर्ण मुक्त होना है तो उसका एकमात्र उपाय जो हम कहते हैं, वही है।

अज्ञानी जीवों को पुण्य का उदय होने पर रुपया-पैसा तथा अन्य अनेक अनुकूलतायें प्राप्त होती हैं; उन्हें उससमय दुःख का भावभासन नहीं है; किन्तु वास्तव में विचार करें तो अनुकूलताओं में सुख मानना अज्ञान भाव है, महान दुःख है।

इस पदार्थ की उपस्थिति में मुझे अनुकूलता होगी, यह मान्यता ही आकुलतामय होने से दुःख है। ऐसा दुःख जीव को प्रत्यक्ष दिखाई देता है, इसलिये उसे नष्ट करने का आचार्यदेव उपाय बताते हैं ह्व

इस जीव को अनादिकाल से चौरासी के अवतार में एकत्वबुद्धि का दुःख लगा हुआ है, यदि इससे पूर्णतः मुक्त होना हो तो मुनिपना अंगीकार करना चाहिए, जिससे यह निश्चित होगा कि ह्व

१. वर्तमान अवस्था में दुःख है, यदि वर्तमान में दुःख न हो और अनादिकालीन पर्याय में सुख हो तो दुःख को नष्ट करने और सुख प्रगट करने की इच्छा ही न हो।

२. यह दुःख संयोगी वस्तु, शरीर अथवा प्रतिकूल संयोगों में नहीं हैं। यदि पर वस्तु से दुःख होता हो तो कभी दुःख से मुक्त नहीं हो सकते।

१. यथानुभूत = जैसा (हमने) अनुभव किया है वैसा।

३. स्व-ज्ञेय को भूलकर पर-ज्ञेय में अपनापना/सुख मानना ही दुःख है, जो कि एक समय की अवस्था है।

४. आत्मस्वभाव में दुःख हो तो दुःख आत्मा का स्वभाव हो जाए और दुःखरहित दशा कभी प्राप्त ही न हो, इसलिये दुःख पर्याय में होता है। आत्मा तो स्वभाव से निरुपाधि सुखस्वरूप ही है।

५. ऐसे निरुपाधि स्वभाव के लक्ष से श्रद्धा-ज्ञान में रमणता करने से दुःख नष्ट होकर सुख की प्राप्ति होती है।

६. पर्याय पलटती है, सुख-दुःख दोनों ही अवस्थायें हैं; किन्तु ध्रुव स्वभाव कायम रहता है।

७. इसप्रकार श्रद्धा-ज्ञान तो सम्यग्ज्ञानी ही करता है; परन्तु वहाँ भी शुभाशुभ भाव होने से आंशिक दुःख तो है ही।

अतः आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीवों ! यदि तुम्हें समस्त प्रकार के दुःख से रहित होना है तो पंचपरमेष्ठी को नमस्कार करके बाह्य-आभ्यन्तर मुनिपना अंगीकार करो।

गाथा २०१ की टीका पर प्रवचन

आचार्य भगवान कहते हैं कि दुःख से मुक्त होने के लिए हमने जैसा कार्य किया है, वैसा ही तुम भी करो। शुभाशुभ परिणाम दोनों ही दुःखरूप, विकृत स्वभाव है। उस दुःख से रहित होने के लिए हमने पंचपरमेष्ठी को नमस्कार कर मुनिपना अंगीकार किया है।

● कैसे हैं वे पंच परमेष्ठी ?

१. अरहन्त : ह्व जिन्होंने राग रहित वीतरागी दशा प्राप्त की है। एकसमय में अलोक सहित तीनलोक और तीनकाल के पदार्थों को जान रहे हैं। जिनके अनन्तज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य प्रगट हुये हैं ह्व ऐसे जीवन मुक्त दशावाले अरहन्त भगवान हैं।

२. सिद्ध : ह्व अरहन्त अवस्था के पश्चात् होनेवाली अशरीरी विदेह-मुक्त दशा का नाम सिद्ध है। यह आत्मा को परिपूर्ण जाननेवाले हैं, उनके समस्त गुण प्रगट हो गये हैं ह्व ऐसे वे सिद्ध परमेष्ठी हैं।

३. आचार्य :ह आत्मा ज्ञानानन्दस्वभावी, निर्विकारी है ह्व ऐसी प्रतीतिपूर्वक जो स्व में विशेष रमणता करते हैं, वे आचार्य हैं। ये बाह्य पदवी में बड़े होते हैं।

४. उपाध्याय :ह्व जिन्हें आत्मा का भावभासन है और जिनके समीप अन्य साधु चैतन्य को जानने का प्रयास करते हैं, वे उपाध्याय परमेष्ठी हैं।

५. साधु :ह्व जो आत्मस्वरूप के ही साधक हैं, वे साधु कहलाते हैं। मात्र नग्नदशा धारण करनेरूप विकल्प मुनिपना नहीं है।

अब आचार्य भगवन्तों ने कैसा मुनिपना अंगीकार किया है ? उसका स्वरूप कहते हैं ह्व

पंच परमेष्ठियों की काय और वचनों द्वारा स्तुति कर, उन्हें नमस्कार कर मुनिपना अंगीकार किया है। वह मुनिपना विशुद्ध ज्ञान-दर्शन में प्रधान है, इससे यह निश्चित होता है कि आत्मा शरीरादि क्रिया से रहित है, पुण्य-पाप रूप नहीं है। शुद्ध ज्ञान आनन्दस्वरूप है, उसके सम्यग्ज्ञान बिना मुनिपना कदापि नहीं हो सकता।

तथा इस शास्त्र में लिखे हुए ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन और ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन ह्व इन दो अधिकारों की रचना से हमारा मुनिपना और अधिक विशेष दृढ़ हुआ है।

आत्मा का भान तो पूर्व में भी था; किन्तु अब अन्तर में पुण्य-पाप के समस्त विकल्पों को भी नष्ट कर दिया है, जिससे स्वरूप रमणता विशेष बढ़ गई है और बाह्य में भी नग्नदशा वर्त रही है ह्व ऐसा मुनिपना हमने अंगीकार किया है। सम्यग्ज्ञान और सम्यक्श्रद्धा बिना मात्र नग्नदशा धारण करना मुनिपना नहीं है; किन्तु यथार्थ भानपूर्वक अन्तरदशा के साथ बाह्य में शरीर की नग्नदशा भी सहज ही होती है।

आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई ! यदि तुम्हें दुःख के नाशस्वरूप मुनिपना अंगीकार करना हो तो हमारे पास चले आओ ! हम यहाँ खड़े हैं।

इसप्रकार यदि तुम्हें भी संसार के समस्त दुःखों से छूटना हो तो तुम भी आत्मा का सच्चा श्रद्धान-ज्ञान करके पंच-परमेष्ठी को नमस्कार कर हमने जैसा मुनिपना अंगीकार किया है, वैसा मुनिपना अंगीकार करो। वह मुनिपना अंगीकार करने से जैसा स्वरूप हमने अनुभव किया है, वैसा ही तुम्हें भी प्राप्त होगा, उसके लिए हम यहीं खड़े हैं, तुम चले आओ।

चारित्र कैसा होता है ? मुनिदशा का पालन कैसे करना चाहिए ? यह सब जानना हो तो अनुभवपूर्वक हम यहाँ मोक्षमार्ग में खड़े हैं। हे जीवो ! आप भी चले आओ।

तत्त्वज्ञान बिना सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता, सम्यग्दर्शन बिना मुनिपना नहीं हो सकता और चारित्र बिना मुक्ति नहीं हो सकती; अतः सर्वप्रथम आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान करो पश्चात् सहज रूप से विशेष लीनता होते हुए मुनिपना आता है। हठ करने से मुनिपना नहीं आता।

जिस साधुपद को गणधरदेवों तक का नमस्कार पहुँचता है, वे साधु ऐसे-वैसे नहीं हैं। वे साधु तो केवली भगवान के संदेशवाहक हैं। ऐसा साधु पद ग्रहण करना हो तो हम यहाँ खड़े हैं।

हे भाई ! देखो, आचार्य भगवान की सिंह-वृत्ति, उग्र-पुरुषार्थ। आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीवों ! आप चले आओ। मोक्षमार्ग के प्रणेता, उसे बतानेवाले हम यहाँ खड़े हैं। ●

जैनदर्शन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह कहता है कि सभी आत्मा स्वयं भगवान हैं। स्वभाव से तो सभी भगवान हैं ही, यदि सम्यक्पुरुषार्थ करें अर्थात् अपने को जानें, पहिचानें और अपने में ही जम जावें, रम जावें तो प्रकटरूप से पर्याय में भी भगवान बन सकते हैं।

ह्व आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-३१

प्रवचनसार गाथा २०२

अब इस गाथा में श्रमण होने का इच्छुक जीव पहले क्या-क्या करता है, उसका उपदेश करते हैं ह

आपिच्छ बंधुवर्गं विमोचिदो गुरुकलत्तपुत्तेहिं ।

आसिज्ज णाणदंसणचरित्तववीरियायारं ॥२०२॥

(हरिगीत)

वृद्धजन तिय-पुत्र-बंधुवर्ग से ले अनुमति ।

वीर्य-दर्शन-ज्ञान-तप-चारित्र अंगीकार कर ॥२०२॥

अन्वयार्थ : ह (श्रामण्यार्थी) [बन्धुवर्गम् आपृच्छ्य] बंधुवर्ग से विदा माँगकर [गुरुकलत्रपुत्रैः विमोचितः] बड़ों से, स्त्री और पुत्र से मुक्त किया हुआ [ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारम् आसाद्य] ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार को अंगीकार करता है ।

टीका : ह जो श्रमण होना चाहता है, वह पहले ही बंधुवर्ग से (सगे-संबंधियों से) विदा माँगता है, गुरुजनों (बड़ों) से, स्त्री और पुत्रों से अपने को छुड़ाता है, ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार तथा वीर्याचार को अंगीकार करता है । वह इसप्रकार है ह

बंधुवर्ग से इसप्रकार विदा लेता है ह अहो ! इस पुरुष के शरीर के बंधुवर्ग में प्रवर्तमान आत्माओ ! इस पुरुष का आत्मा किंचित्मात्र भी तुम्हारा नहीं है ह इसप्रकार तुम निश्चय से जानो । इसलिये मैं तुमसे विदा लेता हूँ । जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है ह ऐसा यह आत्मा आज अपने आत्मारूपी अपने अनादिबंधु के पास जा रहा है ।

अहो ! इस पुरुष के शरीर के जनक (पिता) के आत्मा ! अहो ! इस पुरुष के शरीर की जननी (माता) के आत्मा ! इस पुरुष का आत्मा तुम्हारे द्वारा जनित (उत्पन्न) नहीं है, ऐसा तुम निश्चय से जानो । इसलिए तुम इस आत्मा को छोड़ो । जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है ह ऐसा यह आत्मा आज आत्मारूपी अपने अनादिजनक के पास जा रहा है ।

अहो ! इस पुरुष के शरीर की रमणी (स्त्री) के आत्मा ! तू इस पुरुष के आत्मा को रमण नहीं कराता, ऐसा तू निश्चय से जान । इसलिये तू इस आत्मा को छोड़ । जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है ऐसा यह आत्मा आज अपनी स्वानुभूतिरूपी अनादि-रमणी के पास जा रहा है ।

अहो ! इस पुरुष के शरीर के पुत्र के आत्मा ! तू इस पुरुष के आत्मा का जन्य (उत्पन्न किया गया ह पुत्र) नहीं है, ऐसा तू निश्चय से जान । इसलिये तू इस आत्मा को छोड़ । जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है ऐसा यह आत्मा आज आत्मारूपी अपने अनादि जन्य के पास जा रहा है ।

इसप्रकार बड़ों से, स्त्री से और पुत्र से अपने को छुड़ाता है ।

(यहाँ ऐसा समझना चाहिये कि जो जीव मुनि होना चाहता है वह कुटुम्ब से सर्वप्रकार से विरक्त ही होता है । इसलिये कुटुम्ब की सम्मति से ही मुनि होने का नियम नहीं है । इसप्रकार कुटुम्ब के भरोसे रहने पर तो, यदि कुटुम्ब किसीप्रकार से सम्मति ही नहीं दे तो मुनि ही नहीं हुआ जा सकेगा । इसप्रकार कुटुम्ब को सम्मत करके ही मुनित्व के धारण करने का नियम न होने पर भी, कुछ जीवों को मुनि होने से पूर्व वैराग्य के कारण कुटुम्ब को समझाने की भावना से पूर्वोक्त प्रकार के वचन निकलते हैं । ऐसे वैराग्य के वचन सुनकर, कुटुम्ब में यदि कोई अल्पसंसारी जीव हो तो वह भी वैराग्य को प्राप्त होता है ।)

(अब निम्न प्रकार से पंचाचार को अंगीकार करता है :)

(जिसप्रकार बंधुवर्ग से विदा ली, अपने को बड़ों से, स्त्री और पुत्र से छुड़ाया) उसीप्रकार ह अहो काल, विनय, उपधान, बहुमान, अनिहव, अर्थ, व्यंजन और तदुभयसंपन्न ज्ञानाचार ! मैं यह निश्चय से जानता हूँ कि तू शुद्धात्मा का नहीं है; तथापि मैं तुझे तबतक अंगीकार करता हूँ जबतक कि तेरे प्रसाद से शुद्धात्मा को उपलब्ध कर लूँ । अहो निःशंकितत्व, निकांक्षितत्व, निर्विचिकित्सत्व, निर्मूढदृष्टित्व, उपबृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावनास्वरूप दर्शनाचार ! मैं यह निश्चय से जानता हूँ कि तू शुद्धात्मा का नहीं है, तथापि तुझे तबतक अंगीकार करता हूँ

जबतक कि तेरे प्रसाद से शुद्धात्मा को उपलब्ध कर लूँ।

अहो! मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति के कारणभूत, पंचमहाव्रतसहित काय-वचन-मनगुप्ति और ईर्या-भाषा-एषणा-आदान निक्षेपण प्रतिष्ठापन समितिस्वरूप चारित्राचार ! मैं यह निश्चय से जानता हूँ कि तू शुद्धात्मा का नहीं है, तथापि तुझे तबतक अंगीकार करता हूँ जबतक कि तेरे प्रसाद से शुद्धात्मा को उपलब्ध कर लूँ।

अहो ! अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त-शय्यासन, कायक्लेश, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्गस्वरूप तपाचार ! मैं यह निश्चय से जानता हूँ कि तू शुद्धात्मा का नहीं है, तथापि तुझे तबतक अंगीकार करता हूँ जबतक तेरे प्रसाद से शुद्धात्मा को उपलब्ध कर लूँ !

अहो ! समस्त इतर (वीर्याचार ! के अतिरिक्त अन्य) आचार में प्रवृत्ति करानेवाली स्वशक्ति के अगोपनस्वरूप वीर्याचार ! मैं यह निश्चय से जानता हूँ कि तू शुद्धात्मा का नहीं है, तथापि तुझे तबतक अंगीकार करता हूँ, जबतक कि तेरे प्रसाद से शुद्धात्मा को उपलब्ध कर लूँ ह इसप्रकार ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार तथा वीर्याचार को अंगीकार करता है।

(सम्यग्दृष्टि जीव अपने स्वरूप को जानता है ह अनुभव करता है और अपने को अन्य समस्त व्यवहारभावों से भिन्न जानता है। जबसे उसे स्व-पर का विवेकस्वरूप भेद-विज्ञान प्रगट हुआ था तभी से वह समस्त विभावभावों का त्याग कर चुका है और तभी से उसने टंकोत्कीर्ण निजभाव अंगीकार किया है। इसलिये उसे न तो त्याग करने को रहा है और न कुछ ग्रहण करने को ह अंगीकार करने को रहा है। स्वभावदृष्टि की अपेक्षा से ऐसा होने पर भी, वह पर्याय में पूर्वबद्ध कर्मों के उदय के निमित्त से अनेक प्रकार के विभावभावरूप परिणामित होता है। इस विभावपरिणति को पृथक् होती न देखकर वह आकुल-व्याकुल भी नहीं होता और वह सकल विभावपरिणति को दूर करने का पुरुषार्थ किये बिना भी नहीं

रहता। सकल विभावपरिणति से रहित स्वभावदृष्टि के बलस्वरूप पुरुषार्थ से गुणस्थानों की परिपाटी के सामान्य क्रमानुसार उसके प्रथम अशुभ परिणति की हानि होती है और फिर धीरे-धीरे शुभ परिणति भी छूटती जाती है। ऐसा होने से वह शुभराग के उदय की भूमिका में गृहवास का और कुटुम्ब का त्यागी होकर व्यवहार-रत्नत्रयरूप पंचाचार को अंगीकार करता है। यद्यपि वह ज्ञानभाव से समस्त शुभाशुभ क्रियाओं का त्यागी है तथापि पर्याय में शुभराग नहीं छूटने से वह पूर्वोक्तप्रकार से पंचाचार को ग्रहण करता है।)

गाथा २०२ पर प्रवचन

● जिनके चरणों में गणधर भगवान का नमस्कार पहुँचता है, वह साधुपद कैसा है, उसका स्वरूप कहते हैं।

देह-मन-वाणी आत्मा का स्वरूप नहीं है, पुण्य-पाप आत्मा का कर्तव्य नहीं है। आत्मा तो ज्ञानस्वभावी है ह ऐसे आत्मा के ज्ञान-श्रद्धानपूर्वक उसमें रमणता करने से वीतरागी मुनिपना होता है, तत्पश्चात् बाह्य में शरीर की नग्नदशा होती है।

ऐसी मुनिदशा में मात्र मयूरपिछी और कमण्डल ही साथ में रहता है। लोग ऐसा कहते हैं कि वस्त्रसहित मुनिपना होता है; किन्तु वह यथार्थ मुनिपना नहीं है अथवा सम्यग्दर्शन बिना मात्र बाह्य नग्नदशा भी मुनिपना नहीं है। जहाँ बाह्य-आभ्यन्तर सहज वीतरागी दशा वर्तती है, वह यथार्थ मुनिपना है ह ऐसे मुनिपने को अंगीकार करने की विधि इस गाथा में कही है।

प्रथमतः मुनिपना अंगीकार करनेवाले जीव को आत्मा सहज आनन्दस्वरूप है ह ऐसा सच्चा श्रद्धान-ज्ञान होना चाहिए। हे भाई ! विचार तो करो कि साधुपद कैसा होता है ?

चार ज्ञान के धारी गणधर देव जो तीर्थकर भगवान के वजीर हैं, वे भी नमस्कार मंत्र बोलते समय 'णमो लोए सव्वसाहूणं' इस पद के द्वारा कहते हैं कि हे संतों ! आपके चरणों में हमारा नमस्कार है। जिनके चरणों

में धर्मधारी गणधर देव का भी नमस्कार पहुँचता है, वास्तव में वह साधुपद कैसा होगा ? यह विचार करने योग्य है।

जिन्हें आत्मा का भान हुआ है, दया-दानादि के विकल्पों को जो विष समान मानते हैं, छठवें-सातवें गुणस्थान की भूमिका में जो निरन्तर झूलते रहते हैं, जिन्हें देह से भिन्न चैतन्य का ही बारंबार अनुभव होता है तथा जिन्हें बाह्याभ्यन्तर निर्ग्रन्थदशा वर्तती है, उन्हें साधु अथवा मुनि कहते हैं।

ऐसे मुनिपद के इच्छुक गृहस्थ को सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन-ज्ञान होना चाहिए, जिससे वह विशेष वैराग्यभाव धारण कर, स्वभाव में रमणता कर केवलज्ञान प्राप्त करने के लिए विशेष मुनिपना अंगीकार कर सके। अब उसकी विधि कहते हैं।

● मुनिपने का इच्छुक जीव बंधुवर्ग से विदाई लेता है।

अहो ! इस पुरुष शरीर के बंधुवर्ग में प्रवर्तन करनेवाले आत्माओ ! बंधु आदि परिवार वर्ग का शरीर तो जड़ परमाणुओं का बना हुआ है। उससे पार आत्मा को संबोधते हुए कहते हैं कि ह्व इस पुरुष का आत्मा रंचमात्र भी तुम्हारा नहीं है ह्व ऐसा निश्चय से जानो। मेरे शरीर का संबंध तुम्हारे से हुआ, इसलिए यह शरीर तुम्हारा ही हो गया ह्व ऐसा नहीं है।

अब मुझे केवलज्ञान प्रगट करना है, मुनिपद प्राप्त करना है; अतः आपसे विदाई लेने आया हूँ। मुझे शरीरादि से भिन्न, दया-दानादि विकल्पों से भिन्न ज्ञानज्योति प्रगट हो गई है; अतः मैं निवृत्त होना चाहता हूँ।

यद्यपि आज तक मैंने अनंतबार मुनिपना लिया है, नग्न जैन साधु हुआ हूँ; किन्तु अनादिकाल से आज तक आत्मा का भान नहीं हुआ; अतः सबकुछ व्यर्थ गया। अब आत्मा ज्ञानस्वरूप है ह्व ऐसा स्वसंवेदन ज्ञान मुझे प्रगट हुआ है। थोड़े-बहुत विकारी भाव बचे हैं; उन्हें ज्ञानज्योति नष्ट कर देगी।

मुझे सम्यक्त्व हुआ है कि नहीं ह्व यह तो केवली भगवान जाने, उसमें मुझे रंचमात्र भी शंका नहीं है। मुझे तो ज्ञानज्योति प्रगट हुई है। मेरा

आत्मा इसकी साक्षी देता है। शरीर अथवा पुण्य-पाप परिणामों से केवलज्ञान प्राप्त नहीं होता; किन्तु मेरी आत्मा में से अवश्य ही केवलज्ञान प्रगट होगा; क्योंकि अब मेरी संसार-स्थिति पूर्ण हो गई है।

देह, कर्म, वाणी अजीव हैं और पुण्य-पाप आस्रव-बंध हैं। इन सबसे रहित चैतन्यमूर्ति आत्मा मेरा अनादि-बंधु है, इसलिये मैं उसके निकट ही रहता हूँ।

भाई-बहिन आदि बाह्य परिवार मेरा नहीं है; क्योंकि एक आत्मा अन्य आत्मा का कदापि नहीं हो सकता और न कुछ कर सकता है; तथापि इन बाह्य परिवारादि में आसक्तिरूप राग बंधुवर्ग के कारण नहीं है; अपितु वह राग मेरे स्वयं के कारण है। राग के कारण इनके प्रति अपनापना लगता है; किन्तु अब उस राग का भी आश्रय छोड़कर विरागी आत्मा में रहने की मैं आज्ञा माँगता हूँ।

देह की क्रिया या परवस्तु को छोड़ने में जो धर्म मानता है ह्व ऐसे मिथ्यादृष्टि की यहाँ बात नहीं है। यहाँ तो ज्ञानस्वरूपी आत्मा की बात है। शरीर की क्रिया और राग का कर्ता मैं नहीं हूँ ह्व ऐसा जाननेवाला ज्ञानी जीव कहता है कि हे भाई ! मेरे राग के कारण तुम्हारी ओर मेरा लक्ष्य जाता है, उस लक्ष्य को छोड़कर निजस्वभाव में रमण करने के लिए मैं तुमसे विदाई माँगता हूँ।

● मुनिपने का इच्छुक जीव माता-पिता से विदाई लेता है।

अहो ! इस पुरुष शरीर के जनक माता-पिता का आत्मा ! इस पुरुष का आत्मा तुम्हारे द्वारा जनित (उत्पन्न किया हुआ) नहीं है ह्व ऐसा निश्चय से जानो।

आत्मा ने शरीर के निमित्त से जन्म लिया है, यह तो व्यवहार से कहा जाता है। आत्मा ने तो निमित्त की दृष्टि से भी जन्म नहीं लिया है। जिसप्रकार मुर्दे को घर में नहीं रखते, उसीप्रकार यह शरीर भी मुर्दा है; अतः अब मैं संसारवृत्ति से वैराग्य धारणकर आत्मा में रमणता कर केवलज्ञान प्रगट करना चाहता हूँ, इसलिए तुम इस आत्मा को छोड़ो।

हे माता-पिता ! मैं परद्रव्य और पुण्य-पाप की क्रिया का कर्ता नहीं हूँ। अनादिकालीन चैतन्यस्वभाव ही मेरे माता-पिता हैं और मैं उसके पास जाना चाहता हूँ अतः आप से विदाई माँगता हूँ।

● अब मुनिपने का इच्छुक जीव स्त्री से विदाई लेते हुए कहता है।

हे स्त्री अर्थात् इस पुरुष-शरीर के रमणी के आत्मा ! तुझे इस पुरुष का आत्मा रमण नहीं कराता हूँ ऐसा निश्चय से जान। हे स्त्री ! तू तो शरीर को रमानेवाली है; किन्तु हमारी प्रीति तो आत्मा के साथ है। तू तो शरीर को देखती है, तेरा सम्बन्ध तो शरीर के साथ है। आत्मा का आनन्द और प्रीति आत्मा में ही है। मेरी प्रीति मेरे आत्मा के साथ है।

हे शरीर की रमणी ! मैं तो चैतन्य-ज्योति, शुद्ध सहजानन्दस्वरूपी हूँ। तुम्हारे साथ प्रीति करनेरूप मेरा स्वभाव नहीं है तथा यह शरीर तो मेरा है ही नहीं हूँ ऐसा जानकर अब मैं पुण्य-पाप से रहित, शांत स्व-संवेदन सहित, सहजानन्द स्वरूप स्वानुभूति स्त्री के समीप जाता हूँ।

शांत-अनाकुल-व्यक्तदशा के अनुभव में रमण करना ही अनादि रमणी का स्वभाव है और वह निजस्वभाव की दृष्टि करते ही व्यक्त पर्याय में प्रगट होता है। यहाँ अनादि-रमणी शब्द का प्रयोग करके द्रव्य के साथ अभेदपना बताया है।

जो लक्ष्य अब तक इस संसार की रमणी की ओर जाता था, उसे फेरकर अब स्वभाव की ओर करना है। अतः हे रमणी के आत्मा ! तू मुझे छोड़ ! अब मेरा आत्मा स्वानुभूतिस्वरूप अंतर रमणी के पास जा रहा है।

● अब मुनिपने का इच्छुक जीव पुत्र से विदाई लेते हुए विचार करता है हूँ

हे इस पुरुष शरीर के पुत्र के आत्मा ! इस पुरुष आत्मा से तू उत्पन्न नहीं किया गया है हूँ ऐसा निश्चय से जान।

आत्मा का कोई पिता-पालनहार नहीं है। शरीर का पिता कहा जाता है; किन्तु उस पितारूप आत्मा को तू छोड़; क्योंकि शरीर जड़ है और पुण्य-पाप विकार हैं। इन विकारों से रहित आत्मा ज्ञानज्योति है हूँ ऐसा भान करना चाहिए।

प्रथम तेरा लक्ष्य राग की ओर था, अब उसे छोड़कर आत्मा की ओर लक्ष्य कर। यह आत्मा स्वयं ही स्वयं का अनादिजन्य है, उसके पास जा।

इसप्रकार बंधुवर्ग, माता-पिता, स्त्री और पुत्र सभी से अपने को दूर कर इनके प्रति विद्यमान राग को छोड़कर स्वभाव में ठहरने की प्रेरणा दी है।

● मुनि होने के लिए कुटुंबीजनों की सम्मति हो ही हो यह सर्वथा नियम नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि जो जीव मुनि होने के इच्छुक हैं, वे पहले से ही संसार से उदासीन/वैराग्यवृत्तिवाले हैं।

मुनि होने के लिए कुटुंबीजनों की सम्मति हो ही हो, यह कोई सर्वथा नियम नहीं है। इसप्रकार यदि कुटुंबीजनों के भरोसे रहे और कुटुंबीजन आज्ञा ही न दे तो मुनि हुआ ही न जा सकेगा। इसप्रकार कुटुम्ब को सम्मत करके ही मुनित्व के धारण करने का नियम नहीं होने पर भी, कुछ जीवों को मुनि होने से पूर्व वैराग्य के कारण कुटुम्ब को समझाने की भावना से पूर्वोक्त प्रकार के वचन निकलते हैं। ऐसे वैराग्यवर्धक वचन सुनकर कुटुम्ब में यदि कोई अल्पसंसारी जीव हो तो वह भी वैराग्य को प्राप्त होता है।

वास्तव में आत्मा भाषा नहीं बोल सकता, भाषा तो जड़ है, वह आत्मा के कारण नहीं निकलती और भाषा के कारण परजीव समझते नहीं हैं; किन्तु जब उक्त मुनिपने के भाव हो और सहज वाणी निकले तब कोई जीव स्वयं से समझकर वैराग्य धारण करता है हूँ ऐसा दोनों में सहज निमित्त-नैमित्तिक संबंध है।

(क) हे ज्ञानाचार ! मैं आत्मा में स्थित नहीं हो पा रहा हूँ, अतः व्यवहार से तुम्हें अंगीकार करता हूँ।

अब मुनिपने का इच्छुक जीव निरन्तर शुद्धभाव में ठहर नहीं पाता, अतः व्यवहार पंचाचारों का पालन करता है। सो उसमें सर्वप्रथम ज्ञानाचार का स्वरूप कहते हैं हूँ

(१) काल : ह्य प्रातः-सायंकाल इत्यादि योग्य समय में शास्त्र को जानना/पढ़ना/कहना ।

(२) विनय : ह्य शास्त्र की विनय करना ।

(३) उपधान : ह्य शास्त्र की ज्ञानाराधना के लिए तपश्चर्या करना ।

(४) बहुमान : ह्य सत्शास्त्रों का बहुमान होना ।

(५) अनिहव : ह्य जिनके पास से ज्ञान की प्राप्ति हुई हो, उन्हें छुपाना नहीं अथवा जिस ज्ञानी के निमित्त से स्वयं को वस्तुस्वरूप की प्राप्ति हुई हो उसका नाम न छिपाते हुए उनका उपकार मानना ।

(६) अर्थ : ह्य शास्त्र का अर्थ ।

(७) व्यंजन : ह्य शास्त्र के शब्द ।

(८) तदुभय : ह्य अर्थ और शब्द दोनों ।

इन आठ प्रकारों से ज्ञानाचार में शुभविकल्प उत्पन्न होते हैं । तब कहते हैं कि हे ज्ञानाचार ! शुद्ध आत्मा में तुम्हारा प्रवेश नहीं है ह्य ऐसा मैं निश्चय से जानता हूँ; क्योंकि शुभविकल्प राग है और राग करना शुद्धस्वभाव का कार्य नहीं है; किन्तु जब तक साधकदशा में ठहरना नहीं होता, तब तक शुभविकल्प आये बिना नहीं रहते । अतः जब तक शुद्ध आत्मा की प्राप्ति नहीं होती तब तक मैं तुम्हें अंगीकार करता हूँ ।

हे भाई ! यह चरणानुयोग है । इसमें व्यवहार और निमित्त के कथन बहुत आयेंगे, इसलिये सभी का बराबर अर्थ ग्रहण करना चाहिए । शुभराग को ज्ञानी हेय मानता है; तथापि अपूर्ण दशा में शुभराग अवश्य आता है; अतः व्यवहार को अंगीकार करो ह्य ऐसा कहने में आता है; किन्तु व्यवहाररूप विकल्प राग है और राग से शुद्ध आत्मा की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती; अतः विकल्पों को तोड़कर स्वभाव में ठहरने का उपाय करना चाहिए ।

विकल्पों के प्रसाद से शुद्ध आत्मा का अनुभव प्राप्त होता है ह्य ऐसा कथन भी आता है । वास्तव में जबतक जीव शुद्धोपयोग में स्थित नहीं

होता, तबतक ज्ञानाचार संबंधी शुभ विकल्प आते हैं, उसी का यहाँ ज्ञान कराया है ।

कुदेव-कुगुरु द्वारा कहे गये शास्त्रों के जानने की बात यहाँ नहीं है; अपितु सच्चे देव-गुरु द्वारा प्ररूपित शास्त्र के बहुमान अर्थात् शुभराग की बात है । वास्तव में निश्चय से तो अपने ज्ञानस्वभाव की और व्यवहार से सत् शास्त्रों की महिमा है ।

(ख) अहो दर्शनाचार ! आत्मा में स्थित न होने के कारण मैं तुम्हें अंगीकार करता हूँ ।

(१) हे निःशंकित्व : ह्य वीतरागी-सर्वज्ञ भगवान द्वारा कथित छह द्रव्य और नव तत्त्वों के स्वरूप में मुझे शंका नहीं है । तीनों काल में परमार्थ का पंथ एक ही है, धर्म प्राप्त करने का एक ही रास्ता है । निश्चय से मुझे अपने ज्ञानस्वरूप में रंचमात्र भी शंका नहीं है; तथापि जबतक मैं अपने ज्ञानस्वरूप में स्थित न हो सकूँ तबतक भगवान सर्वज्ञदेव द्वारा कथित तत्त्वों में निःशंकपने प्रवर्तन करता हूँ ।

उन तत्त्वों को जानने के सम्बन्ध में विकल्प उठते हैं; जिसे मैं जानता हूँ तथा मैं यह भी जानता हूँ कि निश्चय से विकल्पादिक मेरा स्वरूप नहीं है, फिर भी व्यवहार से वे आये बिना रहते नहीं हैं; अतः मैं उन्हें व्यवहार से अंगीकार करता हूँ ।

विकल्पवाली दशा में दर्शनरूप व्यवहार निःशंकित अंग का ज्ञान कराता है । निश्चय से तो मैं स्व-स्वरूप के प्रति निःशंक हूँ और व्यवहार से सर्वज्ञकथित छह द्रव्य और नव तत्त्वों के स्वरूप के प्रति निःशंक हूँ ।

(२) हे निःकांक्षित्व : ह्य जो सर्वज्ञकथित शास्त्र के बिना अन्य धर्म अन्य मत अथवा ३६३ प्रकार स्वरूप पाखंडियों के मत में कांक्षा नहीं करता है ।

जो जीव अन्यमत की इच्छा नहीं करता है । पुण्य एवं पुण्यफल की इच्छा नहीं करता है, स्व-स्वरूप में ही इच्छा रहित होकर स्थित होने की ही भावना करता है । जिसके लिए एक वीतराग मार्ग ही सच्चा मार्ग है ।

इसप्रकार निश्चय से इच्छारहित स्व-स्वरूप का अनुभव और व्यवहार से अन्यमत व पुण्य की इच्छा नहीं करना ही निकांक्षित अंग है।

इसप्रकार मुनिपद का इच्छुक जीव निश्चयभानसहित दीक्षा लेकर पंचाचार को अंगीकार करता है और इसी भानपूर्वक मुनिपने को अंगीकार करता है; क्योंकि यही चारित्र है और चारित्र ही मुक्ति का कारण है।

(३) हे निर्विचिकित्सत्व : ह्य मुनियों के नग्न या मलिन शरीर को देखकर ग्लानि नहीं करना। मुनि को उल्टी (वोमेटिंग) हो अथवा अन्य कोई अशुचि हो तो समकित्ती को ग्लानि नहीं होती है।

निश्चय से यह कहना चाहते हैं कि जबतक अपना शुद्धस्वरूप प्रगट नहीं हो तब तक ग्लानि न करते हुए अपने ज्ञानानन्दस्वभाव में सहज स्थित होवो और जब निश्चय में नहीं ठहर सकते तब मुनियों के शरीर के प्रति ग्लानि का विकल्प भी न होना व्यवहार है, राग है। यद्यपि वह मेरा स्वरूप नहीं है; तथापि वह आये बिना नहीं रहता।

(४) हे निर्मूढदृष्टित्व : ह्य बाह्य में सम्यक्दृष्टि के पुण्य का उदय कम हो तथा अन्यमति मिथ्यादृष्टि के पुण्य का उदय अधिक हो और उसके बड़ी सम्पन्नता देखी जाए फिर भी समकित्ती मन में खेद नहीं करता कि यह देखो ! अन्यमति के पुण्य का उदय।

‘वीतरागी देव ही सच्चे हैं’ ह्य ऐसी सम्यग्दृष्टि को अंतर-प्रतीति है। उस प्रतीतिपूर्वक उसे निश्चय से स्वरूप-मूढता नहीं है और अन्यमति के पुण्योदय देखकर अपने में मूढता न आवे ऐसे विकल्प भी निश्चय से आत्मा का स्वरूप नहीं है; तथापि यह जीव व्यवहार से उन शुभविकल्पों को अंगीकार करता है।

(५) हे उपबृंहण : ह्य निश्चय से आत्मस्वभाव में गुणों की वृद्धि हों और व्यवहार से अन्य धर्मात्मा जीवों के गुणों की भी वृद्धि हों ह्य ऐसा विकल्प उत्पन्न होता है; किन्तु वह विकल्प मेरा स्वरूप नहीं है ह्य ऐसा यह जीव मानता है।

(६) हे स्थितिकरण : ह्य निश्चय से अपने आत्मस्वभाव में, अपनी

ही पर्याय में स्थित होना स्थितिकरण है और व्यवहार से अन्य साधर्मिजन धर्म से चलायमान होते हों तो उन्हें वीतरागी मार्ग में स्थित करते हैं। फिर भी अन्य को मोक्षमार्ग में स्थापित करूँ ह्य ऐसा विकल्प राग है, वह विकल्प मेरा स्वरूप नहीं है।

(७) हे वात्सल्य : ह्य निश्चय से अपने अनन्तगुणों में प्रीति रखना और व्यवहार से साधर्मियों के प्रति गाय-बछड़े के समान प्रेमभाव रखना; किन्तु यह विकल्प भी राग है; जीव का स्वरूप नहीं है।

(८) हे प्रभावना : ह्य अपने आत्मगुणों की प्रभावना होना निश्चय प्रभावना है और धर्म की प्रभावना-महिमा बढ़े ह्य ऐसा विकल्प व्यवहार प्रभावना है; तथापि व्यवहार प्रभावना राग है, वह मेरा स्वरूप नहीं है ह्य ऐसा समझना चाहिए।

सम्यक्दर्शन के यह आठ आचार व्यवहार में आठ अंग कहे जाते हैं। शुद्ध आत्मा में इनका प्रवेश नहीं है; तथापि जब तक स्वभाव में स्थित नहीं हो, तब तक व्यवहार से शुभविकल्प आते रहते हैं, अतः उन्हें मैं अंगीकार करता हूँ। मैं यह भी जानता हूँ कि इनके आश्रय से मुझे शुद्ध आत्मा की प्राप्ति नहीं होगी; अतः इन आठ अंगों की ओर का विकल्प छोड़कर शुद्ध स्वभाव में ठहरते हुए आत्मा का अनुभव करता हूँ।

इसप्रकार व्यवहार से आठ अंगों का अनुभव हुआ ह्य ऐसा कहने में आता है; क्योंकि अपूर्ण दशा में उक्त विकल्प आये बिना रहते नहीं हैं; किन्तु वे धर्म कदापि नहीं हैं, यह ध्यान रखना चाहिए।

(ग) अहो! मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति के कारणभूत चारित्राचार ! मैं जबतक आत्मा में स्थिर न होऊँ, तबतक मैं तुम्हें व्यवहार से अंगीकार करता हूँ।

● पाँच महाव्रत ह्य

(१) अहिंसा महाव्रत : ह्य रागरहित आत्मस्वरूप के भानपूर्वक पर जीवों को दुःख न देनेरूप शुभविकल्प।

(२) सत्य महाव्रत : ह्य सत्स्वरूप आत्मा के भानपूर्वक सत्य और प्रिय वचन बोलनेरूप शुभविकल्प।

(३) अचौर्य महाव्रत : ह्य ज्ञानानन्दस्वरूप के भानपूर्वक बिना दी हुई कोई भी वस्तु ग्रहण न करने का शुभविकल्प ।

(४) ब्रह्मचर्य महाव्रत : ह्य ब्रह्मस्वरूप आत्मा के भानपूर्वक सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य के पालन करनेरूप शुभविकल्प ।

(५) अपरिग्रह महाव्रत : ह्य परिग्रह रहित आत्मा के भानसहित वस्त्रादि समस्त प्रकार के परिग्रह त्यागने का शुभभाव ।

● तीन गुप्ति ह्य

(१) काय गुप्ति : ह्य शरीर व आत्मा भिन्न-भिन्न हैं ह्य ऐसे भान सहित शरीर की होनेवाली प्रवृत्ति को गुप्त रखनेरूप शुभभाव ।

(२) वचनगुप्ति : ह्य वाणी व आत्मा भिन्न-भिन्न हैं ह्य ऐसे भानसहित वाणी की प्रवृत्ति को वश करनेरूप शुभभाव ।

(३) मनोगुप्ति : ह्य मन व आत्मा भिन्न-भिन्न हैं ह्य ऐसे भानसहित मन की वृत्ति को वश करनेरूप शुभभाव ।

● पाँच समिति ह्य

(१) ईर्या समिति : ह्य आत्मा और शरीर की क्रिया भिन्न-भिन्न है ह्य ऐसे भानसहित तथा जब विहार आदि करने का भाव हो तब प्रमादवश अन्य जीवों की हिंसा में निमित्त न हो ह्य ऐसे भावसहित चलने का शुभभाव ।

(२) भाषा समिति : ह्य आत्मा और भाषा की क्रिया भिन्न-भिन्न है ह्य ऐसे भानसहित विचारपूर्वक बोलने का भाव ।

(३) एषणा समिति : ह्य आत्मा और आहार की क्रिया भिन्न-भिन्न है ह्य ऐसे भानपूर्वक निर्दोष आहार लेने की वृत्ति और तदनुसार शुभभाव ।

(४) आदान-निक्षेपण समिति : ह्य परपदार्थ के ग्रहण-त्याग की क्रिया आत्मा नहीं कर सकता ह्य ऐसे भानसहित कमण्डल-मयूरपिछी आदि को सावधानीपूर्वक रखने-उठाने का शुभभाव ।

(५) प्रतिष्ठापन समिति : ह्य परपदार्थ की क्रिया आत्मा नहीं कर

सकता ह्य ऐसे भानपूर्वक परपदार्थों (मल-मूत्रादि) का इसप्रकार क्षेपण करना कि जिसके माध्यम से अन्य जीवों को दुःख का निमित्त न हो ह्य ऐसा शुभभाव ।

यहाँ कहते हैं कि अहो ! मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति में कारणभूत पंचमहाव्रत सहित तीन गुप्ति और पाँच समिति स्वरूप हे चारित्राचार ! यह जो तेरह प्रकार के चारित्र के पालनरूप शुभभाव उत्पन्न होता है, वह निश्चय से मेरा स्वरूप नहीं है; परन्तु जबतक शुद्ध आत्मा की प्राप्ति नहीं होती, तब तक मैं तुम्हें व्यवहार से अंगीकार करता हूँ ।

यह तेरह प्रकार का शुभभाव पुण्यास्रव है, बंध का कारण है; तथापि जबतक वीतरागता प्राप्त न हो, तबतक ये भाव आए बिना नहीं रहते ह्य यही चरणानुयोग का कथन है; अतः 'मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति में कारणभूत' ह्य ऐसा कहकर इससे ही शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होगी ह्य ऐसा निमित्त से कथन किया है ।

वास्तव में उक्त तेरह प्रकार का शुभभाव बंध का कारण है । जब जीव इनका अभाव कर स्वभाव में ठहरता है, तब मोक्षमार्ग आए बिना नहीं रहता ।

(घ) अहो तपाचार ! जबतक मैं स्वभाव में स्थिर न होऊँ, तबतक तुम्हें व्यवहार से अंगीकार करता हूँ ।

यहाँ मुनिपने का इच्छुक जीव तपाचार अंगीकार करता है ह्य

(१) अनशन : ह्य आत्मा परवस्तु का त्याग नहीं कर सकता ह्य ऐसे भान सहित आत्मा के समीप रहना निश्चय से उपवास है और किसी एक दिन आहार न लेना व्यवहार से उपवास है, जो कि शुभराग है ।

(२) अवमौदर्य : ह्य आत्मवस्तु के भानपूर्वक भूख से कम आहार लेनेरूप शुभभाव ।

(३) वृत्तिपरिसंख्यान : ह्य आत्मवस्तु के भानसहित अपने परिणामों की वृत्ति को मर्यादित कर किसी एक दिन कोई विशिष्ट वस्तु नहीं लेनेरूप शुभराग ।

(४) रसपरित्याग : ह्म आत्मा में परवस्तुओं का ग्रहण-त्याग नहीं है ह्म ऐसे भानपूर्वक दही, दूध, घी, मिष्ठान्न इत्यादि रस का त्याग करनेरूप शुभभाव ।

(५) विविक्तशय्यासन : ह्म आत्मा में परवस्तुओं का अभाव है ह्म ऐसे भानपूर्वक घर-परिवार, ग्राम आदि से दूर एकान्त स्थान में स्वरूप विचार करनेरूप शुभभाव ।

६) कायक्लेश : ह्म शरीर से आत्मा भिन्न है ह्म ऐसे भानसहित शरीर संबंधी आसक्ति को घटाने के लिए तपश्चर्या करनेरूप शुभभाव ।

७) प्रायश्चित्त : ह्म स्वरूप के भानसहित स्वयं से किसी प्रकार का पाप हुआ हो अथवा कोई दोष लगा हो तो उसका प्रायश्चित्त लेनेरूप शुभभाव ।

(८) विनय : ह्म अपने ज्ञानानन्द स्वभाव में रमना ही वास्तविक विनय है ह्म ऐसे भानपूर्वक देव-गुरु-शास्त्र की विनय करनेरूप शुभभाव ।

(९) वैयावृत्य : ह्म अपने ज्ञान-दर्शन स्वभाव में डुबकी लगाना ही निश्चय वैयावृत्य है और उक्त भानसहित साधु इत्यादि की सेवा करनेरूप शुभभाव व्यवहार वैयावृत्य है ।

(१०) स्वाध्याय : ह्म आत्मस्वरूप में ही स्थित होना निश्चय से स्वाध्याय है और ऐसे भानपूर्वक शास्त्रवाचन करना, प्रश्नोत्तर करना, गुरु की वाणी सुनना-समझना इत्यादि शुभभाव व्यवहार से स्वाध्याय है ।

(११) ध्यान : ह्म निश्चय से स्वभाव की एकाग्रता ही ध्यान है ऐसे भान सहित में ज्ञानानन्दस्वरूप में ठहरता हूँ/रमण करता हूँ ह्म ऐसा विकल्प या शुभभाव व्यवहार से ध्यान है ।

(१२) व्युत्सर्ग : ह्म स्वरूपभानसहित परिग्रहत्याग की भावनारूप शुभभाव ।

अहो ! बारह प्रकार के तपरूप शुभराग ! शुद्ध आत्मा में तुम्हारा प्रवेश नहीं है ह्म ऐसा मैं निश्चय से जानता हूँ; तथापि जबतक मैं आत्मस्वभाव में ठहर नहीं सकूँ, तबतक मुझे उक्त बारह प्रकार के तपों

का शुभराग आता है तथा मुझे जबतक परिपूर्ण वीतरागता प्राप्त न हो; तबतक मैं तुम्हें अंगीकार करता हूँ ।

वास्तव में तो आत्मा के आश्रय से ही शुद्धता प्रगट होती है; किन्तु व्यवहार से बारह प्रकार के तप के शुभराग से शुद्धता होती है ह्म ऐसा कथन किया जाता है ।

यदि कोई कहे कि व्यवहार से तो तप नहीं होते तो ऐसे जीव को वस्तुस्वरूप का ज्ञान ही नहीं है । विकल्प उत्पन्न होने पर शुद्धता होगी ह्म यदि ऐसा माने तो वह भी मिथ्या ही है; इसलिये मुनिराज जबतक स्व-स्वरूप में स्थित नहीं होते; तबतक ही यथाशक्ति व्यवहार से इन बारह तपों को आचरते हैं ।

(६) हे वीर्याचार ! जबतक मैं आत्मा में स्थिर न होऊँ, तब तक तुम्हें अंगीकार करता हूँ ।

यहाँ मुनिपने का इच्छुक जीव वीर्याचार को अंगीकार करता है ।

अहो ! ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार और तपाचार में प्रवर्तन करानेवाले स्वशक्ति-स्वरूप वीर्याचार ! शुद्ध आत्मा में तेरा भी प्रवेश नहीं है ह्म ऐसा मैं निश्चय से जानता हूँ; क्योंकि तुम्हारे अनुसार आचरण में पुरुषार्थ करूँ ह्म ऐसा विकल्प करना शुभराग है और शुभराग आत्मा का स्वरूप नहीं है, फिर भी जबतक स्वभाव में नहीं ठहर सकता; तबतक अन्य-अन्य आचारों में शक्ति को रोकनेरूप विकल्प आता है ।

यहाँ शरीर के वीर्य की बात नहीं है, वह तो जड़ है, आत्मा को उससे कोई लाभ नहीं है । यहाँ तो अंतरंग पुरुषार्थ की बात है ।

मैं पुरुषार्थ करता हूँ ह्म ऐसा भाव शुभराग है, जो अपूर्ण दशा में आता है । जबतक स्वभाव में पूर्ण स्थिरता प्राप्त न कर लूँ, तबतक मैं शुभराग को अंगीकार करता हूँ ।

विकल्पों के आश्रय से शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है ह्म ऐसा कहा; किन्तु वह व्यवहार है । अंतर आत्मस्वभाव में स्थित होकर जो निश्चय

को प्रगट करता है, उसे व्यवहार से शुभविकल्पों के प्रसाद से शुद्ध आत्मा की प्राप्ति हुई है ऐसा कहने में आता है।

इसप्रकार मुनिपने का इच्छुक जीव ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार को अंगीकार करता है।

● ज्ञानस्वभाव में परवस्तु का ग्रहण त्याग तो है नहीं; परन्तु राग का भी ग्रहण-त्याग नहीं है।

धर्मी जीव आत्मस्वभाव को जानते हुए, अनुभव करते हुए, मुनि होने से पूर्व जितने भी शुभविकल्प उत्पन्न होते हैं, उन सबको अपने से भिन्न जानता है; क्योंकि इसी से भेदविज्ञान प्रगट होकर समस्त शुभाशुभभावों का श्रद्धा अपेक्षा त्याग होगा। वह जीव एकमात्र ज्ञानानन्दस्वरूप शुद्धस्वभाव को ही आदरणीय मानता है।

हे जीवों ! यह धर्म की प्रथम भूमिका है। चौथे गुणस्थान में ऐसा ही ज्ञान-श्रद्धान् वर्तता है। धर्मी जीव को परवस्तु का ग्रहण-त्याग है नहीं; क्योंकि आत्मा में परवस्तुओं का त्रिकाल अभाव है।

‘मैं शुद्धस्वभाव को अंगीकार करूँ और राग का त्याग करूँ’ हूँ ऐसे विकल्प का भी स्वभाव में स्थान नहीं है। ‘राग का त्याग करूँ’ हूँ ऐसे विकल्प से तो राग ही उत्पन्न होता है, राग का त्याग नहीं होता; किन्तु टंकोत्कीर्ण निजआत्मस्वभाव का अंगीकार कर, उसमें ही स्थिरता करने से राग नष्ट होता है और उससमय राग का त्याग किया है ऐसा कहा जाता है।

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को ऐसा ही ज्ञान-श्रद्धान् वर्तता है। वहाँ श्रद्धा - ज्ञान में कुछ छोड़ने अथवा ग्रहण करने का भाव नहीं रहता। इसप्रकार प्रथम श्रद्धान्-ज्ञान होवे तत्पश्चात् जीव मुनिपना धारण करता है।

● अशुद्ध उपादानगत योग्यता के कारण पर्याय में साधकजीव को शुभाशुभ भाव होते हैं।

स्वभाव दृष्टि होने पर अपनी पर्याय में अपने अशुद्ध उपादान के कारण व निमित्तरूप कर्म के उदयवश शुभाशुभ भाव होते हैं। वहाँ

जिसप्रकार का राग होना हो उसप्रकार के कारण होते हैं; फिर भी धर्मी जीव जानता है कि वे मेरी कमजोरी से हो रहे हैं; मेरा स्वरूप नहीं है।

उन शुभाशुभ भावों को जानते हुए भी धर्मी जीव आकुल-व्याकुल नहीं होता। चैतन्य की एकाग्रता करने में मेरी भूल हो रही है; इसलिये निचली भूमिकानुसार कृष्ण-नील-कापोत इत्यादि लेश्यारूप परिणाम होते हैं। वह उन परिणामों को टालने का पुरुषार्थ भी निरन्तर करता है; क्योंकि यदि उन शुभाशुभ परिणामों को रखने का भाव अन्तर में रहे तो जीव मिथ्यादृष्टि कहलाये। पुरुषार्थ तो निरन्तर करता ही है; तथापि कुछ शुभाशुभभाव शेष रहते हैं तो उसमें अपनी कमजोरी समझता है; किन्तु आकुल-व्याकुल नहीं होता।

● धर्मी जीव स्वभाव के लक्ष्यपूर्वक अशुभराग का नाश करते हुए पंचाचाररूप शुभभावों को हेयदृष्टि से अंगीकार करता है।

स्वभावदृष्टि में समस्त विभावों को टालनेरूप दृष्टि है। उस दृष्टि के साथ पुरुषार्थ से गुणस्थानों के सामान्य क्रमानुसार प्रथमतः अशुभ परिणति छूटती है, कुटुम्ब आदि का अशुभराग छूटता है, पश्चात् धीरे-धीरे शुभराग को भी छोड़ता है। इसप्रकार आत्मस्वभाव के भानसहित गृहवास और कुटुम्ब आदि का अशुभराग छोड़ता है और जबतक स्वभाव में ठहर नहीं पाता; तबतक व्यवहार से पंचाचारों को अंगीकार करता है।

यद्यपि वह शुभराग है; तथापि श्रद्धा अपेक्षा उसका निषेध ही वर्तता है; किन्तु स्वयं की कमजोरीवश राग छूटता नहीं है हूँ यह जानकर शुभराग में प्रवर्तन करता है।

दृष्टि तो अखण्ड ज्ञानस्वभाव पर ही है। वहाँ श्रद्धा अपेक्षा तो शुभभावों का निषेध ही है। आत्मश्रद्धान् होने से वह उसका त्यागी ही है फिर भी अशुद्ध उपादानगत योग्यता के कारण अभी तक शुभराग छूटा नहीं है; इसलिये ऊपर कहे अनुसार पंचाचारों का पालन/ग्रहण करता है।

हे जीवों ! जिसे निजस्वरूप के भान बिना नग्न शरीररूप अवस्थामात्र है। बाह्य में शुभभाव का कोई विचार नहीं है, उसे मुनिपना नहीं होता।

इसलिये जैसा मुनिपना ऊपर कहा है, वैसा श्रद्धा-ज्ञान में यथार्थ ग्रहण करना चाहिए।

● आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान होने के पश्चात् ही मुनिपना अंगीकार करना चाहिए, ऐसी जैनधर्म की परिपाटी है।

प्रथमतः जीवों को आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहिए; क्योंकि आत्मज्ञान के बिना मुनिपना नहीं हो सकता। जैसे पदार्थ (माल) बिना बारदाना क्या है? उसमें पदार्थ (माल) डाले तो उसका नाम बारदाना कहलाता है। बोरे में मूँग भरे तो मूँग का बोरा और उड़द भरे तो उड़द का बोरा नाम पाता है; किन्तु बिना पदार्थ (माल) के उसका कोई नाम नहीं होता। उसीप्रकार आत्मा में श्रद्धा-ज्ञानरूपी माल डाले बिना शरीर की नग्न अवस्थारूप बोरा (बारदाना) मुनिपनेरूप नाम को भी प्राप्त नहीं करता।

जैनधर्म की परिपाटी तो ऐसी है कि प्रथम तत्त्वज्ञानपूर्वक सम्यग्दर्शन प्रगट हो, तत्पश्चात् चरणानुयोग अनुसार चारित्र अंगीकार करे ह्व ऐसे मुनिपने का इच्छुक जीव घर-परिवार से विदाई लेकर पंचाचार को अंगीकार करता है।

अब जिनके पास दीक्षा लेने जाता है, वे दीक्षाचार्य कैसे होते हैं? उसका वर्णन आगामी गाथा में करते हैं ह्व

जिसप्रकार किसी को उधार रुपया देना हो तो प्रथम उसकी हैसियत क्या है? इसकी जानकारी प्राप्त करते हैं, उस व्यक्ति की हैसियत देखे बिना रुपया उधार नहीं देते; उसीप्रकार जिस गुरु के पास दीक्षा ग्रहण करनी है, वे गुरु कैसे होते हैं? ह्व उनका स्वरूप कहते हैं। ●

त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा के दर्शन-ज्ञानपूर्वक जो ध्यान होता है; वह सहज होता है, उसमें अभ्यास की आवश्यकता नहीं होती, पर जो ध्यान आत्मदर्शन-ज्ञान बिना मात्र बाहरी अभ्यास से किया जाता है, एक तो वह वास्तविक ध्यान होता ही नहीं, दूसरे उसमें बाहरी क्रिया भी निर्दोष नहीं हो सकती।

ह्व आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-६७

प्रवचनसार गाथा २०३

पश्चात् दीक्षा गुरु कैसे होते हैं उनका स्वरूप कहते हैं ह्व

समणं गणिं गुणड्ढं कुलरूपवयोविसिद्धमिद्धरं।

समणेहि तं पि पणदो पडिच्छं मं चेदि अणुगहिदो।।२०३।।

(हरिगीत)

रूप कुल वयवान गुणमय श्रमणजन को इष्ट जो।

ऐसे गणी को नमन करके शरण ले अनुगृहीत हो।।२०३।।

अन्वयार्थ : ह्व [श्रमणं] जो श्रमण है, [गुणाढ्यं] गुणाढ्य है, [कुलरूपवयो विशिष्टं] कुल, रूप तथा वय से विशिष्ट है और [श्रमणैः इष्टतरं] श्रमणों को अति इष्ट है [तम् अपि गणिं] ऐसे गणी को [माम् प्रतीच्छ इति] 'मुझे स्वीकार करो' ऐसा कहकर [प्रणतः] प्रणत होता है (प्रणाम करता है) [च] और [अनुगृहीतः] अनुगृहीत होता है।

टीका : ह्व पश्चात् श्रामण्यार्थी प्रणत और अनुगृहीत होता है। वह इसप्रकार है कि ह्व आचरण करने में और आचरण कराने में आनेवाली समस्त विरति की प्रवृत्ति के समान^१ आत्मरूप ह्व ऐसे श्रामण्यपने के कारण जो 'श्रमण' है; ऐसे श्रामण्य का आचरण करने में और आचरण कराने में प्रवीण होने से जो 'गुणाढ्य' है; सर्व लौकिक जनों के द्वारा निःशंकतया सेवा करने योग्य होने से और कुलक्रमागत (कुलक्रम से आनेवाले) क्रूरतादि दोषों से रहित होने से जो 'कुलविशिष्ट' है; अंतरंग शुद्धरूप का अनुमान करानेवाला बहिरंग शुद्धरूप होने से जो 'रूपविशिष्ट' है, बालकत्व और वृद्धत्व से होनेवाली बुद्धिविकलवता^२ का अभाव होने से तथा यौवनोद्रेक^३ की विक्रिया से रहित बुद्धि होने से 'वयविशिष्ट' है और यथोक्त श्रामण्य का आचरण करने तथा आचरण कराने सम्बन्धी

१. समान=तुल्य, बराबर, एकसा, मिलता हुआ। (विरति की प्रवृत्ति के तुल्य आत्मा का रूप अर्थात् विरति की प्रवृत्ति से मिलती हुई ह्व समान आत्मदशा सो श्रामण्य है।)

२. विकलवता = अस्थिरता; विकलता।

३. यौवनोद्रेक = यौवन का जोश, यौवन की अतिशयता।

पौरुषेय^१ दोषों को निःशेषतया नष्ट कर देने से मुमुक्षुओं द्वारा प्रायश्चित्तादि के लिये जिनका बहुआश्रय लिया जाता है; इसलिये जो 'श्रमणों को अतिइष्ट' है, ऐसे गणी के निकट ह्व शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि के साधक आचार्य के निकट ह्व 'शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धिरूप सिद्धि से मुझे अनुगृहीत करो' ऐसा कहकर श्रामण्यार्थी जाता हुआ प्रणत होता है। 'इसप्रकार यह तुझे शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धिरूप सिद्धि' ऐसा कहकर उस गणी के द्वारा वह श्रामण्यार्थी प्रार्थित अर्थ^२ से संयुक्त किया जाता हुआ अनुगृहीत होता है।

गाथा २०३ पर प्रवचन

मुनिदीक्षा लेने का इच्छुक जीव आत्मा के भानपूर्वक विशेष गुणवान मुनि के समीप जाकर, उन्हें प्रणाम कर उनसे दीक्षा की आज्ञा माँगता है।

गुरु भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान सहित विशेष स्थिरता सम्पन्न होते हैं। उनके अन्तर में भावलिंगी दशा और बाह्य में नग्नदशा वर्तती है। विकल्परूप अवस्था में उन्हें शुभभाव आते हैं; किन्तु उन शुभभाव के निषेधपूर्वक तीन कषाय चौकड़ी का उन्होंने नाश किया है।

उन्हें संज्वलन कषायरूप मंदराग वर्तता है। जिसकारण दीक्षा ग्रहण करनेवाले शिष्यों के यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान है कि नहीं उसकी जानकारी लेते हैं। वह मुनिपद पालन कर सकता है कि नहीं, इसकी खोज करते हैं और तत्पश्चात् उसे दीक्षा देते हैं।

वास्तव में नियम तो यह है कि मुनिपद का इच्छुक जीव प्रथमतः द्रव्यानुयोग अनुसार तत्त्वज्ञान का अभ्यास कर, यथार्थ श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक उदासीन परिणाम रखकर, परिषदादि सहन करने की सामर्थ्य हो तो स्वयं दीक्षा लेने जाता है और फिर गुरु उसे योग्य जानकर दीक्षा देते हैं।

● अब दीक्षागुरु कैसे होते हैं, उनका स्वरूप कहते हैं।

(१) गुरु श्रमण हैं :ह्व जिनको आत्मा के भानसहित अंतर भावलिंग

१. पौरुषेय = मनुष्य के लिये संभवित।

२. प्रार्थित अर्थ = प्रार्थना करके मांगी गई वस्तु।

दशा अत्यधिक बढ़ गई है। जो अन्तर में रागरूप दशा से पूर्णतः रहित हैं और बाह्य में भी वस्त्ररहित निर्ग्रन्थदशा में वर्त रहे हैं।

जिन्हें देह-मन-वाणी से भिन्न निज आत्म तत्त्व बारम्बार अनुभव में आ रहा है। जो स्वद्रव्य में ही निरन्तर लीनता करते हैं और अन्य को कराते हैं तथा जिन्हें समस्त अन्तर-बाह्य शुभाशुभ प्रवृत्ति से रहित आत्मदशा वर्तती है ह्व ऐसे मुनिपद के धारी गुरु श्रमण हैं।

(२) गुरु गुणाढ्य हैं :ह्व उक्त मुनिदशा के पालन में और अन्य मुनिराजों द्वारा यह मुनिदशा पलवाने में जो अत्यन्त प्रवीण हैं, गुणों के भण्डार हैं तथा धैर्य, शांति, उदासीनता इत्यादि गुणों के धारी हैं ह्व ऐसे गुरु गुणाढ्य है।

(३) गुरु कुल विशिष्ट हैं :ह्व समस्त लौकिकजनों द्वारा निःशंकतया सेवा करने योग्य होने से जो पूज्य हैं। अनीति-स्वरूप निम्न आचरण के धारी नहीं हैं। जो पूर्व से ही कुल विशिष्ट हैं। काम-क्रोध-क्रूरतादि दोषों से रहित सज्जनता स्वरूप हैं। उन गुरुओं के माता-पिता का भी लोक में विशिष्ट स्थान होता है; अतः गुरु कुल विशिष्ट हैं।

स्वच्छन्दी, लोभी, मानी व्यक्ति गुरु के योग्य हैं ही नहीं, ऐसे गुरु तो जगत में निन्दा के ही पात्र हैं।

(४) गुरु रूप विशिष्ट हैं :ह्व जिन्हें बाह्य और अन्तरंग परिग्रह से भिन्न निर्विकल्प दशा वर्त रही है। अन्तर भावलिंगस्वरूप को दर्शानेवाला बहिरंग नग्नलिंग जिन्हें वर्त रहा है। जिनके वस्त्रादि का अंश नहीं है, शरीर की चेष्टा में चपलता, हास्य, मस्करी आदि नहीं हैं। जिनके अन्तर में वैराग्यरूप परिणाम ही निरन्तर वर्त रहे हैं। जगत के पदार्थों में जिन्हें आश्चर्य या विस्मयता नहीं है तथा बाह्यरूप देखनेमात्र से ऐसा लगता है, मानो वे अन्तरस्वरूप में ठहर गये हों।

यहाँ बाह्यरूप मात्र की बात नहीं है; किन्तु मुख की गंभीरता विशिष्ट वैराग्यस्वरूप का बोध कराती है। इसप्रकार उनकी बाह्यदशा ही उनके अन्तरंगस्वरूप का बोध कराती है; इसलिए गुरु रूप विशिष्ट हैं।

(५) गुरु वय विशिष्ट हैं : ह्म बालपने के क्रिया-कलाप व वृद्धावस्था में होनेवाली अस्थिरता नहीं होने से जो अत्यन्त गंभीर हैं तथा जवानी से संबंधित समस्त विषय-वासनाओं की वृत्तियों से रहित हो चुके हैं। इसप्रकार बालपने के क्रियाकलाप, जवानी की विषय-वासना और वृद्धावस्था की अस्थिरता ह्म ऐसे तीन अवस्थागत दोषों से जो रहित हो गये हैं ह्म ऐसे गुरु वय विशिष्ट हैं।

(६) गुरु श्रमणों को अतिदृष्ट हैं : ह्म जिनके अन्तरदशा की अच्छी तरह वृद्धि हो गई है और अन्य जीवों की अन्तरदशा बढ़ाने में जो निमित्त हैं, वे दीक्षागुरु सामान्य दोषों से पूर्णतः रहित होते हैं।

कोई शिष्य आकर किसी बात का प्रायश्चित्त लेना चाहे तो उसे गंभीरतापूर्वक समझकर उसकी आलोचना करते हैं; किन्तु शिष्य की गलती को प्रगट नहीं करते।

मुमुक्षु श्रावक तथा अन्य मुनिराज भी जिनके पास बारम्बार प्रायश्चित्त ग्रहण करते हैं ह्म ऐसे गुरु श्रमणों को अत्यन्त दृष्ट हैं।

देह की क्रिया और पुण्य में धर्म मानना तो मनुष्यों का व्यवहार है ह्म ऐसे व्यवहाररूप दोषों का जिन्होंने अभाव किया है तथा निज शुद्धात्मा की श्रद्धा-ज्ञान सहित रमणतारूप आत्मव्यवहार को जो स्वयं निरन्तर आचरते हैं और दूसरों को अचरते हैं ह्म ऐसे गुरु श्रमणों को अत्यन्त प्रिय हैं।

● अब श्रामण्यार्थी कहता है कि हे भगवंत ! आत्मस्वभाव के अनुभव से मुझे अनुगृहीत करो ह्म

इसप्रकार जो दीक्षाचार्य गुणाढ्य, कुलविशिष्ट, रूपविशिष्ट, वयविशिष्ट तथा श्रमणों को अत्यन्त प्रिय हैं ह्म उनके पास मुनिपद का इच्छुक जीव दीक्षा ग्रहण करने के लिए जाता है और कहता है कि हे प्रभो ! आत्मस्वभाव के आनन्द में रमण करने के लिए, लीनता करने के लिए आप मुझ पर कृपा करो।

हे भाई ! देखो कितना विनय ! आत्मा का भान तो है और उसमें लीनता भी स्वयं को करनी है; तथापि कहते हैं कि हे नाथ ! आत्मानुभव से मुझे अनुगृहीत करो।

इस श्रामण्यार्थी जीव को आत्मा का भान तो है; किन्तु उसे विशेष लीनता की इच्छा वर्त रही है। वह आत्मा के ज्ञानस्वभाव में विचरण करना चाहता है; अतः मुनिपद का इच्छुक जीव विनयपूर्वक दीक्षाचार्य को प्रणाम करके कहता है कि हे भगवंत ! मुझे पुण्य या स्वर्गादि की चाह नहीं है, मुझे तो वीतरागी शांति प्राप्त करना है।

● अब दीक्षाचार्य कृपा कर कहते हैं कि तुझे शुद्धात्मा की प्राप्ति हो ह्म इसप्रकार मुनिपने का इच्छुक जीव आचार्य के समीप आकर विनती करता है, तब आचार्यदेव उस श्रामण्यार्थी की योग्यता और वैराग्य की उत्कृष्टता देखकर आशीर्वाद स्वरूप कहते हैं कि ह्म 'तुझे शुद्धात्मतत्त्व के अनुभव की सिद्धि हो।'।

इसप्रकार जिस जीव को माँगी हुई वस्तु प्राप्त होती है, गुरुकृपा प्राप्त होती है, वे जीव महान भाग्यवंत हैं।

गुरु निजात्मा का अनुभव शिष्य को नहीं बता सकते; कदाचित् उन्हें विकल्प उत्पन्न होते हैं; किन्तु वे वाणी से बोलते भी नहीं हैं; क्योंकि वे जानते हैं कि वाणी अथवा विकल्प का कर्ता मैं नहीं हूँ।

यहाँ तो शिष्य को स्व-आत्मा के अनुभव की जिज्ञासा है। वह स्वयं निज पुरुषार्थ से उस अनुभव को प्राप्त करता है। उससमय व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि गुरु की कृपा से आत्मानुभव हुआ।

अज्ञानी जीव इस चारित्र को लोहे के चने चबाने जैसा कहते हैं; किन्तु यह सब भ्रम है। चारित्र कष्टदायक नहीं है। सिद्ध भगवान के समान आनंद की लहर मुनिराज को वर्तती है, अमृत का कुण्ड उनके अन्तर से बहता है। आत्मा के भान सहित आनंद के अंकुर उनके अन्तर से अंकुरित होते हैं। मुनिदशा तो महान शांतिस्वरूप दशा है।

इसप्रकार द्रव्यदृष्टि करे तो आत्मा का ज्ञान प्रगट हो, आत्मज्ञान होने के पश्चात् चारित्र प्रगट करे और चारित्रदशा प्रगट होने पर केवलज्ञान प्रगट होता है; किन्तु मुनिपने के बिना केवलज्ञान कदापि नहीं हो सकता; अतः मुनिपद की सच्ची पहिचान करना अत्यन्त आवश्यक है। ●

प्रवचनसार गाथा २०४

पश्चात् वह कैसा होता है, सो उपदेश करते हैं ह

णाहं होमि परसिं ण मे परे णत्थि मज्झमिह किंचि ।

इदि णिच्छिदो जिदिंदो जादो जथजादरूपधरो ॥२०४॥

(हरिगीत)

रे दूसरों का मैं नहीं ना दूसरे मेरे रहे ।

संकल्प कर हो जितेन्द्रिय नग्नत्व को धारण करें ॥२०४॥

अन्वयार्थ : ह [अहं] मैं [परेषां] दूसरों का [न भवामि] नहीं हूँ [परे मे न] पर मेरे नहीं हैं, [इह] इस लोक में [मम] मेरा [किंचित्] कुछ भी [न अस्ति] नहीं है ह [इति निश्चितः] ऐसा निश्चयवान और [जितेन्द्रियः] जितेन्द्रिय होता हुआ [यथाजातरूपधरः] यथाजात-रूपधर (सहजरूपधारी) [जातः] होता है ।

टीका : ह और तत्पश्चात् श्रामण्यार्थी यथाजातरूपधर^१ होता है । वह इसप्रकार : ह 'प्रथम तो मैं किंचित्मात्र भी पर का नहीं हूँ, पर भी किंचित्मात्र मेरे नहीं हैं, क्योंकि समस्त द्रव्य तत्त्वतः^२ पर के साथ समस्त सम्बन्ध रहित हैं; इसलिये इस षड्रव्यात्मक लोक में आत्मा से अन्य कुछ भी मेरा नहीं है; ह इसप्रकार निश्चित मतिवाला (वर्तता हुआ) और परद्रव्यों के साथ स्व-स्वामिसंबंध जिनका आधार है ऐसी इन्द्रियों और नो-इन्द्रियों के जय से जितेन्द्रिय होता हुआ वह (श्रामण्यार्थी) आत्मद्रव्य का यथानिष्पन्न^३ शुद्धरूप धारण करने से यथाजातरूपधर होता है ।

गाथा २०४ पर प्रवचन

अनंत परपदार्थों से राग की प्रवृत्ति छोड़कर श्रामण्यार्थी यथाजात-रूपधर होता है । वह साधुपने का अर्थी जीव आत्मा का मूलभूत स्वरूप

१. यथाजातरूपधर = (आत्मा का) जैसा, मूलभूत रूप है वैसा (सहज, स्वाभाविक) रूप धारण करने वाला ।

२. तत्त्वतः = वास्तव में, तत्त्व की दृष्टि से, परमार्थतः ।

३. यथानिष्पन्न = जैसा बना हुआ है वैसा, सहज, स्वाभाविक ।

जैसा है, वैसा स्वाभाविकरूप धारण करता है ।

वह श्रामण्यार्थी ऐसा निश्चय करता है कि देह-देवल में विराजमान मैं स्वयं आत्मा किंचित्मात्र भी पर का नहीं हूँ और परपदार्थ मेरे नहीं हैं । मैं शरीर, मन, वाणी, स्त्री, कुटुंब परिवार से भिन्न हूँ । देव-शास्त्र-गुरु भी मेरे नहीं हैं और मैं उनका नहीं हूँ ।

आत्मा में उत्पन्न होनेवाले पुण्य-पाप के भाव भी मेरे नहीं हैं, वे मुझसे भिन्न पर हैं । पुण्य-पाप मुझमें उत्पन्न होने पर भी मैं उनका कदापि नहीं हूँ । तीनों काल पुण्य-पाप और शरीर से रहित जैसा मैं असंगतत्त्व हूँ, वैसा ही असंगतत्त्व वर्तमान में हूँ । पारमार्थिक दृष्टि से मेरा किसी परपदार्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है । छह द्रव्यों से व्याप्त इस लोक में स्व आत्मा के अलावा दूसरा कोई भी पदार्थ मेरा नहीं हैं ।

अन्य समस्त जीव, अनन्तानन्त पुद्गल, असंख्य कालाणु, धर्म, अधर्म, आकाश इन छह द्रव्यों का स्वचतुष्टय अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव उनके स्वयं के आधार से है और मेरा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप स्वचतुष्टय का आधार मैं स्वयं हूँ । मैं उनके लिए नहीं और वे मेरे लिए नहीं हैं ।

आत्मा और प्रत्येक परमाणु स्वतंत्र हैं । निगोददशा में सामान्य शरीर में रहनेवाले एक निगोदिया जीव का दूसरे निगोदिया जीव में अभाव वर्तता है । उनके शरीर का एक परमाणु दूसरे परमाणु के संबंध से रहित है ।

अज्ञानी जीव इन सबको अपना माने तो माने; किन्तु मेरा परद्रव्य के साथ रंचमात्र भी सम्बन्ध नहीं है ।

मैं चिदानन्द ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ । शरीर तथा रागादि से भिन्न हूँ हूँ ऐसा ज्ञान-श्रद्धान तो गृहस्थावस्था में भी था; किन्तु अब स्वभावाश्रय के कारण अंतर में ध्यान की लीनता कर चारित्र प्रगट हुआ है । अन्तरंग से राग का अपनापन टूटता जा रहा है और सहज यथाजातरूपधरपना प्राप्त हुआ है, इसी का नाम भावलिङ्गी मुनिदशा है । सच्चे भान बिना यथार्थ मुनिपना नहीं होता ।

जिसप्रकार जड़ को नष्ट किए बिना वृक्ष का नाश नहीं होता; उसीप्रकार सम्यग्दर्शन प्राप्त किए बिना संसार मूल का नाश नहीं होता। सम्यक्दर्शनपूर्वक इसप्रकार का यथाजातरूपधर मुनिपना हो तो वीतरागदशा होती है, इसलिए वीतरागदशा की प्राप्ति के लिए प्रथम मुनिपने का यथार्थज्ञान करना चाहिए।

साधुपद कैसा होता है? और साधु होने के लिए श्रामण्यार्थी को कैसा होना चाहिए उसकी यहाँ चर्चा कर रहे हैं। साधुपद के बिना तो केवलज्ञान ही नहीं हो सकता; अतः आत्मा के भानपूर्वक श्रामण्यार्थी जीव सर्वप्रथम यथाजातरूपधर होता है। आत्मा का जो मूलभूत ज्ञानानन्द-स्वभाव है, उसकी प्राप्ति का नाम यथाजातरूपधरपना है ह्व ऐसी अंतरदशा-पूर्वक मुनिपद होता है।

यथाजातरूपधर मुनि होने के पहले ज्ञानी जानता है कि ह्व मैं किंचित् भी पर का नहीं हूँ और पर मेरा नहीं है। दयादिरूप विकल्प मेरे नहीं है। मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ। वास्तव में साधु तो केवलज्ञान की तलहटी हैं। जिनकी केवलज्ञान लेने की तैयारी हो गई है, वे ही सच्चे साधु हैं।

‘सर्वद्रव्यो पर तत्त्वतः’ पर के साथ समस्त संबंध रहित हूँ। भगवान् आत्मा का परपदार्थों के साथ ज्ञेय-ज्ञायक संबंध को छोड़कर अन्य तादात्म्य संबंध, संयोग संबंध, लक्ष्य-लक्षण संबंध, गुण-गुणी संबंध इत्यादि कोई भी संबंध नहीं है।

इसीप्रकार राग के साथ आत्मा का एकमेकपना न होने से स्व-स्वामी संबंध, रागादि लक्षण और आत्मा लक्ष्य ऐसा लक्ष्य-लक्षण संबंध, राग गुण और आत्मा गुणी, रागादि लाभ करानेवाले और आत्मा लाभ को प्राप्त करनेवाला इत्यादि कोई भी संबंध विकार के साथ भी नहीं है। निमित्त-नैमित्तिकरूप संबंध भी परद्रव्य अथवा कर्म के साथ नहीं है। इसप्रकार समस्त संबंध निषेध होने से यथार्थ निर्णयपूर्वक जिसकी बुद्धि निर्मल हुई है, उसे ही सच्चा मुनिपना हो सकता है, अन्य को नहीं।

आचार्यदेव को जंगल में ग्रन्थ बनाने का विकल्प उत्पन्न हुआ और यह रचना हो गई, लेकिन वे इसे अपना कर्तव्य नहीं मानते। मैं ज्ञायक हूँ, पर के साथ मेरा कोई संबंध नहीं है ह्व ऐसे निर्णयपूर्वक वस्तुदृष्टि हुई और यथाजात-रूपधरपना सहज हुआ है। वस्तु तो अनादि से वैसी की वैसी ही है, बस ! पर्याय का नवीन जन्म हुआ है, अतः साधुपद लेने वाले जीव को प्रथम बुद्धि की निर्मलता होना आवश्यक है; क्योंकि उक्त स्वरूप समझे बिना साधुपना नहीं हो सकता।

‘सर्वद्रव्यो पर तत्त्वतः’ पर के साथ समस्त संबंध रहित हूँ, मैं ज्ञायक और पर मेरे ज्ञेय यह भी व्यवहार है। पर का मुझमें और मेरा पर में त्रिकाल अभाव है ह्व ऐसे परस्पर अभाव के बिना दोनों की पृथकता सिद्ध नहीं हो सकती।

जिन गुरु के पास श्रामण्यार्थी दीक्षा लेने जाता हैं, उनके साथ भी परमार्थ से मेरा कोई संबंध नहीं है ह्व ऐसा निश्चित करने के पश्चात् ही दीक्षा ली जाती हैं। लोक के छह द्रव्यों के साथ मेरा कुछ संबंध नहीं है; क्योंकि जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ह्व ऐसे छह द्रव्यस्वरूप इस लोक में आत्मा के अलावा और कुछ भी मेरा नहीं है।

मैं तो एक ज्ञायक हूँ, मन और इन्द्रियों का स्वामी मैं नहीं हूँ ह्व ऐसी निश्चित बुद्धि ही श्रामण्यार्थी के वर्तती है ह्व ऐसा होने पर यथाजातरूपधर मुनिपना होता है। द्रव्येन्द्रिय और मन जड़ है, अतः आत्मा को इन इन्द्रियों से भी भिन्न जानकर, उनपर विजय प्राप्तकर जितेन्द्रिय होना है।

यथार्थ निश्चित बुद्धिवाला होना अस्ति है और जितेन्द्रिय होना नास्ति है। मेरा आत्मा जड़ मन और इन्द्रियों से नहीं जानता; अपितु स्वतः स्वयं को जानता है। जिनका मुझमें त्रिकाल अभाव है वे मेरे ज्ञानभाव में कुछ मदद नहीं कर सकते। निमित्त का मुझमें त्रिकाल अभाव है, अतः जब इन्द्रियाँ मेरी है ही नहीं, तो वे मुझे क्या मदद कर सकती हैं? तथा जब मेरा ज्ञानस्वभाव पर में नहीं जा सकता तो फिर मैं पर का क्या कर सकता हूँ? अर्थात् कुछ भी नहीं कर सकता।

प्रश्न :ह्र में अल्पज्ञ हूँ, इन्द्रिय और मन से कुछ नहीं होता; तथापि इन्द्रिय और मन निमित्त तो है न?

उत्तर :ह्र निमित्त अर्थात् परद्रव्य । जब परद्रव्य का आत्मा में अभाव है, तो वे आत्मा को क्या लाभ करेंगे? आत्मा में ज्ञान का सद्भाव और इन्द्रियों का अभाव है; अतः इन्द्रियाँ ज्ञान में कुछ नहीं कर सकती ह्र ऐसा जब तक नहीं जानेंगे, तब तक यथार्थ मुनिपना नहीं हो सकता ।

दीक्षा देनेवाले गुरु कैसे होते हैं ? यह बात गाथा २०३ में कही थी और यहाँ दीक्षा लेनेवाला जीव कैसा होता है? उसका वर्णन कर रहे हैं ।

इन्द्रिय और मन का संबंध आत्मा के साथ नहीं है; अपितु जड़ पर पदार्थों के साथ है ह्र ऐसे भानपूर्वक ज्ञायक चैतन्य जैसा है वैसा सहज स्वाभाविक शुद्धरूप धारण करे तो यथाजातरूपधर कहलाता है । सिद्धपद के समान मेरा मूलस्वरूप शुद्ध है, उसे प्राप्त करने के लिए, पर्याय को स्वभाव की ओर झुकाने के लिए यथाजातरूपधर होते हैं ।

अहो ! मुनिपद तो ऐसा है ह्र जिनके चरणों में गणधरदेवों तक का नमस्कार पहुँचता है । 'णमो लोए सव्व साहूणं' द्वारा सर्व मुनियों को गणधरदेव का नमस्कार पहुँचता है, ऐसे मुनिपद की महिमा अथाह है । निमित्त से उपादान में कुछ होता है ह्र ऐसा मानना स्थूल भूल है । यहाँ तो निमित्त के साथ कोई संबंध ही नहीं है, अतः उनसे मुझे कोई लाभ भी नहीं है, यह बताया गया है; निमित्त का संबंध उसके अपने स्वद्रव्य के साथ है और मेरा संबंध मेरे अपने स्वद्रव्य के साथ है ।

ज्ञान-ज्ञेयाधिकार में इसी बात का निश्चय कराया है, पश्चात् यह चरणानुयोगसूचक चूलिका कही है ।

यथाजातरूपधरपना अनादि से अनभ्यस्त है; किन्तु नये अभ्यास में कुशलतापूर्वक प्रवेश करने से वीतरागी निर्मलदशा अवश्य प्राप्त होगी । वीतरागी भावलिंग का आजतक कभी भी अभ्यास नहीं किया है; किन्तु अभ्यास से उसकी सिद्धि अवश्य होगी, अतः आगामी गाथा में अन्तरंग लिंग और बहिलिंग का उपदेश करते हैं ।

प्रवचनसार गाथा २०५-२०६

अब, अनादि संसार से अनभ्यस्त होने से जो अत्यन्त अप्रसिद्ध है और अभिनव^१ अभ्यास में कौशल्य द्वारा जिसकी सिद्धि उपलब्ध होती है, ऐसे यथाजातरूपधरपने के बहिरंग और अंतरंग दो लिंगों का उपदेश करते हैं :ह्र

जधजादरूवजादं उप्पाडिदकेसमंसुगं सुद्धं ।

रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं ॥२०५॥

मुच्छारंभविजुत्तं जुत्तं उवओगजोगसुद्धीहिं ।

लिंगं ण परावेक्खं अपुणब्भवकारणं जेणहं ॥२०६॥(जुगलं)

(हरिगीत)

शृंगार अर हिंसा रहित अर केशलुंचन अकिंचन ।

यथाजातस्वरूप ही जिनवरकथित बहिलिंग है ॥२०५॥

आरंभ-मूर्छा से रहित पर की अपेक्षा से रहित ।

शुध योग अर उपयोग से जिनकथित अंतरलिंग है ॥२०६॥(युग्मम्)

अन्वयार्थ :ह्र [यथाजातरूपजातम्] जन्मसमय के रूप जैसा रूपवाला, [उत्पाटितकेशशमश्रुकं] सिर और दाढ़ी-मूछ के बालों का लोंच किया हुआ, [शुद्धं] शुद्ध (अकिंचन), [हिंसादितः रहितम्] हिंसादि से रहित और [अप्रतिकर्म] प्रतिकर्म (शारीरिक शृंगार) से रहित [लिंगम् भवति] ऐसा (श्रामण्य का बहिरंग) लिंग है ।

[मूच्छारंभवियुक्तम्] मूर्च्छा (ममत्व) और आरंभ रहित, [उपयोगयोगशुद्धिभ्यां युक्तं] उपयोग और योग की शुद्धि से युक्त तथा [न परापेक्षं] पर की अपेक्षा से रहित ह्र ऐसा [जैनं] जिनेन्द्रदेव-कथित [लिंगम्] (श्रामण्य का अंतरंग) लिंग है [अपुनर्भवकारणम्] जो कि मोक्ष का कारण है ।

१. अभिनव = बिल्कुल नया । (अनादि संसार से अनभ्यस्त यथाजातरूपधरपना अभिनव अभ्यास में प्रवीणता के द्वारा सिद्ध होता है ।)

टीका : ह्म प्रथम तो अपने से, यथोक्तक्रम से यथाजातरूपधर^१ हुए आत्मा के अयथाजातरूपधरपने^२ के कारणभूत मोहरागद्वेषादिभावों का अभाव होता ही है और उनके अभाव के कारण, जो कि उनके सद्भाव में होते हैं ऐसे (१) वस्त्राभूषण का धारण, (२) सिर और दाढ़ी-मूछों के बालों का रक्षण, (३) सर्किचनत्व^३ (४) सावद्ययोग से युक्तता तथा (५) शारीरिक संस्कार का करना, इन (पाँचों) का अभाव होता है; जिससे (उस आत्मा के) (१) जन्मसमय के रूप जैसा रूप, (२) सिर और दाढ़ी-मूछ के बालों का लोंच, (३) शुद्धत्व, (४) हिंसादिरहितता तथा (५) अप्रतिकर्मत्व (शारीरिक शृंगार-संस्कार का अभाव) होता ही है। इसलिये यह बहिरंग लिंग है।

और फिर, आत्मा के यथाजातरूपधरपने से दूर किया गया जो अयथाजातरूपधरपना, उसके कारणभूत मोहरागद्वेषादिभावों का अभाव होने से ही जो उनके सद्भाव में होते हैं ऐसे जो (१) ममत्व और कर्मप्रकर्म^४ के परिणाम, (२) शुभाशुभ उपरक्त उपयोग और तत्पूर्वक^५ तथाविध योग की अशुद्धि से युक्तता तथा (३) परद्रव्य से सापेक्षता; इन (तीनों) का अभाव होता है; इसलिये (उस आत्मा के) (१) मूर्छा और आरम्भ से रहितता, (२) उपयोग और योग की शुद्धि से युक्तता तथा (३) पर की अपेक्षा से रहितता होती ही है, इसलिये यह अंतरंग लिंग है।

गाथा २०५-२०६ पर प्रवचन

परसंबंध से रहित, ज्ञानस्वभावी आत्मा का भान होने पर जो मुनिदशा होती है, वह कैसी होती है ? उसका स्वरूप कहते हैं ह्म

मुनि के बाह्य में जन्मसमय जैसा रूप है अर्थात् वस्त्रादि कुछ भी नहीं हैं; किन्तु जो वस्त्रादि सहित मुनिपना मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। जो

१. यथाजातरूपधर = (आत्मा का) सहजरूप धारण करनेवाला।

२. अयथाजातरूपधर = (आत्मा का) असहजरूप धारण करनेवाला।

३. सर्किचन = जिसके पास कुछ भी (परिग्रह) हो ऐसा।

४. कर्मप्रकर्म = काम को अपने ऊपर लेना; काम में युक्त होना, काम की व्यवस्था।

५. तत्पूर्वक = उपरक्त (मलिन) उपयोगपूर्वक।

केंशलॉच करते हैं, शुद्ध हैं अर्थात् परिग्रह और हिंसादि से रहित हैं तथा शरीर के शृंगार आदि से रहित हैं ह्म ऐसी श्रमणों की बाह्यस्थिति हैं।

तथा जो मूर्च्छा (ममत्व) और आरम्भ से रहित हैं, जिनका उपयोग अत्यन्त निर्मल हो चुका है और जिन्हें पर की अपेक्षा नहीं है ह्म ऐसे अन्तरंग लिंग को धारण करनेवाले मुनि हैं; क्योंकि मोक्ष का कारण अन्तर्बाह्य निर्ग्रन्थदशा है, इसके अतिरिक्त दूजा कोई भी मोक्ष का मार्ग नहीं है। अन्य कोई वीतरागता का नाम धारण करें तो करें; किन्तु वीतरागता का मार्ग तो एक यह ही है।

“.... प्रथम तो अपने से यथोक्तक्रम से यथाजातरूपधर हुए आत्मा के अयथाजातरूपधरपने के कारणभूत मोह-राग-द्वेषादिभावों का अभाव होता ही है।.....”

पूर्वोक्त कहे अनुसार स्व-स्वरूप के भानपूर्वक सहज आनन्द की दशा में झूलते हुए मुनिदशा होती है। हठपूर्वक प्रतिकूलता सहन करें, उसका नाम मुनिपना नहीं है। वास्तव में किसी भी प्रकार की प्रतिकूलता मुझमें नहीं है। जगत के अन्य साधु तो परद्रव्यों के साथ संबंध रखते हैं; किन्तु मुझमें उसका अभाव है ह्म ऐसे भानपूर्वक अन्तर में वीतरागी स्थिरता बढ़ने से सहज मुनिपना व्यक्त होता है।

यथाजात अर्थात् सहजरूप, ज्ञायकपना। अनादि से प्रत्येक जीव यथाजातस्वरूपी ही है; किन्तु अब वर्तमान में श्रमणों ने निर्मल पर्याय प्रगट करके यथाजातरूप को धारण किया है अर्थात् यथाजातरूपधर हुए हैं।

क्षुधा-तृषा इत्यादि का संबंध जड़ द्रव्य के साथ है, अतः क्षुधा-तृषा का दुःख मुझे नहीं है। मैं तो ज्ञानस्वरूपी चैतन्य हूँ। पर के साथ मेरा कोई संबंध नहीं है। मेरा स्वभाव मेरे लिए नुकसानदायक नहीं है। परवस्तुओं का मुझमें त्रिकाल अभाव होने से वे मुझे नुकसान नहीं कर सकती ह्म ऐसा जिसे भान नहीं, वे वीतराग मार्ग में मुनि नहीं है।

यथाजातरूपधरपना यह वीतरागी सहजदशा की अस्ति है और उसमें मोह-राग-द्वेषपने की नास्ति है। यहाँ श्रामण्यार्थी जीव ने हठपूर्वक किसी का त्याग नहीं किया है; अपितु सहज-स्वभाव से जन्मी वीतरागी दशा उसे प्राप्त हुई है।

अहा ! आचार्य कुन्दकुन्द व आचार्य अमृतचन्द्र छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले भावलिंगी संत थे। हमसे उनके द्वारा बतलाया हुआ मुनिपना पालन नहीं किया जाए तो उसकी यथार्थ श्रद्धा अवश्य करें; किन्तु विपरीतता ग्रहण नहीं करना चाहिये।

अन्तर में सहज वीतरागदशारूप यथाजातरूपधरपना हो तो मोह-राग-द्वेषादि का अभाव होता ही है और जहाँ मिथ्यात्व राग-द्वेषादि का अभाव हुआ, वहाँ वस्त्रादि भी नहीं होते; क्योंकि मोहादि के सद्भाव में ही वस्त्राभूषण देखने में आते हैं।

मुनिराज को मिथ्यात्व-राग-द्वेष-मोह का अभाव है, अतः उन्हें वस्त्राभूषण अथवा अन्य श्रृंगार आदि नहीं हैं। केशलॉच करते हुये भी उन्हें दुःख नहीं होता; क्योंकि केश परद्रव्य हैं ह्व ऐसे भानपूर्वक वे सहज निजानन्द में मग्न रहते हैं, अतः तत्संबंधी दुःख भी उनके नहीं है।

राजा ऋषभदेव ने जब दीक्षा ली, तब उनके साथ अन्य चार हजार राजाओं ने भी दीक्षा ली। वे द्रव्यलिंगी होकर विपरीत आचरण करने लगे, तब देवों ने आकर उनसे कहा कि दिगम्बर मुनि का वेश धारण कर ऐसा आचरण करोगे तो दण्ड मिलेगा, फिर उन राजाओं ने द्रव्यलिंग भी छोड़कर वस्त्रादि धारण कर लिये। वास्तव में उन्हें अन्तर से मुनिपना नहीं था जिन्हें अन्तर में वीतरागी दशा होती है, उन्हें बाहर में धन-वस्त्रादि का परिग्रह नहीं होता। सावद्ययोग, शरीरादि के संस्कार नहीं होते। स्नान-दन्तधोवन आदि भी नहीं होते।

इसप्रकार रागादि के अभाव में मुनियों की बाह्य दशा को स्पष्ट करनेवाले निम्न पाँच बोलों को बताया गया है ह

(१) जन्मसमय के रूपसमान नग्नरूप होता है।

(२) मस्तक और दाढ़ी के केशों का लॉच करते हैं।

(३) शुद्धपना होने से वस्त्रादि अथवा धनादि परिग्रह उनके नहीं है।

(४) हिंसादि से रहितपना होने से रुपये-पैसे का लेन-देन नहीं है।

(५) अप्रतिकर्म अर्थात् शरीर का श्रृंगार आदि नहीं करते।

इसप्रकार भावलिंगी मुनियों का बाह्यलिंग है।

“..... और फिर आत्मा के यथाजातरूपधरपने से दूर किया गया जो अयथाजातरूपधरपना, उसके कारणभूत मोहरागद्वेषादिभावों का अभाव होने से ही जो उनके सद्भाव में होते हैं ऐसे जो (१) ममत्व और कर्मप्रकर्म के परिणाम, (२) शुभाशुभ उपरक्त उपयोग और तत्पूर्वक तथाविध योग की अशुद्धि से युक्तता तथा (३) परद्रव्य से सापेक्षता; इन (तीनों) का अभाव होता है।.....”

मुनियों को मोहादि का अभाव होने से मोहादि के सद्भाव में होनेवाले ममत्व और कर्मप्रकर्म के परिणाम नहीं होते हैं।

गृहस्थावस्था में आत्मस्वभाव के भानपूर्वक सम्यग्दर्शन प्राप्त किया। यहाँ सम्यग्दर्शन कोई वस्तु विशेष नहीं है; किन्तु पर से भिन्न निज आत्मा ज्ञानस्वभावी सर्वज्ञ समान है ह्व ऐसा श्रद्धा में स्वीकार ही सम्यग्दर्शन है। इस सम्यग्दर्शनपूर्वक जो विशेष आत्मस्थिरता होती है, उसका नाम मुनिपना है ह्व यहाँ उसकी बात है।

अन्तर में चैतन्यमूर्ति का अवलंबन लेकर रमणता करें, उसका नाम मुनिपना है। मुनिराज को ममत्वरूप परिणाम नहीं है। सिद्ध भगवान के समान आनन्द का जहाँ वेदन होता है, उसका नाम मुनिदशा है।

आरंभादि से रहित ऐसी मुनिदशा के बाह्य में विगत पाँच बातों से निवृत्ति है और अन्तर में राग-द्वेषादि आरम्भ से निवृत्ति है। इसप्रकार उपयोग की शुद्धि वर्तती है। उपयोग स्व में ही लगा होने से उसमें परद्रव्य की सापेक्षता का अभाव है।

बाह्य में वन-जंगल, गुफा इत्यादि की स्पृहा (प्रेम) मुनिराज को नहीं है; किन्तु अन्तर में चैतन्य की गुफा में रमण करने की स्पृहा उनके वर्तती है, अतः वे निजात्मा का ध्यान करते हैं।

समयसार गाथा ४९ की टीका में जयसेनाचार्यदेव लिखते हैं कि ह
 ‘स एव शुद्धात्मा.. निर्विकल्पनिर्मोहनिरंजन-निजशुद्धात्मसमाधि-
 संजातसुखामृतरसानुभूतिलक्षणे गिरि-गुहागह्वरे स्थित्वा सर्वतात्पर्येण
 ध्यातव्य इति ।

निर्विकल्प, निर्मोह, निरंजन, निज शुद्धात्मा की समाधि से उत्पन्न
 सुखामृत रस की अनुभूति ही जिसका लक्षण है ह ऐसे गिरि-गुफा में
 स्थित होकर सर्व तात्पर्य से एक शुद्धात्मा ही ध्यातव्य (ध्यान करने
 योग्य) है ।”

यहाँ ध्यान करने हेतु अन्तर-गुफा में जाने की बात कही है । बाह्य
 पत्थर की गिरि-गुफा में तो सिंहादि पशु-पक्षी भी रहते हैं; परन्तु मुनिराज
 अन्तर चैतन्यस्वभाव की गुफा में जाकर आत्मा को ध्याते हैं, तब उनके
 ह १. मूर्च्छा और आरम्भ से रहितता होती है । २. उपयोग और योग की
 शुद्धि होती है । ३. पर की अपेक्षा से रहितपना होता है ह इसप्रकार उनके
 अन्तरंग भावलिंग पाया जाता है ।

बाह्य में द्रव्यलिंग हो, किन्तु अन्तर में भावलिंग न हो तो वह मुनि
 नहीं है । उसीप्रकार अन्तरंग में भावलिंग हो और बाहर द्रव्यलिंग न हो
 ऐसा संभव नहीं है ।

अब आगामी गाथा में कुटुम्ब से सम्मति लेकर, गुरु के समीप दीक्षा
 लिये हुए जीव को समस्त क्रियाओं का कर्ता एक आत्मा ही है, ऐसे
 विचारपूर्वक श्रामण्य की प्राप्ति होती है, उसका स्वरूप कहते हैं । ●

आत्मध्यान करने के पूर्व उस आत्मा का स्वरूप समझना अत्यन्त
 आवश्यक है, जिसका ध्यान करना है, जो ध्येय है । रंग, राग और
 भेद से भिन्न ज्ञानानन्द स्वभावी निज भगवान आत्मा ही एकमात्र
 ध्येय है, ध्यान करने योग्य है । अतः सबसे पहले हमें आध्यात्मिक
 शास्त्रों के स्वाध्याय एवं आत्मज्ञानी गुरुओं के सहयोग से, सदुपदेश
 से निज भगवान आत्मा का स्वरूप गहराई से समझना चाहिए ।

ह आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-६७-६८

प्रवचनसार गाथा २०७

अब (श्रामण्यार्थी) इन दोनों लिंगों को ग्रहण करके और इतना-
 इतना करके श्रमण होता है ह इसप्रकार भवतिक्रिया^१ में, बंधुवर्ग से विदा
 लेनेरूप क्रिया से लेकर शेष सभी क्रियाओं का एक कर्ता दिखलाते हुए,
 इतने से (अर्थात् इतना करने से) श्रामण्य की प्राप्ति होती है, ऐसा उपदेश
 करते हैं :ह

आदाय तं पि लिंगं गुरुणा परमेण तं णमंसित्ता ।

सोच्चा सवदं किरियं उवट्टिदो होदि सो समणो ॥२०७॥

(हरिगीत)

जो परमगुरुनम लिंग दोनों प्राप्त कर व्रत आचरें ।

आत्मथित वे श्रमण ही बस यथायोग्य क्रिया करें ॥२०७॥

अन्वयार्थ :ह [परमेण गुरुणा] परम गुरु के द्वारा प्रदत्त [तदपि
 लिंगम्] उन दोनों लिंगों को [आदाय] ग्रहण करके, [तं नमस्कृत्य]
 उन्हें नमस्कार करके [सव्रतां क्रियां श्रुत्वा] व्रत सहित क्रिया को सुनकर
 [उपस्थितः] उपस्थित (आत्मा के समीप स्थित) होता हुआ [सः]
 वह [श्रमणः भवति] श्रमण होता है ।

टीका :ह तत्पश्चात् श्रमण होने का इच्छुक दोनों लिंगों को ग्रहण
 करता है, गुरु को नमस्कार करता है, व्रत तथा क्रिया को सुनता है और
 उपस्थित होता है; उपस्थित होता हुआ श्रामण्य की सामग्री पर्याप्त
 (परिपूर्ण) होने से श्रमण होता है । वह इसप्रकार है ह

परम गुरु ह प्रथम ही अर्हंतभट्टारक और उस समय (दीक्षाकाल में)
 दीक्षाचार्य ह इस यथाजातरूपधरत्व के सूचक बहिरंग तथा अंतरंग लिंग
 के ग्रहण की विधि के प्रतिपादक होने से, व्यवहार से उस लिंग के
 देनेवाले हैं । इसप्रकार उनके द्वारा दिये गये उन लिंगों को ग्रहण क्रिया के
 द्वारा संभावित-सम्मानित करके (श्रामण्यार्थी) तन्मय होता है और फिर

१. भवतिक्रिया = होनेरूप क्रिया ।

जिन्होंने सर्वस्व दिया है ऐसे मूल^१ और उत्तर परमगुरु को, भाव्यभावकता के कारण प्रवर्तित इतरेतरमिलन के कारण जिसमें से स्व-पर का विभाग अस्त हो गया है वह ऐसी नमस्कार क्रिया के द्वारा संभावित करके सम्मानित करके भावस्तुति वन्दनामय^२ होता है। पश्चात् सर्व सावद्ययोग के प्रत्याख्यानस्वरूप एक महाव्रत को सुननेरूप श्रुतज्ञान के द्वारा समय में परिणमित होते हुए आत्मा को जानता हुआ सामायिक^३ में आरूढ़ होता है। पश्चात् प्रतिक्रमण^४-आलोचना-प्रत्याख्यान-स्वरूप क्रिया को सुनने रूप श्रुतज्ञान के द्वारा त्रैकालिक कर्मों से विविक्त (भिन्न) किये जानेवाले आत्मा को जानता हुआ, अतीत-अनागत-वर्तमान, मन-वचन-कायसंबंधी कर्मों से विविक्तता (भिन्नता) में आरूढ़ होता है। पश्चात् समस्त सावद्य कर्मों के आयतनभूत^५ काय का उत्सर्ग (उपेक्षा) करके यथाजातरूपवाले स्वरूप को, एक को एकाग्रतया अवलम्बित करके रहता हुआ, उपस्थित होता है और उपस्थित होता हुआ, सर्वत्र समदृष्टिपने के कारण साक्षात् श्रमण होता है।

गाथा २०७ पर प्रवचन

आत्मा के भानपूर्वक कुटुंबीजनों से विदा लेकर, गुरु के पास दीक्षा लेकर, पंचमहाव्रतपूर्वक श्रामण्याथी जीव भाव और द्रव्यलिंग को ग्रहण करता है, गुरु को नमस्कार करता है, व्रतादि क्रियाओं को संभालता है और आत्मस्वभाव में स्थित रहता है।

श्रामण्य बनने की सम्पूर्ण सामग्री के पूर्ण होने से वह मुनिपने को प्राप्त हुआ है।

बाह्य में निर्ग्रन्थ लिंग न हो, वस्त्रादि से सहितपना हो, वह मुनित्व

१. मूल परमगुरु अर्हन्तदेव तथा उत्तरपरमगुरु दीक्षाचार्य के प्रति अत्यन्त आराध्यभाव के कारण आराध्य परमगुरु और आराधक ऐसे निज का भेद अस्त हो जाता है।

२. भावस्तुतिवन्दनामय = भावस्तुतिमय और भाववन्दनामय।

३. समय में (आत्मद्रव्य में, निजद्रव्यस्वभाव में) परिणमित होना सो सामायिक है।

४. अतीत-वर्तमान-अनागत, काय-वचन-मनसंबंधी कर्मों से भिन्न निजशुद्धात्मपरिणति वह प्रतिक्रमण-आलोचना-प्रत्याख्यानरूप क्रिया है।

५. आयतन = स्थान, निवास।

की सामग्री नहीं है। बाह्य में द्रव्यलिंगी हो जाए; किन्तु अन्तर में वीतरागतरूप भावलिंग न हो तो भी मुनिपना नहीं है। गृहस्थावस्था में ही रहते हुए मुनिपना हो जाएगा वह ऐसा कोई कहे तो संभव नहीं है।

सामान्य मुनिदशा के प्राप्ति की बात ही अत्यन्त गंभीर है तो केवलज्ञान की बात तो इससे बहुत ऊँची है।

प्रथमतः अरहन्त भट्टारक परमगुरु हैं, किन्तु यहाँ दीक्षा देनेवाले आचार्य को परमगुरु कहा है। वे यथार्थ लिंग का स्वरूप बताते हुये कहते हैं कि वह भाई! अन्तर में ज्ञायकस्वरूप का अवलंबन लेकर, बाह्य पदार्थों और पुण्य का अवलंबन छोड़कर, अन्तर स्वरूप में ठहरने का नाम भावलिंग है। बाह्य में निष्परिग्रही इत्यादि रहना तो द्रव्यलिंग है।

इन दोनों ही लिंगों का स्वरूप परमगुरु प्रतिपादन करते हैं। वहाँ अर्हन्त और दीक्षाचार्य व्यवहार से उस लिंग को देनेवाले हैं। मुनिराज ने स्वयं अन्तर में वैसी दशा प्राप्त की है तथा गुरु निमित्त होने से दीक्षा देनेवाला कहे जाते हैं।

गुरु ने भावलिंग और द्रव्यलिंग दिया है वह यह उपचार है। मुनि स्वयं भी शरीर के द्रव्यलिंग को नहीं कर सकता, वह तो सहज होता है।

परमगुरु ने मुझे द्रव्यलिंग दिया है, यह तो उपचार से कहा जाता है। आत्मा के भान और ऐसे वीतरागी मुनिदशा बिना कभी भी सुखी नहीं हुआ जा सकता; क्योंकि सच्चे ज्ञान बिना मुनिदशा नहीं है और मुनिदशा की प्राप्ति बिना केवलज्ञान नहीं हो सकता।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो धर्म की मूल सामग्री है। इसके अतिरिक्त परमगुरु द्वारा प्रदत्त द्रव्य और भाव दोनों ही लिंग को सम्मानपूर्वक अंगीकार करते हैं। साक्षात् तीर्थंकर भगवान ने मुझे मुनिपद दिया है वह ऐसा समझकर उन अन्तर्बाह्य शुद्धिपूर्वक अन्तर में डूबकी लगाकर लीन होते हैं।

“...और फिर जिन्होंने सर्वस्व दिया है ऐसे मूल और उत्तरपरमगुरु को भाव्यभावकता के कारण प्रवर्तित इतरेतर मिलन के कारण जिसमें से स्व का विभाग अस्त हो गया है वह ऐसी नमस्कार क्रिया के द्वारा संभावित करके सम्मानित करके भावस्तुति वन्दनामय होता है।...”

अन्तर में जागृत हुआ योगी विचार करता है कि हे प्रभो ! आपने मुझे मेरा सम्पूर्ण आत्मा, मेरा कल्याण, मेरा मोक्ष प्राप्त कराया है। आपने भावलिंग प्रदान कर मुझे मुक्ति की प्राप्ति कराई है। वास्तव में आपने ही मुझे सर्वस्व दिया है।

मूल और उत्तरगुरु के प्रति विनयपूर्वक नमस्कार कर मैं भावक और गुरु भाव्य ऐसा स्व-पररूप भाव्य-भावकपने का भेद छूट जाता है और वह जीव अन्तर आनन्द में लीन होता है।

आत्मानुभव में लीनता होने पर भगवान पूर्ण और मैं अपूर्ण, भगवान मेरे स्वामी और मैं उनका सेवक इत्यादि भेद-विकल्प भी छूट जाते हैं ह ऐसे अनुभवपूर्वक ही सच्ची मुनिदशा होती हैं।

अन्तर स्वरूप के बहुमानपूर्वक निजात्मा में लीनता हुई, उसीसमय परमगुरु को नमस्कार किया गया। उनका बहुमान हो गया। आत्मध्यान में लीन होने से स्वयं को भावस्तुति-भाववन्दना हो जाती है। भगवान की स्तुति का विकल्प नहीं है; किन्तु पर्याय अन्तर में लीन होकर चैतन्यमूर्ति भगवान में तल्लीन हो गई है। निर्विकल्प समाधि में लीनता का नाम ही भावस्तुति-भाववन्दना है और यही मुनिदशा है।

जिसे अभी यथार्थ मुनिदशा की पहचान ही नहीं है, उसे ऐसी मुनिदशा की भावना कैसे होगी ? मात्र वस्त्रादि छोड़ने का नाम मुनिपना नहीं है।

“...पश्चात् समस्त सावद्ययोग के प्रत्याख्यानस्वरूप एक महाव्रत को सुननेरूप श्रुतज्ञान के द्वारा समय में परिणामित होते हुए आत्मा को जानता हुआ, सामायिक में आरूढ़ होता है।...”

पंच महाव्रतादि व्यवहार शुभराग है। निश्चय से आत्मा में वीतरागी स्थिरतारूप एक ही महाव्रत है। चैतन्यस्वभावी आत्मा में लीन होकर स्वसमय में परिणमना अथवा पुण्य का विकल्प छोड़कर चैतन्य में लीन होने का नाम यथार्थ सामायिक है। बाहर में सामायिक नहीं होती।

चैतन्यस्वरूप में लीनता के बिना सावद्ययोग अर्थात् पुण्य-पाप का त्याग नहीं हो सकता और जबतक पुण्य-पाप का त्याग नहीं है, तबतक

सामायिक भी नहीं है। कदाचित् बाहर में सावद्ययोग छूटा हुआ दिखाई भी दे; किन्तु अन्तर में अज्ञानभाव है, अतः सावद्ययोग विद्यमान है। वास्तव में अज्ञान का होना ही सबसे बड़ा सावद्ययोग है।

अन्तर में निर्विकल्प श्रुतज्ञान द्वारा प्रतिसमय आत्मा को जानना, उसी के आनन्द में लीन होना ही मुनियों का सामायिक है। जिनके चरणों में गणधरदेव तक का नमस्कार पहुँचता है, उन मुनियों का ऐसा ही स्वरूप हैं, इससे भिन्न मुनिपना नहीं हो सकता।

“...पश्चात् प्रतिक्रमण-आलोचना-प्रत्याख्यानस्वरूप क्रिया को सुननेरूप श्रुतज्ञान के द्वारा त्रैकालिक कर्मों से विविक्त (भिन्न) किये जानेवाले आत्मा को जानता हुआ, अतीत-अनागत-वर्तमान मन-वचन-काय संबंधी कर्मों से विविक्तता में आरूढ़ होता है।...”

अतीत-वर्तमान-अनागत, मन-वचन-काय संबंधी कर्मों से भिन्न निजशुद्धात्मपरिणति प्रतिक्रमण-आलोचना-प्रत्याख्यान स्वरूप क्रिया है।

अन्तर में चैतन्यस्वरूप की निर्मल परिणति का नाम प्रतिक्रमण है। जोर-जोर से पाठ बोलना तो जड़ शब्द है। शुभविकल्पों का होना पुण्य है। इससे विपरीत अन्तर आत्मा में शुभ से रहित होकर स्थित होने से प्रतिक्रमण-आलोचना-प्रत्याख्यान इन तीनों की क्रिया का समावेश हो जाता है; किन्तु यह दशा प्राप्त होने के पूर्व उसका ज्ञान करना चाहिए; क्योंकि यथार्थ स्वरूप जाने नहीं और जड़ अथवा विकार की क्रिया में सामायिक माने, उसकी तो श्रद्धा भी सम्यक् नहीं है।

स्वरूप में ठहरते हुए पुण्य-पाप की उत्पत्ति ही न होने का नाम प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचनारूप क्रिया है। इसके अतिरिक्त मन-वचन-काय की क्रिया आत्मा की नहीं है।

इसप्रकार भगवान और गुरु से धर्म का स्वरूप समझकर पश्चात् अन्तरस्थिरतापूर्वक आत्मक्रिया करना चाहिए। ज्ञायक आत्मा में लीन होना चाहिए। जिससमय आत्मा में लीनतापूर्वक स्थिरता हुई, उसीसमय तीनों काल आत्मा कर्मों से भिन्न हुआ।

“...पश्चात् समस्त सावद्यकर्मों के आयतनभूत काय का उत्सर्ग करके यथाजातरूपवाले स्वरूप को, एक को एकाग्रतया अवलम्बित करके रहता हुआ, उपस्थित होता है और उपस्थित होता हुआ, सर्वत्र समदृष्टिपने के कारण साक्षात् श्रमण होता है।”

इसप्रकार क्रमपूर्वक सम्पूर्ण बात की। एकबार अन्तर में लीन हुए तो सबकुछ आ गया। काया को सावद्यकर्म का आयतन कहा वह निमित्त से कहा है; क्योंकि काया के आश्रय से राग का विकल्प उठता है, वह सावद्य है, पाप है। भगवान आत्मा चैतन्यज्योति है, उसके आश्रय से निर्मलभाव होने का नाम कायोत्सर्ग है।

हे ज्ञानसागर आत्मा ! इस कायोत्सर्गपूर्वक यथाजातस्वरूप का अवलंबन, लीनता होना मुनिपना है। उस जीव को सर्वत्र ज्ञायकभाव ही वर्तता है ह्व ऐसे सर्वत्र समदृष्टि के धारक जीव साक्षात् श्रमण है। सर्वत्र मुनिदशा का ऐसा ही स्वरूप जानना चाहिये।

यहाँ कोई पूछे कि मुनि नहीं होंगे तो मुनि के दर्शन-आहार आदि का लाभ कैसे मिलेगा ? अतः उनके दर्शन आदि का लाभ लेने हेतु मुनि होना चाहिए।

उससे कहते हैं कि जीव को साधुपना होता ही नहीं हैं, अतः दूसरों को लाभ देने के लिए साधु नहीं हुआ जाता। साधु तो स्वयं में लीन रहते हैं, पर से निस्पृह रहते हैं।

छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले मुनिराज को संसार का कोई विकल्प ही नहीं होता। वे अल्पकाल में ही केवलज्ञान प्राप्त करते हैं; अतः मुनिदशा को यथार्थ समझकर धारण करना चाहिये। सम्यक् मुनिदशा के बिना धर्म नहीं होता, मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती। इसप्रकार श्रमण होने के पश्चात् की दशा का वर्णन किया।

अब, निर्विकल्प दशा में विकल्प उठते समय छठवाँ गुणस्थान आता है, उससमय श्रमण की स्थिति कैसी होती है? उसका वर्णन आगामी गाथा में करते हैं। ●

प्रवचनसार गाथा २०८-२०९

अविच्छिन्न सामायिक में आरूढ़ हुआ होने पर भी श्रमण कदाचित् छेदोपस्थापना के योग्य है, ऐसा अब उपदेश करते हैं :ह

वदसमिदिन्दियरोधोलोचावस्सयमचेलमण्हाणं।

खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेगभत्तं च॥२०८॥

एदेखलुमूलगुणासमणाणंजिणवरेहिंपण्णात्ता।

तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि॥२०९॥(जुगलं)

(हरिगीत)

व्रत समिति इन्द्रिय रोध लुंचन अचेलक अस्नान व्रत।

ना दन्त-धोवन क्षिति-शयन अर खड़े हो भोजन करें॥२०८॥

दिन में करें इकबार ही ये मूलगुण जिनवर कहे।

इनमें रहे नित लीन जो छेदोपस्थापक श्रमण वह॥२०९॥(युग्मम्)

अन्वयार्थ :ह्व [व्रतसमितीन्द्रियरोधः] व्रत, समिति, इन्द्रियरोध,

[लोचावश्यकम्] लोचं, आवश्यकं, [अचेलम्] अचेलपना,

[अस्नानं] अस्नान, [क्षितिशयनम्] भूमिशयन, [अदंतधावनं]

अदंतधावन, [स्थितिभोजनम्] खड़े-खड़े भोजन, [च] और

[एकभक्तं] एकबार आहार ह्व [एते] ये [खलु] वास्तव में [श्रमणानां

मूलगुणाः] श्रमणों के मूलगुण [जिणवरैः प्रज्ञप्ताः] जिणवरों ने कहे हैं;

[तेषु] उनमें [प्रमतः] प्रमत्त होता हुआ [श्रमणः] श्रमण

[छेदोपस्थापकः भवति] छेदोपस्थापक होता है।

टीका :ह्व सर्व सावद्ययोग के प्रत्याख्यानस्वरूप एक महाव्रत की व्यक्तियाँ (विशेष, प्रगटताएँ) होने से हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह की विरतिस्वरूप पाँच प्रकार के व्रत तथा उसकी परिकरभूत^१ पाँच प्रकार की समिति, पाँच प्रकार का इन्द्रिय-रोध, लोच, छह प्रकार

१. परिकर = अनुसरण करनेवाला समुदाय; अनुचरसमूह; (समिति, इन्द्रियरोध, इत्यादि गुण पाँच व्रतों के पीछे-पीछे होते ही हैं, इसलिये समिति इत्यादि गुण पाँच व्रतों का परिकर अर्थात् अनुचर समूह है।)

के आवश्यक, अचेलपना^१, अस्नान, भूमिशयन, अदंतधावन (दातुन न करना), खड़े-खड़े भोजन, और एकबार आहार ह्व इसप्रकार ये (अट्टाईस) निर्विकल्प सामायिकसंयम के विकल्प (भेद) होने से श्रमणों के मूलगुण ही हैं। जब (श्रमण) निर्विकल्प सामायिकसंयम में आरूढ़ता के कारण जिसमें विकल्पों का अभ्यास (सेवन) नहीं है ऐसी दशा में से च्युत होता है, तब 'केवलसुवर्णमात्र के अर्थी को कुण्डल, कंकण, अंगूठी आदि को ग्रहण करना (भी) श्रेय है, किन्तु ऐसा नहीं है कि (कुण्डल इत्यादि का ग्रहण कभी न करके) सर्वथा स्वर्ण की ही प्राप्ति करना ही श्रेय है' ऐसा विचार करके मूलगुणों में विकल्परूप से (भेदरूप से) अपने को स्थापित करता हुआ छेदोपस्थापक होता है।

गाथा २०८-२०९ पर प्रवचन

साधुपद प्रगट करने के पूर्व देव-शास्त्र-गुरु का यथार्थ स्वरूप जानना आवश्यक है; क्योंकि जब तक सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का स्वरूप नहीं जानेंगे, तब तक मिथ्यात्वभाव टलनेवाला नहीं है और मिथ्यात्व के अभाव बिना सच्चा साधुपना संभव नहीं है।

बाह्य में परिग्रह और अन्तर में तीन कषाय चौकड़ी का अभाव किए बिना मुनिदशा नहीं होती। भले ही आत्मज्ञान हो, मति-श्रुत-अवधि तीनों ज्ञान हो; किन्तु अन्तर्बाह्य वीतरागदशा न हो तो मुनिपना नहीं हो सकता।

दिगम्बर शासन के अतिरिक्त अन्य किसी भी मत में मुनिपना संभव ही नहीं है। दिगम्बर शासन कहो या वस्तु स्वरूप कहो, इसके बगैर अन्य रीति से मुनिपना नहीं है। माता के गर्भ से जन्म के वक्त जैसी निर्विकार और वस्त्रादि रहित दशा होती है, वैसी ही मुनिदशा है। इससे भिन्न कोई अन्यप्रकार से मुनिपना माने तो उसने मुनि के यथार्थ स्वरूप को जाना ही नहीं है।

जिसे मुनिदशा हुई है, उसे समस्त सावद्ययोग का प्रत्याख्यान हो गया है। अन्तर में सातवें गुणस्थान के समय जो निर्विकल्पदशा प्रगट

१. अचेलपना = वस्त्ररहितपना, दिगम्बरपना

हुई, उसका नाम सामायिक है। आत्मध्यान में लीन होते ही मुनि को प्रथम सातवाँ गुणस्थान होता है, पश्चात् छठवाँ गुणस्थान आता है। निर्विकल्पदशा में महाव्रतरूप शुभविकल्प भी नहीं हैं। छठवें गुणस्थान में आने के पश्चात् पंच महाव्रतरूप शुभवृत्ति उत्पन्न होती है।

किसी एक हरितकाय जीव की भी हिंसा होती हो तो आहारादि लेने की वृत्ति उन्हें नहीं होती ह्व ऐसी अहिंसा है। साथ ही किसीप्रकार का असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य अथवा परिग्रहरूप सावद्यभाव मुनिराज को नहीं होने से उनके पंच महाव्रत और उनके साथ-साथ पाँच समिति इत्यादि २८ मूलगुण निरतिचार पलते हैं। वे २८ मूलगुण निम्नप्रकार से हैं :ह

५ महाव्रत	५ समिति	५ इन्द्रियविजय
६ आवश्यक	१ केशलोच	१ अचेलकपना
१ अस्नान	१ भूमिशयन	१ अदंतधोवन
१ खड़े-खड़े आहार	१ एक समय आहार	

इन २८ मूलगुणों के पालनरूप शुभविकल्प छठवें गुणस्थान में होता है; इससे विरुद्धभाव मुनिराज को नहीं होते। मुनिराज तो मुख्यपने आत्मध्यान में लीन रहते हैं।

अनंत तीर्थंकर भगवंतों के सनातन मार्ग में आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने ऐसी ही मुनिदशा जाहिर की है। इससे विरुद्ध कोई अन्य मुनिदशा माने तो उसने कुन्दकुन्ददेव और तीर्थंकरों की आज्ञा ही नहीं मानी। मुनिदशा सहज होती है, उसमें किसीप्रकार का हठाग्रह नहीं है।

छठवें गुणस्थान में २८ मूलगुणरूप शुभवृत्ति होती है। अन्तर में वीतराग भाव के बिना बाह्य में गमदशा हो, वह कोई मुनिदशा नहीं है, वह तो द्रव्यलिंग है। आत्मा में सहज लीनता होने से उन्हें ऐसा सहज उदासीन-वीतरागभाव हुआ है कि दन्तधोवन अथवा वस्त्रादि ग्रहण का विकल्प ही नहीं है। मुनिराज तो सिंहवृत्ति वाले हैं। खड़े-खड़े एकबार ही आहार करते हैं। शरीर में ताकत न हो तो समाधि धारण करते हैं; किन्तु अन्य रीति से आहार नहीं करते।

एकबार आहार लेने के पश्चात् दूसरी बार आहारवृत्ति उन्हें नहीं

उठती है। यह बाहर की बात नहीं है, किन्तु अन्तर में उस जाति का वीतरागभाव उन्हें जागृत हो चुका है, यही संतों का मोक्षमार्ग है।

२८ मूलगुण शुभ विकल्प के भेद हैं। अभेद में निर्विकल्प अनुभव रूप एक ही मूलगुण है और विकल्प उत्पन्न होते ही वे २८ प्रकार के हैं। सातवें गुणस्थान में निर्विकल्प सामायिक में स्थिरता के समय इन २८ मूलगुणों के भेद का विकल्प नहीं रहता, किन्तु जब निर्विकल्पदशा में स्थिर नहीं रहा जाता, तब उस जीव को २८ मूलगुणरूप शुभविकल्प उत्पन्न होते हैं, उस समय भी अकषायरूप वीतरागभाव विद्यमान रहता है।

“... तब ‘केवलसुवर्णमात्र के अर्थी को कुण्डल, कंकण, अंगूठी आदि को ग्रहण करना (भी) श्रेय है, किन्तु ऐसा नहीं है कि (कुण्डल इत्यादि का ग्रहण कभी न करके) सर्वथा स्वर्ण की ही प्राप्ति करना ही श्रेय है’ ऐसा विचार करके मूलगुणों में विकल्परूप से (भेदरूप से) अपने को स्थापित करता हुआ छेदोपस्थापक होता है।”

सातवें गुणस्थान में निर्विकल्प सामायिक सुवर्ण है और छठवें गुणस्थान में उत्पन्न २८ मूलगुणरूप शुभविकल्प सुवर्ण की पर्यायें हैं; क्योंकि शुभविकल्प उत्पन्न होने पर भी अन्तर में अकषायभाव विद्यमान ही है। वीतरागभाव टिका रहता है।

अहो मुनिदशा और वे मुनिराज ! क्षण-क्षण का विकल्प तोड़कर अन्तर में ऐसे लीन होते हैं कि हमें केवलज्ञान लेना ही है? केवलज्ञान लेने के लिए मानो वे झपट्टा मारते हैं।

जब निर्विकल्प नहीं रहा जा सकता, तब छठवें गुणस्थान में २८ मूलगुणरूप शुभराग उत्पन्न होता है। वहाँ शुभविकल्प उत्पन्न ही न हो, ऐसा हठ नहीं है। इस अपेक्षा से २८ मूलगुणों को सामायिक और संयम के भेद कहा गया है।

इसप्रकार छठवें गुणस्थान में रहते हुए शुभराग उत्पन्न होता है, उसका नाम छेदोपस्थापना है। जिनके निर्विकल्प संयम में छेद होकर २८ मूलगुण के पालनरूप वृत्ति उठती है, उन्हीं मुनिराज को छेदोपस्थापक कहा जाता है।

प्रवचनसार गाथा २१०

अब इनके (श्रमण के) प्रव्रज्यादायक की भाँति छेदोपस्थापक पर (दूसरा) भी होता है, ऐसा आचार्य के भेदों के प्रज्ञापन द्वारा उपदेश करते हैं :ह

लिंगग्रहणे तेसिं गुरु त्ति पव्वज्जदायगो होदि ।

छेदेसूवट्टवगा सेसा णिज्जावगा समणा ॥२१०॥

(हरिगीत)

दीक्षा समय जो दें प्रव्रज्या वे गुरु दो भेदयुत ।

छेदोपस्थापक श्रमण हैं अर शेष सब निर्यापका ॥२१०॥

अन्वयार्थ :ह [लिंगग्रहणे] लिंगग्रहण के समय [प्रव्रज्यादायकः भवति] जो प्रव्रज्या (दीक्षा) दायक हैं वह [तेषां गुरुः इति] उनके गुरु हैं और [छेदयोः उपस्थापकाः] जो छेदद्वय^१ में उपस्थापक हैं (अर्थात् १. जो भेदों में स्थापित करते हैं तथा २. जो संयम में छेद होने पर पुनः स्थापित करते हैं) [शेषाः श्रमणाः] वे शेष श्रमण [निर्यापकाः] निर्यापक^२ हैं।

टीका :ह जो आचार्य लिंगग्रहण के समय निर्विकल्प सामायिकसंयम के प्रतिपादक होने से प्रव्रज्यादायक हैं, वे गुरु हैं; और तत्पश्चात् तत्काल जो (आचार्य) सविकल्प छेदोपस्थापना संयम के प्रतिपादक होने से ‘छेद के प्रति उपस्थापक (उसमें पुनः स्थापित करने वाले)’ हैं, वे निर्यापक हैं; उसीप्रकार जो (आचार्य) छिन्न^३ संयम के प्रतिसंधान^४ की विधि के प्रतिपादक होने से ‘छेद होने पर उपस्थापक (संयम में छेद होने पर उसमें

१. छेदद्वय = दो प्रकार के छेद। (यहाँ (१) जो २८ मूलगुणरूप भेद होते हैं उसे भी छेद कहा है और (२) खण्डन अथवा दोष को भी छेद कहा है।)

२. निर्यापक = निर्वाह करनेवाला, सदुपदेश से दृढ़ करनेवाला; शिक्षागुरु, श्रुतगुरु।

३. छिन्न-छेद को प्राप्त; खण्डित; टूटा हुआ, दोष प्राप्त।

४. प्रतिसंधान = पुनः जोड़ देना वह; दोषों को दूर करके एकसा (दोष रहित) कर देना वह।

पुनः स्थापित करनेवाले) हैं, वे भी निर्यापक ही हैं; इसलिये छेदोपस्थापक, दूसरे भी होते हैं।

गाथा २१० पर प्रवचन

मुनिराज सातवें गुणस्थान में से छठवें गुणस्थान में आये, यह उनकी स्वयं की उपादानगत योग्यता है। वहाँ दीक्षा देनेवाले स्वयं गुरु हैं और छठवें गुणस्थान में आने पर सामायिक इत्यादि का स्वरूप समझानेवाले दूसरे होते हैं, अतः छेदोपस्थापक दूसरे भी होते हैं।

२८ मूलगुणों के पालनरूप वृत्ति उत्पन्न हो तो वह निश्चय संयम का छेद है, फिर अन्य भावों की क्या बात करें? इससे विरुद्धभाव हों तो उसे मुनिदशा है ही नहीं।

छेद दो प्रकार का है :ह्र (१) निर्विकल्प संयम में २८ मूलगुणों का विकल्प उठना छेद है (२) छठवें गुणस्थान में २८ मूलगुणों के पालन में कोई अतिचार लगे तो वह भी छेद है।

निर्विकल्प सामायिक में न रहकर कोई मुनिराज छठवें गुणस्थान में आते हैं तो उन्हें अन्य मुनि कहते हैं कि हे मुनि ! अन्तर निर्विकल्प अप्रमत्तभाव में रहना ही वास्तव में मुनिदशा है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी मुनि का भाव नहीं है और ऐसे उपदेशपूर्वक वे मुनिराज पुनः निर्विकल्प हो जाते हैं, तब वे दूसरे मुनिराज छेदोपस्थापक कहलाते हैं तथा २८ मूलगुणों के पालन में कोई अतिचार लगे, तब विधिपूर्वक प्रायश्चित्त कराके अतिचार दूर कराते हैं, वे मुनिराज भी छेदोपस्थापक कहलाते हैं। अन्य निर्यापक हैं यह तो निमित्त से है।

चरणानुयोग में निमित्त का भी ज्ञान कराया है। गुरु निर्यापक हैं,

१. छेदोपस्थापक के दो अर्थ हैं : (१) जो 'छेद (भेद) के प्रति उपस्थापक' है, अर्थात् जो २८ मूलगुणरूप भेद को समझाकर उसमें स्थापित करता है वह छेदोपस्थापक है; तथा (२) जो 'छेद के होने पर उपस्थापक' है, अर्थात् संयम के छिन्न (खण्डित) होने पर उसमें पुनः स्थापित करता है, वह भी छेदोपस्थापक है।

उसका अर्थ यह नहीं है कि गुरु संयम का निर्वाह कराते हों; किन्तु वे आप स्वयं अपने संयम का निर्वाह करते हैं और अन्य को कराने में निमित्त होते हैं, तब वे गुरु निर्यापक कहे जाते हैं। उपदेशक गुरु भी २८ मूलगुण से विरुद्ध उपदेश नहीं देते।

छेदोपस्थापक के भी दो अर्थ हैं :ह्र (१) जो छेद (भेद) के प्रति उपस्थापक है अर्थात् जो २८ मूलगुणरूप भेद को समझाकर उसमें स्थापित करता है, वह छेदोपस्थापक है, तथा (२) जो छेद के होने पर उपस्थापक है अर्थात् संयम के छिन्न (खण्डित) होने पर उसमें पुनः स्थापित करता है, वह भी छेदोपस्थापक है।

कोई जीव वस्त्रसहित मुनिदशा माने तो तीर्थकर भगवान, शास्त्र आदि को वैसा ही उपदेशक मानना पड़ेगा। इसप्रकार उस जीव की श्रद्धा में देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप के प्रति विपरीतता हो जाएगी, यह तो गृहीत मिथ्यात्व है।

अहो ! मुनिदशा का सम्यक्त्व, आत्मदशा में झूलती हुई चारित्रदशा और उनकी केवलज्ञान लेने की तैयारी ह्र ऐसी मुनिदशा को जो विपरीत माने, वह तो आचार्य कुन्दकुन्द का विरोधी है।

एक ओर आचार्य कुन्दकुन्द को महान बतावें और दूसरी तरफ वस्त्रसहित मुनिदशा माने इन दो बातों का मेल संभव नहीं है; क्योंकि वस्त्रसहित मुनिपना तीनकाल में नहीं हो सकता। वस्तुस्वरूप के अनुसार, तीर्थकरों द्वारा कहा हुआ और संतों द्वारा अनुभव किया हुआ मुनिदशास्वरूप यही मार्ग है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है।

वस्त्रसहित और वस्त्ररहित ऐसे दो प्रकार के मुनि नहीं होते। मुनिराज तो निर्ग्रन्थ ही होते हैं। अन्तर में तीन कषायरूप गाँठ और बाह्य में वस्त्रादि परिग्रह का उनको अभाव वर्तता है। यह दशा ही वीतरागमार्गस्वरूप मुनिपना है, अन्य कोई मुनिपना नहीं है।

प्रवचनसार गाथा २११-२१२

अब छिन्नसंयम के प्रतिसंधान की विधि का उपदेश करते हैं :ह

पयदम्हि समारब्धे छेदो समणस्स कायचेट्टम्हि ।

जायदिजदि तस्स पुणो आलोयणपुव्विया किरिया ॥२११॥

छेदुवजुत्तो समणो समणं व्यवहारिणं जिणमदम्हि ।

आसेज्जालोचित्ता उवदिट्ठं तेण कायव्वं ॥२१२॥ (जुगलं)

(हरिगीत)

यदि यत्नपूर्वक रहें पर देहिक क्रिया में छेद हो ।

आलोचना द्वारा अरे उसका करें परिमार्जन ॥२११॥

किन्तु यदि यति छेद में उपयुक्त होकर भ्रष्ट हों ।

तो योग्य गुरु के मार्गदर्शन में करें आलोचना ॥२१२॥ (युग्मम्)

अन्वयार्थ :ह [यदि] यदि [श्रमणस्य] श्रमण के [प्रयतायां] प्रयत्नपूर्वक^१ [समारब्धायां] की जानेवाली [कायचेष्टायां] कायचेष्टा में [छेदः जायते] छेद होता है तो [तस्य पुनः] उसे तो [आलोचनापूर्विका क्रिया] आलोचनापूर्वक^२ क्रिया करना चाहिये ।

[श्रमणः छेदोपयुक्तः] (किन्तु) यदि श्रमण छेद में उपयुक्त हुआ हो तो उसे [जिनमते] जैनमत में [व्यवहारिणं] व्यवहारकुशल [श्रमणं आसाद्य] श्रमण के पास जाकर [आलोच्य] आलोचना करके^३ (अपने दोष का निवेदन करके), [तेन उपदिष्टं] वे जैसा उपदेश दें वह [कर्तव्यम्] करना चाहिये ।

१. मुनि के (मुनित्वोचित) शुद्धोपयोग वह अन्तरंग अथवा निश्चयप्रयत्न है और उस अशुद्धोपयोगदशा में प्रवर्तमान (हठ रहित) देहचेष्टादि संबंधी शुभोपयोग वह बहिरंग अथवा व्यवहारप्रयत्न है । (जहाँ शुद्धोपयोगदशा नहीं होती वहाँ शुभोपयोग हठसहित होता है; वह शुभोपयोग व्यवहार-प्रयत्न को भी प्राप्त नहीं होता ।)

२. आलोचना = सूक्ष्मता से देख लेना वह, सूक्ष्मता से विचारना वह, ठीक ध्यान में लेना वह ।

३. निवेदन; कथन ।

(२११वीं गाथा में आलोचना का प्रथम अर्थ घटित होता है २१२वीं में दूसरा ।)

टीका :ह संयम का छेद दो प्रकार का है; बहिरंग और अन्तरंग । उसमें मात्र कायचेष्टा संबंधी वह बहिरंग है और उपयोग संबंधी वह अन्तरंग है । उसमें, यदि भलीभाँति उपर्युक्त श्रमण के प्रयत्नकृत कायचेष्टा का कथंचित बहिरंग छेद होता है, तो वह सर्वथा अन्तरंग छेद से रहित है इसलिये आलोचनापूर्वक क्रिया से ही उसका प्रतीकार (इलाज) होता है । किन्तु यदि वही श्रमण उपयोगसंबंधी छेद होने से साक्षात् छेद में ही उपयुक्त होता है तो जिनोक्त व्यवहारविधि में कुशल श्रमण के आश्रय से, आलोचनापूर्वक, उनके द्वारा उपदिष्ट अनुष्ठान द्वारा (संयम का) प्रतिसंधान होता है ।

भावार्थ :ह यदि मुनि के स्वस्थभावलक्षण प्रयत्न सहित की जानेवाली अशन-शयन-गमनादिक शारीरिक चेष्टासंबंधी छेद होता है तो उस तपोधन के स्वस्थभाव की बहिरंग सहकारीकारणभूत प्रतिक्रमणस्वरूप आलोचना-पूर्वक क्रिया से ही उसका प्रतीकार-प्रायश्चित्त हो जाता है, क्योंकि वह स्वस्थभाव से चलित नहीं हुआ है, किन्तु यदि उसके निर्विकार स्वसंवेदन-भावना से च्युतिस्वरूप छेद होता है, तो उसे जिनमत में व्यवहारज्ञ ह्व प्रायश्चित्तकुशल ह्व आचार्य के निकट जाकर, निष्प्रपंचभाव से दोष का निवेदन करके, वे आचार्य निर्विकार स्वसंवेदनभावना के अनुकूल जो कुछ भी प्रायश्चित्त उपदेशें वह करना चाहिये ।

गाथा २११-२१२ पर प्रवचन

मुनि के (मुनित्वोचित) शुद्धोपयोग अन्तरंग अथवा निश्चय प्रयत्न है तथा शुद्धोपयोग दशा में हठ आदि से रहित देह-चेष्टादिक संबंधी वर्तता हुआ शुभोपयोग बहिरंग अथवा व्यवहार प्रयत्न है । यदि शुद्धोपयोगदशा के बिना वर्तनेवाला शुभोपयोग हठपूर्वक हो तो ऐसा शुभोपयोग व्यवहारप्रयत्न को प्राप्त नहीं होता ।

अन्तर में वीतरागभाव से रहित २८ मूलगुणों के पालन रूप शुभविकल्प छठवीं भूमिका के योग्य शुभोपयोग नहीं है; अपितु हठपूर्वक

धारण किया गया शुभोपयोग है। सहज शुद्धोपयोग दशापूर्वक छठवें गुणस्थान में जो शुभविकल्प होते हैं, वे शुभोपयोगरूप व्यवहार प्रयत्न है।

अन्तर में कषाय रहित निश्चय प्रयत्न विद्यमान हो तो शुभभाव भी व्यवहार प्रयत्न कहलाते हैं; किन्तु वीतरागभाव के बिना मात्र शुभपना मुनिदशा का व्यवहार प्रयत्न भी नहीं कहलाता। अन्तर में वीतरागभाव टिकाये रखते हुए जो २८ मूलगुणों की वृत्ति उठती है, उसे व्यवहार प्रयत्न कहते हैं। वास्तव में मुनिदशा तो अन्तर वीतरागता के आधार से स्थित है।

ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप में रमणता हो और प्रमादपूर्वक सहज दोष हो जाए तो वे मुनिराज निर्दोष रूपसे निवेदन करके उन दोषों को दूर कर देते हैं। सहज दोष हुआ, यह क्रमबद्ध है। अन्तर में ज्ञातास्वभाव की ओर दृष्टि की एकाग्रता है, उसके जोरपूर्वक प्राप्त मुनिदशा का यही स्वरूप है।

मुनिराज को अन्तर ज्ञानानन्द स्वभाव में जो पूर्ण लीनता/स्थिरता है, उसे ही स्वस्थभाव कहते हैं। वहाँ शुभभावस्वरूप वृत्ति नहीं है।

ऐसा वीतरागी स्वस्थभाव अन्तर में टिकाये रखते हुए बाह्य शरीरादि के हलन-चलनरूप क्रिया में जो सहज फेरफार हुआ वह बाह्य छेद है; किन्तु अन्तर में उसकी आलोचना करने से वह दोष भी टल जाता है।

‘शरीर की क्रिया हुई’ हूँ ऐसे लक्ष्य से उत्पन्न शुभविकल्प का विचार आता है और तत्काल उतने में ही बाह्यछेद का प्रायश्चित्त हो जाता है।

मुनिराज को शुद्धोपयोग से बाहर जितने समय तक छठवें गुणस्थान में शुभविकल्प रहते हैं, उतने काल तक वे स्वभाव से च्युत है; अतः वहाँ शरीरादि की क्रिया को निमित्त करके बाह्य छेद में गिना है। उस छेद को टालने के लिये स्वरूप-विचार की बात यहाँ कही है।

यद्यपि छठवें गुणस्थान की भूमिका में कोई दोष नहीं लगा है; क्योंकि शरीर की चेष्टा आत्मा की नहीं है; अतः शरीर की चेष्टा का दोष आत्मा को नहीं है; किन्तु शुभविकल्प उठते ही स्व-आत्मा का लक्ष्य शरीर की चेष्टा पर गया, उससमय जो फेर-फार हुआ उसकी आलोचना की यहाँ बात है।

वास्तव में अन्तर स्वभाव में दोष नहीं लगा; क्योंकि अन्तर स्वभाव में दोष लगे या स्वसंवेदन की भूमिका नहीं रहे तो वह जीव अपने स्वभाव से च्युत हो गया है। ऐसे समय में वे जीव आचार्य के समीप जाकर निवेदनपूर्वक प्रायश्चित्त लेते हैं।

अहो ! मुनिराज तो अन्तर ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव में लीन हैं। वे राग-द्वेष के कर्ता नहीं हैं, वे बाह्य परपदार्थों से पूर्णतः उदासीन हैं, एकमात्र निज द्रव्य के आश्रयी है। जो क्रमसर पर्यायें हो रही हैं, उसके भी वे मात्र ज्ञाता हैं। उन पर्यायों में फेरफार करने की बुद्धि उन्हें नहीं वर्तती।

एक चैतन्य द्रव्य में ही वे प्रतिबद्ध हैं, असंख्यप्रदेशी ज्ञानपिण्ड में ही उनकी लीनता है। इसप्रकार शुभविकल्प उत्पन्न होने पर भी उनके परिणामों में कितनी सरलता है, उसकी यह बात है। अहो ! मुनिराज को तो भगवान के स्वभाव के समान पूर्णता वर्तती है।

अहो ! जिनके अन्तर में वैराग्य की धारा बहती हो, जिन्हें देखते ही ऐसा लगता हो कि यह तो जगत के परमेश्वर हैं। आत्मा के असंख्य प्रदेशों से जिन्हें निरन्तर निर्विकल्प आनन्द की धारा बहती हो हूँ ऐसे अन्तर स्वरूप में झूलने वाले मुनिराज तो जगत के धर्मपिता हैं।

अहो ! आज तो ऐसे वीतरागी संत मुनियों के दर्शन दुर्लभ हो गए हैं। मुनिदशा धारण करने की बात तो बहुत दूर रही; अपितु मुनिदशा का स्वरूप समझना भी लोगों को कठिन लगता है।

अतः हे भाई ! मुनिदशा का यथार्थ स्वरूप समझे बिना सच्चा मुक्तिमार्ग नहीं है। ●

आत्मन्! तू स्वयं भगवान है, तू अपनी शक्तियों को पहिचान, पर्याय की पामरता का विचार मत कर, स्वभाव के सामर्थ्य को देख, सम्पूर्ण जगत् पर से दृष्टि हटा और स्वयं में ही समा जा, उपयोग को यहाँ-वहाँ न भटका, अन्तर में जा, तुझे निज परमात्मा के दर्शन होंगे।
हूँ आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-८२

प्रवचनसार गाथा २१३

अब, श्रामण्य के छेद के आयतन होने से परद्रव्य-प्रतिबंध^१ निषेध करने योग्य हैं, ऐसा उपदेश करते हैं :ह

अधिवासे व विवासे छेदविहूणो भवीय सामण्ये ।

समणो विहरतु णिच्चं परिहरमाणो णिबंधाणि ॥२१३॥

(हरिगीत)

हे श्रमणजन! अधिवास में या विवास में बसते हुए ।

प्रतिबंध के परिहारपूर्वक छेदविरहित ही रहो ॥२१३॥

अन्वयार्थ :ह [अधिवासे] अधिवास में (आत्मवास अथवा गुरुओं के सहवास में) वसते हुए [वा] या [विवासे] विवास में (गुरुओं से भिन्न वासमें) वसते हुए, [नित्यं] सदा [निबंधान्] (परद्रव्यसम्बन्धी) प्रतिबंधों को [परिहरमाणः] परिहरण करता हुआ [श्रामण्ये] श्रामण्य में [छेदविहीनः भूत्वा] छेदविहीन होकर [श्रमणः विहरतु] श्रमण विहरो ।

टीका :ह वास्तव में सभी परद्रव्य-प्रतिबंध उपयोग के उपरंजक^२ होने से निरुपराग^३ उपयोगरूप श्रामण्य के छेद के आयतन हैं; उनके अभाव से ही अच्छिन्न श्रामण्य होता है । इसलिये आत्मा में ही आत्मा को सदा अधिकृत^४ करके (आत्मा के भीतर) बसते हुए अथवा गुरु रूपसे गुरुओं को अधिकृत^४ करके (गुरुओं के सहवास में) निवास करते हुए या गुरुओं से विशिष्ट ह भिन्न वास में बसते हुए, सदा ही परद्रव्यप्रतिबंधों को निषेधता (परिहरता) हुआ श्रामण्य में छेदविहीन होकर श्रमण वर्तो ।

१. परद्रव्यप्रतिबंध = परद्रव्यों में रागादिपूर्वक संबंध करना; परद्रव्यों में बंधना ह रुकना; लीन होना; परद्रव्यों में रुकावट ।

२. उपरंजक = उपराग करनेवाले, मलिनता ह विकार करनेवाले ।

३. निरुपराग = उपरागरहित; विकाररहित ।

४. अधिकृत = स्थापित करके; रखकर ।

५. अधिकृत करके = अधिकार देकर; स्थापित करके; अंगीकृत करके ।

गाथा २१३ पर प्रवचन

शुद्ध उपादान की ओर से मुनिराज चिदानन्द आत्मस्वरूप के सन्मुख रहते हैं और निमित्त की ओर से श्रीगुरु के समीप उनके चरणों में अथवा गुरु की आज्ञा लेकर एकांत में वसते हैं; किन्तु स्वच्छन्दी नहीं हो सकते ।

चिदानन्द स्वरूप की रमणता में उन्हें कोई प्रतिबंध नहीं है । वास्तव में मुनिदशा तो महान दशा है ।

सामान्य जीवों को यह दशा अत्यन्त दुर्लभ है । सनातन वीतराग मार्ग में तो स्त्रीदशा में मुनिपना है ही नहीं । स्त्री को अधिक से अधिक पाँचवा गुणस्थान हो सकता है, वह आर्यिका हो सकती है; किन्तु छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलने योग्य उग्र पुरुषार्थ उसके नहीं होता ।

अहाहा ! चौबीसों घण्टे जिनके अन्तर में एक आत्मा ही आत्मा का घोलन हो, उस आत्मा का ही विचार हो, वे जीव उग्र पुरुषार्थपूर्वक आत्मध्यान की ओर अग्रसर होते हैं । विशिष्ट समय में निद्रा लेते हैं, वह भी अत्यन्त अल्प होती है । घंटा-दो घंटा नींद नहीं लेते । वे तो सदैव जागृतदशा में ही रहते हैं ।

भावलिङ्गी मुनिराजों को निज चैतन्य की ऐसी जागृतदशा वर्तती है कि उनकी निद्रा समाप्त हो गई है । सातवें गुणस्थान में तो निद्रा है ही नहीं, छठवें गुणस्थान का काल भी अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं है । मुनिराज को निद्रा का प्रतिबंध नहीं है, किन्तु शरीर में बहुत थकावट हो तो कुछ समय विश्राम करते हैं, दो-तीन घंटे सो जाये ह ऐसा नहीं होता ।

“...वास्तव में सभी परद्रव्य-प्रतिबंध उपयोग के उपरंजक होने से निरुपराग उपयोगरूप श्रामण्य के छेद के आयतन हैं; उनके अभाव से ही अच्छिन्न श्रामण्य होता है ।...”

अहो, यह मुनिदशा ! मुनिराज तो सर्वज्ञ भगवान के वजीर हैं । केवलज्ञान लेने की तैयारी में हैं । एक बार आहार ग्रहण करते हैं तो पुनश्च उन्हें आहारादि की वृत्ति नहीं होती । तेज धूप/गर्मी हो तो भी पानी के

ग्रहण करने का विकल्प तक नहीं उठता। जिन्हें अन्तर में चैतन्यानन्द के अनुभव का रस वर्तता है, उन्हें तृषा कैसी? चैतन्य से भिन्न बाह्य परपदार्थों पर दृष्टि जाए तो वह चैतन्य को मलिन करनेवाली है। चैतन्य के उपयोग को भ्रमानेवाली है।

वे मुनिराज प्रवचन करते-करते अथवा आहार लेते-लेते भी सातवें गुणस्थान के निर्विकल्प आनन्द को अनुभवते हैं। चैतन्य का रस बारंबार उनके अन्तर में उछलता है ह्व ऐसी मुनियों की क्रिया है।

बाह्य परपदार्थों में इसे ग्रहण करना और इसे छोड़ना ह्व ऐसी मुनिराज की क्रिया नहीं है। उनकी क्रिया तो एकमात्र अन्तरस्वरूप में लीनता है।

अन्तर में शुद्धोपयोग की स्थापना का नाम साधुपना है। नग्नवेश अथवा शुभराग में साधुपना नहीं है। यदि मुनिराज के शुद्धोपयोग का अभाव है तो उनकी श्रमणता में छेद है।

जिनके अछेद शुद्धोपयोग हो और चैतन्यद्रव्य में लीनता बनी रहे; वे अच्छिन्न श्रमण कहलाते हैं; अतः मुनिराज अपने आत्मा में आत्मा को स्थापित करके उसमें लीन रहते हैं।

यहाँ आत्मा को व्रतादि या रागादि में स्थापित करने की बात नहीं है; क्योंकि ये तो विकार हैं। उपादान की दृष्टि से एकमात्र निजशुद्धात्मा में ही रमने की बात है और निमित्त की अपेक्षा श्रीगुरु को गुरुरूप में स्थापित करके उनके समीप अथवा गुरु की आज्ञानुसार अन्य स्थान पर भी रहने की बात है, जिससे परद्रव्य का प्रतिबंध नहीं रहे और शुद्धोपयोग भी अछेद वर्तता रहे। इसप्रकार मुनिराज को परद्रव्यों के प्रतिबंध का अभाव है।

अब आगामी गाथा में श्रमण (मुनिराज) एक स्वद्रव्य में ही प्रतिबद्ध हैं ह्व उसका वर्णन करते हैं।

प्रवचनसार गाथा २१४

अब, श्रामण्य की परिपूर्णता का आयतन होने से स्वद्रव्य में ही प्रतिबंध (सम्बन्ध लीनता) करने योग्य हैं, ऐसा उपदेश करते हैं :ह्व

चरदि णिबद्धो णिच्चं समणो णाणमिहं संसणमुहमिहं ।

पयदो मूलगुणेषु य जो सो पडिपुण्णसामण्णो ॥२१४॥

(हरिगीत)

रे ज्ञान-दर्शन में सदा प्रतिबद्ध एवं मूलगुण।

जो यत्नतः पालन करें बस हैं वही पूरण श्रमण ॥२१४॥

अन्वयार्थ :ह्व [यः श्रमणः] जो श्रमण [नित्यं] सदा [ज्ञाने दर्शनमुखे] ज्ञान और दर्शनादि में [निबद्धः] प्रतिबद्ध [च] तथा [मूलगुणेषु प्रयतः] मूलगुणों में प्रयत (प्रयत्नशील) [चरति] विचरण करता है, [सः] वह [परिपूर्णश्रामण्यः] परिपूर्ण श्रामण्यवान् है।

टीका :ह्व एक स्वद्रव्य-प्रतिबंध ही, उपयोग का मार्जन (शुद्धत्व) करनेवाला होने से, मार्जित (शुद्ध) उपयोगरूप श्रामण्य की परिपूर्णता का आयतन है; उसके सद्भाव से ही परिपूर्ण श्रामण्य होता है। इसलिये सदा ज्ञान और दर्शनादिक में प्रतिबद्ध^१ रहकर मूलगुणों में प्रयत्नशीलता से विचरना; ह्व ज्ञानदर्शनस्वभाव शुद्धात्मद्रव्य में प्रतिबद्ध ऐसा शुद्ध अस्तित्वमात्ररूप से वर्तना, यह तात्पर्य है।

गाथा २१४ पर प्रवचन

मुनिराज वस्तुस्वभाव में लीन हो गये हैं; अतः स्वद्रव्य में ही प्रतिबद्ध हैं तथा मूलगुणों में प्रयत्नशील रहते हुए परिपूर्ण श्रमणता को प्राप्त होते हैं। यदि स्वद्रव्य में लीनता न हो तो उनके श्रमणपना ही नहीं हो सकता।

“एक स्वद्रव्य प्रतिबंध ही, उपयोग का मार्जन (शुद्धत्व) करनेवाला होने से, मार्जित (शुद्ध) उपयोगरूप श्रामण्य की परिपूर्णता का आयतन है।...”

१. प्रतिबद्ध, संबद्ध; रुका हुआ; बँधा हुआ; स्थित; स्थिर; लीन।

स्वद्रव्य में लीनतारूप शुद्धोपयोग ही एक आत्मा को शुद्ध करनेवाला है। शुद्धोपयोग के अतिरिक्त किसी निमित्तरूप प्रतिबंध अथवा शुभराग से आत्मा को शुद्धता की प्राप्ति नहीं होती। शुद्धोपयोगरूप साधुपने की परिपूर्णता का स्थान एकमात्र स्वद्रव्य में लीनता ही है, किन्तु जिसे स्वद्रव्य का भान भी नहीं है, उसे मुनिपना कैसे हो सकता है? मुनिदशा में रहनेवाला स्थान एकमात्र आत्मद्रव्य है। २८ मूलगुणों के पालनरूप जो वृत्ति है, वह भी वास्तव में श्रमणदशा का स्थान नहीं है। जिससमय स्वद्रव्य में प्रतिबद्धता हुई, उसीसमय श्रमणता की परिपूर्णता हुई।

“...इसलिये सदा ज्ञान और दर्शनादिक में प्रतिबद्ध रहकर मूलगुणों में प्रयत्नशीलता से विचरना ह्व ज्ञानदर्शनस्वभाव शुद्धात्म द्रव्य में प्रतिबद्ध ऐसा शुद्ध अस्तित्वमात्ररूप से वर्तना, यह तात्पर्य है।”

शुद्ध चैतन्यसत्ता में वर्तने का नाम साधुपना है अथवा ज्ञान-दर्शन स्वभावी आत्मा में लीन होकर उसी में वर्तने का नाम साधुपना है। पंचमहाव्रतादि के विकल्प अथवा शुभभावों के विकल्प की पूर्ति करना मुनिपने का तात्पर्य नहीं है। बहुत से लोगों को तो अभी सच्चे मुनिपने के स्वरूप का ही पता नहीं है।

यद्यपि मुनिराज को २८ मूलगुणों के पालनरूप विकल्प होता है; किन्तु उनका मूल उद्देश्य तो शुद्धोपयोग टिकाये रखना है। जिसे अभी तक मुनिस्वरूप का पता ही नहीं है अथवा जो मुनिपने को विपरीतरूप स्वीकार करता है, उसे सच्चे मार्ग की श्रद्धा ही नहीं है।

यह कोई नया मार्ग नहीं है; अपितु अनादिस्वरूप मार्ग है। तीर्थकर भगवंतों ने अनादि से यही मार्ग कहा है और संतों ने उसका सेवन किया है। आज भी महाविदेह क्षेत्र में सीमन्धर भगवान यही मार्ग उपदेश रहे हैं और इसी मार्ग को स्वीकारने वाले हजारों-लाखों मुनिराज अभी वहाँ उपस्थित हैं।

अतः यहाँ (शास्त्र में) जिसप्रकार मुनिदशा का स्वरूप बताया है, वह मुनिदशा वैसी ही है, अन्यरूप नहीं।

दो हजार वर्ष पूर्व आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने यही बात कही थी तथा

आचार्य कुन्दकुन्द के १००० वर्ष पश्चात् आचार्य अमृतचन्द्र ने इस शास्त्र की टीका में यही बात लिखी और वही बात आज भी यथावत् कही जा रही है; अतः सर्वप्रथम यथार्थ मार्ग की श्रद्धा करनी चाहिये।

यद्यपि हमारे जीवन में अभी मुनिदशा नहीं है; किन्तु मुनिदशा कैसी होती है? उसका स्वरूप क्या है? इसकी पहिचान होना अत्यन्त आवश्यक है; इसके बिना अन्य रीति से मुनिपना त्रिकाल संभव नहीं है।

हमारे जीवन में ऐसा मुनिपना नहीं आ सके तो कोई दोष नहीं है अर्थात् मुनिपना नहीं हो तो न हो, किन्तु श्रद्धा में तो मुनिपने का यथार्थ स्वरूप ज्ञात होना ही चाहिये। इससे विपरीत श्रद्धा होगी तो वह दोषपूर्ण ही होगी।

अहो! यह मार्ग तो अनंत संतों द्वारा ग्रहण किया गया है। तीर्थकरों द्वारा बताया हुआ और गणधरों का स्वीकारा हुआ है। चक्रवर्ती को भी जो आदरयोग्य है ह्व ऐसा मुनिमार्ग तीनों काल में एक ही है। इसे किसी अन्य रीति से स्वीकार करना तो मिथ्या श्रद्धा है। ●

भाई! वीतरागी प्रभु का मार्ग या धर्म का मार्ग जगत से बिल्कुल जुदा है। पर की दया पालने का भाव आता है वह शुभराग है, परन्तु पर की दया कोई पाल नहीं सकता; क्योंकि वह परवस्तु है, वह अपने परिणमन में स्वतंत्र है। उसकी अवस्था का कर्ता वह स्वयं है। इसकारण दूसरा कोई ऐसा कहे कि 'मैं इसको जीवित रखता हूँ, बचाता हूँ या मारता हूँ' तो ये मान्यतायें मिथ्या हैं, भ्रम हैं; ऐसा माननेवाला मूढ़ है, अज्ञानी है। भाई! तू तो ज्ञान है न? तू जानने की भूमिका में रहे ह्व ऐसा तेरा स्वरूप है। जाननेवाला आत्मा जानने के सिवा और कर ही क्या सकता है? क्या वह राग कर सकता है? राग या विकार का तो तेरे स्वभाव में अभाव है। तथापि तू दया, दान आदि परद्रव्यों के भावों को व स्वयं को एकरूप करके अनादि से मिथ्यात्व में सो रहा है, ये तेरी भारी भूल है, अज्ञान है।

ह्व प्रवचनरत्नाकर भाग-२, पृष्ठ-९३

प्रवचनसार गाथा २१५

अब, मुनिजन को निकट^१ का सूक्ष्मपरद्रव्यप्रतिबंध^२ भी, श्रामण्य के छेद का आयतन होने से निषेध्य हैं, ऐसा उपदेश करते हैं :ह

भक्ते वा खमणे वा आवसथे वा पुणो विहारे वा ।

उवधिम्हि वा णिबध्दं समणम्हि विकथम्हि ॥२१५॥

(हरिगीत)

आवास में उपवास में आहार विकथा उपधि में ।

श्रमणजन व विहार में प्रतिबंध न चाहें श्रमण ॥२१५॥

अन्वयार्थ :ह [भक्ते वा] मुनि आहार में, [क्षपणे वा] क्षपण में (उपवास में), [आवसथे वा] आवास में (निवास स्थान में), [पुनः विहारे वा] और विहार में [उपधौ] उपधि में (परिग्रह में) [श्रमणे] श्रमण में (अन्य मुनि में) [वा] अथवा [विकथायाम्] विकथा में^३ [निबद्धं] प्रतिबन्ध [न इच्छति] नहीं चाहता ।

टीका :ह (१) श्रामण्यपर्याय के सहकारी कारणभूत शरीर की वृत्ति^४ के हेतुमात्ररूप से ग्रहण किया जानेवाला जो आहार, (२) तथाविध^५ शरीर की वृत्ति के साथ विरोध बिना, शुद्धात्मद्रव्य में नीरंग^६ और निस्तरंग विश्रांति की रचनानुसार प्रवर्तमान जो क्षपण (अर्थात् शरीर के टिकने के साथ विरोध न आये इसप्रकार, शुद्धात्मद्रव्य में विकाररहित और तरंगरहित स्थिरता होती जाये, तदनुसार प्रवर्तमान अनशन में), (३) नीरंग और निस्तरंग-अन्तरंग द्रव्य की प्रसिद्धि (प्रकृष्ट सिद्धि) के लिये सेवन किया

१. आगम विरुद्ध आहारविहारादि तो मुनि के छूटा हुआ ही होने से उसमें प्रतिबन्ध होना तो मुनि के लिये दूर है; किन्तु आगमकथित आहार विहारादि में मुनि प्रवर्तमान है, इसलिये उसमें प्रतिबंध हो जाना संभवित होने से वह प्रतिबंध निकट का है ।
२. सूक्ष्मपरद्रव्यप्रतिबन्ध = परद्रव्य में सूक्ष्म प्रतिबन्ध ।
३. छद्मस्थ मुनि के धार्मिक कथा-वार्ता करते हुये भी निर्मल चैतन्य विकल्पयुक्त होता है, इसलिये अंशतः मलिन होता है, अतः उस धार्मिक कथा को भी विकथा अर्थात् शुद्धात्मद्रव्य से विरुद्ध कथा कहा है ।
४. वृत्ति = निर्वाह; टिकना ।
५. तथाविध = वैसा (श्रामण्यपर्याय का सहकारी कारणभूत)
६. नीरंग = नीराग; निर्विकार ।

जानेवाला जो गिरीन्द्रकन्दरादिक आवसथ में (उच्च पर्वत की गुफा इत्यादि निवास स्थान में), (४) यथोक्त शरीरकी वृत्ति की कारणभूत भिक्षा के लिये किये जानेवाले विहारकार्य में, (५) श्रामण्य पर्याय का सहकारी कारण होने से जिसका निषेध नहीं है ऐसे केवल देहमात्र परिग्रह में, (६) मात्र अन्योन्य बोध्यबोधकरूप^१ से जिनका कथंचित् परिचय वर्तता है ऐसे श्रमण (अन्य मुनि) में, और (७) शब्दरूप पुद्गलोल्लास (पुद्गलपर्याय) के साथ संबंध से जिसमें चैतन्यरूपी भित्ति का भाग मलिन होता है, ऐसी शुद्धात्मद्रव्य से विरुद्ध कथा में भी प्रतिबंध निषेध्य ह्व त्यागने योग्य है अर्थात् उनके विकल्पों से भी चित्तभूमि को चित्रित होने देना योग्य नहीं है ।

भावार्थ :ह आगमविरुद्ध आहारविहारादि तो मुनि ने पहले ही छोड़ दिये हैं । अब संयम के निमित्तपने की बुद्धि से मुनि के जो आगमोक्त आहार, अनशन, गुफादि में निवास, विहार, देहमात्र परिग्रह, अन्य मुनियों का परिचय और धार्मिक चर्चा-वार्ता पाये जाते हैं, उनके प्रति भी रागादि करना योग्य नहीं है, ह्व उनके विकल्पों से भी मन को रँगने देना योग्य नहीं है; इसप्रकार आगमोक्त आहार-विहारादि में भी प्रतिबंध प्राप्त करना योग्य नहीं है, क्योंकि उससे संयम में छेद होता है ।

गाथा २१५ पर प्रवचन

मुनिराज के आगमविरुद्ध आहार-विहारादि तो हैं ही नहीं; अतः विरुद्ध आहार-विहारादि रूप किसी भी प्रकार का प्रतिबंध तो मुनिराज के दूर ही है; किन्तु आगमकथित आहार-विहारादि में मुनिराज प्रवर्तते हैं, वहाँ प्रतिबंध हो जाना संभवित है; इसलिये वह प्रतिबंध निकट का कहलाता है ।

यहाँ अशुभभाव की बात नहीं है; किन्तु भूमिकानुसार जो शुभराग होता है उस शुभरागरूप प्रतिबंध का भी उन्हें निषेध वर्तता है; अतः

१. बोध्य वह है जिसे समझाया जाता है अथवा जिसे उपदेश दिया जाता है और बोधक वह है जो समझाता है, अर्थात् जो उपदेश देता है । मात्र अन्य श्रमणों से स्वयंबोध ग्रहण करने के लिये अथवा अन्य श्रमणों को बोध देने के लिये मुनि का अन्य श्रमण के साथ परिचय होता है ।

निर्दोष आहार-विहार आदि परिणामों में भी वे प्रतिबद्ध नहीं होते। वे तो सर्वथा छूटे हुये ही हैं ह्व ऐसी मुनिराजों की वीतरागदशा है।

ऐसे मुनिराजों को अन्तर्बाह्य निर्ग्रन्थदशा वर्तती है। कदाचित् निर्दोष आहार लेने की वृत्ति उठती हो अथवा महीना-दो-महीना का उपवास हुआ हो, विहार हुआ हो, अन्य मुनियों के साथ विकथा हुई हो तो उसमें और मयूरपीछी या कमण्डल आदि में भी मुनिराज प्रतिबद्ध नहीं होते। यहाँ छद्मस्थ मुनि धार्मिक कथा-वार्ता करने पर निर्मल रहते हुये भी विकल्पयुक्त होते हैं, इसलिये अंशतः मलिन हैं, अतः उस धार्मिक कथा को भी विकथा अर्थात् शुद्धात्मद्रव्य से विरुद्ध कथा कहा है।

शुभराग में भी उपयोग की मलिनता होने से उन्हें उसका भी प्रतिबंध होने देना योग्य नहीं है। जिन्हें आत्मा का कल्याण करना है, उन्हें प्रथम शरीरादि परद्रव्यों से भिन्न आत्मा की पहिचान करनी चाहिए। अन्तर्मुख स्वभाव की दृष्टिपूर्वक सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिए; क्योंकि यही प्रथम धर्म है ह्व ऐसा सम्यग्दर्शन होने पर ही सच्ची मुनिदशा होती है।

इस मुनिदशा को प्राप्त किये बिना केवलज्ञान नहीं होता। मुनिराज को तो अन्तरस्वभाव के अवलंबनपूर्वक बाह्य में तद्रूप निर्ग्रन्थदशा हुई है। वहाँ परद्रव्य के प्रतिबंध से रहित दशा कैसी होगी? उसका स्वरूप कहते हैं ह्व

उपादान में शुद्धभाव प्रगट हो तब बाह्य में निमित्त कैसे होते हैं? यह भी जानने योग्य है। अन्तर में चैतन्यलीनता पर ही उपयोग स्थिर हुआ है; अतः बाह्य में वस्त्रादि के अवलंबन की वृत्ति नहीं रहती। साधुपद तो पंचपरमेष्ठी पद है। जिनके अन्तर में ज्ञायकस्वभाव का दृढ़ आश्रय वर्तता है, उन मुनिराजों को छठवें गुणस्थान में आहारादि की वृत्ति उठती है, वहाँ शास्त्र आज्ञा से विरुद्ध अशुभभाव तो नहीं होता; किन्तु शास्त्र आज्ञानुसार जो शुभभाव है, उनका भी प्रतिबंध (प्रतिबद्धता) नहीं है।

प्रश्न : ह्व सम्यग्दर्शन हो तो यह समस्त चिंतायें मिट जायेंगी क्या?

उत्तर : ह्व सम्यग्दर्शन हुआ माने श्रद्धा में से समस्त चिंतायें टल ही गई

हैं और एकमात्र ज्ञायकस्वभाव ही दृष्टि में है; किन्तु अभी स्थिरतापूर्वक अन्तर में ठहरना बाकी है। मुनिराज तो जंगल में भी आत्मा के आनन्द में झूलते हुए मग्न रहते हैं। आत्मज्ञान होने पर जबतक उसमें लीनता न हो तबतक केवलज्ञान नहीं होगा।

(१) अन्तरस्वभाव के आश्रय से ही श्रमणावस्था टिकी हुई है, उसमें बाह्य निमित्त शरीर है। वह शरीर भी अपने स्वयं के कारण विद्यमान है; किन्तु उसमें निमित्त आहारादि हैं। आहार की वृत्ति उठती है; फिरभी उनके अन्तर में चैतन्य की धारा नहीं टूटती और शुद्धोपयोग की भूमिका में भंग नहीं पड़ता है। अतः आहारादि की वृत्ति के लिये मुनिराज प्रतिबद्ध नहीं हैं। वे सदोष आहार तो लेते ही नहीं हैं; किन्तु निर्दोष आहार की वृत्ति में भी प्रतिबद्ध नहीं हैं। उन्हें अंतरस्वरूप का जोर छूटकर आहार की वृत्ति नहीं उठती ह्व ऐसी उग्र मुनिदशा होती है।

(२) मुनिराज निजस्वरूप की धारा टूटने नहीं देते। एक-एक महीना उपवास हो जाए; तथापि अन्तर में खेद नहीं होता। शरीर की वृत्ति में विरोध न आवे इसप्रकार जितने प्रमाण में शक्ति है, उतने प्रमाण में उपवास करते हैं। हठपूर्वक उपवास करें और उससे शरीर छूट जाए ह्व ऐसा नहीं करते। निज शुद्धात्मद्रव्य में मुनिराजों की नीरंग और निस्तरंग स्थिरता होती है।

अहो ! आहार लेने की वृत्ति से जब थकावट लगती है, तब वे अन्तरस्वरूप में विश्रान्ति लेते हैं। वे आहार की वृत्ति छोड़कर स्वरूप में ठहरे हैं, यही उनका आनन्द है, विश्राम है; परन्तु आहार नहीं हुआ, इसका उन्हें खेद नहीं वर्तता। आहारवृत्ति के राग से थक गये हैं; अतः उस थकावट को दूर करने के लिये निराकुल स्वरूपी द्रव्य में ठहरे हैं, वहाँ आहाररूप आकुलता नहीं है ह्व ऐसी दशा को ही भगवान ने उपवास कहा है। उपवास सहज होता है, उसमें हठ या प्रतिबंध नहीं है।

जिसप्रकार राहगीर चलते-चलते थक जाता है और फिर किसी शांत स्थान पर जाकर विश्राम करता है, उसीप्रकार मुनिराज आहारवृत्ति

से थककर अन्तर में चैतन्य की तलहटी में जाकर मानो लीन होकर विश्राम करते हैं। स्वभाव में लीन होकर वे राग की थकावट दूर करते हैं और अन्तर में अविकारी परिणति की रचना करते हैं।

(३) मुनिराज अन्तरस्वभाव में लीन होकर उसका ध्यान करके चैतन्यभगवान की प्रसिद्धि के लिये अर्थात् केवलज्ञान प्रगट करने के लिये गिरि-गुफा में रहते हैं, वहाँ उस स्थान का प्रतिबंध हो ऐसा नहीं है तथा इन गिरि-गुफा में ही रहना चाहिए ह्व ऐसा आग्रह भी नहीं है। अन्तर में चैतन्य की भूमिका में प्रतिबद्ध हुये तो बाह्य गिरि-गुफाओं का प्रतिबंध नहीं है। विकल्प उठने पर गिरि-गुफा आदि ध्यान योग्य स्थानों पर लक्ष जाता है; किन्तु उन स्थानों का प्रतिबंध नहीं है।

(४) यथानुसार शरीरवृत्ति के कारणभूत भिक्षा आदि के अर्थ जो विहारकार्य होता है, उसका भी प्रतिबंध नहीं है।

(५) श्रामण्य पर्याय का सहचारी कारण होने से जिसका निषेध नहीं है, ऐसा देहमात्र परिग्रह ही मुनिराज को है; किन्तु उसमें ममत्व नहीं है। यहाँ कमण्डल और मयूरपिच्छी भी गौण है।

(६) बोध्य-बोधक रूप अन्य जिन मुनिराजों का कंथचित् परिचय वर्तता है ह्व ऐसे जो श्रमण (अन्य मुनिराज) उनके लिये भी प्रतिबंध नहीं है।

मुनिराज को अन्य (लौकिक) चर्चा-वार्ता तो होती नहीं है, किसी दूसरे मुनिराज के साथ कुछ ज्ञानवार्ता कर रहे हों, किसी को समझा रहे हों या अन्य मुनिराज से समझ रहे हों बस इतना ही परिचय वर्तता है। स्त्री आदि का परिचय तो मुनिराज को होता ही नहीं है। लौकिक चर्चा में भी वे भटकते नहीं हैं। मुनिराज का तो अन्य मुनियों के साथ ज्ञानरूप ही परिचय वर्तता है। वह परिचय भी प्रतिबंध का कारण हो ऐसा नहीं है। अंतर में वीतरागी शुद्धभाव के साथ वर्तता हुआ शुभभाव छठवें गुणस्थान में कैसा होता है? उसकी यह बात है। मात्र शुभभाव या बाह्यक्रिया की बात नहीं है। चरणानुयोग में तो निमित्त के आधार से ही चर्चा होती है।

(७) शब्दरूप पुद्गलोल्लास (पुद्गलपर्याय) के साथ संबंध से जिसमें चैतन्यरूपी भित्ति का भाग मलिन हुआ है ह्व ऐसी शुद्धात्मद्रव्य से

विरुद्ध कथा का भी प्रतिबंध मुनिराज नहीं चाहते। ज्ञायक ध्रुव आत्मा चैतन्यभित्ति है, उसमें शुभविकल्पों के उठने मात्र से चैतन्यभूमि मलिन होती है।

इसप्रकार ऊपर कहे गये सात प्रकार के भावों में मुनि को किसी भी प्रकार का प्रतिबंध करने योग्य नहीं है अर्थात् वह सर्वथा त्यागनेयोग्य है। वहाँ शुभविकल्पों से ज्ञानभूमि चित्रित होती है, इसलिये उन विकल्पों से भी चित्तभूमि/चैतन्यभूमि को चित्रित होने देना योग्य नहीं है ह्व ऐसा यथार्थ मुनिपना होना चाहिये।

प्रश्न : ह्व ऐसा मुनिपना अभी पाला जा सकता है क्या ?

उत्तर : ह्व यदि पुरुषार्थ करें तो उक्त प्रकार का मुनिपना होने में कोई बाधा नहीं है; किन्तु अभी (वर्तमान में) ऐसी दशाधारी कोई मुनिराज देखने में नहीं आते।

अतः यथार्थ मुनिदशा की श्रद्धा करके, मुनिदशा का स्वरूप पहिचानकर भावना करनी चाहिये कि ह्व अहो ! ऐसी धन्यदशा हमारे जीवन में कब आयेगी? स्वरूपानन्द की अपूर्वदशा में हम कब झूलेंगे? कब मुनि होंगे?

श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते थे ह्व

सर्व भावों से उदासीन वृत्ति धरी, मात्र देह संयम हेतु होय है।

श्रीमद्जी मुनि नहीं बन सकें; किन्तु उक्त मुनिदशा की भावना करते-करते समाधिमरणपूर्वक देह छोड़कर चले गये। उन्हें मुनिदशा तो नहीं हुई; किन्तु अपूर्व अवसर काव्य में उन्होंने निर्ग्रथदशा धारणकर सिद्धदशा प्राप्त करने की भावना की है।

मुनिराज तो नग्न दिगम्बर चैतन्यस्वरूप में झूलने वाले संत हैं ह्व ऐसी मुनिदशा की अंतर में पहिचान करके उसकी भावना करना भी लोगों को दुर्लभ हो गया है।

सिद्ध भगवान के समान अनाकुल, शांत, उपशम रस अंदर में प्रगट हो। चैतन्य पर्वत में से शांतरस की धारा फूट पड़े ह्व ऐसी दशा का नाम उपवास है और ऐसी ही मुनिदशा होती है। ●

प्रवचनसार गाथा २१६

अब छेद क्या है, (अर्थात् छेद किसे कहते हैं) उसका उपदेश करते हैं :ह

अपयत्ता वा चरिया सयणासणठाणचंक्रमादीसु ।

समणस्स सब्बकाले हिंसा सा संतय त्ति मदा॥२१६॥

(हरिगीत)

शयन आसन खड़े रहना गमन आदिक क्रिया में ।

यदि अयत्नाचार है तो सदा हिंसा जानना॥२१६॥

अन्वयार्थ :ह [श्रामणस्य] श्रमण के [शयनासनस्थान-चंक्रमणादिषु] शयन, आसन (बैठना), स्थान (खड़े रहना), गमन इत्यादि में [अप्रयता वा चर्या] जो अप्रयत चर्या है [सा] वह [सर्वकाले] सदा [संतता हिंसा इति मता] सतत हिंसा मानी गई है ।

टीका :ह अशुद्धोपयोग वास्तव में छेद है, क्योंकि (उससे) शुद्धोपयोगरूप श्रामण्य का छेदन होता है, और वही (अशुद्धोपयोग ही) हिंसा है, क्योंकि (उससे) शुद्धोपयोगरूप श्रामण्य का हिंसन (हनन) होता है । इसलिये श्रमण के, जो अशुद्धोपयोग के बिना नहीं होती ऐसी शयन-आसन-स्थान-गमन इत्यादि में अप्रयत^१ चर्या (आचरण) वह वास्तव में उसके लिये सर्वकाल में (सदा) हो संतानवाहिनी^२ हिंसा ही है ह जो कि छेद से अनन्यभूत है (अर्थात् छेद से कोई भिन्न वस्तु नहीं है ।)

भावार्थ :ह अशुद्धोपयोग से शुद्धोपयोगरूप मुनित्व छिदता है, हनन होता है, इसलिये अशुद्धोपयोग (१) छेद ही है, (२) हिंसा ही है । और जहाँ सोने, बैठने, खड़े होने, चलने इत्यादि में अप्रयत आचरण होता है

१. अप्रयत = प्रयत्न रहित, असावधान, असंयमी, निरंकुश, स्वच्छन्दी । (अप्रयत चर्या अशुद्धोपयोग के बिना कभी नहीं होती ।)

२. संतानवाहिनी = सतत, निरंतर, धारावाही, अटूट; (जबतक अप्रयत चर्या है तब तक सदा ही हिंसा सततरूप से चालू रहती है ।)

वहाँ नियम से अशुद्धोपयोग तो होता ही है, इसलिये अप्रयत आचरण छेद ही है, हिंसा ही है ।

गाथा २१६ पर प्रवचन

छठवें गुणस्थान में मुनिराज को शुभभाव विद्यमान है; किन्तु वह शुभराग यदि योग्य भूमिका के बाहर का हो तो उसे प्रमादचर्या कहते हैं ।

मुनिराज के भूमिकायोग्य शुभराग को अशुद्धोपयोग में नहीं गिना है; क्योंकि भूमिकायोग्य उत्पन्न होनेवाले शुभराग के साथ उनके अन्तर स्वभाव में तो निरन्तर शुद्धता वर्तती ही है । शुभरागादि के विकल्पों को तोड़कर वे मुनिराज शुद्धस्वभाव में ही रमण करने में अग्रसर होते हैं ।

जिन्हें यह बात ख्याल में नहीं आती, वे इस बात पर टीका करते हुए कहते हैं कि आहारादि के समय भी मुनिराज के शुद्धोपयोग कैसे वर्तता है ? किन्तु हे भाई ! इस संबंध में अनेक विवक्षायें हैं ? जिसकी तुझे खबर ही नहीं है । चरणानुयोग का कथन ऐसा ही होता है ।

अन्तर में शुद्धतारूप भूमिका को टिकाये रखते हुए जो शुभोपयोग है, उसे भी यहाँ निमित्त की अपेक्षा शुद्ध में ही ग्रहण किया है; क्योंकि इस दशा में वर्तनेवाला शुभराग भूमिका के योग्य वर्त रहा है । भूमिका के बाहर का शुभराग उनको नहीं है । मुनिदशा कैसी होती है ? इसकी तो जगत के जीवों को खबर ही नहीं है ।

आचार्यदेव कहते हैं कि मुनिराज को अन्तरस्वभाव की भूमिका में शुभविकल्प उठते हैं; किन्तु वे उसमें प्रमाद नहीं करते । यदि वे प्रमाद करें तो उनकी शुद्धोपयोग भूमिका में छेद हो जावे ।

शुभविकल्प में भी वे अप्रमादरूप विहारादि करते हैं; अतः उसका नाम अप्रयतचर्या नहीं है और उसे छेद में भी नहीं गिना गया है; क्योंकि इतना शुभभाव तो मुनिराज की छठवीं भूमिका योग्य ही है । यदि उसमें किसीप्रकार का प्रमादपना आ जावे तो उसे हिंसा अथवा छेद कहा जाता है ।

अन्तर स्वभाव में जो शुभविकल्प उठते हैं, वे भी परमार्थ से हिंसा ही है; किन्तु यहाँ उसे हिंसा नहीं कहा; क्योंकि इन शुभविकल्पों से छठवें गुणस्थान में कोई हानि नहीं है।

मुनिराज के अन्तर में कैसी वीतरागदशा अथवा शुद्धता होती है। उस भूमिका में कैसा विकल्प होता है और उस भूमिका में सहज बाह्य निमित्त कैसे होते हैं? ह इन सबका वर्णन एकसाथ किया है।

यहाँ आचार्यदेव चरणानुयोग का अद्भुत वर्णन कर रहे हैं। गृहस्थों को मुनिदशा नहीं है; किन्तु वे भी मुनिदशा की भावना करके उसका ज्ञान तो कर ही सकते हैं। गृहस्थों को भी यह दशा समझने योग्य है और इस दशा को समझकर इससे विरुद्ध जो दशायें हैं, वे सब छोड़ने योग्य हैं।

सच्ची श्रद्धा और ज्ञानपूर्वक होनेवाली मुनिदशा की यहाँ चर्चा की है। ऐसी मुनिदशा न हो सके तो कम से कम उसका यथार्थ श्रद्धा-ज्ञान तो बना ही रहे। यही सत्य का मार्ग है।

मुनिराज को आहारादि का शुभविकल्प उठता है, तो वह औषधी के समान है और औषधी का सेवन तो विशिष्ट काल तक ही होता है।

जिसप्रकार कोई वैद्य किसी रोगी को बिमारी मिटाने के लिये मुरब्बा या दवा खाने के लिये कहे और स्वादलोलुपी जीव उसका ही सेवन करता रहे, तो उलटा नुकसान होता है।

उसीप्रकार निर्विकल्प मुनिदशा में जबतक अन्तर-स्थिरता न हो तबतक उत्पन्न होनेवाले शुभविकल्प औषधि के समान हैं। यदि वे मुनिराज उन शुभविकल्पों को ही अपना मानकर प्रमादी हो जायें तो अन्तरदशा से चूक जायेंगे। उनके चैतन्य की हिंसा हो जायेगी। यहाँ बाह्य हिंसा की बात नहीं है; किन्तु अन्तर में चैतन्य के उपयोग का हनन हुआ, उस हिंसा की बात है।

प्रश्न : ह यह सब ध्यान रखने के लिये किसी दूसरे की आवश्यकता है या नहीं?

उत्तर : ह इसमें दूसरा क्या करेगा? पर्याय के समक्ष अखण्ड द्रव्य स्वयं खड़ा है, उसका आश्रय लेवें तो सब सहज हो जायेगा। अन्य किसी के आश्रय की आवश्यकता ही नहीं है।

कोई कहता है कि ह “यह तो जिनकल्पी मुनियों की बात है? स्थविरकल्पी मुनिराज तो वस्त्रादि सहित होते हैं।” किन्तु भाई ! ऐसा नहीं है। जिनकल्पी मुनिराज हो या स्थविरकल्पी समस्त मुनियों की अन्तरदशा एकसी ही होती है।

जो अकेले रहते हैं, वे जिनकल्पी मुनिराज हैं और जो समुदाय के साथ रहते हैं, वे स्थविरकल्पी हैं। बस ! इतना ही विशेष जानना, स्थविरकल्पी का अर्थ वस्त्रादि धारण करनेवाले नहीं है।

अनादि अनंत समस्त मुनियों की अन्तर्बाह्यदशा यही होती है। महाविदेह क्षेत्र के मुनिराज हों अथवा भरतक्षेत्र के मुनिराज हों ह सबकी दशा एकसी ही है। इससे विरुद्ध कोई वस्त्रादिसहित मुनिपना माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। उनकी यहाँ चर्चा नहीं है तथा जिन्हें यथार्थ मुनिपना होता है वे भी गमन, आहार आदि में प्रमादी हो जायें तो उनके भी मुनिपने में छेद वर्तता है। ●

ध्यान करने योग्य तो एकमात्र परमपदार्थ निज भगवान आत्मा ही है। आजतक जितने भी जीवों ने अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त किया है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र धारण किया है, सिद्धदशा को प्राप्त किया है; उन सभी ने यह सब निज भगवान आत्मा के ध्यान से ही प्राप्त किया है। अतः ध्यान करने के पूर्व हमें परमध्येयरूप निज भगवान आत्मा का स्वरूप भली-भाँति समझना चाहिए; क्योंकि ध्येय का स्वरूप स्पष्ट हुए बिना ध्यान संभव नहीं है।

ह आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-६४-६५

प्रवचनसार गाथा २१७

अब छेद के अन्तरंग और बहिरंग ऐसे दो प्रकार बतलाते हैं :ह

मरदु वजियदु वजीवो अयदाचारस्सणिच्छिदाहिंसा ।

पयदस्स गत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥२१७॥

(हरिगीत)

प्राणी मरें या ना मरें हिंसा अयत्नाचार से ।

तब बंध होता है नहीं जब रहें यत्नाचार से ॥२१७॥

अन्वयार्थ :ह [जीवः] जीव [म्रियतां वा जीवतु वा] मरे या जिये [अयताचारस्य] अप्रयत आचारवाले के [हिंसा] (अन्तरंग) हिंसा [निश्चिता] निश्चित है; [प्रयतस्य समितस्य] प्रयतके^१, समितिवानु के^२ [हिंसामात्रेण] (बहिरंग) हिंसामात्र से [बन्धः] बंध [नास्ति] नहीं है ।

टीका :ह अशुद्धोपयोग अंतरंग छेद है; पर प्राणों का व्यपरोप (विच्छेद) वह बहिरंग छेद है । इनमें से अन्तरंग छेद ही विशेष बलवान है, बहिरंग छेद नहीं; क्योंकि ह परप्राणों के व्यपरोप का सद्भाव हो या असद्भाव, जो अशुद्धोपयोग के बिना नहीं होता ऐसे अप्रयत^३ आचार से प्रसिद्ध होनेवाला (जानने में आनेवाला) अशुद्धोपयोग का सद्भाव जिसके पाया जाता है उसके हिंसा के सद्भाव की प्रसिद्धि सुनिश्चित है और

१. प्रयत = प्रयत्नशील, सावधान, संयमी (प्रयत्न के अर्थ के लिये देखो गाथा २११ का फुटनोट १)।
२. शुद्धात्मस्वरूप में (मुनिवोचित) सम्यक् 'इति' अर्थात् परिणति वह निश्चय समिति है । और उस दशा में होने वाली (हठ रहित) ईर्या-भाषादि संबंधी शुभ परिणति वह व्यवहार समिति है । (जहाँ शुद्धात्मस्वरूप में सम्यक्परिणतिरूप दशा नहीं होती वहाँ शुभ परिणति हठ सहित होती है; वह शुभपरिणति व्यवहारसमिति भी नहीं है ।)
३. अशुद्धोपयोग के बिना अप्रयत आचार कभी नहीं होता, इसलिये जिसके अप्रयत आचार वर्तता है उसके अशुद्ध उपयोग अवश्यमेव होता है । इसप्रकार अप्रयत आचार के द्वारा अशुद्ध उपयोग प्रसिद्ध होता है ह जाना जाता है ।

इसप्रकार जो अशुद्धोपयोग के बिना होता है ऐसे प्रयत आचार^१ से प्रसिद्ध होनेवाला अशुद्धोपयोग का असद्भाव जिसके पाया जाता है उसके, परप्राणों के व्यपरोप के सद्भाव में भी बंध की अप्रसिद्धि होने से, हिंसा के अभाव की प्रसिद्धि सुनिश्चित है । ऐसा होने पर भी (अर्थात् अंतरंग छेद ही विशेष बलवान है, बहिरंग छेद नहीं ह ऐसा होने पर भी) बहिरंग छेद अन्तरंग छेद का आयतन मात्र है, इसलिये उसे (बहिरंग छेद को) स्वीकार तो करना ही चाहिये अर्थात् उसे मानना ही चाहिये ।

भावार्थ :ह शुद्धोपयोग का हनन होना वह अन्तरंग हिंसा ह अन्तरंग छेद है और दूसरे के प्राणों का विच्छेद होना बहिरंग हिंसा ह बहिरंग छेद है ।

जीव मरे या न मरे, जिसके अप्रयत आचरण है उसके शुद्धोपयोग का हनन होने से अन्तरंग हिंसा होती ही है और इसलिये अन्तरंग छेद होता ही है । जिसके प्रयत आचरण है उसके, पर प्राणों के व्यपरोप रूप बहिरंग हिंसा के ह बहिरंग छेद के ह सद्भाव में भी शुद्धोपयोग का हनन नहीं होने से अन्तरंग हिंसा नहीं होती और इसलिये अन्तरंग छेद नहीं होता है ।

गाथा २१७ पर प्रवचन

आत्मा का सम्यक्भान होने पर अन्तरस्थिरता पूर्वक अन्तर्बाह्य निर्ग्रन्थ मुनिदशा होती हैं । मुनिराज के अन्तर में अत्यन्त वीतरागता प्रगट हुई है और उनका राग अति अल्प रहा है ।

मुनिराज को भूमिकानुसार शुभविकल्पों की विद्यमानता में जो विशेष राग होता है, वह प्रमादभाव होने से हिंसा का कारण है । बाह्य में परजीवों की हिंसा न भी हो; किन्तु अन्तर में प्रमादभाव विद्यमान हो तो हिंसा का दोष लगता ही है ।

ज्ञाता-दृष्टा चैतन्य स्वभाव में लीनता होने पर राग की वृत्ति मर्यादित हो गई है । वहाँ वे राग को जानते तो हैं; पर यदि राग को जानने से राग की

१. जहाँ अशुद्ध उपयोग नहीं होता वहीं प्रयत आचार पाया जाता है, इसलिये प्रयत आचार के द्वारा अशुद्ध उपयोग का असद्भाव सिद्ध होता है ह जाना जाता है ।

तीव्रता बढे तो प्रमादभाव होने से हिंसा का दोष लगता है।

स्वभाव के आश्रय से जितनी वीतरागता प्रगट हुई है, वह निश्चय प्रयत्न है और भूमिकानुसार जो शुभविकल्प होता है, वह व्यवहार प्रयत्न है तथा यदि भूमिका से बाहर का विकल्प उठे तो वह अप्रयत आचार होने से प्रमाद है। यही हिंसा है।

पर जीव का घात हो या न हो, उससे हिंसा-अहिंसा का कोई संबंध नहीं है। किसी को तीव्र राग हो और सामनेवाला जीव स्वयं मर जाए तो उस जीव की मृत्यु होने से इस जीव को हिंसा नहीं है; अपितु अन्तर में विद्यमान तीव्र राग भाव के कारण हिंसा है, पाप है। इसीप्रकार पर जीव का घात न हो; किन्तु अन्तर में कषायभावों की विद्यमानता हो, तो वह हिंसा कहलाती है।

इससे विपरीत मुनिराज के पास किसी जीव का मरण हो जाये और उनके अन्तर में किसीप्रकार का कषायभाव न हो तो उन्हें हिंसा नहीं है।

ज्ञानस्वभाव की स्व-पर प्रकाशक पर्याय का स्वभाव राग के क्रम को जानने का है, राग को करने का नहीं। ज्ञान तो राग से जुदा रहकर राग को मात्र जानता है। वह ज्ञान न राग को कर सकता है और न उसे टाल सकता है।

भूमिका अनुसार होने वाले राग को स्व-परप्रकाशक ज्ञान जानता है। ज्ञान तो अपनी स्वभाव सामर्थ्य से राग को मात्र जानता है। फिर चाहे वह तीव्रराग हो अथवा मन्दराग, ज्ञान का कार्य तो मात्र जानना ही है।

राग को जानते हुये भी ज्ञान अपने स्वभाव-सन्मुख ही रहता है, वह रागसन्मुख होकर राग को नहीं जानता। यही ज्ञान गुण का स्वभाव है।

छठवें गुणस्थान में उत्पन्न होनेवाले राग की भूमिका से तीव्र राग हो तो उसे ज्ञान इसप्रकार जानता है कि यह राग इस भूमिका की अपेक्षा तीव्र राग है।

ज्ञान का स्वभाव तो प्रतिसमय होते हुये राग को जानने का ही है। उससमय का पुरुषार्थ और राग के होने का वैसा ही क्रम है। वहाँ ज्ञान

इतना विशेष जानता है कि भूमिका बाहर का तीव्र राग हिंसा ही है।

ज्ञायक निर्विकल्प आत्मा में जितनी अभेद परिणति हुई है, उतनी निश्चय समिति है अथवा शुद्धात्मस्वरूप में (मुनित्वोचित) सम्यक् परिणति निश्चय समिति है और इस दशा में वर्तनेवाली ईर्या-भाषादि संबंधी शुभपरिणति व्यवहार समिति है।

यदि शुद्धात्मस्वरूप में सम्यक् परिणतिरूप दशा न हो तो वहाँ वर्तनेवाली शुभपरिणति हठसहित होती है, तब वह व्यवहार समिति नाम भी प्राप्त नहीं करती।

दृष्टि : ह जिसमें अखंड-एकाकार ज्ञायक द्रव्य की ही स्वीकृति हो।

ज्ञान : ह जो स्व-पर प्रकाशक स्वभाव से युक्त तथा भूमिकानुसार राग को जानता हो।

चारित्र : ह यहाँ भूमिकानुसार राग वर्तता है और भूमिका की मर्यादा से राग बढ जाये तो वह हिंसा है।

राग तो स्वयं कालक्रम में आया है; किन्तु भूमिका की अपेक्षा तीव्र राग हो तो वह हिंसा है।

आहार सदोष हो; किन्तु यदि मुनिराज को अन्तर में उसप्रकार का विकल्प न आया हो तो उनके द्वारा वह आहार लेने पर भी मुनिराज को भूमिका बाहर का तीव्र राग नहीं होने से हिंसा का दोष नहीं है।

“अशुद्धोपयोग वह अन्तरंग छेद है, परप्राणों का व्यपरोप (दूसरे के प्राणों का विच्छेद) वह बहिरंग छेद है।”

छठवें गुणस्थान में निर्दोष आहार आदि की जो शुभवृत्ति उठती है, उसे चरणानुयोग में अशुद्धोपयोग नहीं कहा और न उसे अन्तरंग छेद कहा है; किन्तु अधःकर्मी आहार लेने की वृत्ति उठे तो अशुद्धोपयोग होने से वह अन्तरंग छेद कहा गया है।

हे भाई ! ऐसी दशा बिना मुनिपना नहीं है और मुनिदशा बिना मनःपर्यय ज्ञान/केवलज्ञान नहीं है। गृहस्थों को मनःपर्यय ज्ञान नहीं होता। श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते थे ह

“हे कुन्दकुन्दादि आचार्यों ! आपके वचनमात्र ही इस पामर को स्वरूपसंधान के लिये परम उपकारभूत हुये हैं, इसलिये मैं आपको भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ।”

आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने तो ऐसी ही मुनिदशा का वर्णन किया है। इससे विरुद्ध कोई मुनिदशा को स्वीकार करे तो उसे आचार्यदेव मिथ्यादृष्टि कहते हैं। उसे तो जैनधर्म की खबर ही नहीं है।

जो कुन्दकुन्दाचार्य को गुरु रूप में स्वीकार करता है, वह वस्त्रादि सहित मुनिपना कैसे मान सकता है ? कुन्दकुन्दाचार्य ने तो वस्तुस्वरूप का वर्णन किया है। छठवें गुणस्थान में पर्याय का स्वरूप कैसा है ? यह बताया है। मुनि के वस्त्रादि ग्रहण करने अथवा लौकिक कार्यों में पड़ने का रागभाव होता ही नहीं है।

केवलज्ञान पर्याय का स्वभाव ऐसा है कि वहाँ आहार-पानी की वृत्ति, राग-वस्त्र इत्यादि होते ही नहीं हैं; किन्तु कोई जीव इससे विपरीत केवली को आहारादि और मुनिराज को वस्त्रादि सहित माने तो उसे देव-गुरु-धर्म का पता ही नहीं है अर्थात् उसने वस्तुस्वभाव को जाना ही नहीं है।

यथार्थ मुनिपना वर्तमान में भले ही हमें न हो सके; किन्तु श्रद्धा तो यथार्थ ही रखना चाहिये। जैसा मुनिपना है, यदि उससे विपरीत स्वरूप माने तो उस जीव की श्रद्धा ही मिथ्या है।

अन्तरंग व बहिरंग छेद में अन्तरंग छेद ही विशेष बलवान है, बहिरंग नहीं; क्योंकि अन्तरंग छेद से हिंसा होती है, बहिरंग छेद हिंसा का कारण नहीं है।

“परप्राणों के व्यपरोप का सद्भाव हो अथवा असद्भाव हो, जो अशुद्धोपयोग के बिना नहीं होता ऐसे अप्रयत आचार से प्रसिद्ध होनेवाला (जानने में आनेवाला) अशुद्धोपयोग का सद्भाव जिसके पाया जाता है, उसके हिंसा के सद्भाव की प्रसिद्धि सुनिश्चित है।”

द्रव्यस्वभाव से तो राग का कर्त्ता आत्मा है ही नहीं; किन्तु पर्याय में

रागरूप कौन परिणमा ? इसलिये व्यवहार में राग और उसके निमित्त का ज्ञान करना चाहिये। अन्तर में राग का सद्भाव होना हिंसा है; बाह्य में पर जीवों के घात होने मात्र से हिंसा नहीं है।

जैनदर्शन में तो रागभाव की उत्पत्ति को ही हिंसा कहा है। छठवीं भूमिका (गुणस्थान) में जो शुभराग है, वह भी परमार्थ से हिंसा ही है; किन्तु यहाँ चरणानुयोग में भूमिका के बाहर का राग हो, उसे ही हिंसा कहा है। वास्तव में एक वीतरागभाव ही अहिंसा धर्म है।

छठवें गुणस्थान में भूमिका योग्य राग हो तो वीतरागता टिकी रहती है, वह अहिंसा धर्म है; किन्तु शुभराग की अति हो जावे तो अहिंसा धर्म नहीं है।

ज्ञानी की भावना तो पूर्ण चारित्र अथवा वीतरागता की प्राप्ति करना है। यदि पूर्णता प्राप्ति की भावना ही न हो तो श्रद्धा-ज्ञान भी यथार्थ नहीं हो सकता।

श्री जयसेनाचार्य २५५ वीं गाथा में कहते हैं कि ह

“इत्थं वीतराग चारित्र व्याख्यानं श्रुत्वा केचन वदन्ति सयोगकेवलि-
नाम प्येकदेशेन चारित्रं, परिपूर्णं चारित्रं पुनरयोगिचरमसमये भविष्यति
तेन कारणेनेदानीमस्माकं सम्यक्त्वभावनया भेदज्ञानभावनया च पूर्यते
चारित्रं पश्चाद्भविष्यतीति नैवं वक्तव्यम्।

उक्त वीतराग चारित्र का व्याख्यान सुनकर कितने ही लोग कहते हैं कि सयोग केवली के भी एकदेश चारित्र है, परिपूर्ण चारित्र तो अयोगकेवली के चरमसमय में होता है। इस कारण हमें हमारी सम्यक्त्वभावनया से तथा भेदज्ञानभावनया से ही बस हो ! चारित्र पश्चात् हो जायेगा।”

उनसे कहते हैं कि हे भाई ! ऐसा नहीं है। वर्तमान में हमें वैसी दशा प्रगट न भी हुई हो, तो भी उसकी भावना तो हो ही सकती है न ! वीतरागता की भावना छोड़कर जो राग की भावना करता है, उसे यथार्थ श्रद्धा-ज्ञान भी नहीं है। जिसने अपने परिपूर्ण स्वभाव को जाना, श्रद्धा में लिया, उसे पर्याय में भी पूर्णता की भावना होती है। उसे पूर्णता का हठ

नहीं है ; किन्तु पूर्णता की भावना अन्तर में अवश्य विद्यमान है ।

जिसे प्रमादभावरूप अशुद्धोपयोग है, उसे हिंसा है और जिसे अशुद्धोपयोग नहीं है, उसे हिंसा का भी अभाव है । बाह्य में परजीवों का घात न हो फिर भी अन्तरंग में अशुद्धोपयोग हो तो उसे हिंसा की प्रसिद्धि है तथा अशुद्धोपयोग बिना जो होता है, वह प्रयत्न आचार यहाँ प्रसिद्ध है ।

“अशुद्धोपयोग का असद्भाव जिसके पाया जाता है, उसके पर प्राणों के व्यपरोप के सद्भाव में भी बंध की अप्रसिद्धि होने से, हिंसा के अभाव की प्रसिद्धि सुनिश्चित है ।”

इसप्रकार बाह्य में पर प्राणी मरे, तो उसकी हिंसा का दोष जीव को नहीं है । अन्तरंग हिंसा से ही दोष है और बाह्य हिंसा तो निमित्तमात्र है ।

“ऐसा होने पर भी (अर्थात् अन्तरंग छेद ही विशेष बलवान है, बहिरंग छेद नहीं, ऐसा होने पर भी) बहिरंग छेद अन्तरंग छेद का आयतनमात्र है, इसलिये उसे (बहिरंग छेद को) स्वीकार तो करना ही चाहिये अर्थात् उसे मानना ही चाहिये ।”

बाह्य निमित्तों का ज्ञान होना चाहिये तथा अन्तरंग में उनके प्रति विशेष राग न हो जाये, इसके लिये जागृति रखना चाहिए; क्योंकि अन्तर राग से ही हिंसा होती है ।

जिसप्रकार दर्पण में बिम्ब का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है; उसीप्रकार एकसमय की पर्याय में संपूर्ण द्रव्य का प्रतिभास होता है । जगत में छह द्रव्य हैं, उनमें अरहंत, सिद्ध आदि पाँचों परमेष्ठी भी हैं ह्व उन सबका, स्वद्रव्य का और स्वयं पर्याय का भी प्रतिभास पर्याय में एकसाथ होता है; तथापि पर्याय को द्रव्य स्पर्श नहीं करता है । भाई! गजब बात है । जिसे यह बात अन्तरंग में बैठ जाये, उसका भवभ्रमण मिटे बिना न रहे अर्थात् अवश्य नाश को प्राप्त हो जाये ।

ह्व प्रवचनरत्नाकर भाग-२, पृष्ठ-२३७

प्रवचनसार गाथा २१८

अब, सर्वथा अन्तरंग छेद निषेध्य-त्याज्य है ऐसा उपदेश करते हैं:ह्व
अयदाचारो समणो छस्सु वि कायेसु वधकरोत्ति मदो।

चरदि जदं यदि णिच्चं कमलं व जले णिरुवलेवो॥२१८॥

(हरिगीत)

जलकमलवत निर्लेप हैं जो रहें यत्नाचार से।

पर अयत्नाचारि तो षट्काय के हिंसक कहे॥२१८॥

अन्वयार्थ :ह्व [अयत्ताचारः श्रमणः] अप्रयत्न आचारवाला श्रमण, [षट्सु अपि कायेषु] छहों काय संबंधी [वधकरः] वध का करनेवाला [इति मतः] मानने में ह्व कहने में आया है; [यदि] यदि [नित्यं] सदा [यतं चरति] प्रयत्नरूपसे आचरण करे तो [जले कमलम् इव] जल में कमल की भाँति [निरुपलेपः] निर्लेप कहा गया है ।

टीका :ह्व जो अशुद्धोपयोग के बिना नहीं होता ऐसे अप्रयत्न आचार के द्वारा प्रसिद्ध (ज्ञात) होनेवाला अशुद्धोपयोग का सद्भाव हिंसक ही है; क्योंकि छहकाय के प्राणों के व्यपरोप के आश्रय से होनेवाले बंध की प्रसिद्धि है और जो अशुद्धोपयोग के बिना होता है ऐसे प्रयत्न आचार से प्रसिद्ध होनेवाला अशुद्धोपयोग का असद्भाव अहिंसक ही है, क्योंकि पर के आश्रय से होनेवाले लेशमात्र भी बंध का अभाव होने से जल में कमल की भाँति निर्लेपता की प्रसिद्धि है । इसलिये उन-उन सर्वप्रकार से अशुद्धोपयोगरूप अन्तरंग छेद निषेध्य-त्यागने योग्य है, जिन-जिन प्रकारों से उसका आयतनमात्र भूत पर प्राणव्यपरोपरूप बहिरंग छेद अत्यन्त निषिद्ध हो ।

भावार्थ :ह्व शास्त्रों में अप्रयत्न-आचारवान अशुद्धोपयोगी को छह काय का हिंसक कहा है और प्रयत्न आचारवान शुद्धोपयोगी को अहिंसक कहा है, इसलिये शास्त्रों में जिस-जिस प्रकार से छह काय की हिंसा का निषेध किया गया हो, उस-उस समस्त प्रकार से अशुद्धोपयोग का निषेध समझना चाहिये ।

गाथा २१८ पर प्रवचन

छठवें गुणस्थान की भूमिकानुसार मुनिराज को शुभराग होता है; किन्तु उससे मुनित्वोचित भूमिका में दोष नहीं लगता, अतः मुनिराज को यहाँ निर्लेप कहा गया है। यद्यपि उन्हें राग का अल्पबंधन है; किन्तु भूमिका से विशेष राग नहीं हैं, अतः वे निज भूमिका से च्युत न होने के कारण निर्लेपी ही हैं।

यह तो मुनिदशा का वर्णन है। ऐसी मुनिदशा होने के पूर्व सम्यग्दर्शन होना चाहिये; क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना मुनिपना नहीं होता और देव-गुरु-शास्त्र की सच्ची श्रद्धा बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। इसलिये सर्वज्ञदेव कैसे हैं ? निर्ग्रन्थ गुरु कैसे हैं ? उनका अन्तर्बाह्य स्वरूप क्या है, कैसा है ? शास्त्र का स्वरूप क्या है ? यह समझना चाहिये।

जिसे देव-गुरु-शास्त्र की समझ ही नहीं है, वह तो गृहीत मिथ्यात्वी है। उससे कहते हैं कि हे भाई! मुनिदशा को मानें बिना तो व्यवहार श्रद्धा भी सम्यक् नहीं है।

भावार्थ पर प्रवचन

२८ मूलगुण आदि शुभराग छठवीं भूमिका में मर्यादा प्रमाण होते हैं। उसमें तीव्रराग की अति हो जाए तो मुनिराज को छह काय का हिंसक कहा है, इसलिये मुनिपने में तीव्रराग नहीं हो सकता।

मुनिपने में छह काय के जीवों की हिंसा का निषेध वर्तता है अर्थात् तत्संबंधी तीव्रराग का निषेध वर्तता है। वस्त्रादि ग्रहण करने का भाव तीव्रराग है। जो शास्त्र वस्त्र सहित मुनिपना कहे, वे सच्चे शास्त्र नहीं हैं और वह मुनिपना भी सच्चा नहीं है।

अन्तर में तीन कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक बाह्य में वस्त्रादि रहित निर्ग्रन्थ नग्न दिग्म्बर दशा का नाम मुनिदशा है। इसके बगैर वीतराग मार्ग में अन्य कोई मुनिपना त्रिकाल संभव नहीं है।

सर्वज्ञ भगवंतों ने भी इसी दशा को स्वीकार किया और कहा है। संतों ने भी इसी मार्ग का सेवन किया है। महाविदेह क्षेत्र में आज भी यही

मार्ग अनवरत चला आ रहा है और उसी मार्ग का उद्घाटन यहाँ भी किया गया है।

आत्मज्ञान बिना मुनिदशा तो होती ही नहीं है। एकबार आत्मज्ञान होवे तो देह-देवल में विराजमान चैतन्यज्ञाता देह से भिन्न प्रतीत होता है, तब उसमें विश्राम करते ही बड़े से बड़ा राग छूट जाता है और यथाजातरूपधर अर्थात् जन्मसमय जैसी दशा थी, वैसी दशा प्राप्त हो जाती है, उसी का नाम मुनिपद है। इस मर्यादा के बिना त्रिकाल मुनिपना संभव नहीं है।

वर्तमान में ऐसे मुनिराज दिखाई नहीं देते; किन्तु इससे मुनिदशा का स्वरूप नष्ट/दूर हो जाये ऐसा नहीं है। महाविदेह क्षेत्र में आज भी लाखों संत-मुनिराज भावलिंग दशा में विराज रहे हैं।

यदि कोई जीव मुनिदशा का पालन नहीं कर सके तो जैनदर्शन में उस जीव को कोई दण्ड नहीं है; किन्तु उक्त दशा के विपरीत मुनिपना माने तो अवश्य दण्ड है, उसकी तो श्रद्धा ही मिथ्या है।

कोई जीव आत्मा और देव-गुरु-शास्त्र की सच्ची श्रद्धा बिना ही मुनिपना स्वीकार कर ले तो वह मिथ्यात्वी है। ●

भाई! जब तक तेरी इन्द्रियाँ शिथिल नहीं पड़ीं तथा शरीर को रोगों ने नहीं घेरा, उसके पहले ही तू चिन्मात्र शुद्ध आत्मा का अनुभव कर ले। यह शिक्षा उसे दे रहे हैं, जिसका पुरुषार्थ कमजोर है। अन्यथा अनन्त प्रतिकूलताओं के बीच रहता हुआ, असह्य पीड़ा भोगता हुआ सातवें नरक का नारकी भी उग्र पुरुषार्थ करके आत्मज्ञान प्राप्त कर सकता है। वृद्धावस्था, रोगी-अवस्था, निर्धनता आदि चाहे जैसी प्रतिकूलतायें हों; तथापि आत्मा अपना पुरुषार्थ जागृत करके आत्मानुभव कर सकता है, क्योंकि परद्रव्य व परद्रव्य की पर्यायों को भगवान आत्मा छूता तक नहीं है। शरीर में चाहे जैसी वेदना हो, उस वेदना का आत्मा स्पर्श नहीं करता।

ह्व प्रवचनरत्नाकर भाग-२, पृष्ठ-२३६

प्रवचनसार गाथा २१९

अब, उपधि (परिग्रह) को ऐकान्तिक अन्तरंग-छेदत्व होने से उपधि अन्तरंग छेद की भाँति त्याज्य है, ऐसा उपदेश करते हैं :ह

हवदिवण हवदिबंधोमदम्हि जीवेऽधकायचेद्वम्हि ।

बंधो ध्रुवमुवधीदो इदि समणा छड्डिया सव्वं ॥२१९॥

(हरिगीत)

बंध हो या न भी हो जिय मरे तन की क्रिया से ।

पर परिग्रह से बंध हो बस उसे छोड़े श्रमणजन ॥२१९॥

अन्वयार्थ :ह [अथ] अब (उपधि के संबंध में ऐसा है कि), [कायचेष्टायाम्] कायचेष्टापूर्वक [जीवे मृते] जीव के मरने पर [बन्धः] बंध [भवति] होता है [वा] अथवा [न भवति] नहीं होता; [उपधेः] (किन्तु) उपधि-परिग्रहसे [ध्रुवम् बंधः] निश्चय ही बंध होता है; [इति] इसलिये [श्रमणाः] श्रमणों (अरहन्तदेवों) ने [सर्व] सर्व परिग्रह को [त्यक्तवन्तः] छोड़ा है ।

टीका :ह जैसे कायव्यापारपूर्वक पर प्राणव्यपरोप को अशुद्धोपयोग के सद्भाव और असद्भाव के द्वारा अनैकांतिक बंधरूप होने से उसे (कायव्यापारपूर्वक पर प्राणव्यपरोप को) छेदपना अनैकांतिक^१ माना गया है, वैसा उपधि-परिग्रह का नहीं है । परिग्रह सर्वथा अशुद्धोपयोग के बिना नहीं होता, ऐसा जो परिग्रह का सर्वथा अशुद्धोपयोग के साथ अविनाभावित्व है उससे प्रसिद्ध होनेवाले ऐकान्तिक^२ अशुद्धोपयोग के सद्भाव के कारण परिग्रह तो ऐकांतिक बंधरूप है, इसलिये उसे (परिग्रह को) छेदपना ऐकान्तिक ही है । इसीलिये भगवन्त अर्हन्तों ने - परम श्रमणों ने - स्वयं ही पहले ही सर्व परिग्रह को छोड़ा है; और इसीलिये दूसरों को भी, अन्तरंग छेद की भाँति प्रथम ही सर्व परिग्रह छोड़ने योग्य है; क्योंकि वह (परिग्रह) अन्तरंग छेद के बिना नहीं होता ।

१. अनैकांतिक = अनिश्चित; नियमरूप न हो; ऐकांतिक न हो ।

२. ऐकान्तिक = निश्चित; अवश्यभावी; नियमरूप ।

भावार्थ :ह अशुद्धोपयोग का असद्भाव हो, तथापि काय की हलन-चलनादि क्रिया होने से परजीवों के प्राणों का घात हो जाता है; इसलिये कायचेष्टापूर्वक परप्राणों के घात से बंध होने का नियम नहीं है ह अशुद्धोपयोग के सद्भाव में होनेवाले कायचेष्टापूर्वक परप्राणों के घात से तो बंध होता है और अशुद्धोपयोग के असद्भाव में होनेवाले काय-चेष्टापूर्वक परप्राणों के घात से बंध नहीं होता; इसप्रकार कायचेष्टापूर्वक होनेवाले परप्राणों के घात से बंध का होना अनैकांतिक होने से उसके छेदपना अनैकान्तिक है ह नियमरूप नहीं है ।

जैसे भाव के बिना भी पर प्राणों का घात हो जाता है, उसीप्रकार भाव न हो तथापि परिग्रह का ग्रहण हो जाय, ऐसा कभी नहीं हो सकता । जहाँ परिग्रह का ग्रहण होता है वहाँ अशुद्धोपयोग का सद्भाव अवश्य होता ही है । इसलिये परिग्रह से बंध का होना ऐकांतिक-निश्चित-नियमरूप है । इसलिये परिग्रह के छेदपना ऐकान्तिक है । ऐसा होने से ही परम श्रमण ऐसे अर्हन्त भगवन्तों ने पहले से ही सर्व परिग्रह का त्याग किया है और अन्य श्रमणों को भी पहले से ही सर्व परिग्रह का त्याग करना चाहिये ।

गाथा २१९ पर प्रवचन

शरीर की किसी भी चेष्टा से पर प्राणियों का घात हो, वहाँ मुनिराज को प्रमादभाव नहीं हो तो कोई दोष नहीं लगता; किन्तु तीव्र राग होने से तत्संबंधी दोष अवश्य है ।

इससे विपरीत वस्त्रादि परिग्रह की उपस्थिति में ऐसा नहीं है । वस्त्रादि परिग्रह की उपस्थिति ही अन्तर में विद्यमान ममत्वभाव को स्पष्ट करती है । इससे जीव को बंध होता ही है, इसलिये योगियों ने समस्त परिग्रह को छोड़ दिया है ।

मुनिराज ध्यान में मग्न हों और कोई व्यक्ति उन पर वस्त्रादि डालकर चला जावे, तो वह उपसर्ग है, परिग्रह नहीं । मुनिराज को वस्त्र ग्रहण की इच्छा नहीं है । वस्त्र रखे और मुनिदशा माने उसे तो जिनेन्द्र के मत में मिथ्यादृष्टि कहा है । वस्त्रसहित सम्यग्दृष्टिपना, पाँचवा गुणस्थान, ब्रह्मचारीदशा हो सकती है; किन्तु मुनिदशा नहीं हो सकती ।

आचार्य कहते हैं कि हे भाई ! वस्तुस्थिति तो ऐसी ही है। यदि तुझसे ऐसी मुनिदशा नहीं बने तो न सही; किन्तु श्रद्धा में फेरफार मत कर। श्रद्धा में तो जैसा वस्तु का स्वरूप है, वैसा ही विचार कर। तभी तेरे श्रद्धा की सत्यता टिकी रहेगी।

वस्तुस्थिति का यही स्वरूप होने के कारण श्रमणों ने भी अरहन्तों के समान समस्त परिग्रह को छोड़ दिया है। यही मुनिमार्ग की अखण्ड धारा है। इससे विरुद्ध मुनिदशा माननेवाला वीतराग मार्ग की निंदा करता है।

“जैसे कायव्यापारपूर्वक पर प्राणव्यपरोप को अशुद्धोपयोग के सद्भाव और असद्भाव के द्वारा अनैकांतिक बंधरूप होने से उसे (कायव्यापारपूर्वक पर प्राणव्यपरोप को) छेदपना अनैकांतिक माना गया है, वैसा उपधि-परिग्रह का नहीं है।”

बाह्य में परजीवों की हिंसा से मुनिराज को बंधन हो अथवा न भी हो, यह कोई एकांत नियम नहीं है; किन्तु प्रमादभाव है, तो बंध अवश्य है और अन्तर में प्रमादभाव नहीं है तो बंध भी नहीं है।

सिद्धान्त में कहा है ह “प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा” अर्थात् प्रमाद भाव से प्राण का व्यपरोपण होना हिंसा है।

वस्त्रादि परिग्रह के संबंध में ऐसा नहीं है; क्योंकि वस्त्रादि परिग्रह हो तो कितना बंध होगा और कितना नहीं होगा ह इसमें कोई अपवाद नहीं है। वहाँ तो एक ही नियम है कि जहाँ वस्त्रादि परिग्रह हो उस जीव को अशुद्धोपयोग अर्थात् तीव्रराग होता ही है। जो केवल बंध का ही कारण है।

“..परिग्रह सर्वथा अशुद्धोपयोग के बिना नहीं होता, ऐसा जो परिग्रह का सर्वथा अशुद्धोपयोग के साथ अविनाभावित्व है, उससे प्रसिद्ध होनेवाले ऐकान्तिक अशुद्धोपयोग के सद्भाव के कारण परिग्रह तो ऐकान्तिक बंधरूप है, इसलिये उसे (परिग्रह को) छेदपना ऐकान्तिक ही है।....”

परिग्रह और अन्तर के अशुद्धोपयोग का तो ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध है कि जहाँ वस्त्रादि परिग्रह हों, वहाँ मुनित्वोचित शुद्धता है ही नहीं। वस्त्रादि परिग्रह से तो मुनिपना छेद को प्राप्त होता है। वस्त्रसहित मुनिदशा त्रिकाल संभव नहीं, यह नियम है।

“....इसीलिये भगवन्त अरहन्तों ने – परम श्रमणों ने – स्वयं ही पहले ही सर्व परिग्रह को छोड़ा है; और इसीलिये दूसरों को भी, अन्तरंग छेद की भाँति प्रथम ही सर्व परिग्रह छोड़ने योग्य है; क्योंकि वह (परिग्रह) अन्तरंग छेद के बिना नहीं होता।....”

तीर्थकर भगवान उसी भव से मोक्ष जाते हैं, यह बात निश्चित है; तथापि बाह्य में जबतक समस्त परिग्रह को छोड़कर, वे वीतरागी मुनिपना प्राप्त नहीं करते, तबतक उन्हें केवलज्ञान नहीं हो सकता।

तीर्थकर भगवन्तों ने भी इसी दशापूर्वक केवलज्ञान प्राप्त किया है और दूसरे जीव इससे उल्टा मानें तो वे तीर्थकरों के मार्ग से बाहर ही हैं। निमित्त से जो लाभ-हानि मानता है, उसे तो सम्यग्दर्शन भी नहीं है। फिर मुनि या आचार्यपद कैसे होवे ? जिन्हें आत्मा का भान है, उनके वस्त्रसहित मुनिपना हो ही नहीं सकता।

‘वस्त्रसहित मुनिदशा नहीं होती’ इसमें कोई निमित्त का जोर नहीं है, निमित्त के कारण मुनिदशा अटकी है ह ऐसा भी इसका आशय नहीं है; अपितु निमित्त रूप में वस्त्रादि होने से अशुद्धभाव विद्यमान हैं, अतः उस जीव को मुनिदशा हो ही नहीं सकती।

कोई जीव अभक्ष्य आहार ग्रहण करता हो और कहें कि हमें अन्तर में अशुभभाव नहीं है, तो यह संभव नहीं ? अशुभभाव के बिना ऐसे निमित्तों पर लक्ष जा ही नहीं सकता। उसीप्रकार तीव्र राग के बिना वस्त्रादि ग्रहण करने का भाव हो ही नहीं सकता और इस तीव्र राग के साथ मुनिपना भी नहीं हो सकता।

जिसप्रकार अन्तर में माँसभक्षण का भाव न हो तो ‘माँस अच्छा है’ ह ऐसे वचन भी नहीं कहे जाते अथवा अन्तर में ब्रह्मचर्य का भाव हो तो ‘स्त्री का संग अच्छा है’ ह ऐसी भाषा भी नहीं बोली जा सकती। यद्यपि भाषा तो भाषा के कारण है; तथापि जिसप्रकार भाषा और भाव का निमित्त-नैमित्तिक संबंध है उसीप्रकार वस्त्रसहितपना और मुनिपना इन दोनों का भी निमित्त-नैमित्तिक संबंध है।

मुनिदशा का निर्मल वीतराग भाव अन्तर में हुआ हो और भाषा में

कहे कि ह 'वस्त्रादि रखने में बंधन नहीं है' तो यह संभव नहीं। जिसे वस्त्रादि रखने की बुद्धि है, उसे मुनिपना हो ही नहीं सकता। इसप्रकार सर्वज्ञ भगवन्तों ने मुनिपने में वस्त्रादि परिग्रह का निषेध किया है।

भावार्थ पर प्रवचन

आत्मद्रव्य के आश्रय से मुनित्वोचित निर्मल पर्याय प्रगट हुई है ह ऐसे निर्मल पर्यायस्वभाव को जो नहीं पहिचानता, उसने निजद्रव्य को भी नहीं पहिचाना। वस्त्रसहित मुनिपना मानने में तो सच्ची श्रावकदशा भी नहीं है।

अहाहा! संतों ने जैसा मुक्तिमार्ग कहा है, वह वैसा ही है, उसमें कोई अपवाद नहीं है, वह विपरीत स्वरूप भी नहीं है। जो व्यक्ति इस मार्ग का विरोध करेगा वह संसार में रखड़ेगा; किन्तु अन्य रीति से यह मार्ग कदापि संभव नहीं है।

(अब, 'कहने योग्य सब कहा गया है' इत्यादि कथन श्लोक द्वारा किया जाता है।)

(वसन्ततिलका)

वक्तव्यमेव किल यत्तदशेषमुक्त-

मेतावतैव यदि चेतयतेऽत्र कोऽपि।

व्यामोहजालमतिदुस्तरमेव नूनं

निश्चेतनस्य वचसामतिविस्तरेऽपि ॥१४॥

(दोहा)

जो कहने के योग्य है कहा गया वह सब्ब।

इतने से ही चेत लो अति से क्या है अब्ब ॥१४॥

अर्थ :ह जो कहने योग्य था वह अशेषरूप से कहा गया है, इतने मात्र से ही यदि यहाँ कोई चेत जाय ह समझ ले तो (अन्यथा) वाणी का अतिविस्तार क्यों किया जाय तथापि निश्चेतन (जड़वत्, नासमझ) को व्यामोह का जाल वास्तव में अतिदुस्तर है।

कलश १४ पर प्रवचन

जिन्हें विवेकबुद्धि नहीं है ऐसे अचेतन-जड़ जैसे नासमझों को कौन समझा सकता है? जिन्हें केवल वाद-विवाद ही करना है, उन जड़ जीवों

को किसप्रकार समझाया जा सकता है? वे नहीं समझ सकते।

जिनेन्द्र भगवान कथित मार्ग को जाहिर करके आचार्य भगवन्तों ने हाथ खड़े कर दिये हैं। वे कहते हैं कि मुनियों का मार्ग तो ऐसा ही है। जो जिज्ञासु हो, विवेकी हो वे इतने में ही सबकुछ समझ जाएंगे; क्योंकि सबकुछ कहा जा चुका है। सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र का क्या स्वरूप है? तथा इनको धारण करनेवालों का बाह्य व्यवहार कैसा होता है? यह सब कुछ स्पष्ट रीति से कहा जा चुका है। समझनेवाले तो इतने में ही सबकुछ समझ जाएंगे। बाकी जो जड़ समान (जड़बुद्धिवत्) हैं, वे तो अनेकों कुतर्क निकालेंगे ह ऐसे नासमझों के व्यामोह का जाल अतिदुस्तर है।

आचार्यदेव को करुणा आ रही है कि जो बिचारे नासमझ/अचेतन जैसे हैं, वे इस मार्ग को कैसे समझेंगे? जिनमें 'चेतनता' अर्थात् आत्मा की जागृति का भाव है, वे तो समस्त वस्तुस्थिति को समझ ही जाएंगे। बाकी मोही जीवों का तो मोह जाल में से निकलना ही मुश्किल है।

अहा मुनिदशा! यह तो आत्मा के आनन्द में, अनुभव में झूलनेवालों की दशा है। कभी आहार की वृत्ति हो और आहार लेने जावें, वहाँ किसी के रुदन का स्वर सुनाई दे तो, वे उस आहारवृत्ति से दूर हो जाते हैं।

हम तो आनन्द मंगलकारी मोक्षदशा को साधने निकले हैं, वहाँ यह रुदन कैसा? हम तो चैतन्य के आनन्द में झूलनेवाले हैं, वहाँ इस रुदन का निमित्त क्या? ऐसी अन्तर में आनन्द की उग्रता बढ़े तो आहार की वृत्ति भी टूट जाती है; अतः कोई रुदन आदि करता हो वहाँ मुनिराज आहार नहीं लेते। अन्तर आनन्द के जोर से समस्त शुभवृत्तियाँ भी सहज टूट जाती हैं। किन्तु "अरे! आज हमारे आहार में अंतराय हुआ।" ऐसा विकल्प मुनियों को नहीं होता। ऐसी आनन्दमय मुनिदशा है।

इसप्रकार मुनिदशा का स्वरूप सभी प्रकार कहा गया है। सरल जीवों को तो यह बात चित्त में बैठ ही जाएगी।

प्रवचनसार गाथा २२०

अब, इस उपधि (परिग्रह) का निषेध वह अन्तरंग छेद का ही निषेध है, ऐसा उपदेश करते हैं :ह

णहिणिरवेक्खोचागोणहवदिभिव्खुस्स आसयविसुद्धी ।
अविसुद्धस्स य चित्ते क्कहं णु कम्मक्खओ विहिदो ॥२२०॥
(हरिगीत)

यदि भिक्षु के निरपेक्ष न हो त्याग तो शुद्धि न हो ।

तो कर्मक्षय हो किसतरह अविशुद्ध भावों से कहो ॥२२०॥

अन्वयार्थ :ह [निरपेक्षः त्यागः न हि] यदि निरपेक्ष (किसी भी वस्तु की अपेक्षा-रहित) त्याग न हो तो [भिक्षोः] भिक्षु के [आशयविशुद्धः] भाव की विशुद्धि [न भवति] नहीं होती; [चित्ते अविशुद्धस्य] जो भाव में अविशुद्ध है उसके [कर्मक्षयः] कर्मक्षय [कथं नु] कैसे [विहितः] हो सकता है?

टीका :ह जैसे छिलके के सद्भाव में चावलों में पाई जाने वाली (रक्तारूप) अशुद्धता का त्याग (नाश, अभाव) नहीं होता, उसीप्रकार बहिरंग संग के सद्भाव में अशुद्धोपयोगरूप अन्तरंग छेद का त्याग नहीं होता और उसके सद्भाव में शुद्धोपयोगमूलक कैवल्य (मोक्ष) की उपलब्धि नहीं होती । (इससे ऐसा कहा गया है कि) अशुद्धोपयोगरूप अन्तरंग छेद के निषेधरूप प्रयोजन की अपेक्षा रखकर विहित (आदेश) किया जानेवाला उपधि का निषेध व अन्तरंग छेद का ही निषेध है ।

गाथा २२० पर प्रवचन

● मुक्ति के राजमार्ग में विचरनेवाले संत मुनिवरो को नमस्कार हो !

यह साधक मुनिराजों की बात है । आचार्यदेव कहते हैं कि अहो ! जिन्हें आत्मा का अपूर्व भान हुआ है और आत्मा में लीन होने से अन्तर में तीन कषाय चौकड़ी का अभाव हुआ है, उन्हें बाह्य में सहजतापूर्वक नग्न दिग्म्बर दशा होती है ।

जैनधर्म में यही मुनिदशा है । विगत गाथा में इसका बहुत वर्णन किया । समझने वाले इतने में ही समझ जायेंगे; कुतर्की मिथ्यादृष्टियों के तो उल्टे तर्क और स्वच्छन्दीपना ही होता है ।

कोई कहता है कि हूँ मुनिदशा की ऐसी खुल्ली बात करने से लोगों को दुःख होता है, विरोध होता है, इसलिये आचार्यदेव यह बात इसप्रकार न कहते तो ठीक होता ।

उससे कहते हैं कि तू स्वच्छन्दी है । संतों की बात सुनकर तो प्रमोद होना चाहिए कि अहो ! यह बात तो आज तक जानी ही नहीं थी । यह अपूर्व बात सुनकर अन्तर में प्रमोद व आश्चर्य होना चाहिए । हे प्रभु ! हमें तो कुछ भी भान नहीं था और आपने यथार्थ वस्तुस्थिति बतलाकर हमारे लिए उपकार किया है । जगत के लिए उपकार किया है ।

हमें तो मुनिदशा का यत्किंचित् भी भान नहीं था, हम तो इससे विपरीत मुनिदशा मानते थे । आपने यथार्थ वस्तुस्थिति समझाकर हमारे ऊपर उपकार किया है । हमें असत्य से छुड़ाया है । आपने तो हमें निहाल कर दिया है ।

इसके बदले कोई विचार करे कि मुनियों ने यह बात खुल्ली न की होती तो लोगों को दुःख तो नहीं होता तो ऐसा कहनेवाला स्वच्छन्दी और वीतरागी मुनियों का बैरी है ।

सत्य बात कहने पर ही तो पात्र जीव उसे समझेंगे और उनका कल्याण होगा । इसलिये आचार्य कुन्दकुन्द आदि वीतरागी संतों ने यह मार्ग खुल्ला ही कहा है हूँ ऐसा सत्यार्थ जानकर प्रमोद करना चाहिए; किन्तु उसके बदले कोई विपरीत तर्क करें तो वे आचार्य की आज्ञा से बाहर है, स्वच्छन्दी है । देखो तो सही ! एक तरफ आचार्यों की करुणा ! और दूसरी ओर जगत के विपरीत जीवों की विपरीतता ।

अहाहा ! चरणानुयोग में मुनिदशा की कैसी अद्भुत और सरस बात खुली है हूँ ऐसी सरस बात सुनते ही पात्र जीवों को प्रमोद होता है ।

प्रश्न हूँ वस्त्र रहित ही मुनिपना है और जो वस्त्रसहित मुनि हैं, वे

कुगुरु हैं हू ऐसा कहने पर वस्त्रसहित मुनिपना माननेवालों को दुःख लगता है; अतः वैसा न कहते तो अच्छा होता।

उत्तर हू यथार्थ वस्तुस्थिति जाहिर करने पर असत्य का तो निषेध ही जाता है। 'यही सत्य है' ऐसी सत्य की स्थापना करते ही 'उससे विरुद्ध सबकुछ असत्य है' हू ऐसा असत्य का निषेध भी हो जाता है, यही अनेकांत है। उससे विपरीत माननेवाले को दुःख लगे, यह उनकी विपरीत भावना हैं, उसमें ज्ञानी क्या करें? ऐसी तो कोई प्ररूपणा जगत में नहीं हो सकती, जो समस्त जीवों को अच्छी लगे।

कोई कहता है हू "ईश्वर जगत का कर्त्ता नहीं है" हू ऐसा कहने पर ईश्वर को कर्त्ता माननेवाले को दुःख लगता है; अतः वैसा नहीं कहना चाहिए।

उससे ज्ञानी जीव कहते हैं उसीप्रकार "ईश्वर कर्त्ता है" ऐसा कहने पर "ईश्वर कर्त्ता नहीं है" क्या ऐसा माननेवाले लोगों को दुःख नहीं होगा? अर्थात् निश्चित ही होगा। इसप्रकार तो सत्य-असत्य की कोई प्ररूपणा ही नहीं बन पायेगी। जो दुखी है, वह अपने स्वयं के कारण है, सत्य के कारण नहीं। सत्य को ज्ञानी सत्य रीति से ही जाहिर करते हैं। उसमें अज्ञानी स्वयं की कल्पना से दुःख माने, तो यह उसका विपरीत भाव है। इससे सत्य प्ररूपणा का निषेध नहीं होता।

अतः स्पष्टरूप से मुनिदशा का स्वरूप वर्णन करते हुए आचार्य भगवान कहते हैं कि वस्त्ररहित मुनिदशा ही यथार्थ मुनिदशा है। यहाँ अन्तर और बाह्य की जैसी स्थिति होनी चाहिए, वैसी ही कही गई है।

इस काल में यह कहनेयोग्य नहीं था और कहने में आ गया हू ऐसा नहीं; किन्तु जो कहने योग्य था वही कहने में आया है। इसप्रकार मुनिदशा को नक्की कर ! मुनिदशा तो केवलज्ञान लेने के लिए चैतन्य की झूलती हुई दशा है।

आचार्यदेव ने सत्य बात की जाहिरात जगत के कल्याण के लिए की है। इससे किसी को दुःख हो हू ऐसी कोई बात आचार्यों को नहीं है।

अज्ञानी जीव विपरीतता करके दुःख माने तो उसमें कारण वह स्वयं हैं।

प्रश्न हू आप कहते हो वह तो सच्ची बात है; परन्तु अन्यमतियों की निन्दा करने से वे दुःखी होंगे, हमारा उनके साथ विरोध होगा, इसलिये निन्दा क्यों करते हो?

उत्तर हू जो कषायभावपूर्वक निन्दा करें अथवा अन्य को दुःख उपजावें, वह तो पापी ही है; किन्तु यहाँ अन्यमत के श्रद्धानादि से जीवों की अतत्त्वश्रद्धा ही दृढ़ होगी और उससे वह संसार में दुःखी ही होगा, अतः अत्यन्त करुणाभाव से आचार्यों ने उक्त यथार्थ निरूपण किया है। तथापि कोई बिना कारण ही दुःख पाये, विरोध उत्पन्न करें, तो उसमें हम क्या कर सकते हैं ?

जिसप्रकार शराब की निन्दा करने से कलाल दुःख पाता है, कुशील की निन्दा करने से वेश्या दुःख पाती है तथा सच्चे-झूठे की पहिचान कराने से ठग दुःखी होते हैं, तो उसमें हम क्या करें ? उसीप्रकार कोई पापियों के भय से धर्मोपदेश ही न देवें तो जीवों का भला कैसे होगा ? संसार में ऐसा तो उपदेश नहीं है, जिससे सब जीवों को सुख हो जाए।

आचार्यदेव को विकल्प उत्पन्न हुआ और उन्होंने अत्यन्त करुणाभाव से स्पष्ट बात करते हुये उक्त मुनिपने का स्वरूप समझाया है।

कर्मों का नाश करके अल्पकाल में ही केवलज्ञान होवे हू ऐसी मुनिदशा होती है। इस दशा में अत्यन्त वीतरागता है। वस्त्रादि की उपाधि अर्थात् यह वस्त्र लेकर इसे ओढ़ूँ, यह फट गया और यह टूट गया हू ऐसी वस्त्रादिक की उपाधि मुनिराजों को नहीं है।

वस्त्रसहित गृहस्थों को स्वभावदृष्टि और आत्मज्ञान तो हो सकता है; किन्तु मुनिदशा त्रिकाल में नहीं हो सकती, क्योंकि वस्त्रादि सहित जीव के परिणामों में मुनिदशा योग्य विशुद्धता नहीं हो सकती।

जिसके बाह्य में वस्त्रादि हों, उसे अन्तर में राग की रक्तिमा विद्यमान है। वस्त्र छोड़ने पर भी अन्तर में राग रह सकता है; किन्तु अन्तर का राग छूट जाए तो वस्त्रादि का सद्भाव रहे हू ऐसा नहीं होता। वस्त्र का धागा

भी विद्यमान हो और अन्तर में रागभाव न रहे ह्व ऐसी स्थिति नहीं बनती । शरीर पर वस्त्र पहने हों और कहे कि “हम तो मुनि हैं, हमें परिग्रह का राग नहीं है” उससे आचार्य कहते हैं कि तुम मुनि नहीं, पाखण्डी हो ह्व तुम्हारी यह बात झूठी है ।

अन्तर में राग छूटने पर बाहर में वस्त्रादि भी सहज छूट जाते हैं । हमारे अनुभव और आगम की साक्षीपूर्वक हमने मुनिदशा की बात कही है, इसके साथ युक्ति और दृष्टान्त भी हैं; जो सिद्ध हैं ।

● शुद्धोपयोग तो केवलज्ञान का मूल है ।

वस्त्रादि के परिग्रह वालों को शुद्धोपयोग नहीं होता । देखो ! गाथा १९६ में चार प्रकार के मूल की बात कहीं थी और अब यहाँ पाँचवे केवलज्ञान स्वरूप मूल की बात करते हैं । परमार्थ से तो एक अभेद आत्मा ही सम्यग्दर्शन आदि समस्त धर्मों का मूल हैं ।

१. राग-द्वेष का मूल मिथ्यात्व है । जबतक मिथ्यात्व का नाश नहीं होता, तब तक राग-द्वेष का यथार्थ नाश नहीं होता ।

२. चारित्र का मूल सम्यक्त्व है, सम्यग्दर्शन के बिना चारित्रदशा उत्पन्न नहीं होती ।

३. परद्रव्यों में प्रवृत्ति का मूल मोहमल है । मोहमल अर्थात् मिथ्यात्व राग-द्वेष ।

४. चंचलता का मूल मन है । मन के आश्रय से चंचलता अर्थात् राग-द्वेष होते हैं ।

५. और अब यह अन्तिम केवलज्ञान का मूल शुद्धोपयोग है ।

यह शुद्धोपयोग दशा वस्त्रादि परिग्रहवालों को नहीं होती । गृहस्थ धर्मात्मा को सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की शुद्धता है; किन्तु मुनिदशा के योग्य शुद्धोपयोग वस्त्रसहित दशा में नहीं होता ।

जैसी मुनिदशा नग्न वीतरागी है, वैसे ही ज्ञानियों के वचन भी नग्न सत्य हैं । यहाँ तो यथार्थ वस्तुस्थिति स्पष्ट की है । जो जीव समझे, उन्हें अच्छी लगती है । विपरीत बुद्धिवालों को तो अनादि से अज्ञान ही चल रहा है ।

मुनिराज को बाह्य में वस्त्रादि नहीं होते ह्व ऐसा कहकर जो परिग्रह का निषेध किया है । वहाँ वास्तव में अन्तर अशुद्धोपयोग के ही निषेध का प्रमुख प्रयोजन है ।

मुनिराज को तीव्र रागभाव का निषेध वर्तता है, यह बताने के लिए बाह्य परिग्रह का अभाव सिद्ध किया । अन्तर में रागादिभाव न छूटे और बाह्य में वस्त्रादि छोड़कर बैठ जाएँ, उसकी यहाँ बात नहीं है । यहाँ तो अन्तर वीतरागी दशापूर्वक बाह्य में कैसी दशा होती है, उसकी चर्चा है ।

अहो ! यह मुनिदशा तो हमने समझी ही नहीं थी । मुनिदशा का यथार्थ स्वरूप जानकर हम तो निहाल हो गए ह्व ऐसा विचार करते हुये पात्र जीव यथार्थता को समझ जाते हैं ।

वीतरागी मुनिराजों को, जगत के जीवों को सत्य वस्तुस्थिति समझाने का विकल्प उत्पन्न हुआ, अतः उन्होंने यह सम्पूर्ण कथन किया है । उसके बदले कोई मिथ्यादृष्टि जीव कहे कि ह्व “ऐसा कहने से अन्य जीवों को दुःख होता है, अतः यह बात खुल्लू न कहते तो अच्छा होता ।” ह्व तो ऐसा तर्क करनेवाला स्वच्छन्दी है ।

अरे मूढ ! वीतरागी मुनिदशा में झूलनेवाले महासंतों से तू क्या बड़ा है ? आचार्यदेव को तेरे जितनी बुद्धि नहीं थी क्या ? अरे भाई ! मुनिवरों ने जो कहा है, वह यथार्थ ही कहा है । उसे समझकर तुझे आनन्द ना हो और तू कुतर्क करें, यह तेरी स्वच्छन्दता ही है ।

अरे भाई ! आचार्य देव कहते हैं कि शास्त्र में तो सर्वज्ञ भगवंतों ने ऐसी ही मुनिदशा का फरमान किया है । और तू कहता है कि ह्व “ऐसा न कहते तो अच्छा होता?” अरे ! तू तो भगवान, शास्त्र और संतों का बैरी है । वस्तुस्थिति और निजात्मा का भी दुश्मन है । अतः आचार्य भगवंतों ने जिस वस्तुस्थिति को खुलकर कहा है, उसे स्वीकार कर ! अपनी स्वच्छन्दता को एक ओर रखकर आचार्य भगवंतों ने जो कहा है ह्व वह समझ !



प्रवचनसार गाथा २२१

अब, 'उपधि वह ऐकान्तिक अन्तरंग छेद है' ऐसा विस्तार से उपदेश करते हैं :ह

किध तम्हि णत्थि मुच्छा आरंभो वा असंजमो तस्स ।

तथ परदव्वम्मि रदो कधमप्पाणं पसाधयदि ॥२२१॥

(हरिगीत)

उपधि के सद्भाव में आरंभ मूर्छा असंयम ।

हो फिर कहो परद्रव्यरत निज आत्म साधे किसतरह ॥२२१॥

अन्वयार्थ :ह [तस्मिन्] उपधि के सद्भाव में [तस्य] उस (भिक्षु) के [मूर्च्छा] मूर्छा, [आरम्भः] आरंभ [वा] या [असंयमः] असंयम [नास्ति] न हो [कथं] यह कैसे हो सकता है? (कदापि नहीं हो सकता), [तथा] तथा [परद्रव्ये रतः] जो परद्रव्य में रत हो वह [आत्मानं] आत्मा को [कथं] कैसे [प्रसाधयति] साध सकता है?

टीका :ह उपधि के सद्भाव में, (१) ममत्व-परिणाम जिसका लक्षण है ऐसी मूर्छा, (२) उपधि संबंधी कर्मप्रक्रम^१ के परिणाम जिसका लक्षण है ऐसा आरम्भ, अथवा (३) शुद्धात्मस्वरूप हिंसारूप परिणाम जिसका लक्षण है ऐसा असंयम अवश्यमेव होता ही है; तथा उपधि जिसका द्वितीय हो (अर्थात् आत्मा से अन्य ऐसा परिग्रह जिसने ग्रहण किया हो) उसके परद्रव्य में रतपना (लीनता) होने के कारण शुद्धात्मद्रव्य की साधकता का अभाव होता है; इससे उपधि के ऐकान्तिक अन्तरंग छेदपना निश्चित होता ही है ।

यहाँ यह तात्पर्य है कि ह 'उपधि ऐसी है, (परिग्रह वह अन्तरङ्ग छेद ही है), ऐसा निश्चित करके उसे सर्वथा छोड़ना चाहिये ।

गाथा २२१ पर प्रवचन

अहाहा ! मुनिराज तो जगत से एकदम निःस्पृह हैं, वे तो सदा

१. कर्मप्रक्रम = काम में युक्त होना; काम की व्यवस्था ।

सिंहवृत्ति से विचरन करनेवाले संत है । जैसे सिंह को गोली लगे तो उसे पिंजरापोल में नहीं बाँधते, उसीप्रकार मुनिवरो को भी गृहस्थों की अपेक्षा नहीं होती है । आरंभ-परिग्रहादि उनके नहीं होते । परिग्रहादि में रहना तो पिंजरापोल में रहनेवाले पशुओं जैसी गृहस्थों की लाचारी हैं । गृहस्थों को वस्त्रादि की साफ-सफाईरूप आरंभ होता है, असंयम होता है । वस्त्रादि-परिग्रहों के प्रति मूर्च्छा (ममत्व) होती है ह ऐसी जीव आत्मा में लीन होकर आत्मा को किस रीति से साधेगा? यहाँ तो पूर्ण साधना की बात है । वस्त्रादि परिग्रह में ममत्ववाले गृहस्थ धर्मात्मा को सम्यग्दर्शन-ज्ञान तो हो सकता है; किन्तु वस्त्रादि से सहित दशा में केवलज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता; क्योंकि उन्हें मुनिदशा नहीं हो सकती । अहो ! यह तो अन्तर में एकदम निवृत्तिस्वरूप शांतमार्ग है । वस्त्र-पात्र की उपधि की प्रवृत्ति आत्मार्थी को रोकती नहीं है । मुनि तो वस्त्र-पात्रादि की उपधि बिना ही होते हैं । आत्मा के आनन्द और अनुभव की श्रेणी में पड़े हुए मुनिराजों को बाह्य उपधि से क्या सम्बन्ध है ? अर्थात् कुछ भी नहीं ।

यह बात गृहस्थों को देव-गुरु-शास्त्र की पहिचान कराने के लिये आवश्यक है । देव-गुरु-शास्त्र कैसे होते हैं? यह तो जानना ही चाहिये न ? उनके स्वरूप को जाने बिना जहाँ-वहाँ माथा झुकावें तो धर्म नहीं होगा । जिसे बाह्य में वस्त्रादि परिग्रहों की मूर्च्छा है और फिर भी वह स्वयं को मुनि माने तो उसे वीतराग मार्ग की खबर ही नहीं है । वीतराग मार्ग में संत-मुनियों को ऐसी परिग्रह की मूर्च्छा या आरंभवृत्ति नहीं हो सकती ।

जिस साधुपद बिना केवलज्ञान और मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती, वह साधुपद कैसा होता है? उसकी यह चर्चा है । जो मुनिपने को विपरीत माने उसकी तो श्रद्धा ही विपरीत है । वह वीतरागदेव की आज्ञा को नहीं मानता । वह गुरु को नहीं पहिचानता और शास्त्र को भी नहीं पहिचानता है । जिनसे धर्म सीखना है, उनकी पहिचान तो करना ही चाहिये ना ? देव-गुरु-शास्त्र की यथार्थ श्रद्धा करना और वे क्या कहते हैं, उसकी समझ करना भी गृहस्थों का एक धर्म है । मुनिदशा प्राप्त करने के पूर्व

मुनिदशा कैसी होती है? यह पहिचानना चाहिए। 'णमो लोए सव्व साहूणं' में जिन साधुओं को नमस्कार किया गया है, उन साधुओं की दशा कैसी होती है? उसका यह वर्णन है। परिग्रह संबंधी क्रम-अक्रम का बोझा मुनियों के माथे नहीं है। यह वस्त्र लेना है, यह पहिनना है, यह वस्त्र गंदे हो गये, अतः धोना, धोकर सूखाना, उन्हें व्यवस्थित करना यह उपधि मुनिराज को नहीं है। इन कार्यों की व्यवस्था माथे पर हो तो मुनिपना हनन होता है। वहाँ हिंसा का परिणाम है, अतः वह असंयम है। जहाँ ममत्व, आरंभ और असंयम हो, वहाँ मुनिपना नहीं हो सकता।

“उपधि के सद्भाव में, (१) ममत्व-परिणाम जिसका लक्षण है ह्व ऐसी मूर्छा, (२) उपधि संबंधी कर्मप्रक्रम के परिणाम जिसका लक्षण है ह्व ऐसा आरम्भ, अथवा (३) शुद्धात्मस्वरूप हिंसारूप परिणाम जिसका लक्षण है ह्व ऐसा असंयम अवश्यमेव होता ही है; तथा उपधि जिसका द्वितीय हो (अर्थात् आत्मा से अन्य ऐसा परिग्रह जिसने ग्रहण किया है) उसके परद्रव्य में रतपना (लीनता) होने के कारण शुद्धात्मद्रव्य की साधकता का अभाव होता है”

चैतन्य में लीनता न हो और जो बाह्य वस्त्रादि परिग्रह में मग्न हैं, उसे मुनिदशा के साधकपने का अभाव है ह्व ऐसा होने से उपधि के एकांतिक अन्तरंग छेद भी निश्चित होता है; क्योंकि परिग्रह की ममता है, इसलिये मुनिपना का निषेध है।

मुनिपना तो ऊँची साधकदशा है। अन्तर में रमणता की जमावट हो गई है। परिग्रह का लक्ष हो तो शुद्धोपयोग की जमावट नहीं हो सकती, इसलिये जहाँ उपधि है, वहाँ मुनिपने का छेद ही है।

यहाँ तात्पर्य यह है कि ह्व उपधि ऐसी है ह्व (परिग्रह वह अन्तरंग छेद ही है) ऐसा निश्चित करके उसे सर्वथा छोड़ना चाहिये।

अतः प्रथम ऐसा मुनिपना निश्चित करके परिग्रह को छोड़ो। इसके बिना मुनिदशा नहीं होती।

प्रवचनसार गाथा २२२

अब; 'किसी के कहीं कभी किसी प्रकार कोई उपधि अनिषिद्ध भी है' ऐसे अपवाद का उपदेश करते हैं :ह्व

छेदो जेण ण बिज्जदि गहणविसग्गोसु सेवमाणस्स ।
समणो तेणिह वट्टदु कालं खेत्तं वियाणित्ता ॥२२२॥
(हरिगीत)

छेद न हो जिसतरह आहार लेवे उसतरह।
हो विसर्जन नीहार का भी क्षेत्र काल विचार कर ॥२२२॥

अन्वयार्थ :ह्व [ग्रहणविसर्गेषु] जिस उपधि के (आहार-नीहारादि के) ग्रहण-विसर्जन में सेवन करने में [येन] जिससे [सेवमानस्य] सेवन करनेवाले के [छेदः] छेद [न विद्यते] नहीं होता, [तेन] उस उपधियुक्त, [कालं क्षेत्रं विज्ञाय] काल क्षेत्र को जानकर, [इह] इस लोक में [श्रमणः] श्रमण [वर्तताम्] भले वर्ते।

टीका :ह्व आत्मद्रव्य के द्वितीय पुद्गल का अभाव होने से समस्त ही उपधि निषिद्ध है ह्व ऐसा उत्सर्ग (सामान्य नियम) है; और विशिष्ट कालक्षेत्र के वश कोई उपधि अनिषिद्ध है ह्व ऐसा अपवाद है। जब श्रमण सर्व उपधि के निषेध का आश्रय लेकर परमोपेक्षासंयम^१ को प्राप्त करने का इच्छुक होने पर भी विशिष्ट कालक्षेत्र के वश हीन शक्तिवाला होने से उसे प्राप्त करने में असमर्थ होता है, तब उसमें अपकर्षण^२ करके (अनुत्कृष्ट) संयम प्राप्त करता हुआ उसकी बहिरंग साधनमात्र उपधि का आश्रय करता है। इसप्रकार जिसका आश्रय किया जाता है ऐसी वह उपधि उपधिपने के कारण वास्तव में छेदरूप नहीं है, प्रत्युत छेद की निषेधरूप (त्यागरूप) ही है। जो उपधि अशुद्धोपयोग के बिना नहीं होती वह छेद

१. परमोपेक्षासंयम = परम-उपेक्षासंयम (उत्सर्ग, निश्चयनय, सर्वपरित्याग परमोपेक्षासंयम, वीतराग चारित्र और शुद्धोपयोग; ह्व ये सब एकार्थवाची हैं।)

२. अपकर्षण = हीनता (अपवाद, व्यवहारनय, एकदेशपरित्याग, अपहृतसंयम (अल्पता-हीनतावाला संयम सरागचारित्र और शुभोपयोग ह्व ये सब एकार्थवाची हैं।)

है। किन्तु यह (संयम की बाह्यसाधनमात्रभूत उपधि) तो श्रामण्यपर्याय की सहकारी कारणभूत शरीर की वृत्ति के हेतुभूत आहार-नीहारादि के ग्रहण-विसर्जन (ग्रहण-त्याग) संबंधी छेद के निषेधार्थ ग्रहण की जाने से सर्वथा शुद्धोपयोग सहित है, इसलिये छेद के निषेधरूप ही है।

गाथा २२२ पर प्रवचन

पर के ग्रहण-त्याग का कथन उपचार से है। अन्तर में विकल्प उठा तो वहाँ निमित्त की अपेक्षा ग्रहण-त्याग करना कहा है। वास्तव में तो आत्मा पर का ग्रहण-त्याग नहीं कर सकता। यही वस्तुस्थिति है; तथापि चरणानुयोग में निमित्त का ज्ञान कराया गया है।

“आत्मद्रव्य के द्वितीय पुद्गल का अभाव होने से समस्त ही उपधि निषिद्ध है ह्व ऐसा उत्सर्ग (सामान्य नियम) है।”

भगवान आत्मा एक शुद्ध द्रव्य है, उसमें शरीरादि समस्त परद्रव्यों का अर्थात् परमाणुमात्र के भी ग्रहण-त्याग का अभाव है। जिसने ऐसी दृष्टिपूर्वक आत्मा में रमणता की है, उसे मुनिपने में अन्य किसी उपधि का संग नहीं है ह्व यही उत्सर्ग है। अतः मात्र अकेले आत्मा में लीनता ही मुनिराजों को उत्सर्ग मार्ग है और मन-वाणी-देह पर लक्ष जाए तो वह अपवादरूप उपधि है। मन-वाणी-देह को अपवाद स्वरूप उपधि में गिना गया है; किन्तु वस्त्रादि के तो अपवादरूप में भी मुनिराज को उपधि नहीं कहा।

“...विशिष्ट कालक्षेत्र के वश कोई उपधि अनिषिद्ध है ह्व ऐसा अपवाद है। जब श्रमण सर्व उपधि के निषेध का आश्रय लेकर परमोपेक्षासंयम को प्राप्त करने का इच्छुक होने पर भी...”

निर्विकल्प होकर चिदानन्दस्वरूप में जो ठहरा है, उसे तो शरीरादि की उपधि का लक्ष ही नहीं है; किन्तु जिसकी भावना होने पर भी काल क्षेत्र के वश होने से हीन शक्ति हो और निर्विकल्परूप से स्थित न हो सकता हो तो अपवादस्वरूप थोड़ा मन-वचन-काय पर लक्ष जाता है। वहाँ अनुत्कृष्ट संयम को टिकाये रखने के लिये उपधि का आश्रय करता है

अर्थात् सरागभाव होने पर शरीरादि निमित्त पर लक्ष जाने से उस उपधि को स्वीकार किया है। यह आत्मा को द्वितीय उपधि है, अतः उसे उपधि स्वीकार किया। आत्मा तो ज्ञाता-दृष्टा शुद्ध है ह्व ऐसा भान और उसमें दृढ़लीनता मुनिराज के होती ही है।

पूर्ण वीतरागस्वरूप आत्मा में जबतक यह जीव स्थित नहीं होता, तबतक उसे उपदेश श्रवण, उपदेश देना, आहार, पर जीवों की दया पालना इत्यादि विकल्प भाव आते हैं; किन्तु ऐसी उपधि का आश्रय होने पर संयम को छेद नहीं होता, अतः वास्तव में वे उपधि नहीं है। वहाँ संयम का छेद नहीं है, अपितु वह उपधि तो छेद को निषेधरूप है। छठवें गुणस्थान में विकल्प आने पर उसका लक्ष न करें, तो वे अन्य राग में जुड़ेंगे, अतः व्यवहार संयम-छठवें गुणस्थान में टिका हुआ होने से वे शुभविकल्प उपधि में नहीं लिये हैं। परमार्थ से उत्सर्गरूप तो वे दोष हैं; किन्तु व्यवहार से छठवें गुणस्थान की अपेक्षा अपवादस्वरूप उसे शुभविकल्प और आहारादि उपधि होती है, वह उपधि संयम के छेद का कारण नहीं है।

“.....जो उपधि अशुद्धोपयोग के बिना नहीं होती वह छेद है। किन्तु यह (संयम की बाह्यसाधनमात्रभूत उपधि) तो श्रामण्यपर्याय की सहकारी कारणभूत शरीर की वृत्ति के हेतुभूत आहार-नीहारादि के ग्रहण-विसर्जन (ग्रहण-त्याग) संबंधी छेद के निषेधार्थ ग्रहण की जाने से सर्वथा शुद्धोपयोग सहित है, इसलिये छेद के निषेधरूप ही है।.....”

मुनिराज को छठवाँ और सातवाँ गुणस्थान हजारों बार आता है। वहाँ सातवें में निर्विकल्प अनुभव में ठहरें, वह उत्सर्ग है और छठवें का विकल्प उत्पन्न हुआ वह अपवाद है।

अहो ! मुनिदशा कैसी है ? उसकी तुझे खबर नहीं है। सम्यग्दर्शन और चतुर्थ गुणस्थान का भी ठिकाना नहीं है और वस्त्र छोड़ने को मुनिपना मान बैठा, उसे मुनिपना नहीं है, वह तो धर्मी भी नहीं है।

छठवें गुणस्थान में शुभवृत्ति उठने पर भी उसे यहाँ सर्वथा शुद्धोपयोग ही गिना है; क्योंकि छठवें गुणस्थान की दशा में विघ्न जैसी अशुद्धता नहीं है। वहाँ आहारादिक का विकल्प उठे तो आहारादिक लेते हैं; पर राग के पोषण के लिये नहीं; अपितु संयम का घात होकर अशुभ राग न आ जाये ह्व इस हेतु से आहारादिक लेते हैं। इसीलिये इस उपधि से संयम का छेद नहीं होता।

मुनिराज स्वयं संसार के विकल्पों से बाहर निकले हुये हैं तथा उल्टी मान्यतारूपी कुँ में पड़े हुये जीवों को बाहर निकालने हेतु यह वस्तुस्थिति समझा रहे हैं।

पद्मनन्दि पंचविंशतिका के दानाधिकार में आचार्यदेव कहते हैं कि हम आत्मा की रमणता करके, मुनि होकर, संसाररूपी कुँ से बाहर निकल गये हैं और अब, इसी संसार के लोभरूपी कुँ में पड़े हुये संसारी जीवों को करुणापूर्वक बाहर निकालने के लिए यह दान का उपदेश दिया गया है कि हे भाई! पूर्व में निज स्वभाव का घात करके जो तुम्हें पुण्यबंध हुआ था, उसके फल में अभी वर्तमान में पैसा आदि भोग-सम्पत्ति तुम्हें मिली है, इसे अब दान करके भोग सामग्री के प्रति ममता घटाओं।

जिसप्रकार कौँवे को जली हुई झूठन भी मिलती है, तो वह काँव-काँव करके अन्य कौँओं को इकट्ठा कर लेता है। उसीप्रकार तुम्हारे स्वभाव का घात होकर तुम्हें खुरचन के रूप में पुण्यबंध हुआ। तब तुम्हें पैसा आदि प्राप्त हुआ और तू उसे अकेला ही भोगेगा/खायेगा? अरे! इस लोभ को घटाकर यदि तू दान न करें तो लोभरूपी कुँ में स्वयं जाकर पड़ेगा, अतः आचार्यदेव ने तुझपर करुणा करके दान का उपदेश दिया है।

यहाँ कुगुरुओं की उल्टी श्रद्धारूप कुँ में पड़े जीवों को संसार से बचाने के लिए आचार्य भगवंतों ने करुणापूर्वक मुनिपने का उपदेश दिया है। इस चरणानुयोग की शुरुआत में ही आचार्य भगवान कहते हैं कि ह्व हे जीवो! हमारा आत्मा संसार के दुःख से मुक्त होने का इच्छुक है, अतः हमने मुनिदशा अंगीकार की है और जो कोई जीव हमारे समान संसार

दुःख से छूटने के इच्छुक हों तो वे भी हमारे जैसा मुनिपना अंगीकार करें। हम तो वैसी मुनिदशा का अनुभव कर रहे हैं और उसी मुनिदशा के प्रणेता भी हैं ह्व ऐसा कहकर मुनिदशा का स्वरूप बताया है। अतः मुनिदशा के स्वरूप को पहिचानना चाहिये।

हे जीवों! संसार दुःख से बाहर निकलने के लिए हमें यथार्थ मुनिपना अवश्य पहिचानना चाहिये ह्व ऐसा मुनिपना हो सके तो अंगीकार करना और यदि नहीं होंवे तो उसकी यथार्थ श्रद्धा तो अवश्य ही रखनी चाहिए। श्रद्धा में रंचमात्र भी अन्यपना नहीं होना चाहिए।

छठवें गुणस्थान में शुभराग और मन का अवलंबन होने पर भी यहाँ उसे सर्वथा शुद्धोपयोग कहा है; क्योंकि छठवें गुणस्थान से वे मुनिराज नीचे नहीं गिरते। उनकी वह दशा टिकी रहती है, उसके पश्चात् वे पुनः सातवें में जाते हैं, इसलिये छठवें गुणस्थान को भी शुद्धोपयोग में ही गिना जाता है। छठवाँ गुणस्थान तो द्रव्य के आश्रय से ही टिका है; किन्तु मुनिराज को विकल्प उत्पन्न हो, तब उनकी क्या स्थिति है? विकल्प की क्या मर्यादा है? उसका यहाँ ज्ञान कराया है। चौथा-पाँचवा गुणस्थान भी द्रव्य के ही आश्रय से टिका है। ●

भाई! तू इस आत्मा को देखने के लिए अन्दर जाता ही कब है? यदि देखने का प्रयत्न करे तो क्यों नहीं दीखेगा? अवश्य दीखेगा। ज्ञान-नेत्र उघाड़कर अन्दर देखो तो दिखाई देगा। भाई! 'आत्मा दिखाई नहीं देता' और 'मैं मुझे ही नहीं दीखता' ह्व ये सब कहने वाला कौन है? यह निर्णय किसने किया है कि मुझे आत्मा दिखाई नहीं देता है। अरे, जिसने यह कहा या निर्णय किया, वही तो स्वयं आत्मा है। 'नहीं दीखता' ह्व ऐसा नकारात्मक ज्ञान दीख गया न? वह जिसे दीख गया, वही आत्मा है। यह निर्णय स्वयं ज्ञान की पर्याय में हुआ है तथा ज्ञान ने किया है। जिसमें उक्त निर्णय हुआ व जिसने यह निर्णय किया, वह 'ज्ञान' ही स्वयं आत्मा है।

ह्व प्रवचनरत्नाकर भाग-२, पृष्ठ-३९७

प्रवचनसार गाथा २२३

अब; अनिषिद्ध उपधि का स्वरूप कहते हैं :ह

अप्पडिकुट्टं उवधिं अपत्थणिज्जं असंयतजणेहिं ।

मुच्छादिजणणरहिदं गेणहदु समणो जदि वि अप्पं॥२२३॥

(हरिगीत)

मूर्च्छादि उत्पादन रहित चाहे जिसे न असंयमी।

अत्यल्प हो ऐसी उपधि ही अनिन्दित अनिषिद्ध है॥२२३॥

अन्वयार्थ :ह [यद्यपि अल्पम्] भले ही अल्प हो तथापि, [अप्रतिक्रुष्टम्] जो अनिन्दित हो, [असंयतजनैः अप्रार्थनीयं] असंयतजनों से अप्रार्थनीय हो और [मूर्च्छादिजननरहितं] जो मूर्च्छादि की जननरहित हो ह [उपधि] ऐसे ही उपधि को [श्रमणः] श्रमण [गुह्यात्] ग्रहण करो ।

टीका :ह जो उपधि सर्वथा बंध का असाधक होने से अनिन्दित है, संयत के अतिरिक्त अन्यत्र अनुचित होने से असंयतजनों के द्वारा अप्रार्थनीय (अनिच्छनीय) है और रागादिपरिणाम के बिना धारण की जाने से मूर्च्छादि के उत्पादन से रहित है, वह वास्तव में अनिषिद्ध है। इससे यथोक्त स्वरूपवाली उपधि ही उपादेय है, किन्तु किञ्चित्मात्र भी तथोक्त स्वरूप से विपरीत स्वरूपवाली उपधि उपादेय नहीं है।

गाथा २२३ पर प्रवचन

छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले मुनिराजों की दशा कैसी होती है ? उन्हें बाह्य में कैसे उपकरण होते हैं ? उसका यह वर्णन है। इसका जिसे भान नहीं है, उसे तो देव-शास्त्र-गुरु की भी सच्ची श्रद्धा नहीं है। उसे सम्यग्दर्शन भी नहीं हो सकता है।

जो उपधि सर्वथा बंध का असाधक होने से अनिन्दित है, संयत के अतिरिक्त अन्यत्र अनुचित होने से असंयतजनों के द्वारा अप्रार्थनीय (अनिच्छनीय) है और रागादिपरिणाम के बिना धारण की जाने से

मूर्च्छादि के उत्पादन से रहित है, वह वास्तव में अनिषिद्ध है।

मुनिराज को जो उपधि कहने में आई, वह कैसी है?

(१) सर्वथा बंध का असाधक होने से अनिन्दित है। वस्त्रादि परिग्रह तो बंधन का साधक है।

(२) संयत से भिन्न जो भी अनुचित कार्य है, वह असंयतजनों के द्वारा अप्रार्थनीय है।

(३) रागादि परिणाम बिना जो कमण्डल, मयूरपीछी आदि हैं, वह परिग्रह मूर्च्छा रहित ही होते हैं; अतः वह उपधि अनिषिद्ध है। इसके अतिरिक्त वस्त्रादि सभी परिग्रह निषिद्ध ही हैं।

इससे विरुद्ध वस्त्रादि परिग्रह तो बंधन का साधक है, वह तो मुनियों के है ही नहीं अर्थात् निश्चय से तो समस्त परिग्रहों का ही निषेध है, किन्तु छठवें गुणस्थान में विकल्प उठने पर कमण्डल इत्यादि पर लक्ष जाता है, अतः वह अपवादरूप परिग्रह है, लेकिन वस्त्रादि परिग्रह तो अपवाद में भी मुनिराज को नहीं होते।

भाई! अन्दर में तू अनन्त गुणों का भण्डार पूर्णानन्द का नाथ प्रभु है न? परन्तु यह बात बैठे कैसे? क्योंकि अनादिकाल से एकसमय की पर्याय पर ही दृष्टि पड़ी है, एकसमय की दशा को ही अपना स्वरूप मानता रहा है; किन्तु यह पर्याय तेरा स्वरूप नहीं है, पर्याय आत्मा नहीं है। व्यवहारनय भले ही पर्याय को आत्मा कहे, किन्तु निश्चय से भगवान आत्मा पूर्ण चैतन्यघन, अकेला आनन्द का दल, अनाकुल शान्ति का रसकन्द, त्रिकाल ध्रुवरूप है। अनादि-अनन्त ध्रुव चैतन्यपने रहनेवाले तत्त्व को भगवान आत्मा कहते हैं ह इसकी दृष्टि करना सम्यग्दर्शन है। भाई! इसकी दृष्टि करने के लिए तुझे निमित्त से, राग से तथा भेद के भावों से दृष्टि उठानी पड़ेगी। अन्दर में एकमात्र अखण्ड अभेद एकरूप चैतन्यमूर्ति चिदाकार भगवान की दृष्टि करना ही सम्यग्दर्शन है। धर्म की शुरुआत भी यहीं से (सम्यग्दर्शन से) होती है।

ह प्रवचनरत्नाकर भाग-२, पृष्ठ-३५५

प्रवचनसार गाथा २२४

अब 'उत्सर्ग ही वस्तुधर्म है, अपवाद नहीं' ऐसा उपदेश करते हैं : ह
किं किंचण त्ति तक्कं अपुण्णभवकामिणोध देहे वि ।
संग ति जिणवरिंदा अप्पडिकम्मत्तमुद्दिट्ठा ॥२२४॥

(हरिगीत)

जब देह भी है परिग्रह उसको सजाना उचित ना ।

तो किसतरह हो अन्य सब जिनदेव ने ऐसा कहा ॥२२४॥

अन्वयार्थ : ह [अथ] जबकि [जिनवरेन्द्राः] जिनवरेन्द्रों ने
[अपुनर्भवकामिनः] मोक्षाभिलाषी के, [संगः इति] 'देह परिग्रह है'
ऐसा कहकर [देहे अपि] देह में भी [अप्रतिकर्मत्वम्] अप्रतिकर्मपना
(संस्काररहितपना) [उद्दिष्टवन्तः] कहा (उपदेशा) है, तब [किं किंचनम्
इति तर्कः] उनका यह (स्पष्ट) आशय है कि उसके अन्य परिग्रह तो कैसे
हो सकता है?

टीका : ह यहाँ, श्रामण्यपर्याय का सहकारी कारण होने से जिसका
निषेध नहीं किया गया है ह ऐसे अत्यन्त उपात्त^१ शरीर में भी, 'यह
(शरीर) परद्रव्य होने से परिग्रह है, वास्तव में यह अनुग्रह योग्य नहीं,
किन्तु उपेक्षा योग्य ही है' ऐसा कहकर, भगवन्त अर्हन्तदेवों ने अप्रतिकर्मपने
का उपदेश दिया है, तब फिर वहाँ शुद्धात्मतत्त्वोपलब्धि की संभावना
के रसिक पुरुषों के शेष अन्य अनुपात्त^२ परिग्रह बेचारा कैसे (अनुग्रह
योग्य) हो सकता है? ह ऐसा उनका (अर्हन्त देवों का) आशय व्यक्त ही
है । इससे निश्चित होता है कि ह उत्सर्ग ही वस्तुधर्म है, अपवाद नहीं ।

यहाँ ऐसा तात्पर्य है कि वस्तुधर्म होने से परम निर्ग्रन्थपना ही
अवलम्बन योग्य है ।

गाथा २२४ पर प्रवचन

यहाँ शरीर को परिग्रह कहकर उसके प्रति होनेवाले ममत्व परिणाम
को भी छोड़ने के लिये कहा गया है तो फिर वस्त्रादि का परिग्रह मुनिराज
को कैसे हो सकता है?

१. उपात्त = प्राप्त, मिला हुआ ।

२. अनुपात्त = अप्राप्त ।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव भगवान की साक्षीपूर्वक कहते हैं कि
“जिनवरेन्द्रों ने मोक्षाभिलाषी के 'देह परिग्रह है' ऐसा कहकर देह में भी
अप्रतिकर्मपना (संस्काररहितपना) उपदेशा है, तब उनका यह स्पष्ट आशय
है कि उस जीव के (मुनिराजों के) अन्य परिग्रह कैसे हो सकते हैं ?
अर्थात् नहीं हो सकते ।

“यहाँ, श्रामण्यपर्याय का सहकारी कारण होने से जिसका निषेध
नहीं किया गया है ह ऐसे अत्यन्त उपात्त शरीर में भी, 'यह (शरीर)
परद्रव्य होने से परिग्रह है, वास्तव में यह अनुग्रह योग्य नहीं, किन्तु उपेक्षा
योग्य ही है' ऐसा कहकर, भगवन्त अर्हन्तदेवों ने अप्रतिकर्मपने का
उपदेश दिया है....”

चैतन्य आत्मा के आनन्द के अतिरिक्त मुनिराज को अन्य कोई भी
अपेक्षा नहीं है । देह और उसके निकटवर्ती संयोगों में वर्तते हुये होने पर
भी सर्वज्ञ भगवान उन्हें देह की उपेक्षा करने के लिये कह रहे हैं ।

सर्वज्ञदेव ने मुनिवरों को शरीर को सजाने आदि का निषेध करने के
लिये अप्रतिकर्मपने का ही उपदेश दिया है, इसलिये मुनिराजों को अन्य
दूर क्षेत्रस्थ अनुपात्त परिग्रह का तो विचार करना भी योग्य नहीं है ।

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि “किं किंचनमिति....” ह अर्थात्
जरा भी परिग्रह मुनिवरों को कैसे हो सकता है? “परिग्रहो वराकः किं
नाम...” जहाँ मुनियों के देहप्रत्यय के लक्ष का भी निषेध करके उसे
अपवाद में गिना है तो फिर वस्त्र-पात्र-पैसा इत्यादि का परिग्रह उन्हें कैसे
हो सकता है? शरीर तो निकट का स्वयं प्राप्त परिग्रह है और वस्त्रादि दूर के
अप्राप्त परिग्रह है, जब उन्हें शरीर का ही आदर नहीं है तो वस्त्र पात्रादि का
आदर कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता ।

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि सर्वज्ञ भगवान का ऐसा आशय हमें
व्यक्त भासित होता है, क्योंकि यही अरहन्तों का आशय है । इससे
निश्चित होता है कि उत्सर्ग ही वस्तुधर्म है, अपवाद नहीं । व्यवहार से
शरीरादि परिग्रह हैं ह ऐसा जाना था, किन्तु उसे भी अपवाद में गिनकर
परमार्थ से उसका भी निषेध किया है । तात्पर्य यह है कि परम निर्ग्रन्थपना
ही वस्तुधर्म है, अतः यही अवलम्बन करने योग्य है ।

प्रवचनसार गाथा २२५

अब अपवाद के कौनसे विशेष (भेद) हैं, सो कहते हैं :ह
 उवयरणं जिणमग्गे लिंगं जहजादरूवमिदि भणिदं ।
 गुरुवयणं पि य विणओ सुत्तज्झयणं णिदिट्ठं ॥२२५॥
 (हरिगीत)

जन्मते शिशुसम नगन तन विनय अर गुरु के वचन ।

आगम पठन है उपकरण जिनमार्ग का ऐसा कथन ॥२२५॥

अन्वयार्थ :ह [यथाजातरूपं लिंगं] यथाजातरूप (जन्मजात-नमन)
 जो लिंग वह [जिन-मार्ग] जिनमार्ग में [उपकरणं इति भणितम्]
 उपकरण कहा गया है, [गुरुवचनं] गुरु के वचन, [सूत्राध्ययनं] सूत्रों
 का अध्ययन [च] और [विनयः अपि] विनय भी [निर्दिष्टम्]
 उपकरण कही गई है ।

टीका :ह इसमें जो अनिषिद्ध उपधि अपवाद है, वह सभी वास्तव में
 ऐसा ही है कि जो श्रामण्यपर्याय के सहकारी कारण के रूप में उपकार
 करनेवाला होने से उपकरणभूत है, दूसरा नहीं । उसके विशेष (भेद)
 इसप्रकार हैं :ह सर्व आहार्य^१ रहित सहजरूप से अपेक्षित (सर्व आहार्य
 रहित) यथाजातरूपपने के कारण जो बहिरंग लिंगभूत हैं ऐसे कायपुद्गल;
 (२) जिनका श्रवण किया जाता है ऐसे तत्कालबोधक^२, गुरु द्वारा कहे
 जाने पर आत्मतत्त्व-द्योतक^३, सिद्ध^४ उपदेशरूप वचनपुद्गल; तथा

१. अहार्य = बाहर से लाया जानेवाला; कृत्रिम; औपाधिक, (सर्व कृत्रिम-औपाधिक भावों
 से रहित मुनि के आत्मा का सहजरूप वस्त्राभूषणादि सर्व कृत्रिमताओं से रहित यथाजातरूपपने
 की अपेक्षा रहता है अर्थात् मुनि के आत्मा का रूप-दशा-सहज होने से शरीर भी यथाजात
 ही होना चाहिये; इसलिये यथाजातरूपपना वह मुनिपने का बाह्यलिंग है ।)

२. तत्कालबोधक = उसी (उपदेश के) समय ही बोध देनेवाले । (शास्त्र शब्द सदा बोध के
 निमित्तभूत होने से नित्यबोधक कहे गये हैं, गुरुवचन उपदेश-काल में ही बोध के निमित्तभूत
 होने से तत्कालबोधक कहे गये हैं ।)

३. आत्मतत्त्वद्योतक = आत्मतत्त्व को समझाने वाले-प्रकाशित करनेवाले ।

४. सिद्ध = सफल; रामबाण; अमोघ = अचूक; (गुरु का उपदेश सिद्ध-सफल-रामबाण है ।)

(३) जिनका अध्ययन किया जाता है ऐसे, नित्यबोधक, अनादिनिधन
 शुद्ध आत्मतत्त्व को प्रकाशित करने में समर्थ श्रुतज्ञान के साधनभूत
 शब्दात्मक सूत्रपुद्गल; और (४) शुद्ध आत्मतत्त्व को व्यक्त करनेवाली
 जो दार्शनिक पर्यायें, उनरूप से परिणमित पुरुष के प्रति विनीतता^१ का
 अभिप्राय प्रवर्तित करनेवाले चित्तपुद्गल । (अपवाद मार्ग में जिस
 उपकरणभूत उपधि का निषेध नहीं है उसके उपरोक्त चार भेद हैं ।)

यहाँ ऐसा तात्पर्य है कि काय की भाँति वचन और मन भी वस्तुधर्म
 नहीं है ।

भावार्थ :ह जिस श्रमण की श्रामण्यपर्याय के सहकारी कारणभूत,
 सर्व कृत्रिमताओं से रहित यथाजातरूप के सम्मुख वृत्ति जाये, उसे काय
 का परिग्रह है; जिस श्रमण की गुरु-उपदेश के श्रवण में वृत्ति रुके, उसे
 वचनपुद्गलों का परिग्रह है, जिस श्रमण की सूत्राध्ययन में वृत्ति रुके
 उसके सूत्रपुद्गलों का परिग्रह है और जिस श्रमण के योग्य पुरुष के
 विनयरूप परिणाम हों उसके मन के पुद्गलों का परिग्रह है । यद्यपि यह
 परिग्रह उपकरणभूत हैं, इसलिये अपवाद मार्ग में उनका निषेध नहीं है,
 तथापि वे वस्तुधर्म नहीं हैं ।

गाथा २२५ पर प्रवचन

यहाँ मुनिराज को जो अनिषिद्ध उपधि अपवादरूप है, उसका वर्णन
 किया गया है । अपवादरूप उपधि मुनियों के संयम में उपकार करनेवाली
 होने से वह उपकरणभूत है, अन्य कुछ भी उपकरणभूत नहीं है ।

वह उपकरण भेद इसप्रकार है ह

“(१) सर्व आहार्यरहित सहजरूप से अपेक्षित (सर्व आहार्य रहित)
 यथाजातरूपपने के कारण जो बहिरंग लिंगभूत हैं ऐसे कायपुद्गल..”

अहार्य अर्थात् बाहर से लाया जानेवाला; कृत्रिम; औपाधिक । सर्व
 कृत्रिम-औपाधिक भावों से रहित मुनि के आत्मा का सहजरूप

१. विनीतता = विनय; नम्रता; (सम्यग्दर्शनादि पर्याय में परिणमित पुरुष के प्रति विनयभाव से
 प्रवृत्त होने में मन के पुद्गल निमित्तभूत हैं ।)

वस्त्राभूषणादि सर्व कृत्रिमताओं से रहित यथाजातरूपपने की अपेक्षा रहता है अर्थात् मुनि के आत्मा का रूप सहज होने से शरीर भी यथाजात ही होना चाहिये; इसलिये यथाजातरूपपना मुनिपने का बाह्यलिंग है।

वस्त्रादि परिग्रह बाहर से लाये जाने के कारण उनका परिग्रह मुनिराज को नहीं है। संयम हेतु शरीर, मन, वाणी पर लक्ष जाना उपधि है। काय पुद्गलरूप बाह्यलिंग मुनि का उपकरण है, किन्तु वस्त्र-पात्रादि मुनिराज के उपकरण नहीं हैं। आचार्यदेव तो 'लिंग यथाजातरूपं' कहकर निर्ग्रन्थता ही स्पष्ट करते हैं।

“(२) जिनका श्रवण किया जाता है ऐसे तत्कालबोधक, गुरु द्वारा कहे जाने पर आत्मतत्त्व-द्योतक, सिद्ध उपदेशरूप वचनपुद्गल..”

गुरु के वचन श्रवण भी परिग्रह है। हे जीवों ! गुरु के वचन तत्काल बोधक अर्थात् उसी काल (उपदेश के काल) में ही बोध देनेवाले होते हैं।

शास्त्र शब्द सदैव बोध के निमित्तभूत होने से नित्यबोधक कहे गये हैं और गुरुवचन उपदेश-काल में ही बोध के निमित्तभूत होने से तत्कालबोधक कहे गये हैं।

आत्मा का भान करके जो निर्विकल्प हुआ है, उसे तो श्रीगुरु के तत्कालबोधक वचन सुनने की भी इच्छा नहीं है; क्योंकि उसे तो वचनपुद्गल का परिग्रह है ही नहीं। जब छठवें गुणस्थान में विकल्प उठता है, तब गुरुवचन श्रवण में निमित्तरूप होते हैं; किन्तु उन्हें परिग्रह में ही गर्भित किया है।

श्रीगुरु के वचन तत्कालबोधक हैं। रामबाण औषधि के समान अमोघ उपाय होने से तत्त्वद्योतक हैं, आत्मस्वरूप को प्रकाशित करनेवाले हैं ह्व इसप्रकार यहाँ प्रथम गुरुगम की बात कही है, पश्चात् शास्त्र की बात कहेंगे।

गुरुगम के बिना कोई स्वयं स्वच्छन्द होकर शास्त्रादि का वाचन करें तो वे शास्त्र शस्त्ररूप हो जायेंगे। अरे भाई ! मुनि के वचन तो रामबाण औषधि के समान हैं, जो कान में पड़ते ही पात्र जीव के लिये रामबाण के

समान कार्य करते हैं, अतः गुरु आत्मतत्त्वद्योतक अर्थात् आत्मस्वरूप को बतानेवाले ही होते हैं।

मुनिराज चाहे जो कुछ कहें, वे कोई भी बात करते हों, किन्तु उनका मुख्य आशय तो आत्मस्वभाव को ही बताना है। पुण्य-पाप की चर्चा या पुण्य-पाप का स्वरूप स्पष्ट करना उनका स्वभाव नहीं है। पुण्य-पाप तो नास्तिरूप है और आत्मतत्त्व की चर्चा अस्तिरूप है।

आत्मा को जानते ही जड़ पदार्थों का भी ज्ञान हो जाता है। मुनियों-गुरुओं का उपदेश तो तत्कालबोधक, रामबाण के समान है। मुनियों के पास समझनेवाला जीव भी ऐसा पात्र होता है कि वह शीघ्र ही समझ जाता है। अतः उसके लिए गुरुवचन रामबाण समान कार्य किये बिना नहीं रहते।

मुनियों के वचन सुनने से अन्य मुनियों की ज्ञानपर्याय भी निर्मल हो जाती है ह्व ऐसा उपदेश ही वीतरागमार्ग में मुनिलिंग कहा है। शिथिलता प्राप्त करानेवाले वचन मुनिराज के उपकरण में नहीं गिने जाते हैं।

श्रवण किया जाता है ह्व ऐसा कहा अर्थात् छठवें गुणस्थानवाले मुनिराज स्वयं श्रवण के इच्छुक हैं। गुरु स्वयं उन्हें सुनाने नहीं जाते। छठवें गुणस्थानवाले मुनिराज तीर्थकर भगवान के पास भी सुनते हैं, वहाँ तीर्थकर भगवान की वाणी में जो आया, उसमें भी आत्मतत्त्व का ही आशय निकाले तो उन मुनिराजों ने सुना ह्व ऐसा कहा जाता है।

भगवान अथवा गुरु की वाणी पुरुषार्थ को शिथिल करनेवाली नहीं होती। उनका उपदेश तो आत्मा के विकास में निमित्तरूप ही होता है। छठवें गुणस्थान वाले मुनिराज के लिए उपदेशरूप गुरुवचन आत्मधर्म की वृद्धि कराने में ही निमित्त होते हैं। आत्मधर्म की वृद्धि हो ह्व ऐसे ही गुरुओं के वचन हैं और उनको सुननेवाले भी वैसे ही होते हैं।

छठवें गुणस्थानवर्ती के उपादान में अत्यधिक वीतरागता है। वहाँ निमित्त उपकरण कैसा होता है ? निर्ग्रन्थ यथाजातरूपवाला शरीर ही

उन्हें निमित्तरूप होता है। वस्त्रादि परिग्रह से युक्त शरीर मुनिराज को निमित्तरूप नहीं है।

सुनने में आत्मा को बतानेवाले निमित्तरूप गुरुवचन धर्म की वृद्धि करनेवाले अमोघ वचन होते हैं। उन वचनों को सुननेवाले मुनिराजों के लिये वे वचन धर्मवृद्धि में ही हेतु बनते हैं। गुरुवचनों को सुनकर मुनिराज शिथिलता का आश्रय नहीं लेते।

आत्मा में वीतरागभाव की जागृति हो ह्व ऐसा उनको यथार्थपना होता है। गुरु के वचनों को श्रवण करनेवाले वे मुनिराज भी अत्यन्त दृढ़ होते हैं और सुनानेवाले गुरु भी वैसे ही होते हैं। पुण्य-पाप तो आत्मा के धर्म हैं ही नहीं।

मुनिराज के उपकरणों का वर्णन करते हुए आचार्य कुन्दकुन्ददेव यहाँ तीर्थंकर और गुरु के वचन कैसे होते हैं, यह समझा रहे हैं। इन वचनों का श्रवण करना भी उत्सर्गमार्ग में अपवाद है। शरीर अथवा वचन के ऊपर लक्ष जाये वह वस्तुधर्म अथवा उत्सर्गमार्ग नहीं है। उत्सर्गमार्ग तो निर्विकल्प शुद्धोपयोग में स्थित होना है और यदि उसमें ठहरना न हो तो शेष अपवादमार्ग है।

छठवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज अनेकों बार तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि सुनते हैं। वहाँ भगवान की वाणी में समस्त पदार्थों का स्वरूप एक साथ आता है; किन्तु मुनिराज तो अपने योग्य अर्थात् जिस उपदेश से निजात्मा में धर्मवृद्धि हो ह्व ऐसे आशय को ही ग्रहण करते हैं।

वे आत्मतत्त्व द्योतक अर्थात् आत्मतत्त्व को ही समझनेवाले होते हैं। गुरु के कारण अथवा गुरु के बताने पर ही आत्मा जानने में आयेगा ह्व ऐसे आत्मा को पराधीन बतानेवाली गुरु की वाणी नहीं होती; अपितु निज स्वभाव से ही आत्मा को जाना जा सकता है ह्व इसप्रकार स्वाधीनता को बतानेवाली गुरुवाणी होती है, तथापि निज आत्मतत्त्व को जानने में गुरु अथवा तीर्थंकरों की वाणी कैसे निमित्त होती है, उसका यहाँ ज्ञान कराया है।

यहाँ मुनिराज के उपकरण में ऐसे ही वचनों को लिया है। अन्य धर्मात्माओं को भी इसी जाति के वचन निमित्तरूप होते हैं। अहो ! मुनिवरों के उत्सर्ग मार्ग की तो क्या बात करें ? वह तो अद्भुत है; तथापि उनको अपवाद मार्ग भी पाया जाता है। इससे भिन्न किसीप्रकार के विशेष राग का निमित्त मुनिराज को नहीं होता।

प्रश्न : ह्व यहाँ मुनिराज के वचनों को तत्कालबोधक एवं रामबाण जैसा सिद्ध किया है? तो क्या निमित्त की मुख्यता है? अर्थात् निमित्त से कुछ होता है, यह समझें क्या ?

उत्तर : ह्व यहाँ चरणानुयोग की अपेक्षा निमित्त का ज्ञान कराया है। और सुननेवाले मुनिराज तो छठवें गुणस्थानवर्ती हैं, अतः उनके लिए तो गुरुवचन रामबाण के समान निमित्त ही हैं; क्योंकि उपादान में उनके स्वयं की परिपूर्ण तैयारी है।

निर्ग्रन्थ देह और गुरु के तत्कालबोधक अमोघ वचन ह्व ऐसे दो प्रकार के उपधि की बात करने के पश्चात् अब तीसरे प्रकार के उपधि की बात कहते हैं ह्व

“(३) जिनका अध्ययन किया जाता है ऐसे, नित्यबोधक, अनादिनिधन शुद्ध आत्मतत्त्व को प्रकाशित करने में समर्थ श्रुतज्ञान के साधनभूत शब्दात्मक सूत्रपुद्गल...”

स्वभाव की अस्ति और पर की नास्ति ह्व ऐसे शुद्ध आत्मतत्त्व को प्रकाशित करने में सूत्र समर्थ हैं। मुनिराज को मुख्यतः श्रुतज्ञान का अवलंबन है। उस श्रुतज्ञान में निमित्तभूत शब्द श्रुत हैं। वे शब्दश्रुत अनादिनिधन आत्मस्वभाव को बताते हैं।

किन्हीं मुनिराजों को अवधिज्ञान-मनःपर्ययज्ञान हो; किन्तु स्वभाव को साधने के लिए तो भाव श्रुतज्ञान ही साधन है। उस भावश्रुत में शब्दश्रुत निमित्त हैं। वह शब्दश्रुत भी मुनियों के लिये उपकरण ही है। मुनिराजों को शुद्धात्मतत्त्व को प्रकाशित करनेवाले शास्त्रों के स्वाध्यायादि का विकल्प आता है; वह भी मुनिराज को उपकरण ही है।

यहाँ मुनिदशा कैसी होती है? उसका वर्णन किया जा रहा है। वीतराग मार्ग में तो निर्ग्रन्थ दिगम्बर दशा ही यथार्थ मुनिदशा है। छठवें-सातवें गुणस्थान में मुनिराज को वस्त्र-पात्रादि नहीं होते। अपवादरूप जो उपकरण उनको पाये जाते हैं, उसका वर्णन यहाँ किया जा रहा है, जिसमें ह

(१) विकल्प उत्पन्न होने पर शरीर पर लक्ष्य जाए, तब शरीर को उपकरण कहा है।

(२) गुरुओं के वचन अथवा तीर्थकरों की दिव्यध्वनि श्रवण को भी मुनिराज का उपकरण कहा है। गुरु की वाणी तत्कालबोधक है, शुद्धात्मा को बतानेवाली है, अतः उस वाणी को उपकरण में लिया है।

(३) मुनिराज को किन्हीं शास्त्रों के अध्ययन करने का लक्ष्य हो तो वे शास्त्र भी उपकरण ही हैं।

इसप्रकार तीन उपकरणों की बात की।

हे भाई, यदि ऐसी मुनिदशा प्रगट न हो तब तक उसकी श्रद्धा करना; किन्तु इससे विपरीत मुनिदशा माने तो वह जीव अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है।

मुनिराज को शरीर मात्र परिग्रह है; किन्तु शरीर के प्रति ममत्व परिणाम नहीं है। शरीर, वचन और शास्त्र हूँ ऐसे तीन उपकरण कहे हैं। वास्तव में मुनिराज को तीन कषाय चौकड़ी का अभाव हुआ है। वे अन्तर स्वरूपानन्द की निर्विकल्प अनुभव दशा में बारंबार झूल रहे हैं और जब कभी विकल्प उत्पन्न होते हैं, तब उनका जिन निमित्तों पर लक्ष्य जाता है उसे यहाँ स्पष्ट किया गया है।

अब चौथे उपकरण का स्वरूप कहते हैं ह

“(४) शुद्ध आत्मतत्त्व को व्यक्त करनेवाली जो दार्शनिक पर्यायें, उनरूप से परिणामित पुरुष के प्रति विनीतता का अभिप्राय प्रवर्तित करनेवाले चित्तपुद्गल...”

मुनिराज को निज अन्तर में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हुये हैं, शुद्धात्मा व्यक्त हुआ है। अन्य मुनिराजों के सम्यक्त्व के प्रति भी उनके अन्तर में विनय भाव रहता है। वास्तव में तो उन्हें अन्तर आत्मा के

भानपूर्वक उसमें ही लीनता करके शुद्धात्मतत्त्व की प्रगटता हुई है। तब वे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतरागी पर्याय में परिणमे हैं। वहाँ मुनिराज के प्रति विनय का अभिप्राय प्रवर्तनेवाला जो चित्तपुद्गल है, वह भी अपवादरूप उपकरण ही है।

इसप्रकार शरीर, गुरुवचन, शास्त्र तथा विनयभाव में प्रवर्तित चित्तपुद्गल हूँ इन चार प्रकार के निमित्तों पर छठवें गुणस्थान में मुनिराज का ध्यान जाता है। मयूरपींछी और कमण्डल तो शरीर नामक उपकरण में समा जाते हैं; क्योंकि जब शरीर पर लक्ष्य जाता है, तब मयूरपींछी और कमण्डल पर भी ध्यान जाता है तथा जब वे भगवान की भक्ति करते हैं, वह विनय में समाहित हो जाती है।

इन उपकरणों की ओर से जो भी विकल्प उठते हैं, वे सभी विकल्प शुभभाव हैं। स्वभावधर्म नहीं है, अपितु अपवाद है। इन चार प्रकार का भाव मुनिराज को आता है; तथापि ये अपवाद वीतरागभावरूप धर्म नहीं है। यहाँ तो छठवें गुणस्थान में जिस सीमा तक राग की उत्पत्ति हो सकती है, उसका ज्ञान कराया है। इससे विशेष राग मुनिराज को नहीं होता।

“....यहाँ ऐसा तात्पर्य है कि काय की भाँति वचन और मन भी वस्तुधर्म नहीं है।”

जिसप्रकार काया पर लक्ष जाना आत्मा का स्वभाव नहीं है; उसीप्रकार गुरुवचन अथवा मन के ऊपर लक्ष जाए और राग उत्पन्न हो तो वह भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। मुनियों को छठवें गुणस्थान में तदयोग्य राग होता है; किन्तु वे उसे वस्तुधर्म नहीं मानते।

भावार्थ पर प्रवचन

(१) जिस श्रमण की श्रामण्यपर्याय के सहकारी कारणभूत, सर्व कृत्रिमताओं से रहित यथाजातरूप के सम्मुख वृत्ति जाये, उसे काय का परिग्रह है।

(२) जिस श्रमण की गुरु-उपदेश के श्रवण में वृत्ति रुके, उसे वचनपुद्गलों का परिग्रह है।

(३) जिस श्रमण की सूत्राध्ययन में वृत्ति रुके उसके सूत्रपुद्गलों का परिग्रह है।

(४) जिस श्रमण के योग्य पुरुष के विनयरूप परिणाम हों उसके मन के पुद्गलों का परिग्रह है।

इसप्रकार अपवादरूप परिग्रह चार प्रकार का है। उत्सर्ग मार्ग में तो परिग्रह का लक्ष ही नहीं है।

“....यद्यपि यह परिग्रह उपकरणभूत हैं, इसलिये अपवाद मार्ग में उनका निषेध नहीं है, तथापि वे वस्तुधर्म नहीं हैं...”

सर्वज्ञदेव का आगम जिस दशा को सम्यक् मुनिदशा कहता हैं, उसे यहाँ समझाया गया है। यहाँ आचार्य कुन्दकुन्द ने तीर्थकरों के शासन की बात को इस प्रवचनसार में खुलकर कहा है।

शरीर-मन अथवा वचन पर लक्ष जाए तो वह उपकरण कहने में आते हैं और निज स्वरूप में निर्विकल्प ठहरना मुनियों को उत्सर्ग मार्ग है, तथापि ऊपर कहे गए परिग्रहों पर लक्ष जाए तो भी उससे छठवें गुणस्थान में मुनिदशा छिदती नहीं है।

अहाहा.....! जिन्हें चैतन्यमूर्ति, वीतरागमूर्ति आत्मप्रभु का प्रगाढ़ स्पर्शन-वेदन हो गया है और जिसका अतीत-अनागत व वर्तमान ह्र तीनों काल संबंधी कर्मों का ममत्व छूट गया है, वे स्वरूप में स्थिरतारूप चारित्र को अंगीकार करते हैं। अहा! ऐसा चारित्र कोई अलौकिक वस्तु है। भाई! पंच परमेष्ठी पद में जिनका स्थान है, जिनको प्रचुर आनन्द की दशा अनुभव में आती है तथा जिनमें स्वरूप रमणता का अतिशय तेज प्रगट होता है ह्र ऐसा चारित्र ही लोक में सर्वोत्तम पदार्थ है।

देखो, चौथे व पाँचवे गुणस्थान में अभी जो वेदनरूप कर्मचेतना व कर्मफलचेतना होती है, मुनिराज के वह भी नहीं होती। उनके तो मात्र ज्ञानचेतना है। **ह्र प्रवचनरत्नाकर भाग-१०, पृष्ठ-२९**

प्रवचनसार गाथा २२६

अब, अनिषिद्ध ऐसा जो शरीर मात्र उपधि उसके पालन की विधि का उपदेश करते हैं :ह्र

इहलोगणिरावेक्खो अप्पडिबद्धो परमिह लोयमिह ।

जुत्ताहारविहारो रहिदकसाओ हवे समणो ॥२२६॥

(हरिगीत)

इहलोक से निरपेक्ष यति परलोक से प्रतिबद्ध ना।

अर कषायों से रहित युक्ताहार और विहार में ॥२२६॥

अन्वयार्थ :ह्र [श्रमणः] श्रमण [रहितकषायः] कषायरहित वर्तता हुआ [इहलोक निरापेक्षः] इस लोक में निरपेक्ष और [परस्मिन् लोके] परलोक में [अप्रतिबद्धः] अप्रतिबद्ध होने से [युक्ताहारविहारः भवेत्] युक्ताहार-विहारी^१ होता है।

टीका :ह्र अनादिनिधन एकरूप शुद्ध आत्मतत्त्व में परिणत होने से श्रमण समस्त कर्मपुद्गल के विपाक से अत्यन्त विविक्त (भिन्न) स्वभाव के द्वारा कषायरहित होने से, उस (वर्तमान) काल में मनुष्यत्व के होते हुए भी (स्वयं) समस्त मनुष्यव्यवहार से बहिर्भूत^२ होने के कारण इस लोक के प्रति निरपेक्ष (निस्पृह) है; तथा भविष्य में होनेवाले देवादि भावों के अनुभव की तृष्णा से शून्य होने के कारण परलोक के प्रति अप्रतिबद्ध है; इसलिए, जैसे ज्ञेय पदार्थों के ज्ञान की सिद्धि के लिये (घटपटादि पदार्थों को देखने के लिये ही) दीपक में तेल डाला जाता है और दीपक को स्थानान्तरित किया जाता है, उसीप्रकार श्रमण शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि की सिद्धि के लिये (शुद्धात्मा को प्राप्त करने के लिये ही) वह शरीर को खिलाता और चलाता है, इसलिये युक्ताहारविहारी होता है।

यहाँ ऐसा तात्पर्य है कि ह्र श्रमण कषायरहित है इसलिये वह शरीर के

१. युक्ताहार-विहारी = (१) योग्य (उचित) आहार-विहारवाला; (२) युक्त अर्थात् योगी के आहार विहारवाला; योगपूर्वक (आत्मस्वभाव में युक्तता पूर्वक) आहार विहारवाला।

२. बहिर्भूत = बाहर, रहित, उदासीन।

(वर्तमान मनुष्य-शरीर के) अनुराग से या दिव्य शरीर के (भावी देवशरीर के) अनुराग से आहार-विहार में अयुक्तरूप से प्रवृत्त नहीं होता; किन्तु शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि की साधकभूत श्रामण्यपर्याय के पालन के लिये ही केवल युक्ताहारविहारी होता है।

गाथा २२६ पर प्रवचन

अब, अनिषिद्ध शरीरमात्र उपधि के पालन की विधि का उपदेश करते हैं अर्थात् जिसका निषेध नहीं किया गया है वह ऐसे शरीरमात्र परिग्रह के पालन करने की विधि के अन्तर्गत युक्ताहार-विहारी श्रमण का स्वरूप बताते हैं वह

देखो! मुनि कैसे होते हैं?

अनादिनिधन एकरूप शुद्ध आत्मतत्त्व में परिणत होने से श्रमण समस्त कर्मपुद्गल के विपाक से अत्यन्त भिन्न स्वभाव के द्वारा कषायरहित होते हैं।

अन्तर में अनादि-अनन्त ज्ञायकस्वभाव में लीन मुनि समस्त कर्म से भिन्न ही हैं। जब स्वभाव में स्थिर हुए, तब कर्म के साथ सम्बन्ध कहाँ रहा? यहाँ तो कहा है कि मुनि का आत्मा समस्त कर्म से भिन्न हो गया है। अरे रे! अभी तो लोग यह मानते हैं कि कर्म मुझे परिभ्रमण कराता है, लेकिन ऐसी मान्यतावालों को मुनिदशा कैसे हो सकती है?

● श्रमण, वर्तमानकाल में मनुष्यत्व के होते हुए भी स्वयं समस्त मनुष्यव्यवहार से बहिर्भूत होने के कारण इस लोक के प्रति निरपेक्ष (निस्पृह) हैं।

मुनिराज को मनुष्यदेह का संयोग है; परन्तु वे तो रागरहित होकर चैतन्य में स्थिर हैं; इसलिए जो वीतरागपर्याय प्रगट हुई है, वही मुनियों का आत्मव्यवहार है शेष समस्त बाह्य मनुष्यव्यवहार से वे रहित हैं; इसलिए मुनि इस लोक में निरपेक्ष हैं। जहाँ शरीर की भी उपेक्षा है, वहाँ अन्य बाह्य पदार्थों की क्या बात? मुनिराज तो लोकव्यवहार से बाहर निकल गये हैं और अन्तर में चैतन्य की निर्मलपर्याय प्रगट हुई है, वही उनका व्यवहार है।

तथा वे श्रमण, भविष्य में होनेवाले देवादि भवों के अनुभव की तृष्णा से शून्य होने के कारण परलोक के प्रति अप्रतिबद्ध हैं।

श्रीमद् कुन्दकुन्दभगवान और श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेव यहाँ मुनिरूप में थे। वे यहाँ से स्वर्ग में जानेवाले थे, किन्तु फिर भी वहाँ के भोगों की तृष्णा उनको नहीं थी। सम्यग्दृष्टि और मुनि तो वैमानिक स्वर्ग में ही जाते हैं, आराधक धर्मात्मा भी ऊँचे स्वर्ग में ही जाते हैं। वे स्वर्ग से आकर राजा आदि पुण्यवन्तों के यहाँ ही जन्म लेते हैं, दरिद्रता में उनका जन्म नहीं होता; लेकिन उन धर्मात्माओं को उन भोगों के अनुभव की तृष्णा नहीं है। उनको ख्याल है कि मेरी साधकदशा पूर्ण नहीं होगी, इसलिए स्वर्ग में अवतार होगा, परन्तु उन्हें वहाँ के भोगों की अभिलाषा नहीं है। अतः वीतरागभाव होने से वे परलोक के प्रति भी निरपेक्ष हैं, प्रतिबद्ध नहीं हैं।

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा यहाँ से मरकर सीधे महाविदेहक्षेत्र में नहीं जाते तथा स्त्रीपर्याय में भी उत्पन्न नहीं होते। मुनियों को ऐसी वीतरागता है कि उन्हें स्वर्ग के वैभव की तृष्णा ही नहीं है; अल्पराग रह गया है, इसलिए पुण्य बंध होकर वैभव प्राप्त होता है अर्थात् वे इन्द्र, लौकान्तिक, ब्रह्म-ऋषि इत्यादि होते हैं, परन्तु चैतन्य में अन्तर्मुख परिणति होने से वे धर्मात्मा उस वैभव की तृष्णा से रहित हैं।

मुनिराज को वर्तमान शरीर की स्पृहा नहीं है तथा भविष्य में प्राप्त होनेवाले वैभव की तृष्णा भी नहीं है; इसलिए वे इसलोक तथा परलोक के प्रति अप्रतिबद्ध हैं वह ऐसी उनकी वीतरागपरिणति होती है।

जैसे, ज्ञेयपदार्थों के ज्ञान की सिद्धि के लिए अर्थात् घट-पटादि पदार्थों को देखने के लिए ही दीपक में तेल डाला जाता है और दीपक को स्थानान्तरित किया जाता है; उसी प्रकार श्रमण, शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि की सिद्धि के लिए अर्थात् शुद्धात्मा को प्राप्त करने के लिए ही शरीर को खिलाता और चलाता है, इसलिए युक्ताहार-विहारी होता है।

देखो, चरणानुयोग में निमित्तप्रधान कथन है। साधक की भूमिका में इसप्रकार का विकल्प उत्पन्न होता है और बाह्य में वैसी क्रिया भी हो

जाती है। यहाँ इसका ज्ञान कराने के लिए कहा है कि शरीर को खिलाते और चलाते हैं; परन्तु शरीर के प्रति मोह-ममता नहीं है। आत्मा शरीर की क्रिया कर सकता है ह्व यह कहने का यहाँ आशय नहीं है, किन्तु मुनि को राग उत्पन्न होने पर उस प्रकार के आहार-विहार का विकल्प उत्पन्न होता है, उस विकल्प का आरोप करके मुनि, शरीर को खिलाते और चलाते हैं, यह कहा है। पूर्ण वीतरागपर्याय प्रगट नहीं हुई है और विकल्प उत्पन्न हुआ है; इसलिए देह के प्रति लक्ष्य जाने से आहार आदि की वृत्ति उत्पन्न होती है।

मिथ्यादृष्टि जीव तो शरीर का स्वामी होता है; परन्तु यहाँ तो पहले ही यह कहा कि मुनि शरीर से निरपेक्ष हैं। तत्पश्चात् यह निमित्त का ज्ञान कराया कि मुनि शरीर को आहार-विहार कराते हैं। वहाँ छठवें गुणस्थान में उतना विकल्प उत्पन्न होता है, उससे अधिक राग वे होने नहीं देते ह्व इस अपेक्षा से कहा है कि शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि की सिद्धि के लिए वे शरीर को खिलाते और चलाते हैं ह्व ऐसे मुनि युक्ताहार-विहारी हैं। वे तीव्र रागपूर्वक गृह्यतासहित आहारादि में प्रवृत्त नहीं होते; इसलिए युक्ताहार-विहारी हैं।

सम्यग्दर्शन का ध्येय तो सम्पूर्ण द्रव्य ही है, यह बात तो कभी विस्मृत होती ही नहीं। सम्यग्दृष्टि जीव पर के आश्रय से, विकल्प के आश्रय से अथवा पर्याय के आश्रय से लाभ माने ह्व ऐसा तीन काल में कभी नहीं होता। वीतरागी पर्याय में से वीतरागता नहीं आती; इसलिए उस पर्याय का आश्रय भी सम्यग्दृष्टि की श्रद्धा में नहीं है। श्रद्धा में तो द्रव्य का ही आश्रय है, उस द्रव्य पर दृष्टि रखकर ही यह सब बात है।

यहाँ ऐसा तात्पर्य है कि श्रमण कषायरहित हैं, इसलिए वे वर्तमान मनुष्य शरीर के या भावी दिव्य देवशरीर के अनुराग से आहार-विहार में अयुक्तरूप से प्रवृत्त नहीं होते, किन्तु शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि की साधक श्रामण्यपर्याय के पालन के लिए ही केवल युक्ताहारविहारी होते हैं।

मुनि को छठवें गुणस्थान में निर्दोष आहार-विहार का विकल्प उत्पन्न होता है। वे मुनि शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि के साधनभूत श्रामण्यपर्याय

के पालन के लिए ही केवल युक्ताहार-विहारी होते हैं, यह भी निमित्तप्रधान चरणानुयोग का कथन है। परमार्थ से तो द्रव्य के आश्रय से ही लीनता होती है, उसके जोर से ही साधकपना टिकता और बढ़ता है।

उनके लिए आहार का चौका बनाये हों और वे आहार लें ह्व ऐसा तो मुनिदशा में होता ही नहीं। ऐसा आहार लेनेवाले को युक्ताहारी नहीं कहा जाता और वहाँ मुनिपना भी नहीं होता। इस यथार्थ मुनिदशा का वीतरागभाव प्रगट न हो तो अपने को मुनि नहीं मानना, परन्तु यथार्थ मुनिपने को पहचानकर उसकी श्रद्धा करना, उससे विरुद्ध माननेवाला तो मिथ्यादृष्टि है।

भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य अष्टपाहुड़ में कहते हैं ह्व

जहजायरुवसरिसो, तिलतुसमित्तं ण गिहदि हत्तेसु।

जइ लेइ अप्पबहुयं, तत्तो पुण जाइ गिगोदम् ॥

(सूत्रपाहुड़, गाथा-१८)

अर्थात् मुनि यथाजातरूप हैं; जैसा जन्मता बालक नग्नरूप होता है; वैसी नग्नरूप दिगम्बर मुद्रा के धारक मुनिराज हैं। वे अपने हाथ में तिल-तुष बराबर भी कुछ ग्रहण नहीं करते। यदि थोड़ा-बहुत ग्रहण करें तो वे मुनि उसके ग्रहण से निगोद जाते हैं।

भाई! यदि शक्ति हो तो ऐसे मुनिपने का पालन करना, यदि शक्ति न हो तो वैसी श्रद्धा करना, क्योंकि कुन्दकुन्द भगवान् कहते हैं ह्व

जं सक्कइ तं कीरइ, जं च ण सक्केइ तं च सदहणं।

केवलजिणोहिं भणियं, सदहमाणस्स सम्मत्तं ॥

(दर्शनपाहुड़, गाथा-२२)

अर्थात् जो करने में समर्थ हों वही करें और जिसे करने में समर्थ नहीं हो उसकी श्रद्धा करें, क्योंकि केवली भगवान् ने श्रद्धान करनेवाले को सम्यक्त्वी कहा है।

प्रवचनसार गाथा २२७

अब, युक्ताहारविहारी साक्षात् अनाहारविहारी (अनाहारी और अविहारी) ही है ऐसा उपदेश करते हैं :ह

जस्स अणेसणमप्पा तं पि तवो तप्पडिच्छा समणा ।

अण्णं भिक्खमणेसणमध ते समणा अणाहारा ॥२२७॥

(हरिगीत)

अरे भिक्षा मुनिवरों की ऐसणा से रहित हो ।

वे यतीगण ही कहे जाते हैं अनाहारी श्रमण ॥२२७॥

अन्वयार्थ :ह [यस्य आत्मा अनेषणः] जिसका आत्मा एषणारहित है (अर्थात् जो अनशनस्वभावी आत्मा का ज्ञाता होने से स्वभाव से ही आहार की इच्छा से रहित है) [तत् अपि तपः] उसे वह भी तप है; (और) [तत्प्रत्येषकाः] उसे प्राप्त करने के लिये (अनशनस्वभाववाले आत्मा को परिपूर्णतया प्राप्त करने के लिये) प्रयत्न करनेवाले [श्रमणाः] श्रमणों के [अन्यत् भैक्षम्] अन्य (स्वरूप से पृथक्) भिक्षा [अनेषणम्] एषणारहित (एषणदोष से रहित) होती है; [अथ] इसलिए [ते श्रमणाः] वे श्रमण [अनाहाराः] अनाहारी हैं ।

टीका :ह (१) स्वयं अनशनस्वभाववाला होने से (अपने आत्मा को स्वयं अनशनस्वभाववाला जानने से) और (२) एषणादोषशून्य भिक्षावाला होने से, युक्ताहारी (युक्ताहारवाला श्रमण) साक्षात् अनाहारी ही है । वह इसप्रकार ह सदा ही समस्त पुद्गलाहार से शून्य ऐसे आत्मा को जानता हुआ समस्त अशनतृष्णा रहित होने से जिसका स्वयं^१ अनशन ही स्वभाव है, वही उसके अनशन नामक तप है, क्योंकि अंतरंग की विशेष बलवत्ता है; ऐसा समझकर जो श्रमण (१) आत्मा को स्वयं अनशनस्वभाव भाते हैं (समझते हैं, अनुभव करते हैं) और (२) उसकी

सिद्धि के लिये (पूर्ण प्राप्ति के लिये एषणादोषशून्य ऐसी अन्य पररूप) भिक्षा आचरते हैं; वे आहार करते हुए भी मानों आहार नहीं करते हों ह ऐसे होने से साक्षात् अनाहारी ही हैं, क्योंकि युक्ताहारीपने के कारण उनके स्वभाव तथा परभाव के निमित्त से बन्ध नहीं होता ।

इसप्रकार (जैसे युक्ताहारी साक्षात् अनाहारी ही हैं, ऐसा कहा गया है उसीप्रकार), (१) स्वयं अविहारस्वभाववाला होने से और (२) समिति शुद्ध (ईर्यासमिति से शुद्ध ऐसे) विहारवाला होने से युक्तविहारी (युक्त विहारवाला श्रमण) साक्षात् अविहारी ही है ह ऐसा अनुक्त होने पर भी (गाथा में नहीं कहा जाने पर भी) समझना चाहिये ।

गाथा २२७ पर प्रवचन

मुनिराज को आहार ग्रहण की भावना ही नहीं है, उन्हें तो आहाररहित अनाहारी चैतन्यस्वभाव में ही लीनता की भावना है, इसलिए उस मुनि का आत्मा अनाहारी है; तपस्वी है । उन्हें स्वभाव में एषणा है अर्थात् स्वभाव स्थिरता की मुख्यता में आहार ग्रहण की मुख्यता नहीं है । वे तो प्रतिक्षण, प्रतिपल अन्तर के आनन्द को शोधकर उसमें ही लीन होते हैं, उनके तो अन्दर से अमृत झरता है ह ऐसी दशा में वर्तते मुनि को स्वभाव से ही तप होता है । हाथ में आहार का ग्रास पड़ा हो, उस समय भी मुनियों की रमणता अन्तर के अनाहारी आत्मस्वभाव में है; इसलिए उन्हें स्वभाव से आहार की इच्छा नहीं है, आहाररहित स्वभाव में ही स्थिरता की मुख्यता है । यहाँ मुनियों के एषणारहित आत्मा को तप कहा गया है ।

आहार के एक रजकण का भी ग्रहण मुझमें नहीं है ह ऐसा भान होने से मुनि को आहार की इच्छा नहीं है; इसलिए उन्हें तप वर्तता है । भले ही आहार का विकल्प उत्पन्न हो, परन्तु भावना तो अनाहारी आत्मा की ही मुख्य है । यह दशा वीतरागभावपूर्वक होती है । मुनिराज को अनाहारी स्वभाव की भावना और एकाग्रता बहुत विशेष बढ़ गयी है । सम्यग्दृष्टि को अनाहारी स्वभाव की दृष्टि है; परन्तु मुनि जितनी भावना अथवा

१. स्वयं = अपने आप; अपने से; सहजता से (अपने आत्मा को स्वयं अनशनस्वभावी जानना वही अनशन नामक तप है) ।

एकाग्रता नहीं है। यहाँ तो जिन्हें बहुत वीतरागता बढ़ गई है वह ऐसी मुनिदशा का वर्णन है।

(१) स्वयं अनशनस्वभाववाला होने से अर्थात् अपने आत्मा को स्वयं अनशनस्वभाववाला जानने से और (२) एषणादोषशून्य भिक्षावाला होने से, युक्ताहारी श्रमण, साक्षात् अनाहारी ही है।

अन्तरस्वरूप में झूलूँ आनन्द में लवलीन हो जाऊँ पूर्ण चैतन्य और केवलज्ञान को प्राप्त करूँ वह ऐसी भावनावाले मुनिराज को आहार की वृत्ति उत्पन्न हो तो निर्दोष आहारवृत्ति ही उत्पन्न होती है, इस अपेक्षा से उस मुनि को अनाहारी ही कहा गया है।

आत्मा का भान करने के पश्चात् भी यह दशा अंगीकार करनी पड़ेगी। आत्मा की पहचान करके उक्त दशा प्रगट हुए बिना केवलज्ञान और मुक्ति नहीं होगी। बँगले में बैठे-बैठे ऐसी मुनिदशा नहीं आती, इसलिए आत्मा की पहचान सहित इस वीतरागी मुनिदशा की भावना करनी चाहिए।

देखो, प्रथम तो मुनि को आत्मा का भान होता है कि मैं देहादि जड़ से पृथक् ज्ञानमय आत्मा हूँ। रागादि का होना, वह मेरी पर्याय की अशुद्धता है, वह मेरा स्वरूप नहीं है वह ऐसा भान होने के पश्चात् स्वभाव में स्थिरता करके आनन्द का अनुभव करने से मुनि को तीन कषाय चौकड़ी का अभाव हो जाता है वह ऐसी दशा में मुनि को आहारवृत्ति उत्पन्न होती है, तब उनका आहार कैसा होता है? यह बात यहाँ चल रही है।

आत्मा, स्वयं आहार-पानी के ग्रहण से रहित है अर्थात् वह स्वयं स्वभाव से ही अनशनस्वभाववाला है वह ऐसे आत्मा को जानने से और अनुभव करने से मुनिराज को अनशन तप है तथा आहार की वृत्ति उत्पन्न होती है, तब भी दोषरहित युक्ताहारी होने से वे साक्षात् अनाहारी ही हैं। दोषसहित आहार उनके नहीं होता। यहाँ मुनि को युक्ताहारी कहा, उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है।

सदा ही समस्त पुद्गलाहार से शून्य ऐसे आत्मा को जानता हुआ समस्त अशनतृष्णारहित होने से जिसका स्वयं अनशन ही स्वभाव है, वही उनके अनशन नामक तप है, क्योंकि अन्तरंग की विशेष बलवत्ता है।

मुझ आत्मा में पुद्गल का आहार तो है ही नहीं और आहार की वृत्ति उत्पन्न होती है, वह भी पर्याय की कमजोरी है, वह मेरा स्वरूप नहीं है। समस्त प्रकार के आहार से मेरा आत्मा शून्य है; इसलिए मुझे किसी प्रकार के आहार की तृष्णा नहीं है। विकल्प उत्पन्न हो, परन्तु भावना तो अनाहारी ज्ञातास्वभाव की ही वर्तती है; इसलिए मुनि के आत्मा का स्वभाव ही स्वयं अनशनस्वरूप है। स्वयं अर्थात् अपने आप, अपने से ही सहजरूप। तात्पर्य यह है कि अपने आत्मा को स्वयं अनशनस्वभावी जानना ही अनशन नामक तप है।

मैं आहार के रजकणरहित चिदानन्दस्वरूप हूँ वह ऐसी दृष्टि जिसे हुई है, वह आत्मा स्वयं अनशन स्वभाववाला है। अशन अर्थात् आहार; वह जिसे नहीं है, सो स्वयं अनशन है। आत्मा का स्वभाव सदा ही आहार बिना ही टिका है, आत्मा स्वयं अनशनस्वभावी है। मेरे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप स्वचतुष्टय मुझमें हैं और जड़ के स्वचतुष्टय जड़ में हैं; इस प्रकार पहचानकर जो मुनि अन्तर में स्थिर हुए, उन मुनियों के स्वयं अनशनतप है। आत्मा का स्वभाव ही अनशन है, रोटी खाना आत्मा का स्वभाव नहीं है।

मुनियों ने कैसे आत्मा को जाना है? वह जो समस्त पुद्गल के आहार से शून्य है, एक रजकण का भी ग्रहण करना अथवा छोड़ना आत्मा में नहीं है। शरीर अथवा शरीर से भिन्न परमाणु मुझमें नहीं हैं; इसलिए उन्हें छोड़ना अथवा ग्रहण करना आत्मा में नहीं है। आहार लेना अथवा मल-मूत्र का त्याग होना, शरीर का धर्म है; वह आत्मा के स्वभाव में नहीं है। आत्मा, आहार-पानी ग्रहण करे अथवा बलपूर्वक मल-मूत्र आदि का त्याग करे वह ऐसी क्रिया आत्मा में है ही नहीं। आत्मा में आहार लेना अथवा छोड़ना नहीं होता।

मुनिराज को आहार-जल ग्रहण करने की भी तृष्णा नहीं है। जैसे निर्धन मनुष्य धनवानपने की भावना करता है; उसी प्रकार यहाँ आत्मा की भावनावाले को मुनिपने की भावना है। जैसा वीतरागी सन्तों का हार्द/हृदय है, उसीप्रकार वे मोक्षमार्ग को जानते और वर्तते हैं। यह तो सर्वज्ञ त्रिलोकीनाथ द्वारा कथित चारित्रमार्ग का स्पष्टीकरण है। इससे विरुद्ध मानने तथा मनवानेवाला जैनमार्ग को लूटता है और स्वयं को लुटवाता है।

श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य और श्रीमद् अमृतचंद्राचार्य कहते हैं कि आत्मा का साक्षात् अनुभव करके हम मोक्षमार्ग में खड़े हैं। जैसा केवली भगवान कहते हैं, तदनुसार ही हम कह रहे हैं। मुनि को आहार-ग्रहण की वृत्ति पाप तो है ही नहीं; अपितु उसे अनशन नाम का तप कहा है। अपने स्वभाव में आहार नहीं है वह ऐसे स्वभाव को जानते हैं और भूमिका के अनुसार एषणादोषरहित आहार लेते हैं; इसलिए उनके आहार की वृत्ति को अनशन तप कहा है, यह चारित्र की भूमिका का स्वरूप है।

मुनिराज को आहार लेने की वृत्ति उत्पन्न होती है तो वे दोषरहित आहार-ग्रहण करते हैं। उनके लिए बनायी गयी वस्तु हो; केला, अनार आदि उनके निमित्त से विक्रय कर लाये हों तो उन्हें मुनिराज नहीं लेते। निर्दोष आहार लेने की उनकी वृत्ति होती है। अन्तरंगस्वरूप में तो आहार नहीं है और बाहर में दोष लगने नहीं देते हैं वह ऐसा जानना चाहिए। भाई ! साधुपद का ऐसा स्वरूप जाने बिना जिस-किसी को साधुपद मान लेने से दृष्टि विपरीत हो जाती है।

ऐसा समझकर जो श्रमण (१) आत्मा को स्वयं अनशनस्वभाव भाते हैं अर्थात् समझते हैं या अनुभव करते हैं और (२) उसकी सिद्धि के लिए अर्थात् पूर्ण प्राप्ति के लिए एषणादोष से शून्य ऐसी अन्य (पररूप) बाह्य शिक्षा आचरते हैं; वे आहार करते हुए भी मानों आहार नहीं करते हों वह ऐसे होने से साक्षात् अनाहारी ही हैं, क्योंकि युक्ताहारीपने के कारण उनको परभाव के निमित्त से बन्ध नहीं होता।

अपना आत्मा तो अतीन्द्रिय ज्ञानमय है, उस आत्मा से उत्पन्न आनन्द का मुनिराज अनुभव करते हैं। वे आहार ग्रहण करते हैं, यह व्यवहार का कथन है। उनका आहार निर्दोष होता है, औद्देशिक आहार का ग्रहण मुनिराज नहीं करते वह ऐसा होने से वे युक्ताहारी हैं; इसलिए साक्षात् अनाहारी हैं। आत्मा आनन्दकन्द है, उसकी अनुभूतिसहित चारित्रदशा प्रगट हुई है अर्थात् सिद्ध समान आंशिक वीतरागचारित्र का अनुभव करते हैं।

णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं वह ऐसे तीन पद में कौन आते हैं? उनकी यहाँ बात चल रही है। आत्मा में पुण्य-पापरहित आनन्द का अनुभव है। मुनिराज चारित्रपूर्वक आनन्द का स्वाद और दोषरहित आहार लेते हैं, इसलिए उन्हें युक्ताहारी कहा है। इसी कारण वे साक्षात् अनाहारी कहे गये हैं।

जैनमार्ग में मुनि कैसे होते हैं? अपना आत्मा ज्ञातास्वभावी होने से स्व-पर को जानने की सामर्थ्य रखता है, किन्तु आहार-जल लेने की ताकत नहीं रखता, क्योंकि वह तो जड़ की स्वतंत्र अवस्था है, उसे आत्मा ग्रहण नहीं कर सकता। मुनिराज तो आत्मस्वभाव की ही भावना भाते हैं। मेरे आत्मा में आनन्दरस झरता है, वही मेरा भोजन है, आहार मेरा भोजन नहीं है वह ऐसे अनुभववाला अनाहारी ज्ञातास्वभाव को भाता है।

‘सिद्ध समान सदा पद मेरो’ अर्थात् आत्मा सिद्धसमान है। आहार-ग्रहण करने की आत्मा की सामर्थ्य नहीं है। अट्टाईस मूलगुण पालन करने का भाव पुण्य है, बन्ध का कारण है वह ऐसा वे जानते हैं तथा आत्मा को अनशनस्वभावी मानते हैं। मुझमें कर्म नहीं है, मुझमें आहार-जल नहीं है वह ऐसे आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-रमणता करते हैं, परन्तु अभी केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं होने से कमजोरीवश संयम के हेतु से दोषरहित आहार-ग्रहण करते हैं, अन्य हेतु से नहीं। उन्हें भान है कि मेरे स्वभाव में आहार की वृत्ति नहीं है और आहार के कारण स्वभाव का टिकना नहीं होता।

उनका राग अत्यधिक अल्प रह गया है; अट्टाईस मूलगुण का पालन है, एक बार आहार लेना भी शुभराग है, पुण्य है, बन्ध का कारण है; धर्म नहीं है ह्व ऐसे आत्मा का अनुभव हुआ है। तत्पश्चात् चारित्र की भूमिका की बात है। चारित्र, पूर्णता की प्राप्ति में साक्षात् कारण है। उसमें सहकारी हेतु शरीर है। शरीर की ओर का अल्पराग है, इसलिए संयम के हेतु से निर्दोष आहार लेते हैं, तथापि अनाहारी हैं।

तीर्थंकर के धर्मवजीर गणधरदेव भी नमस्कार मंत्र बोलते समय ऐसे साधुओं को नमस्कार करते हैं। यहाँ से उत्तरदिशा में ४५००० योजन दूर मेरुपर्वत है, उस मेरुपर्वत के पूर्वभाग में विदेहक्षेत्र के सोलह देश/नगरी हैं। पश्चिम भाग में भी सोलह देश हैं। उसमें पूर्वविदेह में पुष्कलावती नामक एक देश है, जिसमें सीमन्धर भगवान साक्षात् रूप से विराजमान हैं। उनके सन्तों के नायक श्री गणधरदेव भी नमस्कार मंत्र बोलते समय णमो लोए सव्व साहूणं बोलते हैं। हे सन्तों! तुम्हारे चरण-कमलों में मेरा नमस्कार है ह्व ऐसे मुनि अलौकिक हैं, वे मुनि स्वयं को अनाहारी समझकर युक्ताहार लेते हैं, इसलिए मुनि अनाहारी हैं। तीनों काल जहाँ भी मुनि होते हैं, वे ऐसे ही होते हैं।

प्रश्न ह्व ऐसी मुनिदशा की समझ की क्या आवश्यकता है?

उत्तर ह्व सात तत्त्व की श्रद्धा सम्यग्दर्शन है। मुनिराज, संवर-निर्जरातत्त्व में आते हैं। देव, मोक्षतत्त्व में आते हैं। सात तत्त्व की पहचान में देव-गुरु की पहचान आती है। जिसे सात तत्त्व की पहचान नहीं है, उसे देव-गुरु की पहचान नहीं है। मुनिराज निर्दोष आहार लेते हैं, इसलिए उन्हें साक्षात् अनाहारी कहा गया है। इसका कारण यह है कि युक्ताहारीपने के कारण उन्हें स्वभाव तथा परभाव के निमित्त से बन्ध नहीं होता। स्वभाव से भी बन्ध नहीं होता तथा आहार लेने की वृत्ति से भी बन्ध नहीं होता।

जीव-अजीव, आस्रव-बन्ध, संवर-निर्जरा और मोक्ष ह्व ये सात तत्त्व हैं। मोक्ष की पहचान में देव की पहचान और देव की पहचान में मोक्ष

की पहचान आती है। संवर-निर्जरा की पहचान में गुरु की पहचान और गुरु की पहचान में संवर-निर्जरा की पहचान आती है। मुनिराज अतीन्द्रिय आत्मा का अनुभव करते हैं और निर्दोष आहार ग्रहण करते हैं; इसलिए उन्हें अबन्धस्वभावी कहा है। वस्तुतः वे आहार नहीं, अपितु तप करते हैं, इस प्रकार वे साक्षात् अनाहारी हैं, वे ही तपोधन हैं।

इस प्रकार जैसे युक्ताहारी साक्षात् अनाहारी ही हैं ह्व ऐसा कहा गया है; उसी प्रकार (१) स्वयं अविहार स्वभाववाला होने से और (२) समितिशुद्ध अर्थात् ईर्यासमिति से शुद्ध ह्व ऐसे विहारवाला होने से युक्तविहारी (युक्तविहारवाला श्रमण) साक्षात् अविहारी ही है ह्व ऐसा अनुक्त होने पर भी (गाथा में नहीं कहा जाने पर भी) समझना चाहिए।

अब, इसी प्रकार विहार की बात करते हैं। आचार्य, उपाध्याय और साधु यह समझते हैं कि मैं शरीर को चला नहीं सकता, मैं अविहार-स्वभावी हूँ।

वास्तव में आचार्य, उपाध्याय और साधु कैसे होते हैं? ह्व स्वयं अविहारस्वभावी हैं। सम्यग्दृष्टि जीव भी अपने आत्मा को शरीर और आहार-पान से रहित मानता है, वरना उसे सम्यक्त्व नहीं रहता। चौथे गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि, पाँचवें गुणस्थानवर्ती श्रावक और छठवें गुणस्थानवर्ती मुनि ऐसा ही मानते हैं। चौथे गुणस्थान से ही अपने आत्मा को शरीर, मन, वाणी और कर्म से रहित मानते हैं। कर्म अजीवतत्त्व है, अजीवतत्त्व मुझमें नहीं है ह्व ऐसी मान्यता न हो तो सम्यग्दृष्टि नहीं रहता। लक्ष्मी, मकान आदि अजीवतत्त्व हैं। अजीवतत्त्व, जीव में नहीं है, अजीवतत्त्व में मेरा आत्मा नहीं है। यहाँ तो मुनिराज की बात है। सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् ही मुनिदशा होती है।

मुनिराज अविहारस्वभावी हैं, शरीर जड़ की अवस्था है, उसे चलना हो तो चलता है, मैं उसे नहीं चलाता। चौथे गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि भी ऐसा ही मानते हैं। शरीर के हलन-चलन की क्रिया का कर्ता आत्मा को

माननेवाला ईश्वरकर्ता की मान्यतावत् मिथ्यादृष्टि है। मुनि स्वयं अविहारस्वभावी हैं, जड़ की क्रियावतीशक्ति के कारण देह की अवस्था होती है। मैं तो ज्ञातातत्त्व हूँ।

इसीप्रकार इस गाथा में मुनि को अनाहारी कहा है; परन्तु जिसप्रकार वे अनाहारी हैं, उसीप्रकार वे अविहारी भी हैं। यह बात भी इसमें आ जाती है ह्व यह समझना चाहिए।

अज्ञानी तो प्रतिक्षण चैतन्यस्वभाव के भान बिना जड़ की क्रिया का स्वामी होता है, वह तो मिथ्यादृष्टि है। आत्मा जड़ की क्रिया को करता है ह्व ऐसा माननेवाले को मुनिदशा तो होती ही नहीं; सम्यग्दर्शन भी नहीं होता, वह तो मिथ्यादृष्टि है। इसलिए ऐसी वीतरागी मुनिदशा प्रगट होने से पूर्व वस्तुस्वरूप की पहचान करनी चाहिए। यह पहचान होने के पश्चात् अन्तरस्वरूप में स्थिरता करने पर मुनिदशा प्रगट होती है। ●

अहाहा! लोक तो बस ऐसा मानता है कि दया, दान, व्रत, भक्ति आदि व्यवहार क्रिया करो ह्व इन्हीं से कल्याण हो जायेगा; परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि प्रभु! इन रंग, राग व भेद के सर्व भावों का पुद्गल के साथ सम्बन्ध है। यदि आत्मा रंगरूप, रागरूप या भेदरूप हो जावे तो रूपी-पुद्गल हो जायेगा। अहाहा! अज्ञान अवस्था में रंग-राग व भेद मेरा है और मैं उनका कर्ता हूँ ह्व ऐसा जो मानते हैं, वे पुद्गल को जीवरूप मानते हैं। भाई! वस्तु के स्वरूप की दृष्टि से देखने पर रंग-राग-भेद त्रिकाली वस्तु में नहीं हैं। यद्यपि पर्याय की अपेक्षा से उनको जीव का कहा है, तथापि त्रिकाली ध्रुवस्वभाव की दृष्टि से देखने पर उनका जीव के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध नहीं है। इसकारण वे जीव के नहीं हैं, किन्तु रूपी पुद्गल के हैं ह्व ऐसा यह स्याद्वाद है। **ह्व प्रवचनरत्नाकर भाग-२, पृष्ठ-३३६-३३७**

प्रवचनसार गाथा २२८

अब, (श्रमण के) युक्ताहारीपना कैसे सिद्ध होता है, सो उपदेश करते हैं :ह्व

केवलदेहो समणो देहे ण ममत्ति रहिदपरिकम्मो ।

आजुत्तो तं तवसा अणिगूहिय अप्पणो सत्तिं ॥२२८॥

(हरिगीत)

तनमात्र ही है परिग्रह ममता नहीं है देह में।

शृंगार बिन शक्ति छुपाये बिना तप में जोड़ते ॥२२८॥

अन्वयार्थ :ह्व [केवलदेहः श्रमणः] केवलदेही (जिसके मात्र देहरूप परिग्रह वर्तता है, ऐसे) श्रमण ने [देहे] शरीर में भी [न मम इति] 'मेरा नहीं है' ऐसा समझकर [रहितपरिकर्मा] परिकर्म^१ रहित वर्तते हुए, [आत्मनः] अपने आत्मा की [शक्तिं] शक्ति को [अतिगूह्य] छुपाये बिना [तपसा] तप के साथ [तं] उसे (शरीर को) [आयुक्तवान्] युक्त किया (जोड़ा) है।

टीका :ह्व श्रामण्यपर्याय के सहकारी कारण के रूप में केवल देहमात्र उपधि को श्रमण बलपूर्वक ह्व हठ से निषेध नहीं करता इसलिये वह केवल देहवान् है; ऐसा (देहवान्) होने पर भी, 'किं किंचण' इत्यादि पूर्वसूत्र (गाथा २२४) द्वारा प्रकाशित किये गये परमेश्वर के अभिप्राय का ग्रहण करके 'यह (शरीर) वास्तव में मेरा नहीं है इसलिये यह अनुग्रह योग्य नहीं है; किन्तु उपेक्षा योग्य ही है' इसप्रकार देह में समस्त संस्कार को छोड़ा होने से परिकर्मरहित है। इसलिये उसके देह के ममत्वपूर्वक अनुचित आहारग्रहण का अभाव होने से युक्ताहारीपना सिद्ध होता है। और (अन्यप्रकार से) उसने (आत्मशक्ति को किंचित्मात्र भी छुपाये बिना) समस्त ही आत्मशक्ति को प्रगट करके, अन्तिम सूत्र (गाथा २२७)

१. परिकर्म = शोभा; शृंगार; संस्कार; प्रतिकर्म।

द्वारा कहे गये अनशनस्वभावलक्षण^१ तप के साथ उस शरीर को सर्वाभ्रम (उद्यम) से युक्त किया है (जोड़ा है); इसलिये आहारग्रहण के परिणामस्वरूप योगध्वंस^२ का अभाव होने से उसका आहार युक्त का (योगी का) आहार है, इसलिये उसके युक्ताहारीपन सिद्ध होता है।

भावार्थ : ह्र श्रमण दो प्रकार से युक्ताहारी सिद्ध होता है; (१) शरीर पर ममत्व न होने से उसके उचित ही आहार होता है, इसलिये वह युक्ताहारी अर्थात् उचित आहारवाला है और (२) 'आहारग्रहण आत्मा का स्वभाव नहीं है' ऐसा परिणामस्वरूप योग श्रमण के वर्तता होने से वह श्रमण युक्त अर्थात् योगी है और इसलिये उसका आहार युक्ताहार अर्थात् योगी का आहार है।

गाथा २२८ पर प्रवचन

जड़ देह चैतन्य से भिन्न है। 'यह देह मेरी नहीं है' ह्र ऐसे भानपूर्वक मुनिराज को अत्यन्त वीतरागता प्रगट होने से देह के प्रति उपेक्षाभाव वर्तता है अर्थात् उन्हें देह के प्रति राग नहीं है। वे देह की शोभा-शृंगार नहीं करते। निज आत्मा की शक्ति को छिपाये बिना तप में लीन रहते हैं। आहार अथवा देह का एक रजकण भी मेरा नहीं है ह्र ऐसे भान सहित यथार्थ ज्ञान करते हैं। उन्हें तो अन्तर में आनंद का शांत रस उछल रहा है। मैं ज्ञायक हूँ और देहादि समस्त परज्ञेय हैं। मैं उन ज्ञेयों का नहीं हूँ और वे ज्ञेय मेरे नहीं हैं, इसप्रकार देह और परज्ञेय दोनों की भिन्नता का भान करके वे अन्तर आनन्द के अनुभव में ठहरते हैं। वहाँ देह की उपेक्षा होने से उन्हें शक्तिप्रमाण तप होता है।

“....श्रामण्यपर्याय के सहकारी कारण के रूप में केवल देहमात्र उपधि को श्रमण बलपूर्वक हठ से निषेध नहीं करता, इसलिये वह केवल देहवान है।....”

१. अनशनस्वभावलक्षणतप = अनशनस्वभाव जिसका लक्षण है ऐसा तप। (जो आत्मा के अनशन स्वभाव को जानता है उसके अनशनस्वभावलक्षण तप पाया जाता है)।

२. योगध्वंस = योग का नाश ('आहार ग्रहण करना आत्मा का स्वभाव है' ऐसे परिणाम से परिणमित होना योगध्वंस है। श्रमण के ऐसा योगध्वंस नहीं होता, इसलिये यह युक्त अर्थात् योगी है और इसलिये उसका आहार युक्ताहार अर्थात् योगी का आहार है।

निश्चय से मुनिराज जानते हैं कि बाह्य परद्रव्य का एक रजकण भी मेरा नहीं है। ऐसे भानपूर्वक ही उन्हें अन्तर में वीतरागता प्रगट हुई है। व्यवहार में श्रामण्य-पर्याय का निमित्त शरीर है; क्योंकि राग के उत्पन्न होते ही शरीर पर लक्ष जाता है। मुनिराज को हठपूर्वक देह का निषेध नहीं है; क्योंकि जबतक शरीर की योग्यता है, तबतक शरीर का संयोग बना रहता है। शरीर की ममता छूट गई है, किन्तु शरीर को ही छोड़ दूँ ह्र ऐसा हठ उनको नहीं है; अतः केवल देह मात्र का परिग्रह ही उन्हें वर्तता है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते थे ह्र

सर्व भावों से उदासीन वृत्ति धरी, मात्र देह संयम हेतु होय है॥

अन्तर में उदासीन वीतरागभाव शुद्ध उपादान है तथा निमित्त शरीर है। शरीर होने पर भी उसके संस्कार या शृंगार आदि की वृत्ति उन्हें नहीं होती; क्योंकि शरीर के कारण मुनिदशा नहीं टिकी है। मुनिदशा तो चैतन्यस्वभाव के आश्रय से टिकी है। इस अपेक्षा शरीर को निमित्त मानकर सहकारी कारण कहा है।

अन्तर चैतन्यस्वभाव में स्थित होते ही निराकुल वीतरागी आनंद प्रगट हुआ है, यही मुनिदशा है। शरीर तो बाह्य है। उसमें से वीतरागता नहीं आती है। पुण्य भाव अथवा पर्याय में से भी वीतरागी पर्याय उत्पन्न नहीं होती। अन्तर अखंडानन्द चैतन्य में एकाग्र होते ही उसमें से वीतरागी पर्याय उत्पन्न होती है ह्र ऐसे चैतन्य का भान कर उसमें ठहरने का नाम मुनिदशा है। वहाँ संयोग अपेक्षा देह कैसा होता है? उसका यहाँ ज्ञान कराया है। यदि वीतरागी मुनिदशा ही न हो तो शरीर को सहकारी कौन कहेगा? इसलिये 'सहकारी' कहने पर भी उपादान तो स्वयं आप ही है ह्र यह सिद्ध होता है। उपादान के बिना सहकारी किसका?

मुनियों को केवल देह है। देह होने पर भी वे उस देह मात्र के परिकर्म से रहित है।

“.....ऐसा (देहवान्) होने पर भी, 'किं किंचण' इत्यादि पूर्वसूत्र (गाथा २२४) द्वारा प्रकाशित किये गये परमेश्वर के अभिप्राय का ग्रहण करके 'यह (शरीर) वास्तव में मेरा नहीं है, इसलिये यह अनुग्रह योग्य

नहीं है; किन्तु उपेक्षा योग्य ही है' इसप्रकार देह में समस्त संस्कार को छोड़ा होने से परिकर्मरहित है। इसलिये उसके देह के ममत्वपूर्वक अनुचित आहारग्रहण का अभाव होने से युक्ताहारीपना सिद्ध होता है।.....”

आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने भगवान परमेश्वर के अभिप्राय को जगत के समक्ष जाहिर किया है। स्वयं की पात्रता न होने से यह जीव त्रिलोकीनाथ तीर्थकर परमात्मा के पास जाकर भी तत्त्व समझे बिना ही वापिस लौट आया अर्थात् “केवली समक्ष रह गया कोरा” क्योंकि स्वयं की पर्याय को अन्तर्मुख करके आजतक इसने कुछ जाना ही नहीं है।

देह का संयोग होने पर भी मुनिराज को भान है कि यह देह मेरी नहीं; अतः अनुग्रह योग्य नहीं है, ममता करने योग्य नहीं है, अपितु उपेक्षा करनेयोग्य ही है। भगवान तीर्थकरदेव के अभिप्राय को जानकर मुनियों ने देहोचित समस्त संस्कारों को छोड़ दिया है, अतः वह देह अनुग्रह अथवा ममता करनेयोग्य नहीं है, अपितु उपेक्षा करनेयोग्य ही है। इसप्रकार तीर्थकरदेव के अभिप्राय को जानकर मुनियों ने देहोचित समस्त संस्कारों को छोड़ दिया है, अतः वह परिकर्म रहित है।

मैं तीनों काल अस्तिरूप चिदानन्द-स्वभावी हूँ और देहादिक की मुझमें त्रिकाल नास्ति है हूँ ऐसे भानपूर्वक मुनियों को देह की ममता छूट गई है। अतः ममतापूर्वक होनेवाले अनुचित आहारादि भी उनके नहीं होते। इसप्रकार उनको युक्ताहारीपना सिद्ध है। यहाँ अभी युक्ताहारीपने की एक बात की है, अब दूसरी बात करते हैं।

“...और (अन्य प्रकार से) उसने (आत्मशक्ति को किंचित्मात्र भी छुपाये बिना) समस्त ही आत्मशक्ति को प्रगट करके, अन्तिम सूत्र (गाथा २२७) द्वारा कहे गये अनशनस्वभावलक्षण तप के साथ उस शरीर को सर्वारम्भ (उद्यम) से युक्त किया है (जोड़ा है); इसलिये आहारग्रहण के परिणामस्वरूप योगध्वंस का अभाव होने से उसका आहारयुक्त का (योगी का) आहार है, इसलिये उसके युक्ताहारीपन सिद्ध होता है।...”

मुनिदशा तो परमेश्वर पद है। यह पद पंचपरमेष्ठी में सम्मिलित है। मुनिदशा तो आत्मा की वीतरागीदशा है। अज्ञानी को द्रव्य का भान नहीं

है, अतः उसके द्रव्य की शक्ति बिगड़ी हुई है; किन्तु मुनिराज तो आत्मा के भानपूर्वक उसमें ही ठहरे हैं, अतः उन्हें आत्मा की समस्त शक्तियाँ प्रगट हुई हैं। निज आत्मस्वभाव की प्रगट शक्तिपूर्वक वे अनशनस्वभावी, चिदानदी, आनन्दकन्द स्वरूप में जुड़े हैं। उन्हें आहारग्रहण से चैतन्य के जुड़ान का नाश नहीं होता। चैतन्य की सन्मुखता का जुड़ान छूटे और आहार हो हूँ ऐसा उन्हें नहीं होता। अतः उनका जो आहार है, वह युक्त आहार ही है, अतः वे युक्ताहारी हैं।

आत्मा के भानपूर्वक साधुपद में कैसी वीतरागता होती है? उसका यह वर्णन है। वीतरागता के हुए बिना केवलज्ञान नहीं होता। यह बात किसी दूसरे की नहीं, अपितु स्वयं की है। प्रथम आत्मा के ज्ञानस्वभाव की पहिचान करके सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान हुआ पश्चात् ऐसी चारित्रदशा होती है।

मुनिराज को देह का लक्ष छूटकर स्वभाव का अत्यधिक जुड़ान हो गया है। अतः उन्हें ‘मैं आहार ग्रहण करता हूँ’ हूँ ऐसे परिणामरूप योगध्वंस का अभाव है। आहार ग्रहण करना आत्मा का स्वभाव है हूँ ऐसा जो मानता है, उसे सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। मुनिराज की दृष्टि में तो आहारादि ग्रहण करने की बुद्धि ही नहीं है और अन्तर स्थिरतापूर्वक कषाय का इतना अभाव हो गया है कि जिससे योग का ध्वंस हो। इसप्रकार आहार ग्रहण का परिणाम नहीं होने से वे मुनिराज युक्ताहारी हैं। उनका आहार युक्ताहार है। चारित्र का नाश हो हूँ ऐसा सदोष आहार उनको नहीं होता।

अनशनस्वभाव लक्षण तप अर्थात् अनशनस्वभाव जिसका लक्षण है हूँ ऐसा तप। जो आत्मा अनशनस्वभाव को जानता है, उसे अनशन स्वभाव लक्षण तप वर्तता है और योगध्वंस का नाश होता है। आहार ग्रहण करना आत्मा का स्वभाव है हूँ ऐसे परिणामपूर्वक परिणमन करना योगध्वंस है। श्रमण को ऐसा योगध्वंस नहीं होने से वे युक्त अर्थात् योगी हैं और उनका आहार युक्ताहार अर्थात् योगी का आहार है। ●

प्रवचनसार गाथा २२९

अब, युक्ताहार का स्वरूप विस्तार से उपदेश करते हैं :ह
 एकं खलु तं भक्तं अप्पडिपुण्णोदरं जहालब्धं ।
 चरणं भिक्खेण दिवा ण रसावेक्खं ण मधुमांसं ॥२२९॥

(हरिगीत)

इकबार भिक्षाचरण से जैसा मिले मधु-मांस बिन ।

अधपेट दिन में लें श्रमण बस यही युक्ताहार है ॥२२९॥

अन्वयार्थ :ह [खलु] वास्तव में [सः भक्तः] वह आहार (युक्ताहार) [एकः] एक बार [अप्रतिपूर्णेदरः] ऊनोदर [यथालब्धः] यथालब्ध (जैसा प्राप्त हो वैसा), [भिक्षाचरणेन] भिक्षाचरण से, [दिवा] दिन में [न रसापेक्षः] रस की अपेक्षा से रहित और [न मधुमांसः] मधु-मांस रहित होता है ।

टीका :ह एक बार आहार ही युक्ताहार है, क्योंकि उतने से ही श्रामण्य पर्याय का सहकारी कारणभूत शरीर टिका रहता है । (एक से अधिक बार आहार लेना युक्ताहार नहीं है, ऐसा निम्नानुसार दो प्रकार से सिद्ध होता है :ह) (१) शरीर के अनुराग से ही अनेकबार आहार का सेवन किया जाता है, इसलिये अत्यन्तरूप से हिंसायतन^१ किया जाने के कारण युक्त (योग्य) नहीं है; (अर्थात् वह युक्ताहार नहीं है); और (२) अनेक बार आहार का सेवन करनेवाला शरीरानुराग से सेवन करनेवाला होने से वह आहार युक्त^२ (योगी) का नहीं है (अर्थात् वह युक्ताहार नहीं है ।)

अपूर्णेदर^३ आहार ही युक्ताहार है, क्योंकि वही प्रतिहत^४ योग^५

रहित है । (पूर्णेदर आहार युक्ताहार नहीं है, ऐसा निम्नानुसार दो प्रकार से सिद्ध होता है :ह) (१) पूर्णेदर आहार तो प्रतिहत योगवाला होने से कथंचित् हिंसायतन होता हुआ युक्त (योग्य) नहीं है; और (२) पूर्णेदर आहार करनेवाला प्रतिहत योगवाला होने से वह आहार युक्त (योगी) का आहार नहीं है ।

यथालब्ध आहार ही युक्ताहार है, क्योंकि वही (आहार) विशेषप्रियतास्वरूप अनुराग से शून्य है । (१) अयथालब्ध^१ आहार तो विशेषप्रियता स्वरूप अनुराग से सेवन किया जाता है, इसलिये अत्यन्तरूप से हिंसायतन किया जाने के कारण युक्त (योग्य) नहीं है और अयथालब्ध आहार का सेवन करनेवाला विशेषप्रियता स्वरूप अनुराग द्वारा सेवन करनेवाला होने से वह आहार युक्त (योगी) का नहीं है ।

भिक्षाचरण से आहार ही युक्ताहार है, क्योंकि वही आरंभशून्य है (१) अभिक्षाचरण से (भिक्षाचरण रहित) जो आहार उसमें आरम्भ का सम्भव होने से हिंसायतनपना प्रसिद्ध है, अतः वह आहार युक्त (योग्य) नहीं है; और (२) ऐसे आहार के सेवन में (सेवन करनेवाले की) अन्तरंग अशुद्धि व्यक्त (प्रकट) होने से वह आहार युक्त (योगी) का नहीं है ।

दिन का आहार ही युक्ताहार है, क्योंकि वही सम्यक् (बराबर) देखा जा सकता है । (१) अदिवस (दिन के अतिरिक्त समय में) आहार तो सम्यक् नहीं देखा जा सकता, इसलिये उसके हिंसायतनपना अनिवार्य होने से वह आहार युक्त (योग्य) नहीं है; और (२) ऐसे आहार के सेवन में अन्तरंग अशुद्धि व्यक्त होने से आहार युक्त (योगी) का नहीं है ।

रस की अपेक्षा से रहित आहार ही युक्ताहार है; क्योंकि वही अन्तरंग शुद्धि से सुन्दर है । (१) रस की अपेक्षावाला आहार तो अन्तरंग अशुद्धि द्वारा अत्यन्तरूप से हिंसायतन किया जाने के कारण युक्त (योग्य) नहीं

१. हिंसायतन = हिंसा का स्थान (एक से अधिक बार आहार करने में शरीर का अनुराग होता है, इसलिये वह आहार आत्यंतिक हिंसा का स्थान होता है, क्योंकि शरीर का अनुराग ही स्व-हिंसा है ।)

२. युक्त = आत्मस्वभाव में लगा हुआ; योगी ।

३. अपूर्णेदर = पूरा पेट न भरकर; ऊनोदर करना ।

४. प्रतिहत = हनित, नष्ट, रुका हुआ, विघ्न को प्राप्त ।

५. योग = आत्मस्वभाव में जुड़ना ।

१. अयथालब्ध = जैसा मिल जाय वैसा नहीं, किन्तु अपनी पसंदगी का; स्वेच्छालब्ध ।

है; (२) उसका सेवन करनेवाला अन्तरंग अशुद्धिपूर्वक सेवन करता है इसलिये वह आहार युक्त (योगी) का नहीं है।

मधु-मांस रहित आहार ही युक्ताहार है, क्योंकि उसी के हिंसायतनपने का अभाव है। (१) मधु-मांस सहित आहार तो हिंसायतन होने से युक्त (योग्य) नहीं है; और (२) ऐसे आहार के सेवन में अन्तरंग अशुद्धि व्यक्त होने से वह आहार युक्त (योगी) का नहीं है। यहाँ मधु-मांस हिंसायतन का उपलक्षण है इसलिये ('मधु-मांस रहित आहार युक्ताहार है' इस कथन से ऐसा समझना चाहिये कि) समस्त हिंसायतनशून्य आहार ही युक्ताहार है।

गाथा २२९ पर प्रवचन

जिसप्रकार व्यापारी व्यापार में किसीप्रकार की हानि नहीं हो इसका पूरा ध्यान रखता है, उसीप्रकार आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि ह्व हे मुनि ! तुम्हें अत्यन्त वीतरागता प्राप्त हो गई है। यद्यपि तुम्हारी भूमिका में आहारादि का विशेष राग नहीं है; क्योंकि आहारादि के प्रति विशेष राग उत्पन्न हो तो मुनिदशा टिकती ही नहीं है। तुम अपनी मुनिदशा का पूर्ण ख्याल रखो; क्योंकि अन्तर-लीनता होते ही राग का अभाव होता ही है।

मुनिदशा का यह यथार्थ मार्ग सर्वज्ञ भगवान का कहा हुआ है और आचार्य कुन्दकुन्द देव ने उसे अनुभव किया है। तभी इस चरणानुयोग अधिकार की शुरुआत में वे स्वयं कहते हैं कि ह्व "श्रामण्य को अंगीकार करने का जो यथानुभूत मार्ग है, उसके प्रणेता हम यहाँ खड़े हैं।"

देखो! कैसे अद्भुत वचन हैं ? अभी मुनिराज स्वयं छठवें-सातवें गुणस्थान में वर्त रहे हैं, तथापि दूसरों को यह मार्ग बतानेवाले प्रणेता हम साक्षात् खड़े हैं। वीतरागी संतों का जो मार्ग है, उसमें हम स्वयं वर्त रहे हैं, उसके प्रणेता हम स्वयं हैं ह्व ऐसा कह रहे है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते थे ह्व ऐसे कुन्दकुन्दाचार्य को हमारा वंदन हैं, जिन्होंने यथार्थ मुनिदशा का ज्ञान कराया है। यदि कोई व्यक्ति श्रीमद्जी

को माने; किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द देव के इस कथन को नहीं माने तो वह श्रीमद्जी को भी नहीं मानता हैं।

अब, आचार्य अमृतचन्द्रदेव युक्ताहार के बोलों का स्पष्टीकरण करते हैं।

“एक बार आहार ही युक्ताहार है, क्योंकि उतने से ही श्रामण्य पर्याय का सहकारी कारणभूत शरीर टिका रहता है।....”

एक बार आहार करने पर मुनिराज को अन्य समय आहार की वृत्ति नहीं होती। अनेक बार आहार करने की वृत्ति जागृत हो तो मुनिपना टिकता ही नहीं है।

“.....(एक से अधिक बार आहार लेना युक्ताहार नहीं है, ऐसा निम्नानुसार दो प्रकार से सिद्ध होता है :ह्व)”

शरीर के अनुराग से ही अनेकबार आहार का सेवन किया जाता है, इसलिये अत्यन्तरूप से हिंसायतन किया जाने के कारण युक्त (योग्य) नहीं है; (अर्थात् वह युक्ताहार नहीं है)।.....”

जिसप्रकार कोई व्यक्ति अपने कार्य (व्यापार-धंधे) में अत्यधिक व्यस्त हो तो उसे भोजन की वृत्ति अधिक उत्पन्न नहीं होती है; उसीप्रकार मुनिराज आत्मानन्द के अंतरस्वरूप अनुभव में ऐसे लीन हैं कि उन्हें अनेक बार आहार की वृत्ति उत्पन्न ही नहीं होती है।

मुनिराज के अनाकुल आत्मानुभव का व्यापार अत्यन्त सुदृढ़ता से जोरदार चल रहा है अर्थात् उन्हें आत्मानुभव की अत्यधिक तीव्रता प्रवाहित हो रही है। शरीर के प्रति अनुराग नहीं होने से उन्हें आहार की वृत्ति नहीं है। अन्तर में आहार लेना ही नहीं ह्व ऐसा उन्हें हठ नहीं है; किन्तु सहजता से ही उन्हें आहारवृत्ति टूट जाती है।

मुनिराज एक ही समय आहार लेते हैं। जब अन्तर में आत्मा के आनंद की धारा टूटे तभी मुनि को किसी भी समय आहार हो जावे ह्व ऐसा नहीं होता। यदि अन्य किसी भी समय आहार लेवें तो वे मुनि ही नहीं है।

“....अपूर्णोदर आहार ही युक्ताहार है, क्योंकि वही प्रतिहत योग रहित है। (पूर्णोदर आहार युक्ताहार नहीं है, ऐसा निम्नानुसार दो प्रकार से सिद्ध होता है :ह)”

मुनिराज को आहार के कारण योग का नाश नहीं होता है; अन्तर में प्रमाद या गृद्धता का भाव हो तो योग का छेद होता है। गृद्धतापूर्वक एक ही बार में पेट भरकर आहार ले लेवें ह्व ऐसी लोलुपता का भाव भी मुनिराज को नहीं होता। यह तो वीतरागी संतों का अद्भुत मार्ग है, जिन्हें अल्पकाल में ही केवलज्ञान प्राप्त करना है ह्व ऐसी साधक मुनिदशा साधारण जीवों को नहीं हो सकती।

मुनिराजों को देह का संयोग होने पर भी देह के प्रति कितनी उदासीनता है, उसकी यहाँ चर्चा है। उक्त मुनिदशा को न पहिचानकर इससे विरुद्ध अन्यप्रकार से मुनिपना माने अथवा अंगीकार करें तो उसे मुनि नहीं मानना चाहिए।

यदि मुनिराज को पूर्णोदर आहार हो तो प्रतिहत योगवाला होने से उसे कथंचित् हिंसायतन कहा है। आहार के कारण हिंसा नहीं है, किन्तु अन्तर में तीव्र रागभाव होने से प्रमादपूर्वक अंतर की शांति नष्ट होती है, यही हिंसा है।

दूसरे दिन उपवास करना है अथवा विहार करना है; इसलिये आज ही पूरा पेट भर भोजन कर लूँ ह्व ऐसी वृत्ति मुनिराज को नहीं होती। अरे भाई ! मुनियों का मार्ग तो सहज अलौकिक सहजात्मस्वरूप है।

जिसप्रकार कलाकार डोरी पर थाली में पैर रखकर चलता है, उसे वह मार्ग सहज प्रतीत होता है, उसीप्रकार चैतन्य की डोर छूटे बिना मुनिराज को निरन्तर आनन्द की धारा चलती रहती है, उनके लिये यह सहज शांति का अलौकिक मार्ग है। बाहर से ही यह सम्पूर्ण दशा प्रगट हो जाये ह्व ऐसा नहीं है। देह और राग से रहित चैतन्य का भान होने के पश्चात् यह दशा होती है।

“....यथालब्ध आहार वह युक्ताहार है, क्योंकि वही (आहार) विशेषप्रियतास्वरूप अनुराग से शून्य है।...”

जैसा निर्दोष मिले, वैसा आहार मुनि को होता है। किसी विशिष्ट प्रकार का आहार हो तो ही चले ह्व ऐसी वृत्ति मुनिराज को नहीं होती। अयथालब्ध (जैसा मिल जाय वैसा नहीं, अपितु अपनी पसंदगी का; स्वेच्छालब्ध) आहार तो विशेष प्रियता स्वरूप अनुराग द्वारा सेवन में आता होने से अत्यंतपने हिंसायतन किया जाने के कारण युक्त (योग्य) नहीं है और अयथालब्ध आहार को सेवनवाला विशेषप्रियतास्वरूप अनुराग द्वारा सेवन करनेवाला होने से वह आहार युक्त (योगी) का नहीं है।

जिसप्रकार घड़ा सोने से भी भरा जा सकता है और मिट्टी से भी भरा जा सकता है; उसीप्रकार मुनिराज को आहार की वृत्ति उठती है तो वे मात्र क्षुधा का नाश करने हेतु आहार लेते हैं। वहाँ जैसा आहार मिल जाए वैसा ग्रहण करते हैं।

“....भिक्षाचरण से आहार ही युक्ताहार है, क्योंकि वही आरंभशून्य है (१) अभिक्षाचरण से (भिक्षाचरण रहित) जो आहार उसमें आरम्भ का सम्भव होने से हिंसायतनपना प्रसिद्ध है; अतः वह आहार युक्त (योग्य) नहीं है; और (२) ऐसे आहार के सेवन में (सेवन करनेवाले की) अन्तरंग अशुद्धि व्यक्त (प्रकट) होने से वह आहार युक्त (योगी) का नहीं है।...”

मुनिराज स्वयं भिक्षा के लिए जाते हैं। कोई जंगल में आहार देने आवे और मुनिराज आहार ले लेवें ऐसा नहीं होता अथवा कोई पात्र में आहार लेकर आवें और मुनिराज आहार ले लेवें ह्व ऐसा भी नहीं होता। मुनिराज को वस्त्र-पात्र तो होते ही नहीं है। स्वयं के लिए बनाई गयी कोई वस्तु भी मुनिराज नहीं लेते हैं। स्वयं के लिए बनाया हुआ आहार लेवें, वह तो उनके परिणामों की अशुद्धता है।

“....दिन का आहार ही युक्ताहार है, क्योंकि वही सम्यक् (बराबर) देखा जा सकता है। (१) अदिवस (दिन के अतिरिक्त समय में) आहार को सम्यक् नहीं देखा जा सकता, इसलिये उसके हिंसायतनपना अनिवार्य होने से वह आहार युक्त (योग्य) नहीं है; और (२) ऐसे आहार के सेवन में अन्तरंग अशुद्धि व्यक्त होने से आहार युक्त (योगी) का नहीं है।

रस की अपेक्षा से रहित आहार ही युक्ताहार है। क्योंकि वही अन्तरंग शुद्धि से सुन्दर है। (१) रस की अपेक्षावाला आहार तो अन्तरंग अशुद्धि द्वारा अत्यन्तरूप से हिंसायतन किया जाने के कारण युक्त (योग्य) नहीं है; (२) उसका सेवन करनेवाला अन्तरंग अशुद्धि पूर्वक सेवन करता है इसलिये वह आहार युक्त (योगी) का नहीं है।....”

दूध, दही रसयुक्त आहार हो तो ठीक है, दाँत नहीं है; अतः हलुआ आदि मिल जाए तो ठीक होगा ह्व ऐसी अपेक्षा मुनियों को नहीं होती। शरीर में रोग है, अतः किसीप्रकार का विशिष्ट आहार मिले ह्व ऐसी अपेक्षा भी उन्हें नहीं होती। मुनिराज को अन्तर में चैतन्य के ध्यान की ऐसी जमावट है कि देह और आहार से उन्हें उपेक्षा हो गई है।

मुनिराज को चक्रवर्ती के समान विशिष्ट आहार मिले तो भी उन्हें उस आहार की लोलुपता नहीं होती तथा गृहस्थ श्रावक अपनी भक्ति-भावना के अनुसार जैसा आहार देते हैं, वैसा ही वे ग्रहण कर लेते हैं।

वे समझते हैं कि अहो ! मेरे समक्ष धर्म का कल्पवृक्ष है, वे भक्तिपूर्वक आहार देते हैं; किन्तु मुझे उस आहार के रस की गृद्धता न करके आत्मा के अमृत के स्वाद का अनुभव करना चाहिये।

“.....मधु-मांस रहित आहार ही युक्ताहार है, क्योंकि उसी के हिंसायतनपने का अभाव है। (१) मधु-मांस सहित आहार तो हिंसायतन होने से युक्त (योग्य) नहीं है; और (२) ऐसे आहार के सेवन में अन्तरंग अशुद्धि व्यक्त होने से वह आहार युक्त (योगी) का नहीं है।....”

सीधे मधु-माँस तो मुनि को नहीं होते; किन्तु उससे स्पर्शित कोई आहार भी मुनिराज नहीं लेते। मधु के आहार में बड़ा पाप है। शास्त्र कहते हैं कि एक मधु बिन्दु के सेवन में ६ गाँव जलाने जितना पाप लगता है। साधारण जैन को भी मधु-माँस का भक्षण नहीं हो, यह तो महाहिंसा है। मधु-माँस के प्रयोग से निर्मित लेप हो ह्व इसप्रकार की कोई आहार या दवा मुनि को नहीं होती।

“....यहाँ मधु-मांस हिंसायतन का उपलक्षण है इसलिये (‘मधु-मांस रहित आहार युक्ताहार है’ इस कथन से ऐसा समझना चाहिये कि) समस्त हिंसायतनशून्य आहार ही युक्ताहार है।....”

जिसप्रकार मधु-माँस में हिंसा होने से उसका निषेध किया है, उसीप्रकार वनस्पति आदि की हिंसा से युक्त आहार भी मुनि को नहीं होता।

मुनि को शरीरमात्र का परिग्रह होने पर भी उस शरीर के प्रति उपेक्षा हो गई है तथा उन्हें उसके प्रति कोई विशिष्ट राग नहीं है। अन्तर में लीनता बढ़ गई है। अन्तर स्वसंवेदन आनन्द की उन्हें प्रचुरदशा वर्तती है।

जिसप्रकार पूरणपोली को घी में डुबोये तो उससे रस टपकता है, उसीप्रकार मुनियों का आत्मा चैतन्यगोला अन्तर में आनन्द स्वभाव से भरपूर है ह्व जिसमें ऐसा रस घुल गया है कि आनन्द और शांति की धारा निरन्तर टपकती रहती है। अन्तर में एकदम वीतरागता हो जाने पर ऐसी सहज दशा होती है।

अरेरे ! भगवान ने कहा है इसलिये यह सब पालन करना पड़े ह्व ऐसा मुनियों को नहीं होता; अपितु सम्पूर्ण दशा का पालन सहज होता है। हमारी जैसी सहजदशा है, वैसी भगवान ने जानी है और भगवान ने जैसी दशा का वर्णन किया वैसी हमारी सहजदशा हुई है ह्व ऐसी मुनियों को अन्तर में सहजदशा की प्रतीति हुई है और यही उत्सर्गमार्ग है। ●

भाई! यह शरीर तो हाड़-मांस व चमड़े का पिण्ड है। यह कहीं आत्मा नहीं है। यह तो एक दिन श्मशान में धधकती हुई अग्नि में जलकर भस्म हो जाएगा और आत्मा तो अनादि अनन्त अविनाशी वस्तु है। उस चिन्मात्र एक अपने आत्मा को जाने बिना सारी धर्म क्रियाएँ संसार खाते में ही जाती हैं। इनसे संसार का परिभ्रमण नहीं मिटता।

ह्व प्रवचनरत्नाकर भाग-८, पृष्ठ-१०९

प्रवचनसार गाथा २३०

अब, उत्सर्ग और अपवाद की मैत्री द्वारा आचरण के सुस्थितपने का उपदेश करते हैं :ह

बालो वा वृद्धो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा ।

चरियं चरदु सजोगं मूलच्छेदो जधा ण हवदि ।।२३०।।

(हरिगीत)

मूल का न छेद हो इस तरह अपने योग्य ही ।

वृद्ध बालक श्रान्त रोगी आचरण धारण करें ।।२३०।।

अन्वयार्थ :ह [बालः वा] बाल, [वृद्धः वा] वृद्ध, [श्रमाभिहतः वा] श्रान्त^१ [पुनः ग्लानः वा] या ग्लान^२ श्रमण [मूलच्छेदः] मूल का छेद [यथा न भवति] जैसा न हो उसप्रकार से [स्वयोग्यां] अपने योग्य [चर्यां चरतु] आचरण करो ।

टीका :ह बाल, वृद्ध, श्रमित या ग्लान (श्रमण) को भी संयम का ह जो कि शुद्धात्मतत्त्व का साधन होने से मूलभूत है उसका ह छेद जैसे न हो उसप्रकार, संयत ऐसे अपने योग्य अति कर्कश (कठोर) आचरण ही आचरना; इसप्रकार उत्सर्ग है ।

बाल, वृद्ध, श्रमित या ग्लान (श्रमण) को शरीरका ह जो कि शुद्धात्मतत्त्व के साधनभूत संयम का साधन होने से मूलभूत है उसका ह छेद जैसे न हो उसप्रकार बाल-वृद्ध-श्रान्त-ग्लान को अपने योग्य मृदु आचरण ही आचरना; इसप्रकार अपवाद है ।

बाल-वृद्ध-श्रान्त-ग्लान के संयम का ह जो कि शुद्धात्मतत्त्व का साधन होने से मूलभूत है उसका ह छेद जैसे न हो उसप्रकार का संयत ऐसा अपने योग्य अति कठोर आचरण आचरते हुए, (उसके) शरीरका ह जो कि शुद्धात्मतत्त्व के साधनभूत संयम का साधन होने से मूलभूत है उसका

(भी) ह छेद जैसे न हो उसप्रकार बाल-वृद्ध-श्रान्त-ग्लान ऐसे अपने योग्य मृदु आचरण भी आचरना । इसप्रकार अपवादसापेक्ष^१ उत्सर्ग है ।

बाल-वृद्ध-श्रान्त-ग्लान को शरीर का ह जो कि शुद्धात्मतत्त्व के साधनभूत संयम का साधन होने से मूलभूत है उसका ह छेद जैसे न हो उसप्रकार से बाल-वृद्ध-श्रान्त-ग्लान ऐसे अपने योग्य मृदु आचरण आचरते हुए, (उसके) संयम का ह जो कि शुद्धात्मतत्त्व का साधन होने से मूलभूत है उसका (भी) ह छेद जैसे न हो उसप्रकार से संयत ऐसा अपने योग्य अतिकर्कश आचरण भी आचरना; इसप्रकार उत्सर्गसापेक्ष अपवाद है ।

इससे (ऐसा कहा है कि) सर्वथा (सर्वप्रकार से) उत्सर्ग और अपवाद की मैत्री द्वारा आचरण का सुस्थितपना करना चाहिये ।

गाथा २३० पर प्रवचन

आत्मा ज्ञानस्वभावी है । वह शरीर, कर्म आदि परज्ञेय और उनकी अवस्थाओं का स्वामी नहीं है । आत्मा की पर्याय में विकार उत्पन्न हुआ, वह स्वयं का दोष है, स्वज्ञेय का अंश है । त्रिकाली चैतन्यस्वभाव भी स्वज्ञेय का अंश है ह ऐसे ज्ञेय तत्त्व को जाननेरूप ज्ञान का स्वभाव है ह इसका वर्णन पूर्व के दो अधिकारों में किया ।

इन दो अधिकारों में आत्मा के ज्ञानस्वभाव को जानकर पश्चात् विशेष वीतरागता होने पर कैसी मुनिदशा होती है ह इसका यहाँ वर्णन है ।

वीतरागता ही मुनियों का उत्सर्ग मार्ग है और जो शुभविकल्प उत्पन्न होते हैं, वह अपवाद मार्ग अर्थात् दोष ही है ।

“बाल, वृद्ध, श्रमित या ग्लान (श्रमण) को भी संयम का ह जो कि शुद्धात्मत्व का साधन होने से मूलभूत है, उसका ह छेद जैसे न हो उसप्रकार, संयत ऐसे अपने योग्य अति कर्कश (कठोर) आचरण ही आचरना; इसप्रकार उत्सर्ग है ।....”

जिसे आत्मा का भान है और स्वरूप की रमणता होने से वीतरागता

१. श्रान्त = श्रमित; परिश्रमी; थका हुआ ।

२. ग्लान = व्याधिग्रस्त; रोगी; दुर्बल ।

१. अपवादसापेक्ष = अपवाद की अपेक्षा सहित ।

भी बढ़ गई है हूँ ऐसा आठ वर्ष का बालक भी मुनि हो सकता है। बालक होने पर भी वह महा गंभीर है।

वर्षा के पानी में पत्थर फेंककर खेल करें हूँ ऐसे बालक मुनि नहीं होते। यह सब तो बालकबुद्धि है। देह छोटी है; तथापि चैतन्य के प्रति अतिगंभीरता है। अन्तर में पूर्ण स्थिर हुए हैं। यदि कोई मुनिराज वृद्ध हों तो वे लकड़ी का टेका नहीं लेते। कोई मुनिराज रोगी अथवा थके हुए हों ? तो भी उन्हें किसी की अपेक्षा नहीं रहती। अन्य नीरोग मुनियों की क्या बात करें ? किन्तु जो छोटी वय के मुनिराज हैं, वृद्ध हैं, थके हुए अथवा रोगी हैं हूँ ऐसे मुनियों को भी शुद्धात्मध्यान का ही ख्याल रहता है। शुद्धात्मतत्त्व का साधनभूत, जिससे संयम का छेद न हो ऐसा अपने योग्य अतिकर्कश आचरण ही वे आचरते हैं, यही उत्सर्ग है।

परमार्थ साधन तो त्रिकाली चैतन्य कारण परमात्मा है। पर्याय को कारण तो व्यवहार से कहा है। यहाँ चरणानुयोग में तो शरीर को भी उपचार से संयम का साधन कहा है। अन्तर में एक चैतन्यस्वभाव ही मोक्ष का परमार्थकारण है।

वीतरागी शुद्धभावरूप निर्मल संयमपर्याय शुद्धात्मा की सिद्धि का साधन है। दृष्टि में तो अखण्ड ज्ञायकभाव ही विद्यमान है। वही परमार्थ साधन है और उसके ही आधार से निर्मलपर्याय प्रकट होती है।

कोई मुनिराज भले ही बालक हों, वृद्ध हों, थके हुए हों अथवा रोगी हों, उन्हें भी संयम पालन करने में प्रमाद अथवा शिथिलता नहीं करनी चाहिए तथा अपनी शक्ति अनुसार अतिकर्कश आचरण आचरना चाहिए।

‘कर्कश’ शब्द का तात्पर्य दुःख हो हूँ ऐसा क्लिष्ट नहीं है; अपितु अन्तर में शुद्धोपयोग की उग्रता बढ़े, ज्ञायक चैतन्य द्रव्य में निरन्तर लीनता बढ़ती जाए, विशेष जागृति रहे हूँ ऐसा आशय है। यही उत्सर्गमार्ग है। यह दशा तो श्रेणी और केवलज्ञान का कारण है। इस दशा बिना श्रेणी और केवलज्ञान प्राप्त ही नहीं हो सकता।

“बाल-वृद्ध-श्रांत-ग्लान सभी को आत्मा में स्थिरता होवे हूँ ऐसा उग्र प्रयत्न करो” हूँ ऐसा कहकर सभी मुनिराजों के लिये उत्सर्ग मार्ग कहा है। अब अपवाद मार्ग का कथन करते हैं।

“....बाल, वृद्ध, श्रमित या ग्लान (श्रमण) को शरीर का हूँ जो कि शुद्धात्मतत्त्व के साधनभूत संयम का साधन होने से मूलभूत है उसका हूँ छेद जैसे न हो उसप्रकार बाल-वृद्ध-श्रांत-ग्लान को अपने योग्य मृदु आचरण ही आचरना; इसप्रकार अपवाद है।.....”

यहाँ अपवाद मार्ग बताते हुए ‘भी’ शब्द का प्रयोग नहीं किया। शुद्धात्मतत्त्व का मूलसाधन संयम है। इस संयम को निमित्त करके शरीर मूलभूत साधन कहा है।

शरीर में शक्ति न हो और हठ करके आकुलता उत्पन्न हो हूँ ऐसा मुनिराजों को नहीं होता। सहज वीतरागभाव से अपनी शक्ति छिपाये बिना जितना होता है, वे उतना करते हैं अर्थात् अपनी शक्ति योग्य मृदु आचरण आचरते हैं, यही अपवाद है।

शरीर पर लक्ष जाता है, तब सहज सहनशक्ति नहीं होती; अतः आहार ही नहीं लेना हूँ ऐसा हठ मुनियों को नहीं होता। अपनी सामर्थ्य कैसा कार्य करती है ? स्वभाव में कैसे स्थिरता हो सकती है ? इसका विवेक रखकर मुनिराज शक्तिप्रमाण तप करते हैं।

सोलहकारण भावनाओं में ‘शक्तिःतपस्त्याग’ भावना आती है अर्थात् अपनी शक्ति अनुसार तप-त्याग करना।

अन्य युवा मुनिराज दूर-दूर तक विहार करते हैं, अतः मैं भी उनके साथ दूर तक विहार करूँ हूँ ऐसा हठ मुनिराज नहीं करते। सहज अपनी शक्ति को समझकर धीरजपूर्वक वर्तते हैं। अन्तर में ज्ञाता-दृष्टा रहते हैं और विकल्प उत्पन्न हो तो उसका विवेक रखते हैं।

कोई मुनिराज बहुत थक जायें, उनमें चलने की ताकत न रहें, तथापि वे हठपूर्वक विहार करें तो उनसे आचार्यदेव कहते हैं कि तू हठ मत कर ! तेरी शक्ति अनुसार मृदु आचरण ही आचर ! इससे कुछ तेरी मुनिदशा

टलनेवाली नहीं है, अतः जिसप्रकार शरीर के लक्ष से आकुलता उत्पन्न न हो और संयम में छेद न होवे ह्व उस रीति से विवेक रखकर वर्तन करो ।

शरीर की शक्ति नहीं है तो विशेष उपवास नहीं हो सकता अथवा विहार नहीं हो सकता, इसकारण वे आकुलता नहीं करते तथा परिणामों में हठ नहीं आने देते ।

उग्र प्रयत्नपूर्वक वीतराग परिणामों में ठहरना ही समस्त मुनियों को उत्सर्ग मार्ग है । जो वीतराग परिणामों में नहीं ठहर सकता और उसे शुभविकल्प उत्पन्न होते हों, उसे अपनी शक्ति का विचार करके परिणामों में खेद नहीं करके कोमल आचरण करना चाहिए ह्व यही अपवाद है ।

मुनिराज २८ मूलगुण में छेद नहीं होने देते; किन्तु २८ मूलगुण को स्थिर रखकर किसप्रकार वर्तन करते हैं, यहाँ उनकी बात है ह्व यह कोमल आचरण का अर्थ है ।

कोमल आचरण का अर्थ यह नहीं है कि २८ मूलगुण की परवाह किये बिना सुख-सातारूप आचरण करें ।

प्रश्न : ह्व खड़े रहने की शक्ति न हो तो बैठे-बैठे आहार ले लेवें क्या?

उत्तर : ह्व मुनिराज तो खड़े-खड़े ही आहार लेते हैं । यदि खड़े रहने की ताकत न हो तो समाधि धारण कर लेते हैं । जिसप्रकार सिंह के लिए पिंजरापोल नहीं होता, उसीप्रकार मुनियों को बैठे-बैठे आहार नहीं होता । मुनिराज तो मोक्ष के मैदान में खड़े सिंह है । रागादि को जीतने के लिए वे मैदान में आये हैं और अंतर में स्थिरता करके रागादि का नाश करते ही हैं ।

अब, उत्सर्ग और अपवाद इन दोनों की संधि करके बात करते हैं ह्व
“.....बाल-वृद्ध-श्रांत-ग्लान के संयम का ह्व जो कि शुद्धात्मत्व का साधन होने से मूलभूत है उसका ह्व छेद जैसे न हो उसप्रकार का संयत ऐसा अपने योग्य अति कठोर आचरण आचरते हुए, (उसके) शरीर का ह्व जो कि शुद्धात्मतत्व के साधनभूत संयम का साधन होने से मूलभूत है उसका (भी) ह्व छेद जैसे न हो उसप्रकार बाल-वृद्ध-श्रांत-ग्लान ऐसे

अपने योग्य मृदु आचरण भी आचरना । इसप्रकार अपवादसापेक्ष उत्सर्ग है ।....”

मुनियों को उत्सर्ग आचरण ही मुख्य है । उत्सर्ग में स्थिर नहीं हो सके, तब मृदु आचरण आचरना ह्व यह अपवाद सापेक्ष उत्सर्ग है । मुनिराज को बारंबार सातवें गुणस्थान का निर्विकल्प आनन्द/अनुभव तो आता ही है ।

भगवती आराधना में कहा है कि ह्व मुनिराज ने सल्लेखना ली हो और तृषा की वृत्ति उत्पन्न हो तो उन्हें अन्य (बड़े) मुनि कहते हैं कि हे मुनि ! तुमने अनंत माताओं का इतना दूध पिया है कि अनंत समुद्र भर जायें, इसलिये यह तृषा की वृत्ति छोड़ो । अनेक तालाब/समुद्र भर जाये, इतना पानी तुमने पिया है, फिर भी तुम्हें तृप्ति नहीं हुई, अतः हे मुनिराज ! ध्यान रखो ! और अन्तर चैतन्य में ठहरो । देह छूटेगी तो तुम्हें समाधिमरण होगा; अतः शांत रहकर चैतन्य में जागृति करो !

देखो ! सल्लेखना लेनेवाले मुनिराज भी छठवें-सातवें गुणस्थान में ही झूलते हैं । फिर भी समाधि में स्थित करने के लिये अन्य मुनि मोक्षमार्ग का बारंबार ऐसा उपदेश देते हैं कि हे मुनि जागो ! जागो ! चैतन्य की जागृति में रहो ! तुम्हारी देह छूटेगी, तुम स्वर्ग में जाओगे । महाविदेह क्षेत्र में सीमंधर परमात्मा विराजमान हैं, वहाँ जाओगे । ध्यान रखो ! देह का लक्ष छोड़कर चैतन्य में ठहरो ! ‘उसीकी अखण्ड आराधना करो’ ह्व ऐसा कहकर अन्य मुनिराज पुरुषार्थ की उग्रता बढ़े ह्व ऐसा उपदेश देते हैं ।

यहाँ कोई क्रम नहीं है, तथापि मुनिदशा का कैसा क्रम होता है, उसका ज्ञान कराया है । चरणानुयोग की शैली का कथन अनेक अपेक्षाओं से किया जाता है, उसे समझना चाहिए ।

“....बाल-वृद्ध-श्रांत-ग्लान को शरीर का ह्व जो कि शुद्धात्मतत्व के साधनभूत संयम का साधन होने से मूलभूत है, उसका ह्व छेद जैसे न हो उसप्रकार से बाल-वृद्ध-श्रांत-ग्लान ऐसे अपने योग्य मृदु आचरण आचरते हुए, (उसके) संयम का ह्व जो कि शुद्धात्मतत्व का साधन होने

से मूलभूत है उसका (भी) ह्व छेद जैसे न हो उसप्रकार से संयत ऐसा अपने योग्य अतिकर्कश आचरण भी आचरना; इसप्रकार उत्सर्गसापेक्ष अपवाद है।....”

हठपूर्वक शरीर का छेद न हो और संयम भी टिका रहे ह्व इस रीति का मृदु आचरण आचरते हुए कर्कश आचरण भी आचरना चाहिए। शक्ति हो तो शिथिल नहीं होना चाहिए। इसलिए यह उत्सर्ग सापेक्ष अपवाद है। मुनि तो स्वयं ही विवेक के समुद्र हैं। चैतन्य ध्यान में ही लीन रहते हैं। उन्हें हठ तो होता ही नहीं है, फिर भी चरणानुयोग के उपदेश का उन्हें ज्ञान कराया है।

“....इससे (ऐसा कहा है कि) सर्वथा (सर्वप्रकार से) उत्सर्ग और अपवाद की मैत्री द्वारा आचरण का सुस्थितपना करना चाहिये।....”

स्वभाव में लीनता बढ़ती जाए और खेद भी न हो ह्व ऐसे दोनों प्रकार का विवेक रखकर मुनिराज वर्तन करते हैं।

बस ! मुझे तो शुद्धोपयोग में ही रहना है, आहारादि का शुभविकल्प आना ही नहीं चाहिए ह्व ऐसा वे हठ नहीं करते। शुद्धोपयोग में रहना तो उनके लिए उत्सर्ग मार्ग ही है; किन्तु जब शुद्धोपयोग में स्थिर नहीं रह सकते, तब सहनशक्ति का विवेक रखकर आहारादि में भी मुनिराज प्रवर्तन करते हैं। ●

अरे भाई! जब हम लौकिक पढ़ाई में इतनी शक्ति लगा देते हैं, जो मात्र आजीविका ही दे पाती है, इससे कोई आत्मा का हित नहीं होता अतः जन्म-मरण मेटने के लिए हमें यह परमार्थ शास्त्र पढ़ना चाहिए। दूसरों के दिखावे या पाण्डित्य प्रदर्शन करने के लिए नहीं, बल्कि केवल आत्मा के लक्ष्य से ही पढ़ना चाहिए।

ह्व प्रवचनरत्नाकर भाग-१०, पृष्ठ-२४१

प्रवचनसार गाथा २३१

अब, उत्सर्ग और अपवाद के विरोध (अमैत्री) से आचरण का दुःस्थितपना^१ होता है, ऐसा उपदेश करते हैं :ह्व

आहारे व विहारे देसं कालं समं खमं उवधिं ।

जाणित्ता ते समणो वट्टदि जदि अप्पलेबी सो ॥२३१॥

(हरिगीत)

श्रमण श्रम क्षमता उपधि लख देश एवं काल को।

जानकर वर्तन करें तो अल्पलेपी जानिये ॥२३१॥

अन्वयार्थ :ह्व [यदि] यदि [श्रमणः] श्रमण [आहारे वा विहारे] आहार अथवा विहार में [देशं] देश, [कालं] काल, [श्रमं] श्रम [क्षमां] क्षमता तथा [उपधिं] उपधि, [तान् ज्ञात्वा] इनको जानकर [वर्तते] प्रवर्ते [स; अल्पलेपी] तो वह अल्पलेपी होता है।

टीका :ह्व क्षमता तथा ग्लानता का हेतु उपवास है और बाल तथा वृद्धत्व का अधिष्ठान उपधि-शरीर है, इसलिये यहाँ (टीका में) बाल-वृद्ध-श्रांत-ग्लान ही लिये गये हैं। (अर्थात् मूल गाथा में जो क्षमा, उपधि इत्यादि शब्द हैं उनका आशय खींचकर टीका में 'बाल, वृद्ध, श्रांत, ग्लान' शब्द ही प्रयुक्त किये गये हैं।)

देशकालज्ञको^२ भी, यदि वह बाल-वृद्ध-श्रांत-ग्लानत्व के अनुरोध से (अर्थात् बालत्व, वृद्धत्व, श्रांतत्व अथवा ग्लानत्व का अनुसरण करके) आहार-विहार में प्रवृत्ति करे तो मृदु आचरण में प्रवृत्त होने से अल्प लेप होता ही है, (लेप का सर्वथा अभाव नहीं होता) इसलिये उत्सर्ग अच्छा है।

देशकालज्ञ को भी, यदि वह बाल-वृद्ध-श्रांत-ग्लानत्व के अनुरोध से आहार-विहार में प्रवृत्ति करे तो मृदु आचरण में प्रवृत्त होने से अल्प ही

१. दुःस्थित = खराब स्थितिवाला; नष्ट।

२. देशकालज्ञ = देशकाल को जाननेवाला।

लेप होता है। (विशेष लेप नहीं होता), इसलिये अपवाद अच्छा है।

देशकालज्ञ को भी, यदि वह बाल-वृद्ध-श्रांत-ग्लानत्व के अनुरोध से, जो आहार-विहार है, उससे होनेवाले अल्पलेप के भय से उसमें प्रवृत्ति न करे तो (अर्थात् अपवाद के आश्रय से होनेवाले अल्पबंध के भय से उत्सर्ग का हठ करके अपवाद में प्रवृत्त न हो तो), अति कर्कश आचरणरूप होकर अक्रम से शरीरपात करके देवलोक प्राप्त करके जिसने समस्त संयमामृत का समूह वमन कर डाला है उसे तप का अवकाश न रहने से, जिसका प्रतीकार अशक्य है ऐसा महान लेप होता है, इसलिये अपवाद निरपेक्ष उत्सर्ग श्रेयस्कर नहीं हैं।

देशकालज्ञ को भी, यदि वह बाल-वृद्ध-श्रांत-ग्लानत्व के अनुरोध से जो आहार-विहार है, उससे होनेवाले अल्पलेप को न गिनकर उसमें यथेष्ट^१ प्रवृत्ति करे तो (अर्थात् अपवाद से होनेवाले अल्पबन्ध के प्रति असावधान होकर उत्सर्गरूप ध्येय को चूककर अपवाद में स्वच्छन्दतापूर्वक प्रवर्ते तो), मृदु आचरणरूप होकर संयम विरोधी को ह्व असंयतजन के समान हुए उसको ह्व उससमय तप का अवकाश न रहने से, जिसका प्रतीकार अशक्य है ऐसा महान लेप होता है, इसलिये उत्सर्ग निरपेक्ष अपवाद श्रेयस्कर नहीं है।

इससे (ऐसा कहा गया है कि) उत्सर्ग और अपवाद के विरोध से होनेवाला जो आचरण का दुःस्थितपना वह सर्वथा निषेध्य (त्याज्य) है, और इसीलिये परस्पर सापेक्ष उत्सर्ग और अपवाद से जिसकी वृत्ति (अस्तित्व, कार्य) प्रगट होती है ऐसा स्याद्वाद सर्वथा अनुगम्य (अनुसरण करने योग्य) है।

भावार्थ : ह्व जबतक शुद्धोपयोग में ही लीन न हो जाया जाय तबतक श्रमण को आचरण की सुस्थिति के लिये उत्सर्ग और अपवाद की मैत्री साधनी चाहिये। उसे अपनी निर्बलता का लक्ष रखे बिना मात्र उत्सर्ग का आग्रह रखकर केवल अति कर्कश आचरण का हठ नहीं करना चाहिये;

१. यथेष्ट = स्वच्छंतया, इच्छा के अनुसार।

तथा उत्सर्गरूप ध्येय को चूककर मात्र अपवाद के आश्रय से केवल मृदु आचरणरूप शिथिलता का भी सेवन नहीं करना चाहिये; किन्तु इसप्रकार का वर्तन करना चाहिये जिसमें हठ भी न हो और शिथिलता का भी सेवन न हो। सर्वज्ञ भगवान का मार्ग अनेकान्त है। अपनी दशा की जाँच करके जैसे भी लाभ हो उसप्रकार से वर्तन करने का भगवान का उपदेश है।

अपनी चाहे जो (सबल या निर्बल) स्थिति हो, तथापि एक ही प्रकार से वर्तना, ऐसा जिनमार्ग नहीं है।

गाथा २३१ पर प्रवचन

‘अल्पलेपी होता है’ टीका के इस वाक्य से आचार्यदेव ने उत्सर्ग और अपवाद के चार बोल बतलाये हैं।

२३०वीं गाथा में बाल-वृद्ध-श्रांत और ग्लान ह्व ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है, किन्तु इस गाथा में उक्त शब्दों का सीधा प्रयोग नहीं किया है। यहाँ क्षमता आदि की चर्चा करते हुये उक्त आशय निकाला है, अतः यहाँ पर भी वहीं बात कहते हैं।

“....देशकालज्ञको भी, यदि वह बाल-वृद्ध-श्रांत-ग्लानत्व के अनुरोध से (अर्थात् बालत्व, वृद्धत्व, श्रांतत्व अथवा ग्लानत्व का अनुसरण करके) आहार-विहार में प्रवृत्ति करे तो मृदु आचरण में प्रवृत्त होने से अल्प लेप होता ही है, (लेप का सर्वथा अभाव नहीं होता), इसलिये उत्सर्ग अच्छा है।....”

जिससमय मुनिराज शुद्धोपयोग में नहीं होते, उससमय उन्हें शुभोपयोग से अल्पबंधन होता है, अतः दोष तो लगता ही है। इसलिये शुद्धोपयोगरूप उत्सर्ग मार्ग ही अच्छा है।

“....देशकालज्ञ को भी, यदि वह बाल-वृद्ध-श्रांत-ग्लानत्व के अनुरोध से आहार-विहार में प्रवृत्ति करे तो मृदु आचरण में प्रवृत्त होने से अल्प ही लेप होता है। (विशेष लेप नहीं होता), इसलिये अपवाद अच्छा है।....”

जब मुनिराज शुद्धभाव में स्थिर नहीं होते, तब हठरहित शुभोपयोग आता है, उससे अल्पबंधन होता है। तीव्रबंधन नहीं होता; इस अपेक्षा से अपवाद अच्छा है; किन्तु अबंधने की अपेक्षा से तो अल्पबंधन भी अच्छा नहीं है अर्थात् वास्तव में एकमात्र उत्सर्ग मार्ग ही अच्छा है तथा तीव्र बंधन की अपेक्षा से अल्पबंधन रूप अपवाद अच्छा है। अतः मुनिराज विवेकपूर्वक उत्सर्ग के समय उत्सर्ग में और अपवाद के समय अपवाद में वर्तते हैं।

“...देशकालज्ञ को भी, यदि वह बाल-वृद्ध-श्रांत-ग्लानत्व के अनुरोध से, जो आहार-विहार है, उससे होनेवाले अल्पलेप के भय से उसमें प्रवृत्ति न करे तो (अर्थात् अपवाद के आश्रय से होनेवाले अल्पबंध के भय से उत्सर्ग का हठ करके अपवाद में प्रवृत्त न हो तो), अति कर्कश आचरणरूप होकर अक्रम से शरीरपात करके देवलोक प्राप्त करके जिसने समस्त संयमामृत का समूह वमन कर डाला है उसे तप का अवकाश न रहने से, जिसका प्रतीकार अशक्य है ऐसा महान लेप होता है, इसलिये अपवाद निरपेक्ष उत्सर्ग श्रेयस्कर नहीं हैं।...”

शरीर तो अपनी योग्यतानुसार ही नष्ट होगा। उसके कालक्रम में परिवर्तन नहीं होता; किन्तु टीका में ‘अक्रम से शरीरपात करके’ हूँ ऐसा इसलिये कहा है कि यदि मुनिराज अपनी भूमिकायोग्य विवेक को छोड़कर किसीप्रकार का हठपूर्वक वर्तन करें तो उससे उनके संयम का क्रम छूट जाता है। इसलिये हठभाव का आरोप करके शरीर के भी अक्रम से नष्ट होने की बात कही है।

मुनिदशा तो अत्यन्त वीतरागतारूप है। यह दशा तो संयमरूपी अमृत का दरिया है। इस दशा के पालन में किसीप्रकार का हठ किया तो संयम में अवश्य ही छेद हो जाएगा। जब यह जीव अपनी आयु पूर्ण करके देवगति में जायेगा, तब वहाँ उसे संयम-तप आदि का अवकाश ही नहीं रहेगा। वहाँ उसे महान लेप (कर्मबंधन) होता है; इसलिये हठपूर्वक किया गया उत्सर्ग श्रेयस्कर नहीं है।

यह जीव एकांत उत्सर्ग में ही वर्तने का हठ करे और छठवें गुणस्थान में कोई विकल्प आये और उसका विवेक न रखें तो हठपूर्वक देह छूटकर स्वर्ग में जायेगा और वहाँ असंयमी होगा। असंयमीपने में तो तीव्र बंधन ही है, इसलिये विवेक की डोरी हाथ में रखो। चैतन्य की दृष्टि और ज्ञान करके विवेकपूर्वक वर्तन करो। उत्सर्ग में वर्तन हो तो अच्छा ही है; किन्तु उत्सर्ग में वर्तन न हो तो हठरहित अपवाद भी अच्छा है। अपवाद निरपेक्ष उत्सर्ग श्रेयस्कर नहीं है।

● वीतरागदशा की अपेक्षा रखे बिना मुनिराज अकेले शुभाचरण में रहें तो श्रेयस्कर नहीं है।

निर्ग्रन्थ मुनियों का आचरण कैसा होता है? यहाँ इसकी चर्चा की जा रही है। तीन कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक अन्तर में वीतरागदशा की अत्यन्त वृद्धि हुई है और बाह्य में नग्न दिग्म्बर दशा वर्तती है। वस्त्र-पात्र सहित मुनिपना तो त्रिकाल नहीं होता। मुनिराज तो शरीर के रजकण और पुण्य-पाप परिणामों से रहित शांत आत्मा का ही अनुभव करते हैं।

महाविदेह क्षेत्र में आठ वर्ष के राजकुमार मुनि हो जाते हैं और भगवान् ऋषभदेव के समय में १ करोड़ पूर्व की आयुष्यवाले भी मुनिराज होते थे। उन मुनिराजों को भी विकल्प उत्पन्न होता था, तब वे दोष एवं अंतराय रहित आहार लेते थे।

वे मुनिराज भी वाणी और देह से भिन्न आत्मा का अनुभव करते थे तथा ‘मैं आहार लूँ अथवा विहार करूँ’ आदि विकल्प उठने पर उन्हें भी आचरते थे।

ऐसे छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले मुनिराज होते हैं। धर्म तो चैतन्य का स्वभाव है और आहारादि के विकल्प उठना, बंधन का कारण है। वह धर्म का कारण नहीं है, फिर भी जो मुनि अल्पलेप के प्रति बेपरवाह है। स्वभाव में स्थिरतारूपी उत्सर्ग मार्ग को छोड़कर स्वच्छन्द

प्रवर्तन करते हैं, वे विशिष्ट मृदु आचरण करें तो भी असंयमी हो जाते हैं। उनके मुनिपना नहीं रहता।

यदि वह मुनिराज बालक, वृद्ध, थके हुए अथवा ग्लान हों और छठवें गुणस्थान में विशेष प्रमादपूर्वक मृदु आचरण आचरते हों तो उनके भी मुनिपना नहीं रहता।

बालक, वृद्ध अथवा श्रांत मुनिराज को तपश्चर्या, विहार आदि अपनी शक्ति-अनुसार होते हैं, इतनी उन्हें छूट हैं; किन्तु ऐसी अवस्था में वे शिथिलतापूर्वक प्रमाद करें और स्वभाव में लीनता न करें अर्थात् अन्तर ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव से उनकी दृष्टि चूक जाये तो वह मिथ्यादृष्टि हो जायें। साथ ही अन्तरलीनता न होने से उनका मुनिपना भी नहीं टिकता, उन्हें चौथा गुणस्थान हो जाता है।

देखो ! यह मुनिदशा ! श्रांत, वृद्ध अथवा बालक मुनि के लिए भी विशेष छूट नहीं है वह ऐसा मुनिमार्ग है। इसप्रकार असंयमीजनों के समान प्रवृत्ति हो जाने के कारण उन्हें उससमय तप नहीं होता। तथा महान लेप होने से उसका प्रतीकार भी संभव नहीं है, इसलिये उत्सर्ग की अपेक्षा रखे बिना मात्र अपवाद मार्ग अर्थात् शुभाचरण में स्थित रहना मुनि के लिए श्रेयस्कर नहीं है।

इससे यह निश्चित होता है कि उत्सर्ग और अपवाद में विरोधवाला आचरण सर्वथा त्याज्य ही है। यदि अपवाद में वीतरागता का नाश हो तो उसमें उत्सर्ग और अपवाद दोनों ही मार्ग का विरोध होता है। वहाँ स्वभाव में लीनता करना उत्सर्ग मार्ग है और विकल्प उत्पन्न होने पर २८ मूलगुणों का पालन करना अपवाद मार्ग है।

इसप्रकार उत्सर्ग और अपवाद की सापेक्षतापूर्वक जैसा कार्य प्रगट हो वह वैसा स्याद्वाद वीतरागी मार्ग सर्वथा अनुकरण योग्य है। मुनिमार्ग में हठ भी नहीं हो और शिथिलता भी न आवे वह ऐसा आचरण आचरना चाहिए। जबतक मुनिराज पूर्ण वीतरागी दशा को प्राप्त नहीं करते तबतक

श्रमण को आचरण की सुस्थिति के लिये उत्सर्ग और अपवाद की मैत्री साधनी चाहिए।

अपनी शारीरिक अवस्था योग्य न हो तो मात्र उत्सर्ग अर्थात् अंतर वीतरागी दशा के मार्ग का आग्रह रखकर केवल अति कर्कश आचरण का हठ नहीं करना चाहिए। रोग हो और उपवास करें, शरीर वृद्ध हों और विहार करें वह ऐसा हठ नहीं करना चाहिए।

अपनी शक्ति अनुसार तप करना चाहिए; वीतरागी दशा से चूककर शिथिलतारूप आचरण नहीं करना चाहिए। जिससे हठ भी न हो और शिथिलता का सेवन भी न हो वह ऐसा आचरण आचरना चाहिए।

वीतरागी भगवान का मार्ग अनेकान्तस्वरूप है। अपने परिणामों की जाँच करके जैसे भी लाभ हो, उसप्रकार से आचरण करना ही भगवान का उपदेश है। शारीरिक स्थिति सबल अथवा निर्बल हो तो भी एक ही प्रकार से वर्तन करना वह ऐसा जिनमार्ग नहीं है। शारीरिक स्थिति निर्बल हो तो अधिक विहार अथवा तप नहीं करना, इसीप्रकार शिथिलता न आवे वह इसका ख्याल रखना चाहिए वह ऐसा ही मुनिमार्ग है।

देखो ! मुनिराज के अन्तर में तीव्रराग होने पर ही मुनिपना नहीं टिकता तो फिर वस्त्र-पात्र सहित मुनिपना तो तीनकाल में नहीं हो सकता।

अब, श्लोक द्वारा आत्मद्रव्य में स्थिर होने की बात कहकर 'आचरणप्रज्ञापन' पूर्ण किया जाता है।

(शादुर्लविक्रीडित)

इत्येवं चरणं पुराणपुरुषैर्जुष्टं विशिष्टादरै-
रुत्सर्गादपवादतश्च विचरद्विहीः पृथग्भूमिकाः।
आक्रम्य कमतो निवृत्तिमतुलां कृत्वा यतिः सर्वत-
श्चित्सामान्यविशेषभासिनिजद्रव्येकरोतुस्थितिम्॥१५॥

(मनहरण कवित्त)

उत्सर्ग और अपवाद के विभेद द्वारा।

भिन्न-भिन्न भूमिका में व्याप्त जो चरित्र है ॥

पुराणपुरुषों के द्वारा सादर है सेवित जो ।

उसे प्राप्त कर संत हुए जो पवित्र हैं ॥

चित्सामान्य और चैतन्यविशेष रूप ।

जिसका प्रकाश ऐसे निज आत्मद्रव्य में ॥

क्रमशः पर से पूर्णतः निवृत्ति करके ।

सभी ओर से सदा वास करो निज में ॥१५ ॥

अर्थ : हूँ इसप्रकार विशेष आदरपूर्वक पुराण पुरुषों के द्वारा सेवित, उत्सर्ग और अपवाद द्वारा अनेक पृथक्-पृथक् भूमिकाओं में व्याप्त जो चरित्र उसको यति प्राप्त करके, क्रमशः अतुल निवृत्ति करके, चैतन्यसामान्य और चैतन्यविशेषरूप जिसका प्रकाश है ऐसे निजद्रव्य में सर्वतः स्थिति करो ।

कलश १५ पर प्रवचन

आचार्यदेव आदेश देते हैं कि इसप्रकार सावधानी एवं स्वभाव का आदर रखनेवाले अनंत ज्ञानियों और संतों को उत्सर्ग और अपवाद मार्ग द्वारा भिन्न-भिन्न भूमिका के योग्य आचरण कहा है ।

ये साधक किसी समय इच्छा का निरोध करते हैं, किसी समय आहार लेते हैं, किसी समय विहार करते हैं तो किसी समय विहार नहीं भी करते हैं ।

वीतरागता का ध्यान रखते हुए कदाचित् उन्हें शुभभाव आते भी हैं तो वे शिथिल नहीं होते, इसप्रकार अपने परिणामों के अनुसार भिन्न-भिन्न भूमिकाओं में व्याप्त चारित्र का सेवन करते हैं ।

शुभाशुभभावों से अतुल निवृत्ति करके अनन्त ज्ञानियों ने जैसे चारित्र का सेवन किया है, वैसे ही चारित्र का सेवन अपनी शक्ति अनुसार करते हैं तथा सामान्य और विशेषात्मक ऐसे स्वद्रव्य में सर्वप्रकार से लीन रहते हैं ।

अब ! आचरण अधिकार का अन्तिम सारांश कहते हैं ।

वस्तु ग्रहण करने अथवा छोड़ने की बात तो यहाँ ली ही नहीं है; क्योंकि बाह्य वस्तु तो जड़पदार्थ है, उसे ग्रहण करने अथवा छोड़ने की

क्रिया आत्मा नहीं कर सकता । यहाँ तो आचार्य अमृतचन्द्रदेव ऐसा आदेश करते हैं कि हे मुनि ! तुम अपने ज्ञान में ज्ञेय बननेवाले राग से भी निवृत्ति करके स्वरूप में ठहरो ।

द्रव्य सामान्य अर्थात् ध्रुव ज्ञाता-दृष्टा शुद्धस्वभाव और द्रव्य विशेष अर्थात् पुण्य-पाप के विकल्प से रहित व्यक्त वीतरागी पर्याय हूँ इन दोनों से युक्त सामान्य और विशेषरूप जिसका प्रकाश है हूँ ऐसे निज आत्मद्रव्य में सभी ओर से रमणता करो ।

देखो ! अन्त में २८ मूलगुणों का विकल्प भी दूर किया है; क्योंकि वह भी आत्मा नहीं है । हे मुनिराजों ! अंतरभान सहित निज स्वभाव में लीन रहो हूँ ऐसा आचार्यदेव कहते हैं ।

इसप्रकार आचरणप्रज्ञापन अधिकार समाप्त हुआ ।

अरे! अज्ञानी को तो ऐसा कोई विचार ही नहीं कि मैं कौन हूँ? मेरा क्या स्वरूप है? मैं कहाँ से आया हूँ और मर कर कहाँ जाऊँगा? यदि इसी तरह जीवन चला गया तो क्या होगा? कैसे-कैसे प्रतिकूल प्रसंगों में से गुजरना पड़ेगा? इसने तो मात्र कुटुम्ब परिवार के भरण-पोषण और विषयभोगों की सामग्री जुटाने-मिलाने में तथा एतदर्थ रुपया-पैसा कमाने को ही अपना ध्येय बना रखा है । यही सब अज्ञानी का सर्वस्व है । ऐसे जीवों से कहते हैं कि जो भाव तू कर रहा है, वे भाव परद्रव्य की क्रिया करने में समर्थ नहीं हैं । ये तेरे विचार पर की क्रिया में अकिंचित्कर हैं । तेरी होशियारी व बुद्धि पर में कुछ कर नहीं सकती । इस कारण ये तेरे अध्यवसान अपनी अर्थक्रिया करनेवाले नहीं; इससे ये मिथ्या ही हैं ।

हूँ प्रवचनरत्नाकर भाग-८, पृष्ठ-१४८

प्रवचनसार गाथा २३२

अब, श्रामण्य जिसका दूसरा नाम है ह्व ऐसे एकाग्रता लक्षणवाले मोक्षमार्ग का प्रज्ञापन करते हैं। उसमें प्रथम, उसके (मोक्षमार्ग के) मूल साधनभूत आगम में व्यापार (प्रवृत्ति) कराते हैं ह्व

एयगगदो समणो एयगं णिच्छिदस्स अत्थेसु ।

णिच्छित्ती आगमदो आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा ॥२३२॥

(हरिगीत)

स्वाध्याय से जो जानकर निज अर्थ में एकाग्र हैं।

भूतार्थ से वे ही श्रमण स्वाध्याय ही बस श्रेष्ठ हैं ॥२३२॥

अन्वयार्थ :ह्व [श्रमणः] श्रमण [ऐकाग्र्यतः] एकाग्रता को प्राप्त होता है; [ऐकाग्र्यं] एकाग्रता [अर्थेषु निश्चितस्य] पदार्थों के निश्चयवान् के होती है; [निश्चितः] (पदार्थों का) निश्चय [आगमतः] आगम द्वारा होता है; [ततः] इसलिये [आगमचेष्टा] आगम में व्यापार [ज्येष्ठा] मुख्य है।

टीका :ह्व प्रथम तो, श्रमण वास्तव में एकाग्रता को प्राप्त ही होता है; एकाग्रता पदार्थों के निश्चयवान् के ही होती है और पदार्थों का निश्चय आगम द्वारा ही होता है; इसलिये आगम में ही व्यापार प्रधानतर (विशेष प्रधान) है; दूसरी गति (अन्य कोई मार्ग) नहीं है। उसका कारण यह है कि :ह्व

वास्तव में आगम के बिना पदार्थों का निश्चय नहीं किया जा सकता; क्योंकि आगम ही, जिसके त्रिकाल (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप) तीन लक्षण प्रवर्तते हैं ऐसे सकल पदार्थ सार्थके यथातथ्य ज्ञान द्वारा सुस्थित अंतरंग से गंभीर है (अर्थात् आगम का ही अंतरंग, सर्व पदार्थों के समूह के यथार्थज्ञान द्वारा सुस्थित है इसलिये आगम ही समस्त, पदार्थों के यथार्थ ज्ञान से गंभीर है)।

और, पदार्थों के निश्चय के बिना एकाग्रता सिद्ध नहीं होती; क्योंकि,

जिसे पदार्थों का निश्चय नहीं है वह (१) कदाचित् निश्चय करने की इच्छा से आकुलता प्राप्त चित्त के कारण सर्वतः डोलायमान (डावाँडोल) होने से अत्यन्त तरलता (चंचलता) प्राप्त करता है, (२) कदाचित् करने की इच्छारूप ज्वर से परवश होता हुआ विश्व को (समस्त पदार्थों को) स्वयं सर्जन करने की इच्छा करता हुआ विश्व-व्यापाररूप (समस्त पदार्थों की प्रवृत्तिरूप) परिणमित होने से प्रतिक्षण क्षोभ की प्रगटता को प्राप्त होता है, और (३) कदाचित् भोगने की इच्छा से भावित होता हुआ विश्व को स्वयं भोगरूप ग्रहण करके, रागद्वेषरूप दोष से क्लुषित चित्तवृत्ति के कारण (वस्तुओं में) इष्ट-अनिष्ट विभाग द्वारा द्वैत को प्रवर्तित करता हुआ प्रत्येक वस्तुरूप परिणमित होने से अत्यन्त अस्थिरता को प्राप्त होता है, इसलिये (उपरोक्त तीन कारणों से) उस अनिश्चयी जीव के (१) कृतनिश्चय, (२) निष्क्रिय और (३) निर्भोग ऐसे भगवान् आत्मा को ह्व जो कि युगपत् विश्व को पी जानेवाला होने पर भी विश्वरूप न होने से एक है उसे ह्व नहीं देखने से सतत व्यग्रता ही होती है, (एकाग्रता नहीं होती)।

और एकाग्रता के बिना श्रामण्य सिद्ध नहीं होता; क्योंकि जिसके एकाग्रता नहीं है वह जीव (१) 'यह अनेक ही है' ऐसा देखता (श्रद्धान् करता) हुआ उस प्रकार की प्रतीति में अभिनिविष्ट^१ होता है; (२) 'यह अनेक ही है' ऐसा जानता हुआ उसप्रकार की अनुभूति से भावित होता है, और (३) 'यह अनेक ही है' इसप्रकार प्रत्येक पदार्थ के विकल्प से खण्डित (छिन्न-भिन्न) चित्त सहित सतत प्रवृत्त होता हुआ उसप्रकार की वृत्ति^२ से दुःस्थित होता है, इसलिये उसे एक आत्मा की प्रतीति-अनुभूति-वृत्तिस्वरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य परिणतिरूप प्रवर्तमान जो दृशि^३-ज्ञप्ति-वृत्तिरूप आत्मतत्त्व में एकाग्रता है उसका अभाव होने से शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तिरूप श्रामण्य ही (शुद्धात्मतत्त्व में प्रवृत्तिरूप मुनिपना ही) नहीं होता।

१. अभिनिविष्ट = आग्रही, दृढ़।

२. वृत्ति = वर्तना; चारित्र्य।

३. दृशि = दर्शन।

इससे (ऐसा कहा गया है कि) मोक्षमार्ग जिसका दूसरा नाम है ऐसे श्रामण्य की सर्वप्रकार से सिद्धि करने के लिये मुमुक्षु को भगवान् अर्हन्त सर्वज्ञ से उपज्ञ (स्वयं जानकर कहे गये) शब्दब्रह्म में ह्व जिसका कि अनेकान्तरूपी केतन (चिह्न-ध्वज-लक्षण) प्रगट है उसमें निष्णात होना चाहिये।

भावार्थ :ह्व आगम के बिना पदार्थों का निश्चय नहीं होता, पदार्थों के निश्चय के बिना अश्रद्धाजनित तरलता, परकर्तृत्वाभिलाषाजनित क्षोभ और परभोक्तृत्वाभिलाषाजनित अस्थिरता के कारण एकाग्रता नहीं होती और एकाग्रता के बिना एक आत्मा में श्रद्धान-ज्ञान-वर्तनरूप प्रवर्तमान शुद्धात्मप्रवृत्ति न होने से मुनिपना नहीं होता, इसलिये मोक्षार्थी का प्रधान कर्तव्य शब्दब्रह्मरूप^१ आगम में प्रवीणता प्राप्त करना ही है।

गाथा २३२ पर प्रवचन

मुनिराज स्वरूपलीनता पूर्वक एक आत्मा को ही अग्र रखते हैं। मन, वाणी और देह से भिन्न निज आत्मा के भान सहित अंतर रमणता करते हैं। इससे विपरीत अज्ञानी जीव परपदार्थ और राग-द्वेषादि में एकाग्रता करता है; क्योंकि आत्मा में परपदार्थों का अभाव है, इस बात को वह नहीं जानता।

छह द्रव्य, नव तत्त्व स्वतंत्र हैं ह्व ऐसा आगम से पृथक्-पृथक् ज्ञान करे तो सम्यक्त्व होता है। छह द्रव्य और नव तत्त्वों का स्वरूप दिव्यध्वनि में आया है, अतः आगम द्वारा उसका सम्यक् प्रकार से अध्ययन करना चाहिए। वीतराग के नाम से कोई कल्पित शास्त्र रचे तो वह वीतराग के शास्त्र नहीं हैं, इसलिए परीक्षापूर्वक वीतरागदेव का आगम कैसा है ? यह जानकर यथार्थ वस्तुस्वरूप समझना चाहिए।

१. शब्दब्रह्म = परमब्रह्मरूप वाच्य का वाचक द्रव्यश्रुत। (इन गाथाओं में सर्वज्ञोपज्ञ समस्त द्रव्यश्रुत को सामान्यतया आगम कहा गया है। कभी द्रव्यश्रुत के 'आगम' और 'परमागम' ऐसे दो भेद भी किये जाते हैं; वहाँ जीवभेदों और कर्मभेदों के प्रतिपादक द्रव्यश्रुत को 'आगम' कहा जाता है और समस्त द्रव्यश्रुत के सारभूत चिदानन्द एक परमात्मतत्त्व के प्रकाशक अध्यात्मद्रव्यश्रुत को 'परमागम' कहा जाता है।)

शास्त्र अभ्यास से तत्त्वों की प्रतीति होती है। प्रतीति होने के पश्चात् ही मुनिपना होता है। मुनिपने में भी शुद्धात्मा में एकाग्र हो तो वीतरागता होती है और वीतरागता प्राप्त होने के पश्चात् सिद्धदशा की प्राप्ति होती है।

(१) प्रथमतः मुख्य बात यह है कि मुनिराज अपने ज्ञानस्वरूप की एकाग्रता अर्थात् स्वरूपानन्द की रमणता में लीन रहते हैं, जगत के प्रपंच में नहीं पड़ते।

हे जीवो ! देखो, यह मुनिदशा !! जिसे गणधर परमात्मा का भी नमस्कार मंत्र बोलते समय वचन नमस्कार पहुँचता है ह्व वह मुनिपद कैसा होगा ? उन्हें परपदार्थों में तो एकाग्रता है ही नहीं; किन्तु महाव्रतादि का विकल्प उठता है, तो उसमें भी एकाग्रता नहीं है।

(२) मुनिराज ज्ञानस्वभावी आत्मा में ही एकाग्रता करते हैं। उन्होंने पदार्थों के स्वरूप का यथार्थ निश्चय किया है। शरीरादि जड़ अवस्था आत्मा की नहीं है ह्व ऐसा जाना है। जीव कमाने का भाव करे, इसलिये पैसा प्राप्त होता है ह्व ऐसा नहीं है। जड़द्रव्य का क्षेत्रान्तर जड़ के कारण होता है, जीव के अशुभभाव के कारण नहीं। जिसे स्वरूप का निश्चय हुआ है, वे शरीर को अपना नहीं मानते। आत्मा अरूपी है और शरीर रूपी है। शरीर को स्वस्थ रखनेवाली औषधी भी रूपी है; किन्तु दवाई से शरीर की अवस्था नीरोगी हो ह्व ऐसा नहीं होता।

प्रत्येक परमाणु स्वतंत्र है। आत्मा और कर्म स्वतंत्र हैं। कर्म के उदय से आत्मा में राग होता है ह्व ऐसा नहीं है। कर्म आत्मा से त्रिकाल पृथक् हैं। स्वयं अपराध अवस्था में राग होता है, फिर भी स्वभाव में राग नहीं है। राग-रहित स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान से धर्म होता है। इस रीति से छह पदार्थ और नव तत्त्वों का यथार्थ निश्चय हो, तो अन्तर स्वरूप में एकाग्रता होती है। जो जीव जड़ की क्रिया आत्मा से होती है, कर्म संसार में रखड़ाते हैं ह्व ऐसा मानता है, वह पुण्य से धर्म मानता है, उसे पदार्थों का निश्चय नहीं है। यथार्थ निश्चय के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता और

सम्यग्दर्शन बिना एकाग्रता नहीं होती, इसलिये पदार्थों के स्वरूप का यथार्थ निर्णय करनेवाले को ही एकाग्रता होती है।

३) इन पदार्थों का निर्णय करने के लिए भगवान के द्वारा कहे हुए आगम का अभ्यास करना चाहिए। भगवान की दिव्यध्वनि में आये हुए पदार्थों का स्वरूप और उस स्वरूप को बतानेवाले वीतरागी शास्त्रों का यथार्थ अध्ययन ही एक उपाय है। जो शास्त्र ऐसा कथन करते हों कि शरीर की क्रिया आत्मा से होती है, पुण्य से धर्म होता है, वह वीतरागी शास्त्र नहीं हैं। जो पृथक्-पृथक् नव तत्त्वों का यथार्थ स्वरूप बतावे, वे ही वीतरागी शास्त्र हैं। उसमें व्यापार अर्थात् प्रवृत्ति करना ही सत्यमार्ग है, अन्य कोई मार्ग नहीं।

● अज्ञानी जीव तीन कारणों से अनिश्चयी है ह

- (१) जो जीव आत्मा के स्वरूप का यथार्थ निर्णय नहीं करता, उसे चंचलता रहती है। उसे निरन्तर संकल्प-विकल्प चलते रहते हैं, जिसकारण उसे व्यग्रता होती है, धर्म नहीं होता।
- (२) आत्मा ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य का पिण्ड है। परद्रव्यों का कुछ भी करने में समर्थ नहीं है, तथापि परद्रव्य का मैं कुछ कर सकता हूँ ह ऐसे भाव से प्रतिक्षण क्षोभ को प्राप्त होता है। वहाँ कदाचित् अंतर एकाग्रता होती हो; किन्तु धर्म नहीं होता।
- (३) अज्ञानी जीव अनेक बार “पर को भोगने से सुख मिलेगा” ह ऐसी भ्रान्ति करता है। वह परपदार्थ को तो भोग नहीं सकता; किन्तु विकार को भोगने में उसकी चित्तवृत्ति कलुषित होती है। इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करते हुए अत्यन्त अस्थिरता को प्राप्त होता है। वहाँ स्वभाव में एकाग्र न होने से धर्मदशा को प्राप्त नहीं होता।

इन तीन कारणों से अज्ञानी जीव अनिश्चयी है ह ऐसे अज्ञानी जीव को धर्म नहीं होता, क्योंकि वह कृत निश्चयी, निष्क्रिय, निर्भोगी भगवान आत्मा को नहीं देखता अर्थात् उसमें एकाग्रता नहीं करता।

● भगवान आत्मा का स्वरूप कैसा है?

(१) कृत निश्चयी : ह आत्मा निश्चयवन्त है। शरीर, मन, वाणी, स्त्री, कुटुंब आदि परपदार्थ आत्मा नहीं हैं। पर की हिंसा अथवा रक्षा आत्मा नहीं कर सकता। आत्मा में दया-दानादि के विकार हों तो वह आत्मा की शांति के लिए व्यर्थ हैं। आत्मा की शांति तो आत्मा के आश्रय से है। पर का अच्छा-बुरा करने में आत्मा समर्थ नहीं है। पर का बदलना उसके स्वयं के कारण है और मेरा अच्छा-बुरा मेरे स्वयं के कारण है ह यही निश्चय है। बाहर से कल्याण होता है या अन्तर्मुख दृष्टि से कल्याण होता है ह ऐसा सन्देह नहीं है। पुण्य-पाप के आश्रय से शांति नहीं; किन्तु ज्ञानस्वभावी आत्मा के आश्रय से ही शांति व धर्म होता है ह ऐसा भगवान आत्मा कृतनिश्चयी है।

(२) निष्क्रिय : ह भगवान आत्मा शरीर को हिलाने-चलाने में समर्थ नहीं है। वह ‘पर’ का उद्धार नहीं कर सकता। ‘मैं हूँ’ अतः अन्य जड़ पदार्थों की अवस्था होती है ह ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है। जड़ की क्रिया जड़ के कारण से होती है, उसका कर्ता आत्मा नहीं है। कुटुंब, देश, समाज, संघ आदि कुछ भी आत्मा के नहीं हैं। आत्मा में पुण्य-पाप परिणामरूप क्रिया होती है; किन्तु वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। भगवान आत्मा पर क्रिया से रहित निष्क्रिय है, तथापि कूटस्थ नहीं है। अपने स्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान-क्रिया वाला होने से वह सक्रिय है; किन्तु पर के विकार व क्रिया से रहित होने से वह निष्क्रिय है।

(३) निर्भोग : ह आत्मा परपदार्थ को भोगता नहीं है। जड़ पदार्थों की अवस्था अन्य-अन्य क्रियारूप है। उसे आत्मा जान सकता है; किन्तु वेदन नहीं कर सकता है। ज्ञानी जीव को पर्यायगत हर्ष-विषाद का भोग नहीं है। स्वरूप में परपदार्थ तथा आकुलता का भोग नहीं है, इसलिये निर्भोग है।

(४) युगपद् जानता है : ह यह भगवान आत्मा देह देवल में विराजमान है। अनन्त आत्माओं तथा अनन्त जड़ पदार्थों को एक समय में जानने का

उसका स्वभाव है। किसी का कुछ करे ह्व ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। सर्वदर्शी और सर्वज्ञत्वरूप उसका स्वभाव है। थोड़ा-थोड़ा रुक-रुककर जाने ऐसा भी उसका स्वभाव नहीं है। अल्पज्ञदशा भी आत्मा का स्वभाव नहीं है, एक ही समय में परिपूर्ण जाननेरूप आत्मा का स्वभाव है।

(५) ज्ञानस्वभावी अनंत है : ह्व समस्त विश्व के पदार्थों को जाननेरूप अनन्त स्वभावी है। अनंत ज्ञेयों को जानने पर भी ज्ञान की अनंतता शेष रहती है। यह आत्मा अनंतकाल से रखड़ रहा है, शुभाशुभ भाव कर रहा है; किन्तु उन भाव या शरीररूप नहीं हुआ है। आत्मा का ज्ञान स्वभाव विशाल है, जगत का ज्ञान करने की सामर्थ्यवाला है; किन्तु जगत को बदलने या पलटने की सामर्थ्यवाला नहीं है। पदार्थ को जाननेवाला ज्ञान पदार्थरूप नहीं होता। बिच्छू के डंक का ज्ञान करता है, किन्तु उसरूप नहीं होता। अनंत को जानने पर भी ज्ञान की अनंतता समाप्त नहीं होती।

(६) एक है : ह्व अनेक पदार्थ ज्ञान में प्रतिसमय स्पष्टरूप से प्रतिबिम्बित होते हैं। प्रतिकूल अथवा अनुकूल संयोगों के जानने पर भी ज्ञानस्वभाव अनेकरूप नहीं होता। पुण्य-पाप की अनेकता होने पर भी आत्मा अनेकरूप नहीं होता, किन्तु एकरूप ही रहता है। आत्मा का सच्चा भान होने के पश्चात् ज्ञान-दर्शन की निर्मलता क्रम-क्रम से अनेक प्रकार से बढ़ती है; तथापि भगवान आत्मा एकरूप ही रहता है।

इसप्रकार भगवान आत्मा कृतनिश्चयी, निष्क्रिय, निर्भोग, सभी को युगपद् जाननेवाला, अनंत को जानने पर भी ज्ञान की अनंतता समाप्त नहीं हुई ह्व ऐसा अनेक को जानते हुए भी एकरूप रहनेवाला है; किन्तु जिस अज्ञानी जीव को आगम का अभ्यास नहीं है, आत्मा के स्वभाव का ज्ञान नहीं है, वह आत्मा के कृत निश्चयी, निष्क्रिय, निर्भोग स्वरूप की श्रद्धा नहीं करता।

मैं ज्ञान हूँ, शुद्ध हूँ, पुण्य-पाप से रहित हूँ ह्व ऐसा न मानकर मैं पर का कुछ कर सकता हूँ, पर को भोग सकता हूँ ह्व ऐसा माननेवाले को निरन्तर व्यग्रता बनी रहती है। जिसे अन्तर में व्यग्रता है, उसे आत्मा की एकाग्रता

नहीं होती और जिसे आत्मा की एकाग्रता है, उसे व्यग्रता नहीं होती ह्व इसप्रकार यहाँ अस्ति-नास्ति से चर्चा है।

जिसको स्वभाव की एकाग्रता नहीं है, उसे मुनिपने की सिद्धि भी नहीं है। यहाँ मुनिपने की मुख्यता से बात है। भगवान आत्मा की इसप्रकार श्रद्धा करके अंतर रमणता करना चारित्र है। वन में रहना, दया पालना साधुपद नहीं है। पर से भिन्न शुद्धस्वभाव मेरे स्वयं का है ह्व ऐसा श्रद्धा ज्ञान करे तो साधुपद होता है।

(१) जिसे निःशंक आत्मा की प्रतीति नहीं है, वह मैं ज्ञानस्वभावी एक आत्मा हूँ ह्व ऐसी प्रतीति नहीं होती; अपितु मैं बाह्य पदार्थों को संभालने वाला हूँ, पुण्य-पापरूप हूँ, कर्त्ता-भोक्ता हूँ ह्व ऐसा अभिमान करता है। शरीर, मन, वाणी, पुण्य-पाप विभाव हैं ह्व ऐसा नहीं मानता। पर तथा विभाव से स्वयं को अनेकपनेरूप मानता रहता है। जानने-देखनेवाला आत्मा एक ही है ह्व ऐसा न मानकर अनेकपनेरूप श्रद्धा करता है। अभी मुझे पर का बहुत कुछ करना बाकी है और पर से बहुत कुछ लेना बाकी है ह्व ऐसी बातें करता है। पर पदार्थ आत्मा को शरणभूत नहीं है। आत्मा निरावलम्बी ज्ञाता-दृष्टा एक तत्त्व है ह्व ऐसा न मानकर जो अनेकरूप श्रद्धा करता है, उस श्रद्धा में वह पक्का आग्रही हुआ है, मिथ्यात्व में मस्त हो रहा है।

कोई किसी का कुछ नहीं कर सकता, परमाणुमात्र भी किसी में फेरबदल नहीं हो सकता, कोई अन्य जीव का कुछ नहीं कर सकता। सच्ची बात बाहर आने पर भी सत्य सुनने के लिये समय नहीं निकालता। आत्मा की उल्टी श्रद्धा का ही जो पक्का आग्रही हो तो उसे कदापि धर्म नहीं होता।

(२) अज्ञानी जीव आगम का अभ्यास न करके, “मैं ज्ञाता-दृष्टा एक परम पदार्थ हूँ” ह्व ऐसा न मानकर स्वयं को शुभाशुभ भावरूप मानता है। मैं पर में फेरफार कर सकता हूँ, मैं शरीरवान् हूँ, पुण्य-पापरूप हूँ, कर्मवान् हूँ आदि अनेकप्रकार की विकारी पर्यायों का मैं कर्त्ता हूँ, मैं

अनेकरूप हूँ हूँ ऐसी भावना भाता है। 'मेरे तत्त्व में अन्य द्रव्य का प्रवेश नहीं है' हूँ ऐसा ज्ञान न करके 'मैं अनेकरूप हूँ' हूँ ऐसा ज्ञान करता है। आत्मा को जानकर स्वभाव में एकाग्र हो तो एकता रहती है, किन्तु व्यग्रता करें तो अनेकपना होता है हूँ ऐसे विपरीत ज्ञानवाले अज्ञानी को त्रिकाल धर्म नहीं होता।

३) मेरा ज्ञानस्वभाव एकरूप है, उसमें एकाग्ररूप ठहरकर रमणता करने का नाम चारित्र है हूँ ऐसा अज्ञानी जीव नहीं मानता। उसे अनेक प्रकार के विकल्प होते हैं। यह मेरा मित्र है, अतः मुझे राग होता है। यह मेरा शत्रु है, अतः द्वेष करनेयोग्य है। मित्र के मिलने पर मुझे सुख होगा और शत्रु के मिलने पर हानि होगी। मैं अन्य को मदद करूँगा तो वह सुखी होगा और मुझे संतोष की प्राप्ति होगी। यदि मैं उसकी मदद नहीं करूँगा तो वह दुःखी होगा। मैं ध्यान रखूँगा तो इस जीव की दया पाऊँगा। अनुकूल मित्र आर्येंगे तो मुझे सुख होगा हूँ ऐसे अनेक प्रकार के विकल्प वह करता रहता है।

हे भाई ! तेरा विश्राम, तेरी शांति तुझमें ही है, बाहर में नहीं। कोई मृत्यु पायेगा तो क्या तू उसे बचा पायेगा ? दुःख के समय भी शांति रखेगा तो तुझे शांति प्राप्त होगी। अन्य जीव की शांति उनमें स्वयं में है तथा तेरी शांति तेरे स्वयं में है। यह जीव अशांति को स्वयं के अज्ञान के कारण से उत्पन्न करता है तथा यदि स्वयं ज्ञान करे तो शांति व सुख को प्राप्त करता है। अन्य कोई मुझे सुखी कर सकता है हूँ यह महान घोर अज्ञान है, अतः अपने ज्ञानस्वभाव में एकाग्र होकर एकरूप शांति और आनंद का अनुभव करना चाहिए, उसके बदले अज्ञानी जीव अपनी आत्मा को भिखारी बनाकर अपना सुख परद्रव्य में है हूँ ऐसा मानकर अनेक परपदार्थों का आश्रय करके विकल्प ही करता रहता है।

जिसप्रकार पानी का प्रवाह एकरूप बहता रहता है; किन्तु रास्ते में किसीप्रकार का अटकाव या बाँध आ जाए तो वह प्रवाह खंड-खंड रूप हो जाता है, उसीप्रकार ज्ञानजल एकप्रवाही है; किन्तु अज्ञानी अनेक

प्रकार के विकल्पों को उत्पन्न करके ज्ञान की एकरूप परिणति नहीं करता है और अपने ज्ञान को अनेक प्रकार से खंड-खंड करता है। एक के पश्चात् दूसरा विकल्प सतत् करता रहता है।

इसप्रकार जिसे आगम का अभ्यास नहीं है, पदार्थों का निर्णय नहीं है, उस अज्ञानी जीव को अपना आत्मा जानने-देखनेवाला है हूँ ऐसी प्रतीति, ज्ञान और रमणता नहीं है। उसकी श्रद्धा अनेकरूप है। वह अनेक प्रकार से जानता है और अनेक विकल्पों से अपनी परिणति को खण्ड-खण्ड करता है। उसे सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप प्रवर्तनेवाली एकाग्रता नहीं होती।

मैं ज्ञानस्वभावी हूँ हूँ ऐसी प्रतीति, ऐसा ज्ञान तथा उसमें विकाररहित रमणता करना मेरा स्वभाव है हूँ ऐसी वृत्ति होना चाहिए। इससे विपरीत सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र परिणतिरूप प्रवर्तती दृशि, ज्ञप्ति और वृत्तिरूप आत्मतत्त्व में अज्ञानी को एकाग्रता नहीं है; किन्तु वह मैं पुण्यवाला हूँ, विकारवाला हूँ, कुटुंबवाला हूँ, दया-पालनेवाला हूँ हूँ ऐसी विपरीत प्रतीति, ज्ञान, स्थिरतारूप अनेकता ही अनुभव करता है। उसे यथार्थ तत्त्व की श्रद्धा नहीं होती, स्वरूप की एकाग्रता नहीं होती तथा एकाग्रता के बिना आत्मस्वरूप की लीनतारूप मुनिपना भी नहीं होता।

नग्न अवस्था, विकल्प अथवा महाव्रतादि में मुनिपना नहीं है; अपितु परपदार्थ और पुण्य-पाप से रहित आत्मस्वभाव में एकाग्रता का नाम मुनिपना है। अज्ञानी जीव खण्ड-खण्ड करके अनेकपना धारण करे तो उसे मुनिपना अथवा धर्म नहीं हो सकता।

सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए आगम का जिसे अभ्यास नहीं है, उसे पदार्थों का निर्णय नहीं है। वह स्व-पर की भिन्नता को नहीं जानता। अतः कृत निश्चयी और निष्क्रिय आत्मा को परपदार्थ और विकार से रहित निर्भोग मानना चाहिए। जो आत्मा की श्रद्धा करें, उसे ही धर्म होता है। आत्मा की जिसे प्रतीति हो उसे व्यग्रता नहीं होती, एकाग्रता रहती है; किन्तु

अज्ञानी जीव एक समय में तीन लोक और तीन काल को जानने वाले भगवान आत्मा की अंतर्मुखी रुचि नहीं करता है और संसार में ही भटकते रहता है। सम्यग्ज्ञानरूप नयन प्रगट नहीं करता है अर्थात् भगवान आत्मा को देखता ही नहीं है।

शरीर और परपदार्थ मेरे है, पुण्य से मुझे लाभ होगा ह्व ऐसा मिथ्याभाव पाप है। आत्मा ज्ञानस्वभावी है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान करके मिथ्यात्व और रागद्वेष का नाश होता है। जो आत्मा का सच्चा ज्ञान करे अर्थात् परमात्मदशा प्रगट करे, वह नर नारायण है; किन्तु अज्ञानी को ऐसे आत्मा का भान नहीं है, अतः न उसे साधुपद हो सकता है और न धर्म हो सकता है।

यहाँ कहते हैं कि मोक्षमार्ग अथवा मुनिपने की सिद्धि के लिए मुमुक्षु को सर्वज्ञदेव के कहे हुये शास्त्रों में निष्णात् होना चाहिए। जिस प्रकार सरोवर में कमल विकसित होता है, उसीप्रकार चैतन्य स्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान और रमणता करने से ज्ञानियों का अन्तर्मन विकसित होता है। सर्वज्ञ भगवान ने वस्तु का जैसा स्वरूप है, वैसा जाना है तथा उनकी वाणी में भी वैसा ही कथन आया है। जिसका लक्षण अनेकांतस्वरूप है ह्व ऐसे शब्दब्रह्म में निष्णात होओ।

अनेकपना वस्तु के अनेक धर्मों को बताता है। उदाहरणार्थ ह्व आत्मा आत्मा के कारण है, पर के कारण नहीं। स्वभाव-स्वभाव में है, विभाव में नहीं। विभाव-विभाव में है, स्वभाव में नहीं। एक गुण उसी गुण में है, अन्य गुण में नहीं। एक वर्तमान पर्याय, वर्तमान पर्यायरूप है, अन्य भूत-भविष्य पर्यायरूप नहीं। साधक पर्याय में पूर्ण पर्याय नहीं है और पूर्ण निर्मल पर्याय में अपूर्ण पर्याय नहीं है। एक पदार्थ अन्य पदार्थरूप नहीं है ह्व ऐसा निश्चय होने से एक पदार्थ त्रिकाल अन्य पदार्थरूप नहीं होता यह समझना चाहिए। कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थ को लाभ-हानि नहीं कराता है।

एक गुण अन्य गुणरूप नहीं है ह्व ऐसा निश्चित करने पर तीनों काल में कोई गुण अन्य गुण का कार्य नहीं करता अर्थात् एक गुण अन्य को मदद नहीं करता ह्व ऐसा सिद्ध होता है।

एक पर्याय अन्य पर्यायरूप नहीं है, दोनों का एक दूसरे में अभाव है अतः पूर्वपर्याय वर्तमान को मदद करती है ह्व यह बात नहीं है।

इसप्रकार एक पदार्थ को अन्य पदार्थ की अपेक्षा न होने से द्रव्य परिपूर्ण है। एक गुण अन्य गुण की अपेक्षा नहीं रखता है, अतः गुण परिपूर्ण है तथा एक पर्याय अन्य पर्याय की अपेक्षा नहीं रखती, अतः पर्याय भी परिपूर्ण है।

अहो ! अनेकान्त वस्तुस्वरूप अद्भुत है। अनेकान्त वस्तुस्वरूप को समझने से स्वयं में जो स्वतंत्रता प्रगट हुई वह वस्तुतः स्वराज्य है। आत्मा स्वयं के लिए शिवानन्दस्वरूप है। उसे कोई मार नहीं सकता। शरीर को भी कोई मार नहीं सकता। शरीर का वियोग होवें तो लोग उसे मृत्यु कहते हैं।

वस्तुतः परमाणु की अवस्था पलटी है। संयोगी वस्तु का भी कभी नाश नहीं होता, फिर असंयोगी आत्मा की मृत्यु हो ह्व ऐसा कैसे हो सकता है ? आत्मा का जैसा स्वरूप है ह्व उसे वैसा ही अनेकान्त द्वारा जानना चाहिए। उसमें निष्णात होकर, पारंगत होकर, अवगाहन करना चाहिए। जिसप्रकार समुद्र में मोती के लिए डुबकी लगाई जाती है, उसीप्रकार आगमरूपी समुद्र में अच्छीतरह से प्रवेश करके निजात्म स्वभाव में निष्णात होना चाहिए, इससे ही मोक्षमार्ग की सिद्धि होती है।

प्रश्न : ह्व द्रव्यलिंगी मुनिराज अनेक शास्त्रों का अध्ययन करते हैं, वे निष्णात हैं कि नहीं?

उत्तर : ह्व नहीं। शास्त्र में जैसा कहा है, द्रव्यलिंगी मुनिराज वैसी श्रद्धा नहीं करते। पुण्य में धर्म मानते हैं, जो कि शास्त्रविरुद्ध है, अतः वे शास्त्र में निष्णात नहीं हैं। किसी सम्यग्दृष्टि को ज्ञान का अल्पविकसितपना होने

पर भी आगम के अनुसार भावभासनपना होता है। शरीर जड़ है, विकार पर है ह्व ऐसा वह जानता है। आत्मा ज्ञानस्वभावी है ह्व ऐसा भान उसे वर्तता है, अतः वह समस्त शास्त्रों में निष्णात है।

पूर्वजों के पुराने बही-खातों में किसी की ओर से पुरानी संपत्ति लेना निकलती हो तो व्यापारी उसे अच्छीतरह से जाँचता है, उसीप्रकार भगवान के बही-खातों (जिनवाणी) में केवलज्ञानरूपी संपत्ति भरी हुई है, जिसे आगम कहा जाता है। तुम यदि उस संपत्ति को ग्रहण करना चाहते हो तो ग्रहण करो। जिसप्रकार बही-खातों में संपत्ति लेने का निश्चित समय होता है, वैसे ही आगम कहता है कि हे भाई! तू नरक-निगोद में गया। वहाँ अनंतकाल व्यतीत किया। तेरा समय भी निश्चित है, यदि तुझे तेरी यथार्थ संपत्ति प्राप्त करना हो तो एक समय की पर्याय से दृष्टि हटाकर केवलज्ञानरूपी अन्तरंग लक्ष्मी में स्थिरता कर! उसे बाह्य में प्रगट कर! इस निश्चयपूर्वक ही अनादिकाल से भूला हुआ आत्मा प्रगट हो सकता है। अतः शास्त्रों का अभ्यास करो। यह केवल मुनियों का कार्य नहीं है; अपितु सभी का कार्य है, अतः सभी को शास्त्र-स्वाध्याय करना चाहिए।

भावार्थ पर प्रवचन

आगम के बिना पदार्थों का निश्चय नहीं होता। पदार्थों का निश्चय नहीं है, इसलिए पदार्थों के स्वरूप के प्रति विपरीत श्रद्धा है, जिससे अज्ञानी जीव को चंचलता बनी रहती है। अज्ञानी जीव परपदार्थों के कर्तृत्वरूप अभिलाषा से निरन्तर क्षोभ करता है और परपदार्थों को भोगनेरूप अभिलाषा के कारण अस्थिरता को प्राप्त करता है ह्व ऐसा होने से अज्ञानी जीव स्वरूप में एकाग्र नहीं हो सकता।

अज्ञानी जीव कहता है कि मैं बड़ा हूँ, अतः मुझे परिवार का पालन-पोषण करना है। मेरे बाद परिवार का पोषण कौन करेगा? यह जीव किसी परमाणु की भी अवस्था में फेरफार नहीं कर सकता, फिर भी यह

काम बाकी रह गया, यह मकान अधूरा रह गया, लड़के की शादी नहीं हुई आदि अनेकों विकल्प करता रहता है। पाँच हजार रुपया धर्म में खर्च नहीं कर सकता; किन्तु संसार के कार्यों के लिये ब्याज से रुपया लेकर भी खर्च करता है और स्वयं अभिमानी होता है।

अरे भाई! कोई भी जीव पर का काम नहीं कर सकता। अज्ञानी जीव को संसार सुखों की याद आती है; अमृत की याद नहीं आती। हे भाई! पर के कर्तृत्व-भोक्तृत्व से रहित शुद्ध स्वभाव से भरा हुआ अमृतमय आत्मा है उसे याद कर! क्षोभ मत कर! चैतन्य स्वभाव का गुणगान करते हुए अमृत का प्राशन तो कर!

अज्ञानी जीव तो चैतन्यस्वभाव की एकाग्रता छोड़कर एक के बाद एक विकल्प करके क्षोभ करता है, अतः आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप प्रवृत्ति के लिए उसे आत्मा की एकाग्रता अवश्य करनी चाहिए, एतदर्थ मोक्षाभिलाषी जीवों को सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए शास्त्रों में प्रवीणता करनी चाहिए।

इस गाथा में सर्वज्ञदेव द्वारा कहे हुए समस्त द्रव्यश्रुत को सामान्यरूप से आगम कहा गया है। द्रव्यश्रुत के आगम और परमागम ऐसे दो भेद होते हैं। जीव तथा कर्मों के भेद को बतानेवाले द्रव्यश्रुत को आगम और समस्त सारभूत चिदानन्द एक भगवान आत्मा के प्रकाशक अध्यात्म द्रव्यश्रुत को परमागम कहते हैं।

समयसार, पंचास्तिकाय, नियमसार, अष्टपाहुड़, तत्त्वार्थसूत्र, प्रवचनसार आदि परमागम हैं। इसमें भी समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय तीनों प्राभृत ग्रन्थ, जिनमें चैतन्य की मुख्य बात कहीं है।

प्रवचनसार गाथा २३३

अब, आगमहीन श्रमण के मोक्षाख्य (मोक्ष नाम से कहा जानेवाला) कर्मक्षय नहीं होता, ऐसा प्रतिपादन करते हैं :ह

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि ।

अविजाणंतो अत्थे खवेदि कम्मणि किध भिक्खू ॥२३३॥

(हरिगीत)

जो श्रमण आगमहीन हैं वे स्व-पर को नहीं जानते।

वे कर्मक्षय कैसे करें जो स्व-पर को नहीं जानते ॥२३३॥

अन्वयार्थ :ह [आगमहीनः] आगमहीन [श्रमणः] श्रमण [आत्मानं] आत्मा को (निजको) और [परं] पर को [न एव विजानाति] नहीं जानता; [अर्थान् अविजानन्] परार्थों को नहीं जानता हुआ [भिक्षुः] भिक्षु [कर्माणि] कर्मों को [कथं] किसप्रकार [क्षपयति] क्षय करें?

टीका :ह वास्तव में आगम बिना परात्मज्ञान^१ या परमात्मज्ञान^२ नहीं होता; और परात्मज्ञानशून्य के या परमात्मज्ञानशून्य के मोहादिद्रव्य-भावकर्मों का ज्ञप्तिपरिवर्तनरूप^३ कर्मों का क्षय नहीं होता। वह इसप्रकार है ह

प्रथम तो, आगमहीन यह जगत ह कि जो निरवधि (अनादि) भवसरिता के प्रवाह को बहानेवाले महामोहमल से मलिन है वह धतूरा पिये हुए मनुष्य की भाँति विवेक के नाश को प्राप्त होने से अविचित्त^४ ज्ञानज्योति से यद्यपि देखता है तथापि, उसे स्वपर-निश्चायक^५ आगमोप-

देशपूर्वक स्वानुभव के अभाव के कारण, आत्मा में और आत्मप्रदेश स्थित शरीरादिद्रव्यों में तथा उपयोगमिश्रित मोह-राग-द्वेषादिभावों में 'यह पर है और यह आत्मा (स्व) है' ऐसा ज्ञान सिद्ध नहीं होता; तथा उसे, परमात्मनिश्चायक^१ आगमोपदेशपूर्वक स्वानुभव के अभाव के कारण, जिसके त्रिकाल परिपाटी में विचित्र पर्यायों का समूह प्रगट होता है ऐसे अगाध गम्भीरस्वभाव विश्व को ज्ञेयरूप करके प्रतपित^२ ज्ञानस्वभावी एक परमात्मा का ज्ञान भी सिद्ध नहीं होता।

और (इसप्रकार) जो (१) परात्मज्ञान से तथा (२) परमात्मज्ञान से शून्य है उसे, (१) द्रव्यकर्म से होनेवाले शरीरादि के साथ तथा तत्प्रत्ययी^३ मोहरागद्वेषादि भावों के साथ एकता का अनुभव करने से बध्यघातक^४ के विभाग का अभाव होने से मोहादि द्रव्य-भावकर्मों का क्षय सिद्ध नहीं होता, तथा (२) ज्ञेयनिष्ठता^५ से प्रत्येक वस्तु के उत्पाद-विनाशरूप परिणमित होने के कारण अनादि संसार से परिवर्तन को पानेवाली जो ज्ञप्ति, उसका परिवर्तन परमात्मनिष्ठता के अतिरिक्त अनिवार्य होने से; ज्ञप्तिपरिवर्तनरूप कर्मों का क्षय भी सिद्ध नहीं होता, इसलिये कर्मक्षयार्थियों का सर्वप्रकार से आगम की पर्युपासना करना योग्य है।

भावार्थ :ह आगम की पर्युपासना से रहित जगत को आगमोप-देशपूर्वक स्वानुभव न होने से 'यह जो अमूर्तिक आत्मा है सो मैं हूँ और ये समानक्षेत्रावगाही शरीरादिक वह पर हैं', इसीप्रकार 'ये उपयोग है सो मैं हूँ और ये उपयोगमिश्रित मोहरागद्वेषादिभाव हैं सो पर हैं' इसप्रकार स्व-

१. परात्मज्ञान = पर का और आत्मा का ज्ञान; स्व-पर का भेदज्ञान।
२. परमात्मज्ञान = परमात्मा का ज्ञान, 'मैं समस्त लोकालोक के ज्ञायक ज्ञानस्वभाववाला परम आत्मा हूँ' ऐसा ज्ञान।
३. ज्ञप्ति परिवर्तन = ज्ञप्ति का बदलना, जानने की क्रिया का परिवर्तन (ज्ञान का एक ज्ञेय से दूसरे ज्ञेय में बदलना सो ज्ञप्तिपरिवर्तनरूप कर्म है)
४. अविचित्त = अविचेकवाली; विवेक शून्य, भेद-हीन; अभिन्न; एकमेक।
५. स्वपरनिश्चायक = स्वपर का निश्चय करानेवाला (आगमोपदेश स्वपर का निश्चय करानेवाला है; अर्थात् स्वपर का निश्चय करने में निमित्तभूत हैं।)

१. परमात्मनिश्चायक = परमात्मा का निश्चय करनेवाला (अर्थात् ज्ञानस्वभाव परमात्मा का निश्चय करने में निमित्तभूत है।)
२. प्रतपित = प्रतापवान् (ज्ञानस्वभाव परमात्मा विश्व को ज्ञेयरूप करके तपता है ह प्रतापवान् वर्तता है।)
३. तत्प्रत्ययी = तत्सम्बन्धी, वह जिसका निमित्त है ऐसे।
४. बध्यघातक = हनन योग्य और हननकर्ता (आत्मा बध्य है और मोहादिभावकर्म घातक हैं। मोहादि द्रव्यकर्म भी आत्मा के घात में निमित्तभूत होने से घातक कहलाते हैं।)
५. ज्ञेयनिष्ठ = ज्ञेयों में निष्ठावाला; ज्ञेयपरायण; ज्ञेयसम्मुख (अनादि संसार में ज्ञप्ति ज्ञेयनिष्ठ होने से वह प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति-विनाशरूप परिणमित होने से परिवर्तन को प्राप्त होती रहती है। परमात्मनिष्ठता के बिना ज्ञप्ति का वह परिवर्तन अनिवार्य हैं।)

पर का भेदज्ञान नहीं होता तथा उसे आगमोद्देशपूर्वक स्वानुभव न होने से 'मैं ज्ञानस्वभावी एक परमात्मा हूँ' ऐसा परमात्मज्ञान भी नहीं होता।

इसप्रकार जिसे (१) स्व-पर ज्ञान तथा (२) परमात्मज्ञान नहीं है उसे, ज्ञान न होने से मोहादि द्रव्य-भावकर्मों का क्षय नहीं होता, तथा (२) परमात्मनिष्ठता के अभाव के कारण ज्ञप्ति का परिवर्तन नहीं टलने से ज्ञप्तिपरिवर्तनरूप कर्मों का भी क्षय नहीं होता। इसलिये मोक्षार्थियों को सर्वप्रकार से सर्वज्ञकथित आगम का सेवन करना चाहिये।

गाथा २३३ पर प्रवचन

वस्तुतः भगवान की वाणी (आगम) के बिना स्व-पर का भेदविज्ञान नहीं हो सकता। मैं ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ, शरीर और कर्मादि मुझसे पर हैं। आत्मा स्व और विकार पर है हूँ ऐसा ज्ञान आगम के बिना नहीं हो सकता।

आत्मा सकल लोकालोक को जाननेवाला ज्ञानस्वभावी परमपदार्थ है हूँ ऐसा ज्ञान भगवान की वाणी बिना नहीं होता। जिसे स्व-पर भेदविज्ञान अर्थात् परात्मज्ञान नहीं है हूँ ऐसे जीव के मोहनीय आदि जड़ कर्मों का, राग-द्वेषादि भावकर्मों का तथा अपूर्ण ज्ञान का नाश नहीं होता।

ज्ञान का एक ज्ञेय से अन्य ज्ञेयरूप पलटना ज्ञप्ति-परिवर्तनरूप कर्म है। छद्मस्थ को अपूर्णदशा में ज्ञान का पलटना होता है, किन्तु वह अपूर्ण ज्ञानदशा है; आत्मस्वभाव नहीं है। जड़कर्म तो पर है, उसका आत्मा में अत्यन्त अभाव है; किन्तु विकार के होने में जड़-कर्म और मोह-राग-द्वेषरूप भावकर्म निमित्तरूप होते हैं। वे आत्मा का स्वभाव नहीं है।

परिपूर्ण ज्ञान में एक ज्ञेय अन्य ज्ञेयरूप परिवर्तन नहीं करता, अतः आत्मज्ञान और परमात्मज्ञान से रहित जीव को द्रव्यकर्म, भावकर्म और अपूर्णज्ञान का नाश नहीं वर्तता।

(१) प्रथमतः जगत को आगम का ज्ञान ही नहीं है। अज्ञानी जीव को संसार की समस्त बातें याद रहती हैं; किन्तु सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए शास्त्रों

की खबर नहीं रहती। उसे शास्त्र की रुचि नहीं है। कैसा है ये जगत? चौरासी के अवतार का वास्तव में पार नहीं है।

(२) मिथ्यात्वरूपी महामोह की अनादिकालीन संसार-सरिता बह रही है। जिसप्रकार नदी के पानी में पत्थर-लकड़ी उलझते रहते हैं, वैसे ही अज्ञानी की पर्याय में मोह उलझता रहता है। वह मोह भवरूपी नदी के प्रवाह को निरन्तर बढ़ाता है।

(३) जिसप्रकार धतूरा सेवन करने वाला मनुष्य जगत के समस्त सफेद पदार्थों को भी पीला देखता है, उसीप्रकार अज्ञानी जीव मिथ्यात्वरूपी मदिरा पिया हुआ है, जिससे उसके स्व-पर के विवेक का नाश हो गया है। भगवान आत्मा स्वयम् सुखस्वरूपी है; किन्तु उसे न जानकर उसे खोजने के लिए निकला है कि आत्मा कैसा है?

पुण्य-पाप मैं हूँ, राग मैं हूँ। अरे भाई! आत्मा कौन है? कैसा है? इसकी तुझे खबर ही नहीं है। तू स्वयं को भूल गया है। इस प्रकार विवेक न होने से विवेकशून्य ज्ञानज्योति वर्त रही है।

स्व-पर का निश्चय करानेवाला आगम स्वयं ज्ञानस्वरूपी है। यहाँ मात्र अनुभव का अभाव है। आत्मा स्व है और आत्मप्रदेश में रहनेवाले शरीर-कर्म पर हैं। आत्मा का शुद्ध उपयोग स्व है और दया-दानादि से युक्त मिश्र उपयोग पर है।

आत्मा, आत्मा में है और शरीर, शरीर में है हूँ ऐसा स्व-पर का विवेक सिद्ध होना चाहिए। टीका में 'आत्मप्रदेश स्थित' हूँ ऐसा जो कहा है, वह चरणानुयोग का कथन है। आत्मा के एकक्षेत्र में शरीर, कर्म रहते हैं, अतः उसे आत्मप्रदेश स्थित कहा है; किन्तु यथार्थता में विवेक का अभाव होने से स्व-पर भेदविज्ञान नहीं है।

● अज्ञानी जीव को मोह के कारण स्व-पर भेदविज्ञान नहीं होता हूँ

प्रथमतः सर्वज्ञ भगवान द्वारा कहे हुए शास्त्रों का जगत के जीवों को अभ्यास नहीं है, इसकारण यह जगत अनादिकाल से मिथ्यात्वरूपी मदिरा पीकर मस्त हो रहा है। शरीर और पुण्य पदार्थादिक मेरे हैं हूँ ऐसे

मोह से मलिन होकर भवरूपी नदी में बहने के लिए यह जीव चौरासी के अवतार धारण करता रहता है, जहाँ जीव को स्व-पर का भेदविज्ञान नहीं हो सकता। जीव जड़रूप नहीं हुआ है; किन्तु उसे परद्रव्य की भिन्नता का ख्याल नहीं है।

जिसप्रकार बेड़ी में छोटी-छोटी अनेक कड़ियाँ होती हैं; किन्तु वह बेड़ी एक ही है, उसीप्रकार आत्मा भी असंख्यप्रदेशी होने पर भी एक ही है। संकोच-विस्तार को प्राप्त अवयववाला है। आत्मा के एक क्षेत्र में ही शरीर और कर्म रहते हैं; किन्तु आत्मा शरीर और कर्म इन दोनों से भिन्न हैं।

यह शरीर पड़ोसी के घरसमान है; किन्तु अज्ञानी जीव शरीर के वियोग में ही शोक करता है। आत्मा त्रिकाली एक वस्तु है। आत्मा स्व है और शरीर-कर्म आदि पर हैं। आत्मा के ज्ञान-दर्शन का शुद्ध व्यापार स्व और मलिनभावस्वरूपी उपयोग पर है; किन्तु अज्ञानी को ऐसे स्व-पर भेदविज्ञान का अभाव वर्तता है। दया-दानादि विकारी भाव आत्मा का स्वभाव तो है ही नहीं, साथ ही वह उसकी पर्याय का भी स्वभाव नहीं है।

स्व पर्याय का स्वभाव ज्ञान-दर्शन उपयोगमयी है। दया-दानादि में अटकना स्व-पर्याय का स्वभाव नहीं है।

अरे ! एक क्षेत्र में रहनेवाले शरीर-कर्म और एकसमयवर्ती विकार भी पर हैं, फिर घर-दुकान-पैसा इत्यादि आत्मा की वस्तुएँ कैसे हो सकती हैं? चेतन और जड़ के द्रव्य-गुण-पर्याय दोनों भिन्न-भिन्न हैं; फिर भी अज्ञानी जीव अभिमान करता है कि मैं परद्रव्य की दया पालता हूँ, व्रत करता हूँ, अन्य को मदद करता हूँ, अन्यो की व्यवस्था करता हूँ। पर के द्रव्य-गुण-पर्याय भिन्न हैं और आत्मा का स्वभाव भिन्न है हूँ ऐसा ज्ञान अज्ञानी को नहीं है।

● सच्चे शास्त्र किसे कहते हैं ? तथा उनका उपदेश कैसा होता है ?

आत्मा शरीर और कर्मादि से भिन्न है। चैतन्य के उपयोगानुविधायी शुद्ध परिणति से विकार परिणति भिन्न है। कर्म आत्मा का कुछ नहीं कर

सकते हैं, दया-दानादि परिणाम आत्मा नहीं, अपितु जानने-देखनेवाला आत्मा है हूँ ऐसा कथन करनेवाले वीतरागता के पोषक सच्चे शास्त्र होते हैं।

जो शास्त्र शरीर और आत्मा को एक कहते हैं, कर्म के कारण आत्मा संसार में भटकता है हूँ ऐसा कथन करते हैं, वे वीतरागता के प्रतिपादक शास्त्र नहीं हैं।

आत्मा सत् पदार्थ है। अनन्त गुणों का पिण्ड है। पर्याय में विकार है; किन्तु वह आत्मस्वरूप नहीं है। देव-शास्त्र-गुरु भी पर हैं, उनसे धर्म होगा हूँ ऐसा नहीं है।

शास्त्रों में कहा है कि देव-शास्त्र-गुरु संबंधी कोई भी विकल्प हो हूँ वह तुम्हारी वस्तु नहीं है। चैतन्य के अनुसार जो वस्तु हो हूँ वह तुम्हारी है। हे भाई ! तू तो चैतन्य ज्योतिस्वरूप है। अज्ञान-राग-द्वेष को जला डाले हूँ ऐसी तेरी ज्ञानज्योति है।

वीतरागी शास्त्रों का अध्ययन करने पर भी जो शरीर की क्रिया में धर्म मानता है, कर्म के कारण आत्मा संसार में भटकता है, दया-दानादि से लाभ होता है हूँ ऐसा मानता है, वह आगम का यथार्थ उपदेशक नहीं है, वह मिथ्या-उपदेशक है। आगम का उपदेशक व्यक्ति यथार्थ ज्ञानी होना चाहिए, तभी वह उपदेश दे सकता है; अन्यथा उपदेशक नहीं है।

उपदेश देना, उपदेश का निर्णय करना हूँ यह कथन चरणानुयोग का है। निर्णय तो स्वयं के द्वारा ही किया जाता है। आगम को तो मात्र निमित्त कह दिया जाता है। मुनि हो या गृहस्थ सभी के लिए एक ही उपदेश है। सुखी होने का एकमात्र मार्ग ज्ञानियों के उपदेश द्वारा अभ्यास करके स्व-पर भेदविज्ञान करना ही है।

अज्ञानी जीव को सच्चे आगमोपदेश का अभाव है। आत्मा परिपूर्ण ज्ञानानन्दस्वभावी है। उसमें एकाग्र होते ही सर्वदर्शित्व और सर्वज्ञत्व पर्याय प्रगट होती है। परमात्मस्वभाव को बताने वाले आगम का उपदेश अज्ञानी को प्राप्त नहीं हुआ है। कदाचित् किसी जीव को ऐसा उपदेश मिले कि तू भगवान है, परमात्मा है, तो वह कहता है कि भाई ! आप मुझे

परमात्मा कहते हो; पर मैं परमात्मा नहीं हूँ। वह यथार्थ स्वरूप को जानता ही नहीं है।

जिसप्रकार भगवान नामक किसी लड़के को उसके परिवारवाले पशु भी कहते हैं, उसीप्रकार शास्त्र में पर्यायदृष्टि प्राप्त भिन्न-भिन्न जीवों का ज्ञान कराया है, अतः वे जीव स्वयं को मैं एकेन्द्रिय हूँ, पंचेन्द्रिय हूँ, रागी हूँ, कर्मवाला हूँ हूँ ऐसा मानने लगते हैं। ज्ञानी कहते हैं कि हे भाई ! तुम भगवान हो, परमात्मा हो, रागी-द्वेषी अथवा कर्मस्वरूपी नहीं हो; किन्तु अज्ञानी जीव इस बात को स्वीकार नहीं करता।

आगम का उपदेश पर्याय में अटकने के लिए नहीं, अपितु इन्द्रिय, राग-द्वेष, अपूर्णता से रहित परिपूर्ण परमात्मा का ज्ञान करने के लिए है। अध्यात्म शास्त्रों में इसी बात का मुख्यता से वर्णन किया है।

अज्ञानी इन बातों से अनभिज्ञ भगवान की कृपा से ही सबकुछ होता है हूँ ऐसा मानता है। यदि भगवान की कृपा से सबकुछ होता है हूँ ऐसा स्वीकार करें तो आजतक जो संसार परिभ्रमण चल रहा है, वह भगवान की अकृपा से चल रहा है हूँ ऐसा कहा जाएगा; किन्तु भगवान तो वीतरागी हैं। यह जीव स्वयं अपनी भूल के कारण संसार में रखड रहा है।

अज्ञानी जीव ऐसे सच्चे उपदेश की अवज्ञा करता है, अतः सच्चे उपदेश के ग्रहण का उसको अभाव होने से उसे स्व-पर का अनुभव नहीं होता।

● प्रतापवंत ज्ञानस्वभावी परमात्मा कैसा है?

इस जगत में तीनों काल जड़ और चेतन की परिपाटी चल रही है। जिसप्रकार घोड़ा एक के बाद एक पग रखते हुए दौड़ता है, उसीप्रकार जड़ और चेतन द्रव्य द्रव्यपने को कायम रखते हुए स्वयं की एक के बाद एक अवस्थारूप क्रमबद्ध परिणामन करते हैं। जड़ चेतन पदार्थों की त्रिकाल परिणति चलती ही रहती है। उसमें विचित्र पर्यायों का समूह प्रगट होता है। एक परमाणु एक समय में लाल दिखाई देता है तो दूसरे समय में

काला दिखाई देता है। निगोद से कोई जीव निकलकर मनुष्य होकर केवलज्ञान प्राप्त करता है अथवा कोई धर्मी जीव बीमार अवस्था में हो, शरीर जीर्ण-शीर्ण हो और अगले समय ही उसकी मृत्यु हो जाए तो अगले भव में देव का सुंदर शरीर प्राप्त करता है। देखो ! क्षेत्र, भाव और भव फिरते हैं ? कितना फेरफार ? जड़-चेतन वस्तुओं में इसप्रकार का विचित्र पर्यायों का समूह प्रगट होता ही रहता है।

अनंतकाल की अनंतपर्यायें प्रगट होती हैं हूँ ऐसे अगाध, गंभीर स्वभावी विश्व को आत्मा एक समय में जान लेता है। ज्ञानस्वभावी आत्मा विश्व को ज्ञेयरूप करके प्रतापवंत वर्तता है। विश्व में जड़ चेतन अनंत पदार्थों के द्रव्य-गुण-पर्याय हैं। वे अनंत होने पर भी अनंत को एकसमय में जान लेता है, यही उसका प्रताप है। आत्मा स्वयं का ज्ञान करने के लिए प्रतापवंत है। अनेक ज्ञेय हैं, अतः ज्ञान होता है हूँ ऐसा नहीं; परन्तु स्व ज्ञेय तथा अनंत परज्ञेयों को एक समय में जाने हूँ ऐसा अनन्त शक्तिवान प्रत्येक आत्मा है।

● शास्त्रज्ञानहीन अज्ञानी जीव को 'मैं परमात्मस्वरूपी हूँ' हूँ ऐसा ज्ञान नहीं होता।

अज्ञानी को प्रतापवंत ज्ञानस्वभावी परमात्मा की खबर ही नहीं है। आत्मा की कीमत नहीं है। मूर्ख व्यक्ति को हीरे की कीमत बताये तो वह कहेगा इतनी कीमत? उसीप्रकार अज्ञानी को अनंत शक्तिवान परमात्मस्वरूप की बात करते ही नवीनता लगती है। किन्तु भाई ! तू ऐसा ही है। तेरी शक्ति का माप राग और शरीर से नहीं हो सकता; ज्ञानमात्र से ही हो सकता है।

यह परमात्मा अकेला ही चैतन्यज्योतिस्वरूप है। ज्ञेयों की पर्याय विचित्रता के समूहस्वरूप है। इन समस्त पर्यायों को एक समय में जानने की योग्यता जीव के स्वभाव में है। इसका जीव को ज्ञान नहीं है; क्योंकि उसे आगम का अभ्यास नहीं है, अतः सच्चा उपदेश देने पर भी उसे यह बात समझ में नहीं आती।

● शरीरादि पर तथा विकार के साथ एकत्वबुद्धि के कारण अज्ञानी को कर्मक्षय नहीं होता ।

अज्ञानी जीव परमात्मज्ञान से शून्य है । आत्मा स्व है और शरीर, कर्म आदि परपदार्थ है । चैतन्य के अनुसार परिवर्तित होनेवाला शुद्ध उपयोग स्व है । दया-दानादि में भटकने वाला विकारी मिश्र उपयोग पर है ।

अज्ञानी को आत्मा स्व और अन्य समस्त पदार्थ पर ह्व ऐसा भेदज्ञान नहीं है । उसके द्रव्यकर्म और भावकर्म का नाश नहीं है; क्योंकि वह द्रव्यकर्म के निमित्त प्राप्त होते ही शरीर आदि के साथ एकता का अनुभव करता है । 'शरीर मैं ही हूँ' ह्व ऐसा मानता है तथा मोह-राग-द्वेषादि के साथ अपनापना स्थापित करता है ।

विकार से आत्मा को लाभ होता है ह्व ऐसा मानना मोह के साथ एकत्वबुद्धि है; किन्तु अज्ञानी स्वयं को विकाररूप मानता है । शरीर तथा पुण्य से आत्मा भिन्न है ह्व ऐसा स्व-पर विवेक न करते हुए शरीर और विकार के साथ एकत्वबुद्धि करता है ह्व यही पर्यायबुद्धि है ।

यहाँ आत्मा बध्य है और मोह-रागादि भावकर्म घातक है । मोहादि द्रव्यकर्म भी उसमें निमित्तभूत होने से घातक कहने में आते हैं । इसप्रकार पर्यायबुद्धि होने से बध्य-घातक के विभाग का यहाँ अभाव है अर्थात् बध्य-घातकपना है ।

अज्ञानी को आत्मा और विकार का विभाग न होकर एकपना है । यदि आत्मा और विकार का विभाग हो तो बध्य-घातकपना नहीं रहें । आत्मा और विकार का विभाग न होने से यहाँ उनके एकपना प्रतीत होता है; किन्तु आत्मा और विकार का विभाग हो तो बध्य-घातकपना संभव नहीं है ।

पर्यायबुद्धि होने के कारण अज्ञानी जीव के द्रव्यकर्म तथा भावकर्म का नाश नहीं होता । वह अनंतकाल तक परिभ्रमण करता रहता है, अतः जिसे संसार परिभ्रमण से बचना है, उसे सत्समागम से आगम का अभ्यास

करना चाहिए और स्व-पर का भेदविज्ञान करके निजात्मा की प्राप्ति की ओर अग्रसर होना चाहिए ।

केवली भगवान द्वारा दिव्यध्वनि के माध्यम से जो वस्तुस्वरूप कहा गया है । वह आगम में बताया गया है । इस आगम का जिसे ज्ञान नहीं है, उसे स्व-पर का भेदविज्ञान भी नहीं है । आत्मा स्व है और शरीर पर है । आत्मा का ज्ञान-दर्शनरूप शुद्ध उपयोग स्व है और दया-दानादि विकारी परिणमनवाला उपयोग पर है । जहाँ स्व-पर का भेदज्ञान नहीं है ह्व वहाँ मोह-राग-द्वेष का नाश नहीं हो सकता । अज्ञानी जीव को स्व-पर वस्तु का विवेक नहीं है । पर्यायदृष्टि जीव स्वयं ही बध्य है और मोहादि भाव उसके घातक हैं । जबतक बध्य-घातक का अभाव नहीं होता, तबतक संसार का भी नाश नहीं होता । इसप्रकार स्व-पर के भेदविज्ञान में सच्चा आगम निमित्त होता है तथा आगम का उपदेशक भी ऐसा होना चाहिए जो स्व-पर का भेदविज्ञान करावे ; क्योंकि जिसे स्व-पर का भेदविज्ञान नहीं है, उसे धर्म नहीं हो सकता ।

● अनेक ज्ञेयों की तत्परता में लीन होने से अज्ञानी का ज्ञान खंड-खंड दशा को प्राप्त होता है ।

आत्मा स्वयं परमात्मस्वरूप है ह्व ऐसा जिसे ज्ञान नहीं है, उस जीव को अनादि से संसार के ज्ञेयों में तत्परता है । शरीर, मन, वाणी, देव, गुरु, शास्त्र, पुण्य-पाप के विकल्प यह सब ज्ञेय हैं और आत्मा ज्ञाता है फिर भी ज्ञानस्वभावी परमात्मा में स्थिर न होकर अज्ञानी परपदार्थों की ओर झँकता है । दया-दानादि और परपदार्थों में उसका ज्ञान स्खलित होता है । वह मात्र जानने-देखनेवाला न रहकर परवस्तुओं में ही एकाग्र होता है । पुण्य-पाप और परवस्तुओं की एकाग्रता में ही उसकी ज्ञान-क्रिया पलटती है; किन्तु चैतन्य में एकाग्र नहीं होती । वह परद्रव्यों में ही प्रीति करता है ।

अज्ञानी जीव एक के बाद एक ज्ञेय में तत्पर रहता है । शरीर में रोग हो तो द्वेष करता है और रोग ठीक हो जाने पर राग करता है । विष्टा देखे तो

द्वेष और फूलों की माला देखे तो राग करता है; किन्तु ज्ञानस्वभाव में तत्परता नहीं करता। शरीर के दृढ़ होते ही, मैं पुष्ट हूँ हूँ ऐसा मानकर सुखी होता है और शरीर के कर्ण होने पर मुझे कष्ट हुआ हूँ ऐसा मानकर दुःखी होता है। रुपया-पैसा-संपत्ति आदि की प्राप्ति हो तो सुख का उत्पाद मानता है और स्वयं के पुत्रादिक का मरण हो, रुपया-पैसा चला जावे तो सुख का नाश मानता है। इसप्रकार अज्ञानी का ज्ञान प्रत्येक वस्तु के उत्पाद-विनाशरूप ही परिणामन करता है। अन्तर्स्वभाव की एकाग्रता न होने से मात्र ज्ञेयों में एकाग्र होकर उसका ज्ञान खण्ड-खण्ड वर्तता है।

● स्वभाव की एकाग्रता बिना ज्ञान की खण्ड-खण्ड दशाओं का नाश नहीं होता।

अनादि काल से जीव पर में एकत्वबुद्धि कर रहा है। वह मानता है कि रुपया खर्च करने से धर्म होता है; किन्तु यह तो जड़ की अवस्था है, उसे आत्मा नहीं कर सकता; फिर भी यह जीव जड़ के कार्यों को करने में ही तत्पर रहता है। पूजा-व्रत-उपवास करने से धर्म माननेवाले शरीर की क्रिया में तत्पर हैं। किसी जीव का हाल-चाल पूछना, उसे तकलीफ हो तो दूर करना हूँ इसप्रकार पर-ज्ञेयों में अज्ञानी का ज्ञान खंड-खंड होता है। अज्ञानी जीव ज्ञानस्वभाव को छोड़कर निरंतर पर की ओर ही लक्ष्य करता है; किन्तु जबतक स्वभाव की एकाग्रता न हो, तबतक पर की एकाग्रता का नाश नहीं हो सकता।

अनादि संसार में ज्ञप्ति ज्ञेयनिष्ठ होकर प्रत्येक पदार्थ के उत्पत्ति-विनाशरूप परिणामन/परिवर्तन को प्राप्त होती है। परमात्मनिष्ठता बिना ज्ञप्ति का यह परिवर्तन अनिवार्य है। परमात्मस्वरूप आत्मा के भान बिना मिथ्याभ्रान्ति का नाश नहीं हो सकता। ज्ञान की जो पर्याय अनेक ज्ञेयों का लक्ष्य करके खंड-खंड हुई है, उस खंडपने का नाश स्वभाव की एकाग्रता बिना नहीं होता।

कर्मनाश करने के लिए भेदज्ञान के निमित्तभूत आगम का अभ्यास

करना चाहिए। आत्मा असंख्यप्रदेशी वस्तु है, परमात्मस्वरूपी है। उसका ज्ञानोपयोग परज्ञेयों में अटककर खंड-खंड हो रहा है, इस खंड-खंड दशा का नाश परमात्मस्वरूप के लक्ष्य से ही होता है। जिसे संसार का नाश करना है, उनके लिए यह बात है। अरे ! आत्मा ने चौरासी के अवतार में अपनी शांति का घर नहीं पाया और पर-घर में ही घूम रहा है। कर्म अच्छा हो तो मुझे लाभ होगा यह मान्यता उल्टी है, इसलिए जिसे कर्म का नाश करना हो उसे अच्छी तरह आगम की उपासना करनी चाहिए।

जिन जीवों को आगम की सेवा/उपासना करनी हो, उन्हें निम्न बातों को ध्यान में रखना चाहिए तभी आगम की सेवा हो सकती है हूँ

(१) सर्वप्रथम कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की रुचि छोड़ना चाहिए।

(२) जगत की रुचि छोड़कर सत्समागमपूर्वक आगम का अभ्यास करना चाहिए।

(३) सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की रुचि करके उनके उपदेशक के समीप आगम का अभ्यास करना चाहिए, मिथ्या उपदेशक के पास शास्त्रों का अध्ययन नहीं करना चाहिए।

(४) यह आगम अर्थात् द्रव्य-आगम की बात है। आगम कहता है कि मेरी ओर का लक्ष्य लाभ का कारण नहीं है। हे जीव ! तू मेरी तरफ का लक्ष्य छोड़कर स्व की रुचि कर तो लाभ होगा और उसमें आगम निमित्त कहा जाएगा।

इसप्रकार आगम का मर्म समझकर आगम की उपासना करे तो स्वपर भेदविज्ञान होकर राग-द्वेषादि भावकर्म, निमित्तरूप द्रव्यकर्म तथा ज्ञप्ति परिवर्तनरूप कर्मों का भी नाश होता है।

ज्ञप्ति परिवर्तनरूप कर्म = ज्ञान का स्वयं में एकाग्र न होकर अनेक ज्ञेयों में खंड-खंड दशारूप होनेवाला कर्म। ज्ञप्ति = ज्ञान की क्रिया।

अनेक ज्ञेयों में खंड-खंडरूप दशा का होना कर्म है। इसप्रकार उक्त तीनों कर्मों का नाश करने के लिए स्वलक्ष्यपूर्वक सत्समागम से यथार्थता के साथ आगम का अभ्यास करना चाहिए। आगम का अभ्यास करे तो

स्व-पर भेदविज्ञान होता है तथा परमात्मज्ञान होकर कर्मों का भी नाश होता है।

भावार्थ पर प्रवचन

यह जगत आगम की उपासना रहित है अर्थात् सच्चे वस्तुस्वरूप को नहीं जानता है। आगम के उपदेशपूर्वक स्व का अनुभव नहीं करता है।

यहाँ मात्र 'आगमपूर्वक' न कहकर 'ज्ञानियों के श्रीमुख से आगम का यथार्थ उपदेश समझकर निर्णय करे तो स्वानुभव हो' ह्व ऐसा कहा है; किन्तु अज्ञानी जीव को उसका भान नहीं है।

अज्ञानी को अमूर्तिक आत्मा में स्वयं स्व हूँ और मूर्तिक कर्म, शरीर आदि पर हैं ह्व इसका भान नहीं है। कदाचित् शास्त्र समझे तो भी विपरीत अर्थ निकालता है।

जानने-देखनेवाले स्वभाव के लक्ष्यपूर्वक निर्मल उपयोग होता है, अभेदता प्राप्त होती है और दया-दानादिरूप मिश्रित उपयोग का नाश होता है ह्व ऐसा स्व-पर भेदविज्ञान नहीं करता है, अतः उसे स्वानुभव नहीं हो सकता। मैं परिपूर्ण परमात्मस्वरूप हूँ, परिपूर्ण सिद्धसमान हूँ ह्व ऐसा ज्ञान भी वह नहीं करता है।

इसप्रकार जिसे परात्म ज्ञान तथा परमात्मज्ञान नहीं है, उसे भेदविज्ञान नहीं है। उसके मोहादि भावकर्मों का नाश नहीं हुआ है। मैं प्रतिसमय स्वयं के अज्ञान के कारण दुःख उठा रहा हूँ और विकारी भाव मुझे दुःख देनेवाले हैं।

चैतन्यवस्तु प्रगट हो तो दुःख नष्ट हो, राग-द्वेष नष्ट हों; किन्तु यह जीव स्वभाव का लक्ष्य नहीं करता जिससे निर्मलपर्याय उसके कभी प्रगट नहीं होती, अतः राग-द्वेष दुःखदायी हैं ह्व ऐसा कहा जाता है।

स्वभाव का भान न होने से विकार की रुचि होती है, तब आत्मा दुःख उठाता है। ऐसे समय में विकार और बाह्य निमित्तरूप जड़-पदार्थों को दुःख देनेवाला कहा जाता है। पर्यायबुद्धि में मग्न जीवों के भावकर्म और द्रव्यकर्म का कभी नाश नहीं होता।

परमज्ञान स्वभावी आत्मा में एकाग्रता बिना ज्ञप्ति-परिवर्तन टलता नहीं और ज्ञान की खंड-खंड दशा का भी नाश नहीं होता। अतः हे भाई! वस्तुस्वरूप समझकर स्व-अवस्था का ज्ञान करना है। अपनी वर्तमान पर्याय का ज्ञान करके हीन पर्यायों में नहीं जाना है। पामरता रहित मैं परमात्मस्वरूप हूँ, ऐसा ज्ञान करना है।

तेरा सिद्धपद तुझमें हैं। अन्य कोई तुझे सिद्धपद की प्राप्ति नहीं करा सकता। स्वयं सिद्धदशा प्रगट करे तो सिद्ध भगवान पर आरोप आता है; किन्तु यह सब निमित्त का कथन है।

अतः मोक्ष के अर्थी जीवों को यथातथ्यरूप शास्त्रों का अर्थ समझना चाहिए। सभी प्रकार से सर्वज्ञ द्वारा कथित आगम का सेवन करना चाहिए।

शास्त्र के आगे दीपक जलाने अथवा शास्त्रपूजा करने से उपासना नहीं होती। इससे वस्तुस्वरूप ख्याल में नहीं आता, अपितु अनंतकाल से जिस वस्तु-स्वरूप को नहीं समझा, उसे समझे तो शास्त्र की सेवा की ह्व ऐसा कहा जाता है। ●

भाई! 'अनुकूल सामग्री तो पुण्य के उदय से आती है' ह्व यह कहना भी निमित्त का कथन है; क्योंकि पुण्य का उदय व अनुकूल सामग्री दोनों भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। हाँ, इतना सम्बन्ध अवश्य है कि जब जीव के पुण्य का उदय होता है, उसीकाल में अनुकूल सामग्री का आना भी होता है। यद्यपि दोनों अपने-अपने स्व-चतुष्टय की योग्यता से होते हैं; फिर भी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध तो हैं ही। ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध देखकर व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि 'पुण्योदय से अनुकूलता मिली, सुख हुआ।'

ह्व प्रवचनरत्नाकर भाग-८, पृष्ठ-७८

प्रवचनसार गाथा २३४

अब, मोक्षमार्ग पर चलनेवालों को आगम ही एक चक्षु है ऐसा उपदेश करते हैं :ह

आगमचक्षु साहू इन्द्रियचक्षुणि सव्वभूदाणि ।

देवा य ओहिचक्षु सिद्धा पुण सव्वदो चक्षु ॥२३४॥

(हरिगीत)

साधु आगमचक्षु इन्द्रियचक्षु तो सब लोक है ।

देव अवधिचक्षु अर सर्वात्मचक्षु सिद्ध हैं ॥२३४॥

अन्वयार्थ :ह [साधुः] साधु [आगमचक्षुः] आगमचक्षु (आगमरूप चक्षुवाले) हैं, [सर्वभूतानि] सर्वप्राणी [इन्द्रिय चक्षुषि] इन्द्रिय चक्षुवाले हैं, [देवाः च] देव [अवधिचक्षुषः] अवधिचक्षु हैं [पुनः] और [सिद्धाः] सिद्ध [सर्वतः चक्षुषः] सर्वतः चक्षु (सर्व ओर से चक्षुवाले अर्थात् सर्वात्मप्रदेशों से चक्षुवान्) हैं ।

टीका :ह प्रथम तो, इस लोक में भगवन्त सिद्ध ही शुद्धज्ञानमय होने से सर्वतः चक्षु हैं, और शेष 'सभी भूत (जीव), मूर्त द्रव्यों में ही उनकी दृष्टि लगने से इन्द्रिय चक्षु हैं। देव सूक्ष्मत्वविशिष्ट मूर्त द्रव्यों को ग्रहण करते हैं, इसलिये वे अवधिचक्षु हैं; अथवा वे भी, मात्र रूपी द्रव्यों को देखते हैं, इसलिये उन्हें इन्द्रियचक्षुवालों से अलग न किया जाय तो, इन्द्रियचक्षु ही हैं।' इसप्रकार यह सभी संसारी मोह से उपहत^१ होने के कारण ज्ञेयनिष्ठ होने से, ज्ञाननिष्ठता का मूल जो शुद्धात्मतत्त्व का संवेदन उससे साध्य (सधनेवाला) ऐसा सर्वतः चक्षुपना उनके सिद्ध नहीं होता ।

अब, उस (सर्वतः चक्षुपने) की सिद्धि के लिये भगवंत श्रमण आगमचक्षु होते हैं । यद्यपि ज्ञेय और ज्ञान का पारस्परिक मिलन हो जाने

से उन्हें भिन्न करना अशक्य है (अर्थात् ज्ञेय ज्ञान में ज्ञात न हों ऐसा करना अशक्य है) तथापि वे उस आगमचक्षु से स्व पर का विभाग करके, महा मोह को जिनने भेद डाला है ऐसे वर्तते हुए परमात्म पद को पाकर, सतत ज्ञाननिष्ठ ही रहते हैं ।

इससे (ऐसा कहा जाता है कि) मुमुक्षुओं को सब कुछ आगमरूप चक्षु द्वारा ही देखना चाहिये ।

गाथा २३४ पर प्रवचन

● सिद्धों तथा केवलियों के असंख्यप्रदेशी ज्ञान प्रगट हुआ है; अतः वे सर्वतः चक्षु हैं ।

प्रथमतः मुख्य बात यह है कि इस लोक में भगवान सिद्ध और केवली शुद्ध ज्ञानमय होने से सर्वतः चक्षु हैं । जब तक राग है, तबतक ज्ञान का पूर्ण विकास नहीं है । सिद्धों में राग नहीं है । सिद्ध भगवन्तों को पूर्ण ज्ञान विकसित हुआ है । जिसप्रकार कमल की कली पूर्णरूप से खिल जाती है, उसीप्रकार उनका असंख्यप्रदेशी आत्मा भी खिल गया है । उन्हें सर्वप्रदेशी केवलज्ञान प्रगट हुआ है । उनके सम्पूर्ण आत्मा की आँखें खुल गई हैं । तीर्थंकर का शरीर होने पर भी वह आँख से देखते नहीं हैं । कान से सुनते नहीं हैं; किन्तु असंख्यप्रदेश खिल जाने से प्रत्येक प्रदेश से समझाने का कार्य होता है, अतः भगवान को सर्वतःचक्षु कहा जाता है ।

● ज्ञानी के अतिरिक्त समस्त संसारी जीव और देवगण मात्र मूर्त पदार्थों को जानते हैं; अतः इन्द्रियचक्षु हैं ।

ज्ञानी जीवों के अतिरिक्त समस्त संसारी जीवों की मूर्तद्रव्य में ही दृष्टि है; अतः वे सभी इन्द्रियचक्षु हैं । अज्ञानी जीव मात्र जड़ को ही देखता है, चैतन्य को नहीं देखता । मुझसे यह शरीर चलता है, मैं वाणी बोलता हूँ हूँ ऐसा वह मानता है; किन्तु आत्मा मूर्त शरीर और वाणी का धनी नहीं है, अपितु उससे भिन्न है ।

रोटी न खाये तो उपवास हुआ और रोटी खाये तो उपवास नहीं

१. उपहत = घायल, अशुद्ध, मलिन, भ्रष्ट ।

हुआ; रोटी तो जड़ है, वास्तव में उसे आत्मा न ग्रहण करता है और न छोड़ता है, फिर भी अज्ञानी जीव क्रिया-अक्रिया के आधार से धर्म-अधर्म मानता है। उसकी दृष्टि सर्वतः जड़ पर ही है; अमृत स्वरूप आत्मा पर नहीं है; अतः उसे इन्द्रियचक्षु कहते हैं।

देव सूक्ष्मत्व रूप मूर्त पदार्थों को जानते हैं, अतः उन्हें अवधिचक्षु कहा जाता है। वे भले ही अवधिज्ञान से सूक्ष्म पदार्थों को देखते हों; किन्तु वे सूक्ष्म पदार्थ भी मूर्त ही हैं। देवता भी पुण्य-पाप रहित अमूर्तिक सूक्ष्म आत्मा को नहीं देखते। अवधिज्ञान से सूक्ष्म परमाणुओं को जान सकते हैं; किन्तु परमाणु और दया-दानादि भावों से रहित आत्मा उनकी दृष्टि का विषय नहीं है, इसलिए वे इन्द्रियचक्षु हैं।

सामान्य मनुष्य स्थूल मूर्त पदार्थों को देखते हैं और देव सूक्ष्म मूर्त पदार्थों को देखते हैं, इससे अधिक उनमें कोई अन्तर नहीं है। आत्मा की खबर दोनों में से किसी को नहीं है, अतः वे इन्द्रियचक्षु हैं।

● अज्ञानी जीव अज्ञान और मोह से घायल हुए हैं।

समस्त संसारी जीव अज्ञान और मोह से घायल हुए हैं। चिदानंद आत्मा को भूलकर शरीर, स्त्री, रुपया, पैसा, दया-दानादि से हमारा कल्याण होगा, विषयों से हमें सुख होगा ह्व ऐसा मानते हैं।

वस्तुतः इसी मान्यता के कारण संसारी जीव चौरासी के अवतार में घायल हुए हैं। जिसप्रकार लड़ाई में सैनिक गोली से घायल हो तो उसे गाड़ी में रखकर अस्पताल ले जाते हैं, उसका उपचार करते हैं, उसके बिना वह स्वस्थ नहीं होता; उसीप्रकार अज्ञानी जीव देह और पुण्य की क्रिया में कल्याण मानकर मोक्षमार्ग में चलने से दूर हो गया है। वह ज्ञेयनिष्ठ होकर ही चल रहा है, अतः उसे चिदानन्द आत्मा का ज्ञान करने के लिए कहते हैं।

● परपदार्थ तथा पुण्य की प्रीति मोह है, यह मोह ही ज्ञेयनिष्ठपने का मूल है।

परपदार्थ ज्ञेय होने से जाननेयोग्य है ह्व ऐसा न मानकर जो उससे

लाभ-हानि मानता है अथवा शरीर, मन, वाणी को अपना मानता है, वह वास्तव में ज्ञेयों में प्रीति करता है। दया-दानादि के विकारी भाव मेरे ज्ञेय हैं ह्व ऐसा न मानकर उनमें प्रीति करनेवाले जीव को आत्मा की प्रीति नहीं हो सकती।

साक्षात् भगवान के प्रति एकत्वबुद्धि की प्रीति वर्तती हो तो वह भी ज्ञेयनिष्ठपना है। जहाँ भगवान के प्रति उत्पन्न प्रीति को भी ज्ञेयनिष्ठ कहा है तो लक्ष्मी, पुत्र आदि कितने दूर रह गए ? उनके प्रति प्रीतिवाले जीव तो ज्ञेयनिष्ठ ही हैं।

अज्ञानी जीव अभिमान करता है कि मैंने धर्म कार्य में इतना रुपया-पैसा खर्च किया; किन्तु भाई कमाई के वक्त पाप के भाव करता है और खर्च करते समय अभिमान करता है, यह तेरा कैसा धर्म है ? एक पैसा भी तेरा नहीं है, श्वास भी तेरा नहीं है। जीभ बोलती नहीं है, कान सुनते नहीं है, संसार में कुछ भी वस्तु तुम्हारी नहीं है; किन्तु अज्ञानी जीव रुपये-पैसे का ही अभिमान करता है।

अरे भाई ! पैसे के प्रति विद्यमान राग का अभाव करे तो पुण्य होता है और पुण्य की प्रीति करे तो मिथ्यात्व होता है। जो पुण्य की प्रीति करता है, वह ज्ञेयनिष्ठ है, फिर चाहे व्रतधारी हो अथवा द्रव्यलिंगी मुनि हो जिसे पुण्य और शरीर की रुचि है, वे सब ज्ञेयनिष्ठ हैं, मोह के मारे हैं।

● अज्ञानी को ज्ञानस्वभाव की दृष्टि नहीं होने से केवलज्ञान प्रगट नहीं हो सकता।

ज्ञाननिष्ठपना का मूल शुद्धात्मतत्त्व का संवेदन है। ज्ञाननिष्ठपना अर्थात् स्वयं आत्मा ज्ञानस्वभावी है ह्व ऐसा माननेवाले को परपदार्थों की क्रिया में फेरफार होने पर हर्ष-विषाद नहीं होता।

शरीर, मन, वाणी की क्रिया अपने कारण से होती है, आत्मा उसमें कुछ नहीं करता। रोगी शरीर होने से दुःख हुआ, मरण होते ही मैं नष्ट हो गया ह्व ऐसा ज्ञानी नहीं मानता।

आत्मा केवल जानने-देखने वाला है। शरीरादि और पुण्य-पाप से रहित शुद्ध आत्मा का स्व-संवेदन ही ज्ञाननिष्ठपने का मूल है ह्व ऐसे अनुभववाली अन्तर्दशा को ही धर्म कहते हैं। यही स्थिति बढ़ते-बढ़ते केवलज्ञान अर्थात् सर्वतः चक्षुवाली दशा हो जाती है।

अज्ञानी को आत्मा के ज्ञानस्वभाव का भान नहीं है। उसे शुद्धात्मा का अनुभव नहीं है, अतः उसके सर्वतःचक्षु, केवलज्ञान प्रगट नहीं है।

किसी बर्तन पर कालिख चढ़ी हो तो उस कालिख को निकालने के लिए मिट्टी और अन्य पदार्थों से घिसना पड़ता है, उसीप्रकार आत्मा के अन्तर में कर्मों की कालिख पड़ी है, वह व्रत-उपवास आदि क्रियाकाण्डों से नष्ट हो जाएगी ह्व ऐसा अज्ञानी जीव मानता है; किन्तु भाई ! कर्म तो जड़ हैं। वह ज्ञान में जाननेयोग्य हैं और आत्मा उससे त्रिकाल भिन्न है। परपदार्थ मेरे और मैं उनका ह्व यह भ्रान्ति है, जड़पदार्थों के प्रति प्रीति है।

विकार की ओर दृष्टि करके मैं राग को छोड़ूँ, मैं राग को छोड़ूँ ह्व ऐसी दृष्टिवाले जीव को धर्म नहीं हो सकता। पुण्य-पाप रहित ज्ञानस्वभाव की जबतक श्रद्धा-ज्ञान न करे, तबतक जीव विकाररहित नहीं होता।

प्रश्न :ह्व हम अपने परिवार का पालन-पोषण करें या आत्मा के साथ प्रीति करें?

उत्तर :ह्व पर जीवों का मैं पालन करता हूँ, रक्षण करता हूँ ह्व ऐसा माननेवाला मोह से घायल है, वह संसार में रखड़ता है। परजीव अपनी आयु के कारण जी रहे हैं। एक परमाणुमात्र का भी आत्मा ग्रहण-त्याग नहीं करता है। शुभाशुभभाव ज्ञेय हैं, ज्ञान नहीं। ज्ञान समस्त पदार्थों को मात्र जाननेवाला है।

यहाँ स्पष्टतः कहा है कि यदि जीव निजात्मा की पहिचान करके ज्ञाननिष्ठपने को प्राप्त हो तो शुद्धात्मा के अनुभवपूर्वक केवलज्ञान प्रगट कर सकता है; किन्तु निज आत्मा की पहिचान न करके, ज्ञेयादि में प्रीतिपूर्वक यह जीव चौरासी के अवतार में ही रखड़ता है। जिसप्रकार

शक्कर में मिठास के अतिरिक्त कुछ नहीं है, उसीप्रकार आत्मा में ज्ञान के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

शरीर, घर, स्त्री-पुत्रादि, कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र के प्रति प्रीति होना ज्ञेयनिष्ठता है। अपने चैतन्य के अतिरिक्त सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति प्रीति भी ज्ञेयनिष्ठता ही है। यह जीव मोह के कारण मारा गया है, अतः आजतक इसे धर्म नहीं हुआ। धर्मी को देव-शास्त्र-गुरु के प्रति शुभराग होता है; किन्तु उसकी दृष्टि निज आत्मा की ओर है। इससे विपरीत अज्ञानी जीव भगवान मेरा कल्याण करेंगे ह्व ऐसा मानकर उनमें प्रीति करता है, जिससे उसे धर्म तो नहीं होता, अपितु मिथ्यात्व का बंध अवश्य होता है।

● महामुनिराज आगमचक्षु से स्व-पर का भेदविज्ञान करके ज्ञानस्वभाव के सन्मुख रहते हैं।

यहाँ सर्वतः चक्षुपना अर्थात् केवलज्ञान प्रगट करने हेतु भगवान ने मुनिराज को आगमचक्षु कहा है।

हे संत ! आपके चरणों में हमारा नमस्कार हो ह्व ऐसा कहकर नमस्कार मंत्र में गणधर परमात्मा भी जिन्हें नमस्कार करते हैं, वास्तव में वे मुनिराज कैसे होंगे? मुनिदशा केवल नग्नता का नाम नहीं है। शरीर-विकार पर है तथा आत्मा ज्ञानस्वरूप है ह्व ऐसे भानसहित जिन्हें स्वरूप में विशेष अन्तरस्थिरता बढ़ी है ह्व ऐसे भावलिंगी मुनियों को असंख्यप्रदेशी केवलज्ञान प्रगट करने के लिए आगमचक्षु कहा है।

वे संत सर्वप्रथम ज्ञानचक्षु से स्व-पर का विभाग करके महामोह का नाश करते हैं तथा ज्ञाननिष्ठ आत्मा को स्व और शुभाशुभभावों को पर ज्ञेयरूप जानते हैं।

ज्ञेय ज्ञान में जानने में न आयें ह्व ऐसा होना असंभव है, अतः आगमचक्षु से स्व-पर का विभाग करके महामोह का जिन्होंने नाश किया है ह्व ऐसे

मुनिराज परमात्मस्वरूप को पाने के लिए ज्ञानस्वभाव के सन्मुख रहते हैं। यही मोक्षमार्ग और मोक्ष का साधन है।

● ज्ञेयनिष्ठ जीवों को सिद्धदशा प्रगट नहीं होती।

आत्मा में परिपूर्ण शुद्धता का प्रगट होना ही सिद्धदशा है। इससे ही सर्वतः चक्षुपने की सिद्धि अर्थात् असंख्यप्रदेशी केवलज्ञानरूपी दीपक प्रगट हुआ ज्ञात होता है।

साधारण जीवों की दृष्टि मूर्त पदार्थों पर ही होती है। वे इन्द्रियों से ही देखते हैं; किन्तु अतीन्द्रिय चैतन्यस्वभाव को नहीं देखते और चैतन्य को जाने बिना स्व-पर का भेदविज्ञान नहीं हो सकता।

समस्त संसारी जीव एक मोह के कारण ही घायल हुए हैं, वे संसार में ही भटक रहे हैं। आत्मा को यथावत् नहीं जाने तो सिद्धदशा न प्रगटे और जितना आत्मा है, उसका श्रद्धान-ज्ञान नहीं करे तो धर्म भी नहीं हो। चैतन्य के भानरहित समस्त संसारी जीव ज्ञेयनिष्ठ ही हैं। शरीर अनुकूल हो तो ठीक, पुण्य हो तो ठीक हूँ ऐसा माननेवाले जीव ज्ञेयनिष्ठ हैं, उन्हें यथार्थ धर्म और केवलज्ञान प्रगट नहीं हो सकता।

● आगमचक्षु मुनिराजों ने महामोह का नाश किया है, अतः उनके चैतन्यसमुद्र में ज्ञान की लहरें निरन्तर बहती रहती हैं।

आत्मा ज्ञानस्वरूप है। संकल्प-विकल्प से रहित आत्मा का शुद्ध वेदन ज्ञाननिष्ठपने का मूल है, इससे ही सिद्धपद की प्राप्ति होती है। स्वभावसन्मुख तत्परता ही सिद्धपद साधने का परम उपाय है। सिद्धपद की सिद्धि के लिए श्रमण आगमचक्षु है।

मुनिराज आगमचक्षु से महाव्रतादि भावों को ज्ञेयरूप और आत्मा को ज्ञानरूप जानते हैं। शरीर में रोग हो, विकार हो अथवा क्रोध उत्पन्न हो तो उसे स्वप्न के समान जानकर शरीर की अवस्था जानते हैं। शरीर व विकार को अपना नहीं मानते; किन्तु उसको जानें ही नहीं हूँ ऐसा नहीं हो सकता; क्योंकि ज्ञान स्व-पर प्रकाशक स्वभावी है। ज्ञान अपने स्व-सामर्थ्य से स्व-पर की पहिचान करके ही मोह का नाश करता है।

दर्शनमोह नष्ट हो उपजा ज्ञान प्रकाश।

देह भिन्न केवल चैतन्य का प्रगटा ज्ञान भान ॥

यहाँ स्वभावगत ज्ञान की बात कही है। शरीर, कर्म, भावकर्म मेरा स्वरूप नहीं है हूँ ऐसा जानकर केवल चैतन्य स्वभाव का जिन्हें ज्ञान वर्तता है हूँ ऐसे मुनिराज परम आत्मदशा को प्राप्त होते हैं।

यहाँ परमात्मा से तात्पर्य सिद्धदशा नहीं है, किन्तु परम आत्मस्वभाव दशावाले जीवों से है। जिसप्रकार समुद्र में जल की तरंगे उत्पन्न होती हैं, उसीप्रकार चैतन्य में ज्ञान की तरंगे उत्पन्न होती हैं। ज्ञान ही निरन्तर प्रवर्तित होता रहता है।

मुनिराज सतत् दया-दानादि विकल्पों को छोड़कर ज्ञाननिष्ठ अर्थात् ज्ञान-दर्शन-चारित्र की एकतारूप ही रहते हैं, अतः मुमुक्षुओं को आगमचक्षु का आश्रय लेना चाहिए। ●

देखो, अज्ञानी जीव ने अनादि से राग-द्वेष-कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का ही वेदन किया है। उसको जड़ का स्वाद तो कभी आता ही नहीं है और स्वरूप का स्वाद उसने कभी लिया नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि लाडू, बरफी, पेड़ा आदि मिष्ठान्न, धन-सम्पदा तथा स्त्री का सुन्दर शरीर आदि जड़ पदार्थ तो परद्रव्य हैं। अतः उनका स्वाद आने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि एक द्रव्य का अन्य द्रव्य में अत्यन्ताभाव है। हाँ, उनके लक्ष्य से अज्ञानी को अपने रागादि का स्वाद आता है। उससे वह पर में भले-बुरे की कल्पना किया करता है। पर भाई! यह तो दुःख का ही स्वाद है।

अहो! यदि एक क्षण भी ज्ञानचेतना का स्वाद लें तो इसके जन्म-मरण ही टल जावें। पर.... अज्ञानी ने ऐसा प्रयत्न कभी किया ही नहीं।

हूँ प्रवचनरत्नाकर भाग-८, पृष्ठ-३७६

प्रवचनसार गाथा २३५

अब, यह समर्थन करते हैं कि आगमरूप चक्षु से सब कुछ दिखाई देता ही है :ह

सव्वे आगमसिद्धा अत्था गुणपज्जएहिं चित्तेहिं ।

जाणंति आगमेण हि पेच्छित्ता ते वि ते समणा ॥२३५॥

(हरिगीत)

जिन-आगमों से सिद्ध हों सब अर्थ गुण-पर्यय सहित ।

जिन-आगमों से ही श्रमणजन जानकर साथें स्वहित ॥२३५॥

अन्वयार्थ :ह [सर्वे अर्थाः] समस्त पदार्थ [चित्रैः गुणपर्यायैः] विचित्र (अनेक प्रकार की) गुणपर्यायों सहित [आगमसिद्धाः] आगमसिद्ध हैं । [तान् अपि] उन्हें भी [ते श्रमणाः] वे श्रमण [आगमेन हि दृष्ट्वा] आगम द्वारा वास्तव में देखकर [जानन्ति] जानते हैं ।

टीका :ह प्रथम तो, आगम द्वारा सभी द्रव्य प्रमेय (ज्ञेय) होते हैं, क्योंकि सर्वद्रव्य विस्पष्ट तर्कणा से अविरुद्ध हैं, (सर्व द्रव्य आगमानुसार जो विशेष स्पष्ट तर्क उसके साथ मेलवाले हैं अर्थात् वे आगमानुसार विस्पष्ट विचार से ज्ञात हों ऐसे हैं) । और आगम से वे द्रव्य विचित्र गुणपर्यायवाले प्रतीत होते हैं, क्योंकि आगम को सहप्रवृत्त और क्रमप्रवृत्त अनेक धर्मों में व्यापक (अनेक धर्मों को कहनेवाला) अनेकान्तमय^१ होने से आगम को प्रमाणता की उपपत्ति है (अर्थात् आगम प्रमाणभूत सिद्ध होता है) । इससे सभी पदार्थ आगमसिद्ध ही हैं और वे श्रमणों को स्वयमेव ज्ञेयभूत होते हैं; क्योंकि श्रमण विचित्रगुणपर्यायवाले सर्वद्रव्यों में व्यापक (सर्वद्रव्यों को जाननेवाले) अनेकान्तात्मक श्रुतज्ञानोपयोगरूप^२ होकर परिणमित होते हैं ।

१. अनेकान्त = अनेक अन्त; अनेक धर्म । (द्रव्यश्रुत अनेकान्तमय है; सर्वद्रव्यों के एक ही साथ और क्रमशः प्रवर्तमान अनेक धर्मों में व्याप्त (उन्हें कहनेवाले) अनेक धर्म द्रव्यश्रुत हैं ।)

२. श्रुतज्ञानोपयोग अनेकान्तमय है । सर्वद्रव्यों के अनेक धर्मों में व्याप्त (उन्हें जाननेवाले अनेक धर्म भावश्रुतज्ञान में हैं) ।

इससे (ऐसा कहा है कि) आगमचक्षुओं को (आगमरूप चक्षुवालों को) कुछ भी अदृश्य नहीं है ।

गाथा २३५ पर प्रवचन

● आगम से छह द्रव्यों की सिद्धि/प्रतीति होती है ।

यहाँ प्रथम द्रव्य की बात करते हैं । आगम द्वारा सभी पदार्थ ज्ञेय/प्रमेय होते हैं । समस्त द्रव्य आगमानुसार ज्ञात होते हैं । केवली, सिद्ध, संत, नारकी, निगोदिया आदि अनंत जीव, परमाणु से लेकर महास्कन्ध तक पुद्गल द्रव्य, धर्म, अधर्म, आकाश और असंख्य कालाणु ह वे समस्त द्रव्य हैं । आजतक अनंत जीव सिद्ध हुए; किन्तु उनसे भी अनंतगुणे जीव संसार में भटक रहे हैं । परमाणु भी अनंत है । यह आगमसिद्ध बात है । वे सभी द्रव्य ज्ञान में ज्ञात होते हैं ।

● ये समस्त द्रव्य विचित्र गुण-पर्यायवाले हैं ।

आगम में वर्णित ये समस्त द्रव्य विचित्र गुण-पर्याय वाले हैं । विचित्र अर्थात् एक परमाणु अनंत गुणस्वरूप हैं । अनंत परमाणुओं का एक स्कन्ध अनन्तप्रदेशी आकाश के एक प्रदेश में स्थित है । एक निगोदिया शरीर में अनंत आत्मायें रहती हैं और प्रत्येक आत्मा सिद्ध समान अनंत गुणों की धारक हैं । निगोद का जीव मनुष्य होकर केवलज्ञान प्राप्त करता है । एक मनुष्य का जीव आठ वर्ष में ही केवलज्ञान प्राप्त करने की सामर्थ्य रखता है । कोई द्रव्यलिंगी मुनि मनुष्य होकर नववें ग्रैवेयक तक जाता है और पुनः चारों गतियों में परिभ्रमण भी करता है । परमाणु अनंत गुणों का पिण्ड है । आत्मा भी अनंतगुणों का पिण्ड है । ज्ञानगुण स्व को भी जानता है और अन्य अनंत गुणों, पदार्थों को भी जानता है, लेकिन श्रद्धा स्वयं को नहीं जानती है, इसप्रकार अनेकप्रकार की विचित्रता है ।

एक परमाणु एक समय में चौदह राजू प्रमाण ऊँचाई तक जाता है और अनेक परमाणुओं से बना हुआ शरीर यहीं पड़ा रहता है, वह ऊपर

की ओर गमन ही नहीं करता, यह कैसे? ह्व ऐसा भ्रम यदि किसी अज्ञानी को होवे तो उसके यथार्थता नहीं है।

जीव कहना कुछ चाहता है और कहता कुछ और है। यह वाणी/जड़ का विचित्र पर्यायधर्म है। शरीर के कृष होने के कारण वाणी अस्पष्टरूप से सुनाई देती है, यह जड़ भाषा का अस्पष्टरूप परिणमनस्वभाव है।

अज्ञानी जीव प्रथमतः वस्तुस्वरूप को अस्वीकार करता है; किन्तु अन्तर्मुहूर्त मात्र में ही सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है, पश्चात् मुनिपना प्राप्त कर केवलज्ञान प्राप्त करता है। दो घड़ी पूर्व सत्स्वरूप से इन्कार कर रहा था और दो घड़ी बाद ही केवलज्ञान प्राप्त कर लिया ह्व यही विचित्रता है।

किसी जीव के बुद्धि का अत्यन्त विकास दिखाई देता है; किन्तु उसे सत् का श्रद्धान-ज्ञान नहीं है। सत् का तीव्र विरोध करके वह नरक-निगोद जाता है। एक समय पूर्व अगाध बुद्धि का धारी पंचेन्द्रिय मनुष्य था तो अगले ही समय निगोद को प्राप्त होने से अत्यल्प ज्ञान रहा ह्व यह परिवर्तन कैसे होता है ?

जीव ने अनेकों बार मिथ्याभाव का सेवन किया; इसलिये निगोद शरीर को प्राप्त हुआ ह्व ऐसा नहीं है। यह तो शरीररूप पर्याय की विचित्रता है, जो शरीर के कारण प्राप्त हुई है और आत्मा की विचित्रता आत्मा के कारण है। प्रत्येक द्रव्य विचित्र गुण-पर्यायवाला है ह्व ऐसा ही गुण-पर्यायों का विचित्र स्वभाव है, इसमें अन्य कोई कारण नहीं है।

● आगम सहवर्ती गुण और क्रमवर्ती पर्यायों के धर्मों को बताता है।

सहप्रवृत्त गुण और क्रमप्रवृत्त पर्यायरूप अनेक धर्मों का कथन करनेवाला अनेकान्तमय आगम है। वह आगम प्रमाणभूत है। आत्मा में ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि अनन्त गुण एक साथ रहते हैं, इन गुणों को सहप्रवृत्त कहते हैं और पर्याय एक के बाद एक होती है, किसी भी समय पर्यायों का क्रम टूटता नहीं है, अतः पर्यायों को क्रमप्रवृत्त कहा जाता है।

समस्त पर्यायों एकसाथ नहीं हो सकती। गुण क्षेत्र के साथ सहवर्ती हैं और पर्याय कालभेद से क्रमबद्ध है।

समस्त द्रव्यों में विद्यमान सहवर्ती गुण और क्रमप्रवृत्त पर्यायों का वर्णन आगम में प्राप्त होता है। आगम में प्रत्येक द्रव्य के अनेकान्तमय अनन्त धर्मों का कथन प्राप्त होता है।

अनेकान्त का दृष्टान्त :ह्व आत्मा जड़रूप नहीं होता और जड़ परमाणु आत्मरूप नहीं होता। एक गुण अन्य गुणरूप नहीं होता और एक पर्याय अन्य पर्यायरूप नहीं होती। शरीर शरीर के कारण है; आत्मा के कारण नहीं। वाणी, वाणी के कारण है। इच्छा, इच्छा के कारण है। वाणी या इच्छा एक-दूसरे के कारण नहीं।

प्रत्येक वस्तु स्वयं सिद्ध है, वह अन्य से नहीं है। अन्य के कारण है ह्व ऐसा कहें तो वस्तु का 'अस्तिपना' अन्य के आधार से घटित होगा। वस्तु स्वतंत्र नहीं रहेगी। पूर्व में शुभराग था, अतः धर्मदशा प्रगट हुई अथवा वर्तमान में विकार है; इसलिये पूर्वपर्याय में भी विकार था ह्व ऐसा नहीं है।

प्रत्येक द्रव्य अनादिकाल से स्वयं के कारण है; पर के कारण नहीं। गुण भी अनादिकाल से स्वयं के कारण हैं; पर के कारण नहीं। विकाररूप पर्याय वर्तमान समय के कारण है, पूर्व विकार के कारण नहीं तथा वर्तमान निर्मल पर्याय पूर्व पर्याय के कारण नहीं है। प्रत्येक आत्मा और परमाणु स्वतंत्र हैं। कोई भी द्रव्य पर के कारण है ह्व ऐसा कहा जाए तो समस्त द्रव्यों की स्वतंत्रता खण्डित हो जाएगी, अतः प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है ह्व इसप्रकार भगवान की वाणी अनेकान्तमय धर्म को बताती है।

● समस्त द्रव्यों के अनेकान्तमय धर्म का कथन आगम में प्राप्त होता है, अतः आगम प्रमाणभूत है।

आगम अनेक धर्मों को बताता है। जिसके ज्ञान में अनन्त द्रव्य, गुण और पर्यायों को जानने की सामर्थ्य है, उसकी वाणी ही वस्तुस्वरूप को

बताने में निमित्त होती है; अतः वाणी द्वारा वस्तुस्वरूप समझ में आता है हूँ ऐसा कहकर वाणी को आरोपित किया जाता है। यह वाणी ही द्रव्यश्रुत अर्थात् आगम की महिमा को बताती है।

वीतराग की वाणी में अनंत द्रव्यों को कहने की ताकत न होती तो वाणी पर निमित्तपने का आरोप भी नहीं आता; अतः निमित्त रूप से उन समस्त द्रव्य-गुण-पर्याय का कथन करने की सामर्थ्य वाणी में है; इसप्रकार आगम प्रमाणभूत सिद्ध होता है।

● भाव श्रुतज्ञानी मुनि परोक्षज्ञान में परिपूर्ण हैं।

समस्त पदार्थ आगमसिद्ध और मुनियों के ज्ञान में ज्ञात हैं; क्योंकि विचित्र गुण पर्यायवाले सभी द्रव्यों और उनके अनेक धर्मों को जानने की सामर्थ्य भावश्रुतज्ञान में है। यह भावश्रुतज्ञान मुनिराजों को होता है। अतः मुनिराज समस्त पदार्थों के द्रव्य-गुण-पर्याय को परोक्ष रीति से परिपूर्ण जानते हैं अर्थात् स्वयमेव जानते हैं।

यहाँ १. वे पदार्थ ज्ञेय हैं, अतः मुनिराज जानते हैं तथा २. आगम सभी पदार्थों को कहता है, अतः मुनिराज जानते हैं हूँ ऐसा नहीं है। यहाँ भावश्रुतज्ञान के सामर्थ्य का वर्णन है।

शरीर, राग-द्वेषादि से भिन्न में ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ हूँ ऐसी श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक स्व की ओर प्रवृत्त होनेवाली ज्ञानपर्याय अनंत-द्रव्य-गुण-पर्याय को परोक्षरीति से जानने की सामर्थ्य रखती है। जिसप्रकार वाणी की पर्याय समस्त द्रव्यों में व्यापक है, उसीप्रकार भावश्रुतज्ञान की पर्याय भी सभी को परोक्ष रीति से यथार्थ जान लेती है।

● केवलज्ञानी प्रत्यक्षज्ञान में, श्रुतज्ञानी परोक्षज्ञान में और वीतरागवाणी कथन में परिपूर्ण होती है।

आगम अनंत द्रव्य-गुण-पर्याय को कह सकता है, अतः अनंत धर्म उसमें व्यापक है। हे जीवों! जैसा निमित्त हो, वैसा कहा जाता है। सर्वज्ञ भगवान का केवलज्ञान प्रत्येक पदार्थ के द्रव्य-गुण-पर्याय को एक समय में परिपूर्ण जान लेता है, अतः उनका ज्ञान पूर्ण प्रत्यक्ष है।

तत्त्वज्ञानी प्रत्येक पदार्थ और उनके द्रव्य-गुण पर्याय को यथार्थरूप से जान लेते हैं। उनके ज्ञान में किसी वस्तु का रहस्य परोक्षरूप से शेष नहीं रहता, अतः उनका परोक्षज्ञान परिपूर्ण है।

भगवान की वाणी में समस्त द्रव्य-गुण-पर्याय का यथारूप कथन होता है, अतः वह भी परिपूर्ण है।

● परिपूर्णता का श्रद्धान-ज्ञान करके जो स्थिर रहता है, वह अवश्य ही परिपूर्णता को प्राप्त होता है।

केवली भगवान एक समय में समस्त द्रव्य-गुण-पर्याय को प्रत्यक्ष परिपूर्ण जानते हैं, अतः सर्वज्ञ प्रत्यक्ष ज्ञान से परिपूर्ण है। मुनिराज परोक्षज्ञान से जानते हैं, अतः वे परोक्षज्ञान में परिपूर्ण हैं तथा वीतराग की वाणी वस्तुस्वरूप को कहने की सामर्थ्यवाली है, अतः वाणी भी परिपूर्ण है।

ऐसे यथार्थ ज्ञानपूर्वक पर की महिमा छोड़कर जिसे स्व की महिमा आती है, परिपूर्ण स्वभाव की महिमा आती है, उसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। यहाँ सम्यग्दर्शनपूर्वक जो चारित्रदशा की बात है, उसे समकित्ती गौणरूप से धारण करता है।

तीर्थकरदेव की वाणी परिपूर्ण है उस वाणी का भोग उन्हें मिल रहा है और विशेषरूप से स्वयं के स्वभाव में एकाग्र होने से वह भी समस्त द्रव्यों को प्रत्यक्ष जानने की दिशा में उन्मुख हो रहा है अर्थात् सर्वतः चक्षु/केवलज्ञान दशा को प्राप्त करने की ओर अग्रसर हो रहा है। जिसे परिपूर्णता का भावभासन है, वह निश्चितरूप से परिपूर्णता को प्राप्त करता ही है।

आत्मा और जड़ की भिन्नता का ज्ञान आगमपूर्वक होता है। द्रव्य-गुण और निर्मल पर्याय का ज्ञान भी आगम से ही होता है। यह आगमचक्षु सामान्य जनों के लिए अदृश्य नहीं है, अपितु इसी के आधार से प्रत्येक मनुष्य वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकता है। शरीरादि पर हैं, पुण्य-पाप उपाधिभाव हैं और एक शुद्ध आत्मा ही निरुपाधि तत्त्व है हूँ ऐसा ज्ञान आगम द्वारा ही होता है। आगम का परिपूर्ण ज्ञान मुनिराजों को वर्तता है, अतः उन्हें आगमचक्षु कहते हैं। ●

प्रवचनसार गाथा २३६

अब, आगमज्ञान, तत्पूर्वक तत्त्वार्थश्रद्धान और तदुभयपूर्वक संयतत्व की युगपतता को मोक्षमार्गपना होने का नियम करते हैं।

(अर्थात् ऐसा नियम सिद्ध करते हैं कि ह १. आगमज्ञान, २. तत्पूर्वक तत्त्वार्थश्रद्धान और ३. उन दोनों पूर्वक संयतपना इन तीनों का साथ होना ही मोक्षमार्ग है) :ह

आगमपुष्वा दिट्टी ण भवदि जस्सेह संजमो तस्स ।

णत्थीदि भणदि सुत्तं असंजदो होदि किध समणो।।२३६।।

(हरिगीत)

जिनागम अनुसार जिनकी दृष्टि न वे असंयमी ।

यह जिनागम का कथन है वे श्रमण कैसे हो सकें।।२३६।।

अन्वयार्थ :ह [इह] इस लोक में [यस्य] जिसकी [आगमपूर्वा दृष्टिः] आगमपूर्वक दृष्टि (दर्शन) [न भवति] नहीं है [तस्य] उसके [संयमः] संयम [नास्ति] नहीं है, [इति] इसप्रकार [सूत्रं भणति] सूत्र कहता है; और [असंयतः] असंयत वह [श्रमणः] श्रमण [कथं भवति] कैसे हो सकता है?

टीका :ह इस लोक में वास्तव में, स्यात्कार जिसका चिह्न है ऐसे आगमपूर्वक तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणवाली^१ दृष्टि से जो शून्य हैं उन सभी को प्रथम तो संयम ही सिद्ध नहीं होता, क्योंकि (१) स्व-पर के विभाग के अभाव के कारण काया और कषायों के साथ एकता का अध्यवसाय करनेवाले ऐसे वे जीव, विषयों^२ की अभिलाषा का निरोध नहीं होने से छह जीवनिकाय के घाती होकर सर्वतः (सब ओर से) प्रवृत्ति करते हैं,

१. तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणवाली = तत्त्वार्थ का श्रद्धान जिसका लक्षण है ऐसी (सम्यग्दर्शन का लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान है। वह आगमपूर्वक होता है। आगम का चिह्न 'स्यात्' कार है।

२. जिन जीवों को स्वपर का भेदज्ञान नहीं है उनके भले ही कदाचित् पंचेन्द्रियों के विषयों का संयोग दिखाई न देता हो, छह जीवनिकाय की द्रव्यहिंसा दिखाई न देती हो और इसप्रकार संयोग से निवृत्ति दिखाई देती हो, तथापि काया और कषाय के साथ एकत्व माननेवाले उन जीवों के वास्तव में पंचेन्द्रिय के विषयों की अभिलाषा का निरोध नहीं है, हिंसा का किंचित्मात्र अभाव नहीं है और इसप्रकार परभाव से किंचित्मात्र निवृत्ति नहीं है।

इसलिये उनके सर्वतः निवृत्ति का अभाव है। (अर्थात् किसी भी ओर से ह किंचित्मात्र भी निवृत्ति नहीं है), तथापि (२) उनके परमात्मज्ञान के अभाव के कारण ज्ञेय-समूह को क्रमशः जाननेवाली निरर्गल^१ ज्ञप्ति होने से ज्ञानरूप आत्मतत्व में एकाग्रता की प्रवृत्ति का अभाव है। (इसप्रकार उनके संयम सिद्ध नहीं होता) और (इसप्रकार) जिनके संयम सिद्ध नहीं होता, उन्हें सुनिश्चित^२ एकाग्र्यपरिणततारूप श्रामण्य ही ह जिसका दूसरा नाम मोक्षमार्ग है वही ह सिद्ध नहीं होता।

इससे आगमज्ञान ह तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्व के युगपतपने को ही मोक्षमार्गपना होने का नियम होता है।

गाथा २३६ पर प्रवचन

अब, आगमज्ञानपूर्वक नवतत्त्वों की श्रद्धा और श्रद्धापूर्वक अन्तरंग लीनता ह इन तीनों के युगपत्पने को मोक्षमार्ग सिद्ध होता हैहऐसा कहते हैं।

सम्यग्दर्शनपूर्वक ही व्रत-नियम-संयमदशा होती है। जिसे सम्यग्दर्शन नहीं है, उसे सच्चे व्रत-नियम आदि भी नहीं हैं। वह षट्काय के जीवों की रक्षा करता हो तो भी उसे संयम नहीं है। सम्यग्दर्शन का कारण आगमज्ञान है। जो जीव शरीर और पुण्य से धर्म मानते हैं, अपनी आत्मा को पराधीन मानते हैं, उन्हें इच्छा निरोधरूप तप नहीं होता। संयमभाव अर्थात् मुनिपना नहीं होता है।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि मुनिपना अथवा संयमीपना आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान-रमणतापूर्वक प्रगट होता है। आत्मा के भान बिना पाँच इन्द्रियों का निरोध, व्रत, तपादि कुछ भी कार्यकारी नहीं हैं। संयोग व राग से रहित अरागी आत्मतत्व की आगमपूर्वक श्रद्धा और रमणता हो तो मुनिपना होता है ह यही मोक्षमार्ग है।

मुनिराज को अन्तर्दशा में ज्ञान-वैराग्य की वृद्धि हुई है, वे छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले परम वीतरागी संत हैं। उन्हें अल्प राग और बाह्य में नग्न दिगम्बरदशा वर्तती है ह यही मुनिपना है, मोक्षमार्ग है।

१. निरर्गल = निरंकुश, संयमरहित; स्वच्छन्दी।

२. निश्चित = दृढ़ (दृढ़तापूर्वक एकाग्रता में परिणमित होना सो श्रामण्य है।)

आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने केवली भगवान के मंत्रों का रहस्य उद्घाटन किया है। आत्मज्ञान-ध्यान में ही झूलनेवाले वे परम वीतरागी भावलिङ्गी संत थे; किन्तु अल्पराग वश विकल्प उत्पन्न होने से उनके द्वारा यह शास्त्र-रचना हुई है।

अहो ! जगत के जीवों को आगमपूर्वक श्रद्धान नहीं है। त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञदेव ने प्रत्येक पदार्थ को भिन्न व स्वतंत्र बताया है। स्वभाव-विभाव भी भिन्न-भिन्न हैं। इन सबका आगम द्वारा ज्ञान-श्रद्धान करें तो सम्यग्दर्शन अवश्य प्रगट होता है, अन्यथा सम्यग्दर्शन नहीं होता।

अरे भाई ! जिसकी श्रद्धा का ही ठिकाना नहीं हो, उस जीव को श्रावक या मुनिपना कैसे हो सकता है ? शरीर आदि जड़ पदार्थों की पर्यायें स्वयं अपने से होती है, आत्मा मात्र उसे जानने-देखनेवाला है ह्व ऐसा जिसे भान नहीं है, उसे मुनिपना कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता।

● जिसे सम्यग्दर्शन नहीं है, उसे चारित्र भी नहीं है।

टीका के 'इस लोक' शब्द द्वारा आचार्यदेव लोक की विद्यमानता बताते हैं। "ब्रह्मसत्य और जगत् मिथ्या" ह्व ऐसी बात यहाँ नहीं है। यह लोक अनादि-निधन है तथा आत्मा और जड़पदार्थ दोनों ही इस लोक में अनादि से विद्यमान हैं। आगम का चिह्न स्यात्कार है। स्यात् अर्थात् अपेक्षा युक्त कथन।

आत्मा स्वयं के कारण हो और पर के कारण भी हो ह्व ऐसा नहीं हो सकता। आत्मा स्व अपेक्षा से स्व है और पर अपेक्षा से स्व नहीं है ह्व ऐसे अपेक्षा कथन को स्यात्कार कहते हैं। आत्मा, आत्मा के कारण है, जड़ के कारण नहीं। सम्यक्श्रद्धा निज आश्रय से प्रगट होती है, देव-शास्त्र-गुरु के आधार से नहीं। प्रत्येक आत्मा और परमाणु के द्रव्य-गुण पर्याय अपने स्वयं के कारण हैं, पर के कारण नहीं। इसप्रकार नाना अपेक्षाओं से आगम में वर्णन होता है।

आगमज्ञानपूर्वक तत्त्वार्थश्रद्धान के लक्षण से युक्त जिसे पदार्थ दृष्टि प्रगट नहीं है, उन जीवों को संयम सिद्ध नहीं होता है।

जिसे सच्ची दृष्टि अर्थात् सच्चे वस्तुस्वरूप का ज्ञान नहीं है, वह अज्ञानी जीव 'शरीर मैं हूँ', 'मैं वाणी से बोलता हूँ', 'मेरे कारण शरीर की स्थिति है', 'रोटी न खाने से व्रत-उपवास हुआ, अतः धर्म हुआ', 'मैंने जीव रक्षा का भाव किया; अतः उसका बचाव हुआ', 'मेरे कारण परद्रव्यों के कार्यों की सिद्धि होती है' ह्व ऐसे अनेक प्रकार से तत्त्वविरोधी श्रद्धा करता है; किन्तु मेरी पर्याय मेरे कारण है और पर की पर्याय पर के कारण है ह्व ऐसी सच्ची श्रद्धा नहीं करता। चारित्र का मूल सम्यग्दर्शन है; अतः सम्यग्दर्शन के बिना चारित्र कदापि नहीं हो सकता।

● स्व-पर भेदविज्ञान के अभाव के कारण अज्ञानी जीव शरीर और रागादि के साथ एकत्वबुद्धि करता है।

अज्ञानी जीव को असंख्यप्रदेशी आत्मा स्व और शरीरादि पर ह्व ऐसा स्व-पर के विभाग का अभाव है। जानने-देखनेरूप शुद्ध उपयोग स्व और दया-दानादि परिणाम पर ह्व ऐसा उसे भेदज्ञान नहीं वर्तता।

अज्ञानी शरीर के साथ एकत्वबुद्धि करता है। शरीर के कारण धर्म होगा, शरीर का ध्यान रखेंगे तो अच्छा रहेगा, अतः आहारादि का सेवन करना चाहिए ह्व ऐसा अज्ञानी मानता है; किन्तु भाई ! आहार आदि के कारण शरीर नहीं टिकता, इस बात का उसे भान नहीं है।

कायोत्सर्ग के समय काया को स्थिर रखना, वचनों से मौन रहना ह्व इसप्रकार वह काया और वचन की क्रिया अपने आधीन मानता है। भगवान की भक्ति-पूजा से अथवा तीर्थक्षेत्रादि के दर्शन से धर्म होता है ह्व ऐसा माननेवाले को स्व-पर का विवेक नहीं है। सम्मोदशिखरजी हों या साक्षात् देव-गुरु-शास्त्र हों, वे मेरे लिये पर ही हैं तथा उनके प्रति विद्यमान राग भी पर ही है। शरीर, पर के कारण टिकता है ह्व ऐसा माननेवाला स्व-पर की एकता करता है। इसप्रकार स्व-पर में अनेकप्रकार की भ्रान्तियों वाला श्रावक हो या साधु हो, मिथ्यादृष्टि ही है।

दया-दानादि विकृतभाव हैं और शुद्ध उपयोग 'स्व'भाव है; किन्तु अज्ञानी जीव दया-दानादि भाव को करनेयोग्य एवं उनसे मुझे निर्विकारी

दशा प्राप्त होगी हूँ ऐसी मान्यता करता है और कषायभावों के साथ एकत्वबुद्धि करता है।

जिन्हें स्व-पर का भेदज्ञान नहीं है, उनके भले ही पाँच इन्द्रियों के विषयादि का संयोग दिखाई नहीं देता हो। छह काय के जीवों की द्रव्य हिंसा भी नहीं दिखाई देती हो। साथ ही शरीर और संयोगादि से कदाचित् निवृत्ति दिखाई देती हो, फिर भी शरीर और विकार के साथ एकत्वबुद्धि करनेवाले जीवों को वास्तव में पाँच इन्द्रियों के विषयों की अभिलाषा का निरोध नहीं है। हिंसा का रंचमात्र भी अभाव नहीं होने से उन्हें परभावों से बिल्कुल भी निवृत्ति नहीं है।

अज्ञानी जीव बाह्य में राज्य, कुटुंबादि का त्याग कर मुनि हुआ हो, निर्दोष आहार ग्रहण करता हो; तथापि मात्र कषाय मंदता को ही धर्म माने तो उसके सांसारिक विषयों की रुचि समाप्त नहीं हुई है; उसे तो विकार और बाह्य क्रिया की ही रुचि है।

बाह्य से शरीर और विषय-कषायादि का त्यागी दिखाई देता है; किन्तु अन्तरंग में विकार का अभिप्राय है। ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव की रुचि नहीं है। एक समयवर्ती राग के स्वामित्व की रुचि करे तो त्रिकालवर्ती राग का स्वामीपना नहीं छूटता है। उसे तत्संबंधी संयोगादिक का अभिप्राय वर्तता है। उसे विषयों की रुचि है, अतः विषयों में ही अटका हुआ है।

आत्मा ध्रुव ज्ञानानन्दस्वभावी है; किन्तु अज्ञानी जीव ध्रुव स्वभाव की रुचि छोड़कर अध्रुव विकार की रुचि करता है। विकार की रुचिवाला संयोग की रुचिवाला है। वह परपदार्थों को अपना मानकर यह संयोग अनुकूल और यह प्रतिकूल हूँ ऐसी अनुकूल-प्रतिकूल की मान्यता करता है।

‘शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्’ हूँ ऐसी मानकर शरीर को हृष्ट-पुष्ट करता है। कोई जीव सात्विक प्रवृत्तिवाला हो, तो उसे भी ऐसा ही उपदेश देता है। आहारादि के ग्रहण द्वारा शरीर, पाँच इन्द्रिय और उनके विषयों में एकत्वबुद्धि करता है।

● ‘मैं परजीव को बचा सकता हूँ’ हूँ ऐसी माननेवाला जीव छहकाय के जीव-निकाय का घाती है।

मैं परजीव को बचा सकता हूँ हूँ ऐसी एकत्वबुद्धि करनेवाला जीव वास्तव में छहकाय के जीवों का घाती है। अज्ञानी श्रावक हो या मुनि, वह सदैव ही शरीर अनुकूल हो तो लाभ होगा, शरीर की क्रिया से धर्म होगा हूँ ऐसी मान्यता करता है।

वह कदाचित् निर्दोष आहार लेता हो, पाँच समिति का पालन करता हो, किसी जीव का घात करते हुए दिखाई न भी देता हो, फिर भी वह छहकाय के जीवों का घाती है; क्योंकि शरीर और पुण्य-पाप से रहित मेरा आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है हूँ ऐसा न मानकर वह निज चैतन्य प्राणों का घात करता है।

शरीर और कषायादि के साथ एकत्वबुद्धि करनेवाले जीव को छह काय के जीवों की हिंसा टली नहीं है। मैं पर जीव को बचा सकता हूँ या उनका पालन कर सकता हूँ हूँ ऐसा माननेवाला जीव ही छहकाय का घाती है। वर्तमान में किसी जीव की हिंसा का भाव उसे नहीं है, तथापि मैं किसी जीव की रक्षा कर सकता हूँ हूँ ऐसा माननेवाले ने सब जीवों के प्राण पराधीन मानकर उनके रक्षण का जो भाव किया है, वह भाव ही विकार है।

प्रश्न : हूँ बाह्य में यदि कोई जीव छहकाय के जीवों का घात नहीं करे तो वह व्यवहार हिंसा से निवृत्त है कि नहीं ?

उत्तर : हूँ नहीं। वह जीव व्यवहार से भी निवृत्त नहीं है। अशुभभाव तथा हिंसा का निमित्त दिखता नहीं हो तो जगतजन उसे निवृत्त कहें; किन्तु हम उसे निवृत्त नहीं कहते। अन्तर में ‘मैं पर को मार या बचा सकता हूँ’ हूँ ऐसी भाव विद्यमान है तब तक उसे छहकाय के जीवों के घात से निवृत्ति का सर्वतः अभाव है।

कोई जीव जंगल, गिरि-गुफा में ध्यान-लीन हो; किन्तु यह विचार करें कि ध्यान और कषाय की मंदता धर्म में मदद करती है तो उसे भी निवृत्ति नहीं है। वह जीव बाह्य में नग्न दिगम्बर दशा धारण करे; किन्तु राग का आदर होने से उसे स्वभाव का अनादर है, अतः उसे व्यवहार से भी निवृत्त नहीं कहा जा सकता। उसके संयम की सिद्धि नहीं होती है।

● मैं परमात्मस्वरूप हूँ हूँ ऐसा जिसे श्रद्धान ज्ञान नहीं है, उसे मोक्षमार्ग प्रगट नहीं है।

मेरा ज्ञायक स्वभाव परिपूर्ण परमात्मरूप है। अल्पज्ञता मेरा स्वभाव नहीं है। तीनलोक और तीनकालवर्ती समस्त पदार्थों को एक साथ जाननेरूप मेरा स्वभाव है हूँ ऐसा भान न होने के कारण वह जीव विभिन्न ज्ञेयों को ही जानता रहता है तथा ज्ञायक स्वभाव की प्रीति छोड़कर ज्ञेयों में ही प्रीति-अप्रीति करता है।

हे भाई ! एक ज्ञायक स्वभाव को 'स्व' जाने तो समस्त परपदार्थ स्वयं ज्ञान में ज्ञात होते हैं; किन्तु यह जीव निज ज्ञायक स्वभाव का भान न करके परपदार्थों में स्वच्छन्द प्रवृत्ति करता है; आत्मस्वभाव में एकाग्रता नहीं करता; एतदर्थ उसे परमात्मस्वभाव में दृढ़पनेरूप लीनता भी नहीं होती है। उसके यथार्थ मुनिपना नहीं होने से मोक्षमार्ग भी नहीं होता है। इसप्रकार जिसे स्व-पर का भेदविज्ञान नहीं है तथा परमात्मज्ञान का अभाव है, उसे मोक्षमार्ग सिद्ध नहीं होता।

तीर्थकर भगवान द्वारा कथित व आचार्यों द्वारा रचित शास्त्रों में दो अपेक्षा से कथन प्राप्त होता है। आत्मा 'स्व' रूप से है और 'पररूप' से नहीं है। 'वस्तु स्वभाव से है और पररूप से नहीं है' हूँ यही वस्तु का स्वभाव है। भगवान के ज्ञान में ऐसा ही ज्ञात हुआ है तथा वाणी द्वारा कथन में भी यही तत्त्व कहा गया है, इसे ही अनेकान्तदृष्टि कहते हैं।

आज भी अनेक जीव ऐसा मानते हैं कि आत्मा निश्चय से शरीर का अकर्ता और व्यवहार से कर्ता है; किन्तु यह मान्यता भ्रम है। स्वयं का व्यवहार भी स्वयं में ही होता है, पर में नहीं। जब आत्मा शरीर रूप ही नहीं है तो शरीर का व्यवहार कैसे कर सकता है ? पुण्य हो तो ठीक होगा हूँ यह भावना भ्रम है; किन्तु अज्ञानी जीव पुण्य की इच्छा रखकर सारे संयोगों को भोगना चाहता है, उसे तीनों काल जगत के जड़ पदार्थों को ही भोगने की इच्छा वर्तती है, उसे पुण्य के साथ ही एकत्वबुद्धि वर्तती है; अतः ज्ञानस्वभाव का आदर नहीं है।

आत्मा स्वयं ज्ञानानन्द गुणों का भण्डार है; किन्तु मैं स्वयं को जान

सकता हूँ हूँ ऐसा न मानकर यह जीव पर के कर्तृत्व-भोक्तृत्व का भार, पुण्य व विकार का भार स्वयं पर लेता है, इसप्रकार वह अपने अनंत गुणों व षट्काय के जीवों का घात करता है। राग और निमित्त की जो भावना भाता है, वह ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव का घात करता है; क्योंकि उसे स्व का अनादर है। जब तक स्व हिंसा नहीं छूटी, तब तक पर हिंसा का त्याग नहीं कहा जाता। बाह्य में वैराग्य का धारक मुनि हो, बाह्यरूप से हिंसा नहीं दिखाई देती हो, फिर भी उसे हिंसा से निवृत्ति नहीं है, अतः संयम भी नहीं है।

कोई चक्रवर्ती सम्यग्दृष्टि लड़ाई कर रहा हो; किन्तु उसे उससमय भी स्वभाव का भान वर्तता है। द्वेषरूप परिणाम होने पर भी उसे द्वेष की भावना नहीं है, यद्यपि वहाँ चारित्रगत दोष है; किन्तु अनंत संसाररूप बंध नहीं है।

कोई सम्यग्दृष्टि हाथी पाँच-पच्चीस मण घास खाता हो, बाहर से उसके हिंसा दिखाई देती हो; किन्तु जड़ की क्रिया मुझसे नहीं होती तथा अल्प राग-द्वेष मेरा स्वरूप नहीं है हूँ ऐसा भान होने से वह वैराग्य को ही प्राप्त करता है। जिसे राग से पृथक् चैतन्य की भावना है, उसे राग के साथ अपनापन नहीं है। धर्मात्मा जीवों को अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव का आदर है, पुण्य-पाप का आदर नहीं है हूँ यही अहिंसा है।

धर्मी जीव को द्वेष का परिणाम हो, बाह्य में हिंसा दिखाई देती हो तो भी वह षट्काय की हिंसा से निवृत्त है। इससे विपरीत अज्ञानी वैराग्य-ध्यान में लीन हो, दया पालन करता हो; किन्तु पुण्य से धर्म मानता है; अतः वह हिंसा से निवृत्त नहीं है।

अज्ञानी जीव को अपने परमात्मस्वरूप का ज्ञान नहीं है। उसका ज्ञान राग में अटककर निरकुंशरूप से प्रत्येक ज्ञेय में खंड-खंड होता है। वह स्वभाव में एकाग्रता नहीं करता, अतः उसे संयम सिद्ध नहीं होता है। स्वभाव में एकाग्रता नहीं है, अतः उसके मुनिपना अथवा मोक्षमार्ग भी नहीं है। इसप्रकार आगम का ज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और अंतरस्थिरता इन तीनों के युगपत्पने से ही मोक्षमार्ग होने का नियम है। ●

प्रवचनसार गाथा २३७

अब, ऐसा सिद्ध करते हैं कि ह्य आगमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्व के अयुगपत्पने को मोक्षमार्गत्व घटित नहीं होता :ह्य

णहि आगमेण सिद्धादि सद्वहणंजदिविणत्थि अत्थेसु।

सद्वहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि।।२३७।।

(हरिगीत)

जिनागम से अर्थ का श्रद्धान ना सिद्धि नहीं।

श्रद्धान हो पर असंयत निर्वाण को पाता नहीं।।२३७।।

अन्वयार्थ :ह्य [आगमेन] आगम से [यदि अपि] यदि [अर्थेषु श्रद्धानं नास्ति] पदार्थों का श्रद्धान न हो तो, [न हि सिद्धयति] सिद्धि (मुक्ति) नहीं होती; [अर्थान् श्रद्धानः] पदार्थों का श्रद्धान करनेवाला भी [असंयतः वा] यदि असंयत हो तो [न निर्वाति] निर्वाण को प्राप्त नहीं होता।

टीका :ह्य आगमजनित ज्ञान से, यदि वह श्रद्धानशून्य हो तो सिद्धि नहीं होती; तथा उसके (आगमज्ञान के) बिना जो नहीं होता ऐसे श्रद्धान से भी यदि वह (श्रद्धान) संयमशून्य हो तो सिद्धि नहीं होती। वह इसप्रकार :ह्य

आगम बल से सकल पदार्थों की विस्पष्ट तर्कणा^१ करता हुआ भी यदि जीव सकल पदार्थों के ज्ञेयाकारों के साथ मिलितहोनेवाला^२ विशद एक ज्ञान जिसका आकार है ऐसे आत्मा को उसप्रकार से प्रतीत नहीं करता तो यथोक्त आत्मा के श्रद्धान से शून्य होने के कारण जो यथोक्त आत्मा का अनुभव नहीं करता वह ज्ञेयनिमग्न ज्ञानविमूढ़ जीव कैसे ज्ञानी

होगा? (नहीं होगा, वह अज्ञानी ही होगा।) और अज्ञानी को, ज्ञेय-द्योतक होने पर भी, आगम क्या करेगा? (आगम ज्ञेयों का प्रकाशक होने पर भी वह अज्ञानी के लिये क्या कर सकता है?) इसलिये श्रद्धानशून्य आगम से सिद्धि नहीं होती।

और, सकल पदार्थों के ज्ञेयाकारों के साथ मिलित होता हुआ विशद एक ज्ञान जिसका आकार है ऐसे आत्मा का श्रद्धान करता हुआ भी, अनुभव करता हुआ भी यदि जीव अपने में ही संयमित (अंकुशित) होकर नहीं रहता, तो अनादि मोह-राग-द्वेष की वासना से जनित जो परद्रव्य में भ्रमण उसके कारण जो स्वैरिणी (स्वच्छंदी, व्यभिचारिणी) है ऐसी चिद्वृत्ति (चैतन्य की परिणति) अपने में ही रहने से, वासनारहित निष्कंप एक तत्व में लीन चिद्वृत्ति का अभाव होने से, वह कैसे संयत होगा? (नहीं होगा, असंयत ही होगा) और असंयत को, यथोक्त आत्मतत्व की प्रतीतिरूप श्रद्धान या यथोक्त आत्मतत्व की अनुभूतिरूप ज्ञान क्या करेगा? इसलिये संयमशून्य श्रद्धान से या ज्ञान से सिद्धि नहीं होती।

इससे आगमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्व के अयुगपत्पने को मोक्षमार्गपना घटित नहीं होता।

गाथा २३७ पर प्रवचन

संसारी जीवों को 'आत्मा परद्रव्य का कुछ नहीं कर सकता' ह्य ऐसा कहने पर नवीनता भासित होती है। मनुष्य दिन में अनेक प्रकार के कार्य करता है। उपदेश अर्थात् वाणी की अवस्था बदल नहीं सकती, तथापि मैं उपदेश करता हूँ, मुझे उपदेश से लाभ होता है ह्य ऐसा मानता है। निमित्त पर मैं कुछ नहीं कर सकता; किन्तु यह जीव निमित्त का अवलंबन लेता है। पर मैं किसीप्रकार का फेरफार नहीं कर सकता, फिर भी उनको बदलना चाहता है।

● प्रत्येक वस्तु स्वतंत्ररूप से परिवर्तन कर रही है। व्यवहार का कथन संयोग अथवा निमित्त का ज्ञान कराता है।

हे भाई! उक्त कथन व्यवहारदृष्टि से किया है। परपदार्थों की अवस्था

१. तर्कणा = विचारणा; युक्ति इत्यादि के आश्रयवाला ज्ञान।

२. मिलित होनेवाला = मिश्रित होनेवाला; संबंध को प्राप्त; अर्थात् उन्हें जाननेवाला। (समस्त पदार्थों के ज्ञेयाकार जिसमें प्रतिबिंबित होते हैं अर्थात् उन्हें जानता है ऐसा स्पष्ट एक ज्ञान ही आत्मा का रूप है।

जैसी होना हो ह वैसी होती है, उसे आत्मा बदल नहीं सकता; किन्तु उन पदार्थों में जीव के कारण क्रिया होती है ह ऐसा मानकर जीव के विकल्पों को निमित्त कहता है। वास्तव में जीव के विकल्प से वह क्रिया नहीं हुई है और पर में क्रिया हुई, इसलिए जीव को विकल्प हुआ ऐसा भी नहीं है। प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है। व्यवहार का कथन संयोगी वस्तु का ज्ञान कराने के लिए किया जाता है।

“वह जीव श्रद्धानशून्य हो तो आगमजनित ज्ञान से कार्य की सिद्धि नहीं होती तथा उसके (आगमज्ञान के) बिना जो नहीं होता ह ऐसे श्रद्धान से भी यदि वह (श्रद्धान) संयमशून्य हो तो सिद्धि नहीं होती।...”

यहाँ आगम के अभ्यास से निर्णय हुआ कि आत्मा, आत्मा है और जड़, जड़ है। यहाँ आत्मा पुण्य और विकार से भिन्न है ह ऐसी धारणा तो हुई; किन्तु अन्तर में वैसी श्रद्धा नहीं है। यहाँ अज्ञानी समझता है कि उपदेश सुनने-समझने से ही सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाएगी; किन्तु आगम में कथित उपदेश/वाणी पर है, अतः अन्तर श्रद्धा नहीं होने के कारण जीव को कुछ लाभ नहीं है। गुरु से ज्ञान नहीं होता, फिर भी गुरु के समीप जाता है; इसप्रकार आगम का व्यवहार ज्ञान होने पर भी अन्तर विश्वास नहीं है, अतः उसे सम्यग्दर्शन नहीं होता, वह मोक्षमार्गी नहीं है।

आगमज्ञान सहित सम्यक्त्व हो सकता है; किन्तु संयम अर्थात् चारित्र नहीं हो सकता। जबतक संयम/चारित्र नहीं है, तबतक जीव मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता है। आत्मा का श्रद्धान ज्ञान हो; किन्तु अन्तरलीनता नहीं हो तो मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता।

आगम से समस्त पदार्थों का युक्तिपूर्वक स्वरूप जानकर भी जब यह जीव निज अन्तर में श्रद्धा नहीं करता तो फिर आगम बल से विशेष विचारणा करके सकल पदार्थों का जैसा स्वरूप है, वैसा विचार नहीं करने वाले तो इस भूमिका से बहुत दूर हैं।

(१) किसी दिन आगम अध्ययन नहीं करे, उसकी बात नहीं है।

(२) कोई आगम जानता हो; किन्तु समझता नहीं हो, उसकी भी बात नहीं है।

(३) कोई आगम से विपरीत अर्थ निकाले अर्थात् निमित्त से उपादान में कार्य होता है, पुण्य से धर्म होता है ह ऐसी विपरीत अस्पष्ट तर्कणा करें उसकी भी बात नहीं है।

(४) यहाँ आगम में पदार्थों के स्वरूप की यथार्थ विचारणा करके जो ज्ञान में ‘निमित्त से उपादान में कार्य नहीं होता, पुण्य से धर्म नहीं होता’ ह ऐसी धारणा करता है; किन्तु छह द्रव्य और नव तत्त्व के स्वरूप को युक्तिपूर्वक स्वतंत्र जानकर भी जो यथार्थ श्रद्धा नहीं करता है, उसकी चर्चा है।

● वह जीव आगम के लक्ष से अपने ज्ञान को खण्ड-खण्ड करता है और अनेकता को प्राप्त होता है; किन्तु एकरूप आत्मा की श्रद्धा नहीं करता।

जो जीव आगमबल से समस्त पदार्थों का युक्तिपूर्वक स्वरूप जानने पर भी आत्मा की यथार्थ प्रतीति नहीं करता, उसे सम्यग्दर्शन नहीं होता।

समस्त पदार्थों का ज्ञेयाकारस्वरूप जिसमें प्रतिबिम्बित होता है अर्थात् जगत् के समस्त ज्ञेयों को जो अपने ज्ञान में स्पष्ट जानता है ह ऐसा ज्ञान स्वरूप ही आत्मा का सच्चा रूप है। ज्ञान सदैव एकरूप ही है। ज्ञान की ओर झुकना या स्वभाव की एकता करना ही जिसका स्वरूप है ह ऐसा आत्मा है। आगम सन्मुखता की ओर बढ़ा हुआ ज्ञान अनेकता उत्पन्न करता है ह ऐसे जीव की धारणा तो यथार्थ है; किन्तु ज्ञान परसन्मुख है, अतः वह ज्ञान एकपने को प्राप्त न होकर खंड-खंडपने को प्राप्त होता है और उसे आत्मा की प्रतीति नहीं होती।

समस्त ज्ञेयों से दृष्टि हटाकर अन्तर्मुख होकर निज ज्ञातापने की रुचि करे तो श्रद्धा पूर्णतः सम्यक् हो और स्व-पर प्रकाशक स्वभाव खिलकर सभी पदार्थों को जानने लगे; किन्तु स्वभाव सन्मुख ज्ञान न होने से उसे धर्म नहीं होता।

समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय आदि आगम भी है और परमागम भी है। इनका ज्ञान प्राप्त करे, छह द्रव्यों को यथावत् जाने; किन्तु यदि ज्ञान का झुकाव आगम अथवा निमित्त की ओर हो तो वह ज्ञान नहीं है और सम्यक्त्व का कारण भी नहीं है।

सम्यक्त्व होने पर आगम का ज्ञान अवश्य होता है। यह मानकर यदि कोई आगम का ज्ञान ही नहीं करें अथवा विपरीत ज्ञान करें तो उसकी यहाँ बात नहीं है; अपितु आगम द्वारा यथार्थ ज्ञान होने पर भी जिसे ज्ञानस्वभावी आत्मा की प्रतीति नहीं है वह उसकी यहाँ बात है।

● **ज्ञानस्वभावी आत्मा की अश्रद्धावाला जीव ज्ञेयनिमग्न अर्थात् ज्ञानविमूढ़ है।**

एकाकार ज्ञानस्वभावी आत्मा की जिसे श्रद्धा नहीं है, वह एकाकार आत्मा का अनुभव नहीं कर सकता; अतः ज्ञेयनिमग्न है, ज्ञानविमूढ़ अज्ञानी है।

ज्ञेय निमग्न = एक के बाद एक ज्ञेयों को जानने में लीन है; किन्तु समस्त ज्ञेयों को जाननेवाले आत्मा में लीन नहीं है।

ज्ञानविमूढ़ = धारणाज्ञान है; किन्तु अन्तर स्वरूप का ज्ञान नहीं है, अतः ज्ञानविमूढ़ है।

जीव आगम द्वारा जानता है कि “राग या पुण्य से लाभ नहीं है, आत्मा में केवलज्ञान की सामर्थ्य है, मैं खण्ड-खण्ड दशारूप नहीं हूँ, आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय परिपूर्ण है” इत्यादि प्रकार से शास्त्र सन्मुख होकर ज्ञेय की ओर झुककर ज्ञान करता है; किन्तु ज्ञानस्वभावी आत्मा की ओर झुककर स्व ज्ञेय का ज्ञान नहीं करता; अतः ज्ञेय निमग्न है और ज्ञाता का ज्ञान नहीं है, अतः ज्ञानविमूढ़ है। ज्ञान-ज्ञेय को समझे बिना सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र नहीं हो सकता। अज्ञानी जीव ज्ञेय सन्मुख होकर ही जानता है। उसे आगम की केवल धारणा है। ज्ञान का स्वभाव समस्त ज्ञेयों को पी जाने रूप है अर्थात् जानने मात्र का है वह ऐसे अगाध ज्ञानसमुद्र

की एकरूप प्रतीति नहीं करता है, वह तो ज्ञेयों में डूबकर ज्ञान से दूर हो गया है।

आगम समस्त पदार्थों का प्रकाशक है; पर अज्ञानी के लिये आगम क्या कर सकता है? अतः आगम ज्ञान होने पर भी वह जीव अज्ञानी ही है। मात्र आगम ज्ञान की वृद्धि से न धर्म होता है और न मुक्ति होती है, अतः प्रथमतः आगम का यथार्थ ज्ञान करके स्वद्रव्य की श्रद्धा-ज्ञान-लीनता करना ही मोक्षमार्ग है।

● **मुमुक्षु जीव ज्ञानी पुरुषों की वाणी को बहुमानपूर्वक समझकर आगम का ज्ञान करते हैं।**

तीर्थकर भगवान की वाणी में प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप भिन्न-भिन्न कहा है। यहाँ अज्ञानी जीव आगमबल से समस्त पदार्थों की विशेष स्पष्ट तर्कणा (विचारणा) करता होने पर भी एकरूप आत्मस्वभाव की प्रतीति नहीं करता, अतः उसे सम्यग्दर्शन नहीं होता। फिर जिन्होंने आगम का अभ्यास ही नहीं किया है, उनकी क्या बात करें? प्रथम तो मुमुक्षुओं को आगम का स्वरूप समझना चाहिए। आगम को कहनेवाले उपदेशक पर भी श्रद्धा होना चाहिए। जिनके पास यथार्थ वस्तुस्वरूप समझते हैं, उनके प्रति यथार्थ विनय और भक्ति अवश्य होना चाहिए तथा उपदेशक भी सर्वज्ञ की बात को कहे तो सच्चा उपदेशक कहलाता है, अन्यथा नहीं।

छह द्रव्य स्वतंत्र हैं, उनकी प्रत्येक पर्याय स्वतंत्र है, निमित्त को आत्मा नहीं कर सकता, पुण्य से धर्म नहीं होता वह ऐसा आगम द्वारा जो बराबर जानता है वह उसे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति विनय है; किन्तु आगम का उपदेश सुनकर मात्र पुण्य होता है, धर्म नहीं।

● **स्वच्छन्दी जीव धर्म पानेयोग्य भूमिका का भी पात्र नहीं है।**

जो जीव ज्ञान के निमित्तरूप सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का विरोध करता है और उनकी आज्ञा को नहीं मानता, उसे आगम का सच्चा ज्ञान नहीं है।

उसे अनेक प्रकार से ज्ञानावरण कर्म भी बंधता है। किसी ज्ञानी के पास से ज्ञान प्राप्त किया हो और कहे कि मैंने उससे समझा ही नहीं है, मैं तो अपने स्वयं से समझा हूँ हूँ ऐसा जीव स्वच्छन्दी होकर आज्ञा का उल्लंघन करके ज्ञान में अंतराय करता है। कोई अन्य जीव ज्ञान प्राप्त करता हो तो उसमें अंतराय उत्पन्न करता हो, ज्ञान की अविनय करता हो तो ऐसा जीव न गुरु की वाणी समझने लायक है और न धर्म के लायक ही है।

● सत्समागम से आगम का ज्ञान करने पर भी जो जीव आत्मज्ञान नहीं करता, उसे कुछ भी सिद्ध नहीं होता है।

यहाँ स्वच्छन्दी जीव की बात नहीं है, अपितु जो गुरु की विनय करता है, किसी जाति का अहंकार नहीं करता, अंतराय नहीं करता, आगम में कहे अनुसार श्रद्धा करता है, नवतत्त्वों को जैसे का तैसा समझता है, पुण्य अथवा निमित्त से लाभ नहीं मानता है, वह जीव स्वभाव का ज्ञान करे, तब शास्त्र को निमित्त कहा जाता है; किन्तु आगमज्ञान होने पर भी जो आत्मा की प्रतीति नहीं करता, उसे सम्यग्दर्शन धर्म प्रगट नहीं होता। उस जीव को आत्मा का ज्ञान नहीं है, वह ज्ञानविमूढ़ अज्ञानी है। ज्ञेयों का ही प्रकाशक है, अतः उसे आगम क्या करेगा? अतः आत्मश्रद्धा से शून्य मात्र आगमज्ञान से सिद्धि नहीं होती।

● सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होने पर भी स्वरूप की अंतर रमणता नहीं हो तो मुनिपना नहीं हो सकता।

अब, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होने पर भी संयम न हो तो उस जीव को मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती हूँ ऐसा कहते हैं।

आत्मा का स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है। स्व को जानते ही समस्त पदार्थों को ज्ञान होता है। स्व की ओर झुका हुआ ज्ञान एकरूप है। मिथ्यादृष्टि का पर की ओर झुकाव है अर्थात् आगम के लक्ष्य से हुआ ज्ञान खंड-खंडता को प्राप्त कर अनेकता प्राप्त करता है।

यहाँ सम्यग्दृष्टि की बात है। सम्यग्दृष्टि का ज्ञान स्व की ओर रहकर

अनेक को जानता है; पर अनेकता प्राप्त नहीं करता, अपितु एकरूप ही रहता है। ऐसे एकरूप आत्मा की श्रद्धा होने पर, अनुभव होने पर भी जो स्वयं में स्थिरता नहीं करता, उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। यद्यपि उसका संसार परिमित हुआ है, किन्तु संसार का अन्त अभी नहीं हुआ है। यही चरणानुयोग में चारित्र की प्रधानता से बात है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता ही मोक्षमार्ग अथवा मुनिपना है। समयसार में सम्यग्दृष्टि को मुक्त ही कहा है हूँ वहाँ दर्शनप्रधान अधिकार है। अस्थिरता को गौण करके दृष्टि की महिमा बताई है। यहाँ चरणानुयोग में सम्यग्दर्शन-ज्ञान होने पर भी स्थिरता न करे तो उसे मुक्ति नहीं होती हूँ ऐसा कहा है। स्वभावदृष्टिपूर्वक चारित्र की रमणता करें तो उसे मोक्षमार्ग होता है। इस अपेक्षा से जो जीव आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान होने पर भी स्वरूप में लीनता नहीं करता, वह संयती अर्थात् मुनि नहीं हो सकता।

● धर्मीजीव अपनी भूल के कारण वीतरागता प्राप्त नहीं करता।

जीव की दृष्टि अनादि मोह-राग-द्वेष की वासना के कारण परद्रव्य में भ्रमण के लिए स्वच्छंदी है। द्रव्य स्वभाव का ज्ञान होने पर भी पूर्व पर्याय के क्रोध-मान-माया-लोभ के कारण राग-द्वेष के परिणाम होते हैं; इसे निमित्त का कथन समझना चाहिए। चैतन्य का भान होने पर भी जितना ज्ञान राग-द्वेष में रूका, वह व्यभिचार है। दया-दानादि विचारों में ज्ञान का अटकना व्यभिचार है। दोष स्वच्छन्दता के कारण है। पाँचवें गुणस्थान में कई बार आर्त-रौद्र ध्यान भी होता है, पुत्र मरने पर खेद होता है। किसी समय द्वेष का भाव भी होता है; किन्तु यह समस्त भाव धर्मी को अपने दोष के कारण होते हैं। किसी प्रसंग अथवा निमित्त के कारण राग-द्वेष नहीं होते; किन्तु स्वयं की कमजोरी के कारण दोष लगता है।

यहाँ चरणानुयोग में राग-द्वेष का कारण निमित्त अथवा कर्म को नहीं कहा है, अपितु स्वयं की पूर्व पर्याय की वासना के कारण यह हुए हैं हूँ ऐसा कहा है। यहाँ पूर्वपर्याय का ज्ञान कराया है। आप स्वयं अस्थिरता के

कारण क्रोधादिरूप परिणमता है, वह निश्चय है और पूर्व विकार के कारण क्रोधादि हुए हूँ ऐसा कहना/जानना व्यवहार है।

धर्मी जीव को वर्तमान अस्थिरतारूप राग-द्वेष स्वयं के कारण होते हैं। यहाँ निश्चय की बात रखकर पूर्व पर्यायगत संस्कार को कारण कहकर निमित्त का ज्ञान कराया है; किन्तु जड़कर्म अथवा संयोगों के कारण वे नहीं हैं।

सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान के साथ वीतरागी चारित्र नहीं होने से धर्मी जीव को उस भव में मोक्ष की सिद्धि नहीं होती है।

इसप्रकार धर्मी जीव की परिणति विभावभावों में अटकी है। उसे पुण्य-पाप से रहित निष्कंप एक आत्मतत्त्व में लीनता का अभाव है अर्थात् वीतरागदशा का अभाव है अतः वे संयत नहीं कहलाते। चतुर्थ गुणस्थान में स्वरूपाचरणचारित्र और पाँचवें में देशचारित्र होता है; किन्तु वह साक्षात् चारित्र नहीं है। श्रद्धान-ज्ञानपूर्वक रमणता न हो तो वह संयमी नहीं है। समकित्ती को भान है, सच्ची श्रद्धा है फिर भी पुरुषार्थ में कमी है अर्थात् चारित्र नहीं है, अतः मुक्ति नहीं है।

समकित्ती को अन्याय-अनीति-अभक्ष्य का त्याग होता है; किन्तु खाने-पीने या अन्य कार्य करने संबंधी रागभाव असंयमभाव, अत्यागभाव है। धर्मी जीव को भान है कि परपदार्थ भिन्न हैं, राग मेरा स्वरूप नहीं है; फिर भी वह असंयमी है, अतः संयमशून्य श्रद्धान या ज्ञान से मोक्ष नहीं होता, क्योंकि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है। यह जिसे नहीं है, उसे मोक्ष की प्राप्ति भी नहीं है।

इसप्रकार आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान तथा संयतत्व इन तीनों की एकता जिसे नहीं है, उसे मोक्षमार्ग नहीं हो सकता।

प्रवचनसार गाथा २३८

अब, आगमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्व का युगपत्पना होने पर भी, आत्मज्ञान मोक्षमार्ग का साधकतम (उत्कृष्ट साधक) है ऐसा समझाते हैं :ह

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं।

तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण॥२३८॥

(हरिगीत)

विज्ञ तीनों गुप्ति से क्षय करें स्वासोच्छ्वास में।

ना अज्ञ उतने कर्म नाशे भव हजार करोड़ में॥२३८॥

अन्वयार्थ :ह [यत् कर्म] जो कर्म [अज्ञानी] अज्ञानी [भवशतसहस्रकोटिभिः] लक्षकोटि भवों में [क्षपयति] खपाता है, [तत्] वह कर्म [ज्ञानी] ज्ञानी [त्रिभिः गुप्तः] तीन प्रकार (मन-वचन-काय) से गुप्त होने से [उच्छ्वासमात्रेण] उच्छ्वासमात्र में [क्षपयति] खपा देता है।

टीका :ह जो कर्म (अज्ञानी को) कर्मपरिपाटी से तथा अनेक प्रकार के बालतपादिरूप उद्यम से पकते हुए, रागद्वेष को ग्रहण किया होने से सुखदुःखादि विकारभावरूप परिणमित होने से पुनः संतान को आरोपित करता जाय इसप्रकार, लक्षकोटि भवों द्वारा चाहे जिसप्रकार (महा कष्ट से) अज्ञानी पार कर जाता है, वही कर्म, ज्ञानी को स्यात्कारकेतन आगम ज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्व के युगपत्पने के अतिशयप्रसाद से प्राप्त की हुई शुद्धज्ञानमय आत्मतत्त्व की अनुभूति जिसका लक्षण है ऐसे ज्ञानीपन के सद्भाव के कारण काय-वचन-मन के कर्मों के उपरम^१ से त्रिगुप्तिता प्रवर्तमान होने से प्रचण्ड उद्यम से पकता हुआ, राग-द्वेष के छोड़ने से समस्त सुख-दुःखादि विकार अत्यन्त निरस्त हुआ होने से पुनः

१. उपरम = विराम, अटक जाना वह; रुक जाना वह; (ज्ञानी के ज्ञानीपन के कारण काय-वचन-मन संबंधी कार्य रुक जाने से त्रिगुप्तिता प्रवर्तती है।)

संतान को आरोपित न करता जाय इसप्रकार उच्छ्वासमात्र में ही लीला मात्र में ही ज्ञानी नष्ट कर देता है।

इससे आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्व का युगपत्पना होने पर भी आत्मज्ञान को ही मोक्षमार्ग का साधकतम सम्मत करना।

भावार्थ :ह अज्ञानी के क्रमशः तथा बालतपादिरूप उद्यम से कर्म पकते हैं और ज्ञानी के ज्ञानीपन^१ के कारण होनेवाले त्रिगुणतारूप प्रचण्ड उद्यम से कर्म पकते हैं; इसलिये अज्ञानी जिस कर्म को अनेक शत-सहस्र-कोटि^२ भवों में महाकष्ट से उल्लंघन (पार) कर पाता है वही कर्म ज्ञानी उच्छ्वास मात्र में ही, कौतुक मात्र में ही नष्ट कर डालता है और अज्ञानी के वह कर्म, सुखदुःखादि विकार रूप परिणमन के कारण, पुनः नूतन कर्मरूप संतति को छोड़ता जाता है तथा ज्ञानी के सुखदुःखादि विकार रूप परिणमन न होने से वह कर्म पुनः नूतन कर्मरूप संतति को नहीं छोड़ता जाता।

इसलिये आत्मज्ञान ही मोक्षमार्ग का साधकतम है।

गाथा २३८ पर प्रवचन

अब, मिथ्यादृष्टि को आगमरूप व्यवहार का ज्ञान है, नयनिक्षेप रूप नव तत्त्वों की श्रद्धा है, छहकाय के जीवों की दया है, पाँच इन्द्रियों के निरोधपूर्वक अशुभभाव से छूटकर शुभभाव वर्तता है; फिर भी आत्मज्ञान बिना मोक्षमार्ग नहीं है; अतः आत्मज्ञान ही मोक्षमार्ग का उत्कृष्ट साधन है ह्व यह समझाते हैं।

जिसे सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा नहीं है। जो अज्ञानपूर्वक तपादि करता है ह्व ऐसे जीव की यहाँ चर्चा नहीं है, अपितु जिसे देव-शास्त्र-गुरु का समागम मिला है। आगमादि का व्यवहार ज्ञान है जिसने संयम प्राप्त किया है, उसे देव-शास्त्र-गुरु की युगपत्ता होने पर भी कर्म बंधते हैं, अपितु समकृति के कर्म तुरन्त नष्ट होते हैं। क्योंकि ह्व

१. ज्ञानीपन=आगम ज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्व के युगपत्पने के अतिशय प्रसाद से प्राप्त शुद्धज्ञानमय आत्मतत्व की अनुभूति ज्ञानीपन का लक्षण है।

२. शत-सहस्र-कोटि = १०० ह्व १००० ह्व १००,००,०००

१) मिथ्यादृष्टि को आगम का अर्थात् पर का ज्ञान है और धर्मी को स्व आत्मा का ज्ञान है।

२) मिथ्यादृष्टि को नव तत्त्वों की नामनिक्षेप से व्यवहार श्रद्धा है और धर्मी को अंतरंग भानपूर्वक नवतत्त्वों की यथार्थ श्रद्धा है।

३) मिथ्यादृष्टि को व्यवहार संयम और शुभभाव है तथा धर्मी को अंतर रमणता है।

इसप्रकार दोनों में अत्यन्त भिन्नता है। अज्ञानी करोड़ों का दान करता है, अनेक तपादि करता है; किन्तु आत्मा के भान बिना उसे धर्म नहीं होता; क्योंकि धर्म से धर्मी को अल्प समय में ही कर्मों का नाश होता है।

● अज्ञानी राग-द्वेष का कर्ता-भोक्ता होकर नवीन कर्मों को बाँधकर संसार में रखड़ता है।

अज्ञानी अनेक प्रकार के तपादि करता है। व्रत उद्यापन करता है। एक व्रत पूर्ण करके पुनः दूसरा व्रत करता है; किन्तु उसे आत्मा का भान नहीं है। शरीरादि क्रिया पर है। आहार का ग्रहण-त्याग आत्मा में नहीं है। राग घटकर शुभभाव होता है; किन्तु यह आत्मा का स्वरूप नहीं है ह्व ऐसा भान अज्ञानी को नहीं है।

वह शुभभावों का ही पुरुषार्थ करता है, अतः अशुभ कर्म तो नहीं बँधते; किन्तु पुण्यकर्म अवश्य बँधते हैं। अन्तर में दया-दानादि से धर्म नहीं होता; किन्तु पुण्यकर्म अवश्य बँधते हैं।

हे भाई! अन्तर में दया-दानादि से धर्म होगा ह्व ऐसी राग की पकड़ होने से वह राग-द्वेष का कर्ता, हर्ष-विषाद का भोक्ता होता है। आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है ह्व ऐसा उसे भान नहीं है। इच्छा के अभावपूर्वक, स्वभाव में लीनता होकर जो तप और शांति का अनुभव होना चाहिए, वह उसे नहीं होता। तप से आनंद के स्थान पर वह आकुलता का वेदन करता है। उपवासादि-तपादि में खाने-पीने की अनुकूल सामग्री प्राप्त हो तो सुख अनुभवता है और प्रतिकूलता हो तो दुःख अनुभव करता है। इसप्रकार आकुलतापूर्वक नवीन कर्मों को बाँधता है।

अज्ञानी के तप हाथी स्नानवत् हैं। राग-द्वेष के कारण उसे एक के बाद एक कर्म बँधते जाते हैं। लाखों-करोड़ों वर्षों तक तपश्चरण करें तो भी कर्म क्षय नहीं होते हैं। हाँ, उससमय पुराने कर्म उदय में आकर नष्ट होते हैं; किन्तु नवीन कर्म बँधते जाते हैं, उनका क्षय नहीं होता है। टीका के लाख-कोटी भवों का अर्थ अनंत भव ही ग्रहण करना है। इसप्रकार अज्ञानी को जब तक आत्मज्ञान नहीं है, तब तक धर्म नहीं होता और कर्मों का नाश भी नहीं होता।

● अज्ञानी जीव आत्मज्ञान के अभाव के कारण संसार में रखड़ता है।

आत्मा का यथार्थ ज्ञान किए बिना शास्त्र का ज्ञान करे, नव तत्त्वों की श्रद्धा करे अथवा पंच महाव्रत पाले, फिर भी कल्याण नहीं हो सकता। अज्ञानी जीव अज्ञान से तप, दया, दान, यात्रा करता है, किन्तु इन समस्त क्रियाकांड के कारण वह कर्मों को बढ़ा रहा है। आत्मा के भान बिना इन्द्रियों का दमन किया, शरीर को कृष किया; किन्तु इससे जन्म-मरण का अन्त नहीं होता। यहाँ मात्र पुराने कर्म उदय में आकर खिरते हैं और राग-द्वेष की कर्ताबुद्धि के कारण पुनः नवीन कर्मबंधन होता है।

जिसप्रकार कोई व्यक्ति दुकानदार को पचास रुपये की पिछली उधारी देता है और उससे ही सौ रुपये का माल फिर से उधार लेता है तो उसका कर्ज समाप्त नहीं हुआ है, उसीप्रकार अज्ञानी जीव को पुण्य के कारण थोड़े कर्म घट गए हैं ह्व ऐसा व्यवहार से लगता है; किन्तु पुण्य से धर्म होता है ह्व ऐसा मानकर वह नवीन कर्मबंधन करता है, उसे जन्म-मरण का नाश नहीं होता। लाखों करोड़ों भवों में अनन्त बार तप करता है; किन्तु कर्म के उदय के कारण आत्मा की शुद्धता नहीं होती; अतः संसार में भ्रमण करता रहता है। राग घटाता है तो पुण्यबंध होता है; किन्तु पुण्य से धर्म माने तो मिथ्यात्वरूप पाप बंधता है। इसप्रकार आत्म स्वभाव के भान बिना समस्त कार्य किये, किन्तु संसार का अन्त नहीं हुआ।

● आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, संयतत्व से आत्मा का अनुभव होता है यह व्यवहार कथन है।

धर्मी जीव को आत्मज्ञान प्रकट होने के पूर्व आगमज्ञान आदि होते हैं।

(१) स्यात्कार लक्षण से युक्त आगम ज्ञान : ह्व धर्मी जीव ने आगम का अभ्यास किया है। आगम स्यात्कार चिन्ह से शोभित है। किसी अपेक्षा से कथन करना स्यात्कार है। जैसे आत्मा, आत्मारूप है पररूप नहीं, आत्मा पलट कर शरीररूप नहीं होता, स्वभाव-स्वभाव रूप है; विभाव रूप नहीं। विभाव विभावरूप है, स्वभावरूप नहीं। आत्मा ज्ञानस्वरूप है और कर्म जड़ हैं। कर्म आत्मा को परेशान नहीं करते, अपितु आत्मा स्वयं भूल करे तो कर्म निमित्त कहलाते हैं। इसप्रकार आगम का ज्ञान जैसा है वैसा करना चाहिए।

(२) तत्त्वार्थ श्रद्धान : ह्व आत्मा ज्ञानस्वरूप है। जीव को जीवरूप मानकर शरीर कर्म आदि को अजीवरूप मानना। दया-दानादि भाव पुण्य और हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापभाव हैं; किन्तु दोनों ही आस्रव व बन्ध के कारण हैं। इससे विपरीत शुद्ध स्वभाव के आश्रय से आत्मा में शुद्धदशा अर्थात् आंशिक संवर-निर्जरा प्रकट होते हैं। तत्पश्चात् परिपूर्ण शुद्धता अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है। जीव, अजीव का कुछ नहीं कर सकता, अजीव, जीव का कुछ नहीं कर सकता। अजीव कर्मादि जीव को हैरान या सुखी नहीं करते; किन्तु फिर भी कोई पुण्य से संवर अथवा धर्म माने तो उसे नवतत्त्व की यथार्थ श्रद्धा नहीं है।

(३) संयतत्व : ह्व राग को घटाकर शुभभाव करना, पाँच इन्द्रियों का दमन करना, छहकाय के जीवों की दया पालना।

इसप्रकार आगम ज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्व धर्मी जीव को एक साथ होते हैं; किन्तु वह व्यवहार है, विकल्प है। हे भाई ! व्यवहार ज्ञान भी यथार्थ होना चाहिए। पैसे की प्राप्ति करना आत्मा का पुरुषार्थ नहीं है; किन्तु अपने में स्थिर रहना आत्मा का पुरुषार्थ है ह्व ऐसा ज्ञान व्यवहारज्ञान है। इस व्यवहारज्ञान और शुभराग के विकल्प के प्रसाद से शुद्ध ज्ञानमय आत्मतत्त्व की अनुभूति प्राप्त होगी ह्व ऐसा कहना चरणानुयोग

का कथन है। शुद्ध ज्ञान की अनुभूति के कारण व्यवहारज्ञान और व्रतादि के भाव होते हैं; किन्तु यह व्यवहार से ही कहे गये हैं। शुद्ध आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान से जिसे अनुभव की प्राप्ति होती है, उन्हें सम्यग्ज्ञान प्रकट करने के लिये प्रथमतः आगमज्ञान नवतत्त्व की श्रद्धा और संयम भाव अवश्य होता है, अतः इनके कारण अनुभूति हुई है ऐसा निमित्त से कथन किया जाता है।

● **शुद्धज्ञानमय आत्मतत्त्व की अनुभूति ज्ञानी का निश्चय लक्षण है।**

शुद्ध ज्ञानमय आत्मतत्त्व की अनुभूति ही ज्ञानी का निश्चय लक्षण है। यहाँ ज्ञान की मुख्यता से बात की है। यह निश्चय लक्षण प्रगट करे है उसे आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्व के युगपत्पने का व्यवहार कहा जाता है है इसप्रकार निश्चय-व्यवहार दोनों बताये हैं।

शरीरादि पर हैं, दया-दानादि विकारी भाव आस्रव हैं। मेरा स्वभाव तो चिदानन्द ज्ञानस्वभावी है है ऐसा भान होने पर जड़ से उदासी होती है और पुण्य-पाप से दूरपना होता है। अन्तर्दृष्टिपूर्वक आत्मतत्त्व का अनुभव होने पर ज्ञान की प्राप्ति होती है।

● **ज्ञानी ने मन-वचन-काय की प्रवृत्ति से विराम पाया है, अतः उसके पुराने कर्म खिर जाते हैं।**

ज्ञानी को ज्ञानत्व के सद्भाव के कारण मन-वचन-काय संबंधी कार्यों में अटकना होने से त्रिगुप्तिपना वर्तता है। मन-वचन-काय जड़ होने से पर हैं। उसमें अटकना नहीं है, लेकिन उसके लक्ष से जो शुभाशुभभाव होते हैं, उनसे श्रद्धा में निवृत्ति है। यहाँ सम्यग्दर्शनपूर्वक स्थिरता की बात कर रहे हैं। शुभाशुभभावों से निवृत्ति है, अतः तीनों ओर की प्रवृत्ति रोककर स्वरूप में गुप्त हुआ है। ऐसा उग्र पुरुषार्थ होने से कर्म उदय में आकर खिर जाते हैं। ज्ञानी तो अपने स्वभाव में ही लीन है है यही प्रचण्ड उद्यम है।

● **ज्ञानी राग-द्वेष का कर्ता नहीं है, हर्ष-शोक का भोक्ता नहीं है, अतः सहज में ही कर्मों को नष्ट करता है।**

अज्ञानी जीव दया-दानादि से धर्म मानता है, अतः उसे विकार की दृष्टि है। ज्ञानी को शुभाशुभभावों पर दृष्टि नहीं है, वह उसे धर्म का कारण नहीं मानता। अज्ञानी व्यवहार करते-करते ही धर्म हो जाएगा है ऐसा मानकर राग-द्वेष का कर्ता और हर्ष-शोक का भोक्ता होता है। ज्ञानी को राग-द्वेष का कर्तापना और हर्ष-शोक का भोक्तापना नहीं है, मात्र ज्ञाता भाव रहता है, उसे समस्त सुख-दुःखादि विकार निरस्त हो गए हैं, अतः कर्म बँधन नहीं है। ज्ञानी सहजमात्र रहकर आनन्दपूर्वक कर्मों को दूर करता है।

जिन कर्मों को अज्ञानी अनंतभवों में दूर नहीं कर सकता है ऐसे कर्मों का ज्ञानी शीघ्र ही मूलतः नाश करते हैं, इसीका नाम धर्म है, संवर-निर्जरा है।

● **आत्मज्ञान ही मोक्षमार्ग का उत्तम साधन है।**

यहाँ ऐसा कहा है कि आगमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्व इन तीनोंपूर्वक आत्मज्ञान हो तो ही मोक्षमार्ग होता है। आत्मज्ञान के बिना उक्त तीनों हों तो भी वह कार्यकारी नहीं हैं, फिर जिन जीवों को आगमज्ञान का ही ठिकाना नहीं है, उनकी क्या बात करें? जिसको व्यवहार श्रद्धा का पता नहीं है। जो आत्मा को शरीर का कर्ता मानता है। व्यवहार/पुण्य से धर्म मानता है, व्रत करते-करते मोक्ष हो जाएगा है ऐसा मानता है उसकी तो यहाँ बात ही नहीं है। स्थूल मिथ्यादृष्टि की बात भी बहुत दूर है; अतः आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्व का युगपत्पना होने पर आत्मज्ञान ही मोक्षमार्ग का उत्तम साधन समझना चाहिए।

(१) **आगमज्ञान** : है शरीर से धर्म होता है, कर्म परेशान करते हैं है ऐसा माननेवाले को आगम का सम्यक् ज्ञान नहीं है। भगवान की दिव्यध्वनि से प्राप्त वस्तुस्वरूप को यथार्थ रीति से कहनेवाले आगम का ज्ञान करे, जीव को जीवरूप और कर्म को कर्मरूप माने। एक द्रव्य का अन्य द्रव्य में अभाव है, प्रत्येक के स्वचतुष्टय अपने स्वयं से है, पर से नहीं, आगम भी

पर है, आगम से ज्ञान नहीं होता ह इसप्रकार आगम और ज्ञान को भिन्न-भिन्न जानता है।

(२) तत्त्वार्थश्रद्धान :ह नवतत्त्वों को भिन्न-भिन्न जानता है। पुण्य से धर्म नहीं होता, व्यवहार से निश्चय नहीं होता। कर्म एवं शरीर अजीव हैं, आत्मा ज्ञानस्वरूप है और दोनों स्वतंत्र हैं ह ऐसा माने तो व्यवहार श्रद्धा है।

(३) संयतत्व :ह बारह व्रत, पाँच महाव्रत तथा छहकाय के जीवों की रक्षा आदि का भाव शुभभाव है।

इसप्रकार आगमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्व का युगपत्पना अर्थात् व्यवहार रत्नत्रयपना पुण्यबंध का कारण है; धर्म का नहीं। तीनों होने पर भी विकल्पों से रहित, अभेद आत्मा के आधार से आत्मज्ञान ही मोक्षमार्ग का उत्तम साधन है।

अतः हे जीवों ! आत्मज्ञान प्राप्त करो, उसके लिए ही पुरुषार्थ करो।

अनादि से आज तक जीवों को वस्तुस्वरूप की समझ ही नहीं है। आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और शुभराग ह यह परद्रव्य हैं, इनकी ओर उन्मुख होना राग है। मैं इन सबसे रहित चैतन्यमूर्ति हूँ ह ऐसा ज्ञान ही आत्मज्ञान है।

आत्मज्ञान होने के पूर्व आगमज्ञानादि होते हैं; किन्तु उससे आत्मज्ञान नहीं होता। नवतत्त्वों का राग भी चैतन्य में नहीं है; अतः जो मिथ्यात्व राग-द्वेष छोड़े, वह जैन है। जैन नाममात्र धारण करने से जैनपना नहीं होता। पुण्य-पाप की मिठास छोड़कर जो स्वभाव का आदर नहीं करता, वह जैन नहीं है। वह तो श्रावक अथवा साधु भी नहीं है। आगमज्ञान, द्रव्यलिंगपना अनेकों बार प्राप्त किया है। देवलोक में भी अनेकों बार गया है; किन्तु कहीं पर भी आत्मा का भान नहीं हुआ है; अतः आचार्यदेव कहते हैं कि अहो ! दया-दान से धर्म माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। शरीर, मन, वाणी पर हैं, दया-दानादि विकार हैं।

तुम्हारा आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान करोगे तो मोक्ष होगा ह ऐसा निश्चय करो। वस्तुस्वरूप ऐसा ही है। दिव्यध्वनि में ऐसा ही आया है और हम भी यही कह रहे हैं। आत्मज्ञान ही मोक्षमार्ग है; अतः संयम धारण करो। वह जब तक प्राप्त न हो, तब तक उसका प्रयत्न करो और उसकी प्राप्ति के लिए विशेष पुरुषार्थ करो।

● अज्ञानी तप तथा धर्म को कष्टदायक मानता है, जो कि भूल है। वास्तव में तप और धर्म तो शांति को देनेवाले हैं।

अज्ञानी को बालतप होते हैं और शुभभाव के ऊँचे पुरुषार्थ से कर्म खिरते हैं; किन्तु अल्प कर्म क्षय होकर पुनः नवीन अनेक कर्म बाँधते हैं। अज्ञानी जीव अनेक भव तप करता है और महाकष्ट से कर्मों को छोड़ पाता है। उसे धर्म भी कष्टदायक ही लगता है।

हे भाई ! वास्तव में धर्म कष्टदायक नहीं है, धर्म तो शांतिदायक है। उपवास आदि करके शरीर को अनेकों बार इस जीव ने कृष किया है। इसलिये तपादि को लोहे के चने चबाने जैसा कहकर तप और धर्म को कष्टदायक मानता है, उन्हें अंगीकार नहीं करता है। वस्तु कष्टदायक हो तो उससे क्या शांति मिलेगी ? धर्म तो शांतिदायक होना चाहिए। अज्ञानी अधिक तप करके अन्तर में आर्तध्यान करता है, उससे धर्मध्यान नहीं होता। आत्मा को जाने बिना अशांति का नाश नहीं होता। आत्मा चिदानन्दस्वरूप है ह ऐसे भानपूर्वक अंतर लीनता बढ़ने से राग घटता है और सहज तप-उपवासादि होते हैं। इसप्रकार ज्ञानी की शांति अत्यधिक बढ़ गई है, धर्म तो शांति का दातार है। अज्ञानी अनेक भवों में भी कर्मों को पहिचान कर उनका नाश नहीं करता; किन्तु जिन ज्ञानियों को आत्मा का भान है, वे क्षणमात्र में ही कर्मों का नाश करते हैं।

● अज्ञानी नवीन कर्म बाँधता है और ज्ञानी सहजता से कर्मों को नष्ट करता है।

आत्मा ज्ञानस्वभावी वस्तु है और शरीर, कर्म आदि पर हैं। दया-

दानादि विकृतभाव हैं। वह आत्मा का शुद्धस्वभाव नहीं है; अज्ञानी को इसका भान नहीं है। पाप की वासना में मिठास मानता है, पुण्य से धर्म मानता है। अनेक प्रकार के व्रत-तप-उद्यापन करता है; किन्तु परिपूर्ण तपादि होने पर भी उसके कर्म नष्ट नहीं होते। अज्ञानी मानता है कि अधिक दुःख सहन करेंगे तो धर्म होगा, उसे धर्म कंटकमय लगता है। जिनको चारित्र आनन्दमय की जगह दुःखदायक लगता है, उन जीवों को तप में आर्तध्यान होता है वह वह पुण्य का भी कारण नहीं है, फिर धर्म का कारण कैसे हो सकता है?

अज्ञानी को अनेक कष्ट होने पर भी कर्मों का क्षय नहीं होता; किन्तु ज्ञानी के अल्प समय में ही कर्मों का क्षय होता है। मैं आत्मा चैतन्यस्वभावी हूँ, शरीरादि तथा शुभाशुभभाव मेरे ज्ञान के ज्ञेय हैं, मैं सभी को जाननेवाला हूँ, विकल्पों में तन्मय रहे बिना ही मैं जानता हूँ वह ऐसी सच्ची दृष्टि होने पर थोड़े समय में (लीलामात्र में) ही ज्ञानी कर्मों का नाश करता है।

अज्ञानी अनुकूल संयोगों में हर्ष और प्रतिकूल संयोगों में खेद करता है, अतः वह हर्ष-विषाद का भोक्ता है, उसे नवीन कर्मों का बंध होता है। ज्ञानी किसी भी संयोग को अनुकूल या प्रतिकूल नहीं मानता, वह उसका ज्ञाता रहता है, अतः उसे नवीन कर्मबंधन नहीं होता। इसप्रकार आत्मज्ञान ही मोक्षमार्ग का उत्तम साधन है।

● आत्मज्ञान बिना आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्व कार्यकारी नहीं है।

अब, आत्मज्ञान शून्य सर्व आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, संयतत्व का युगपत्पना अकिंचित्कर है वह ऐसा उपदेश करते हैं।

आत्मा पुण्य-पाप से रहित अखण्डआनन्दस्वभावी है। उसकी अंतरंग श्रद्धा के बिना आगमज्ञानादि कुछ भी लाभकारी नहीं हैं।

(१) आगमज्ञान : वह आत्मा रागरहित है। आत्मा के निश्चय स्वरूप में व्यवहार का अभाव है। द्रव्यगुण पर्याय जैसे हैं, वैसे आगम द्वारा

जानना चाहिए। नौ पूर्व का ज्ञान होने पर भी यदि आत्मज्ञान नहीं हो तो आगमज्ञानादि कुछ भी कार्यकारी नहीं है।

(२) तत्त्वार्थश्रद्धान : वह जीवादि नवतत्त्व जैसे हैं, वैसे नाम निक्षेप से जानता है। जीव-अजीव को भिन्न-भिन्न जानता है। पुण्य से धर्म नहीं मानता। जीव में आस्रव का अभाव है वह ऐसी नव तत्त्वों की पृथक्-पृथक् श्रद्धा करता है, किन्तु आत्मज्ञान बिना ये सब कार्यकारी नहीं हैं।

(३) संयतत्व : वह शुभभाव करें, बारह व्रतों का पालन करें। मुनि हो तो पाँच महाव्रतों का पालन करें, किन्तु आत्मज्ञान बिना ये सबकुछ भी कार्यकारी नहीं हैं।

वर्तमान में आगमज्ञान और नवतत्त्व की व्यवहार श्रद्धा का भी ठिकाना नहीं है। निमित्त से लाभ होता है, पुण्य से धर्म होता है, संयोग और निमित्त सबकुछ करते हैं वह ऐसी मान्यता तो स्थूल भूल है। पर पदार्थ मेरे कारण नहीं होते, निमित्त से किसीप्रकार का हानि लाभ नहीं होता वह ऐसा मानकर वह निजात्मा का स्वतंत्र ज्ञान भी करता है, किन्तु आगम के लक्ष्य से पुण्य का आश्रय लेकर हुआ ज्ञान आत्मज्ञान नहीं है। कोई जीव आठ वर्ष की आयु में ज्ञान प्राप्त करें और करोड़ पूर्व की आयुष्य होने तक मात्र आगम का लक्ष्य करे तो वह कार्यकारी नहीं है; क्योंकि आगम परज्ञेय हैं। जबतक स्व-ज्ञेय के लक्ष्य से जाननपना नहीं करता, तबतक उसे आत्मज्ञान नहीं होता।

अतः उसका सम्पूर्ण आगमज्ञान वृथा है। समवशरण में अनेक जीवों को ज्ञान का थोड़ा उधाड़ होने पर भी वे आत्मज्ञान कर लेते हैं, क्योंकि उनका लक्ष्य ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव पर है। जो अज्ञानी मनुष्य ज्ञान का अत्यन्त विकास होने पर भी परलक्ष्य के कारण आत्मज्ञान प्रगट नहीं करता वह ऐसा जीव हजारों रानियों को छोड़े, शरीर को खण्ड-खण्ड करके तपादि का आचरण करे, ब्रह्मचर्य का पालन करे, परन्तु आत्मज्ञान के बिना यह सब वृथा ही है।

प्रवचनसार गाथा २३९

अब, ऐसा उपदेश करते हैं कि ह्म आत्मज्ञानशून्य के सर्व आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान तथा संयतत्व का युगपत्पना भी अकिंचित्कर है, (अर्थात् कुछ भी नहीं कर सकता) :-

परमाणुप्रमाणं वा मुच्छा देहादिषु जस्स पुणो ।

विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरो वि॥२३९॥

(हरिगीत)

देहादि में अणुमात्र मूच्छा रहे यदि तो नियम से ।

वह सर्व आगम धर भले हो सिद्धि वह पाता नहीं ॥२३९॥

अन्वयार्थ : ह्म [पुनः] और [यदि] यदि [यस्य] जिसके [देहादिकेषु] शरीरादि के प्रति [परमाणुप्रमाणं वा] परमाणुमात्र भी [मूच्छा] मूच्छा [विद्यते] वर्तती हो तो [सः] वह [सर्वागमधरः अपि] भले ही सर्वागम का धारी हो तथापि [सिद्धिं न लभते] सिद्धि को प्राप्त नहीं होता ।

टीका : ह्म सकल आगम के सार को हस्तामलकवत् करने से (हथेली में रखे हुए आँवले के समान स्पष्ट ज्ञान होने से) जो पुरुष भूत-वर्तमान-भावी स्वोचित^१ पर्यायों के साथ अशेष द्रव्य समूह को जाननेवाले आत्मा को जानता है, श्रद्धान करता है और संयमित रखता है, उस पुरुष के आगमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्व का युगपत्पना होने पर भी, यदि वह किंचित्मात्र भी मोहमल से लिप्त होने से शरीरादि के प्रति (तत्संबंधी) मूच्छा से उपरक्त^२ रहने से, निरुपराग^३ उपयोग में परिणत करके ज्ञानात्मक आत्मा का अनुभव नहीं करता, तो वह पुरुष मात्र उतने (कुछ) मोहमल-कलंकरूप कीले के साथ बंधे हुए कर्मों से न छूटता हुआ सिद्ध नहीं होता ।

१ स्वोचित = अपने को उचित, अपने-अपने योग्य । (आत्मा का स्वभाव त्रिकाल की स्वोचित पर्यायों सहित समस्त द्रव्यों को जानना है ।)

२ उपरक्त = मलिन; विकारी ।

३. निरुपराग = उपराग रहित; निर्मल; निर्विकार; शुद्ध ।

इसलिये आत्मज्ञानशून्य आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, संयतत्व का युगपत्पना भी अकिंचित्कर ही है ।

गाथा २३९ पर प्रवचन

मिथ्यादृष्टि जीव समस्त आगम का परलक्ष्य से अभ्यास करता है ।

मिथ्यादृष्टि जीव समस्त आगम का परलक्ष्यपूर्वक यथावत् अभ्यास करता है । समस्त पदार्थों के द्रव्य-गुण-पर्याय को वह हस्तामलकवत् जानता है । आगम में जैसा स्वरूप कहा गया है, वैसा स्वरूप वह आगम सम्मुख होकर जानता है; तथापि मैं चिदानन्दस्वरूप हूँ, मुझमें उत्पन्न आस्रवभाव दुःखस्वरूप है ह्म इसप्रकार निज आत्मा को विकार से भिन्न करके आत्मज्ञान नहीं करता; अतः शास्त्रों का ज्ञाता/कथन करता हुआ होने पर भी वह मिथ्यादृष्टि ही है ।

इस जीव को आत्मज्ञान नहीं है; किन्तु आगमज्ञान बराबर है । जिसप्रकार हाथ पर रखा आँवला स्पष्टरूप से दिखाई देता है, उसीप्रकार आगमज्ञान के माध्यम से वह समस्त पदार्थों को यथावत् (हस्तामलकवत्) स्पष्ट जानता है । जड़ की पर्याय, जड़ से होती है और चेतन की पर्याय चेतन से होती है । पूर्व पर्याय से वर्तमान पर्याय नहीं होती । प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्याय स्वतंत्र है ह्म ऐसा यथार्थज्ञान उसे वर्तता है । भूत-भविष्य और वर्तमान स्वोचित पर्याय सहित समस्त द्रव्यों को जानने का मेरा ज्ञायक स्वभाव है ह्म ऐसा वह जानता है ।

स्वोचित = अपने-अपने योग्य अर्थात् जड़ की पर्याय जड़ से होती है और आत्मा की पर्याय आत्मा से होती है । इसप्रकार अपने अतिरिक्त समस्त आत्मा और जड़ पदार्थों के स्वरूप को वह परसन्मुख होकर जानता है । उसका जाननपना रागपूर्वक होता है; किन्तु स्व-सन्मुखता से वह निज आत्मा को नहीं जानता । समस्त द्रव्य समूह अर्थात् अनंत सिद्ध परमेष्ठी, अनंत संसारी आत्मा, अनंतानंत परमाणु, धर्म, अधर्म, आकाश और असंख्य कालाणु द्रव्यों को वह आगम से जानता है ।

यह समस्त अभ्यास पर-सन्मुख दृष्टिपूर्वक उसके वर्तता है; किन्तु पर का लक्ष्य छोड़कर स्व-आत्मा की ओर उसका लक्ष्य नहीं रहता है। यह सब क्षयोपशम का उधाड़ है, पुण्य का कारण है; किन्तु धर्म का कारण नहीं है। सम्यग्दर्शन का कारण तो परमपारिणामिक भाव है, क्षयोपशमिकभाव नहीं। क्षयोपशम भाव भले ही वर्तता हो; किन्तु उससे आत्मज्ञान नहीं हो सकता।

● जिसे आगम का यथार्थ अभ्यास नहीं, वह धर्म की भूमिका से भी अत्यन्त दूर है।

(१) हे जीवो ! यहाँ आगम का सार कहा गया है। जो जीव संसार के अभ्यास में पड़े हैं, वे आगमाभ्यास से बहुत दूर हैं। यहाँ तो लौकिक अभ्यास छोड़कर जो आगम का अभ्यास करता है, उसकी बात है।

(२) आगम का अभ्यास करने पर भी यदि कोई आगम से विरुद्ध भाव निकाले, उसकी यहाँ बात नहीं है। शरीर की क्रिया से आत्मा को लाभ होता है। आत्मा है तो वाणी बोलती है शरीर धर्म का साधन है, अनुकूल निमित्त हो तो लाभ होता है, पुण्य से धर्म होता है ह इसप्रकार की मान्यतावाले स्थूल मिथ्यादृष्टि की यहाँ बात नहीं है। वे जीव तो धर्म की भूमिका से भी बहुत दूर हैं।

● यहाँ, जिस मिथ्यादृष्टि की आगम के अभ्यास में भूल नहीं है, उसकी बात है।

यहाँ, शास्त्रों में जो बात जैसी कही गई है, उसका वैराग्यपूर्वक वैसा ही अभ्यास करे, उसे वैसा ही माने उस जीव की बात है। ऐसा जीव पुण्य, को पुण्य का कारण मानता है, धर्म नहीं। निमित्त से लाभ नहीं मानता। समस्त आत्मा और जड़ की पर्याय वर्तमान में अपने-अपने कारण से होती हैं, पर से नहीं हूँ ऐसा आगम द्वारा निश्चित करता है। जड़ की भूत-वर्तमान और भविष्यकालीन पर्यायों अपने-अपने कारण से होती हैं। मेरा राग मुझसे होता है, पर से नहीं। राग मुझसे हुआ है, कर्म के कारण नहीं।

यदि कोई पर्याय पर के कारण हो तो वर्तमान पर्याय भी स्वतंत्र नहीं रहती।

जिसप्रकार ईश्वर को जगत का कर्ता माननेवाला भूल में है; उसीप्रकार एक द्रव्य की वर्तमान पर्याय का कर्ता अन्य द्रव्य को कहने वाले की मान्यता भी भूलस्वरूप ही है।

● मिथ्यादृष्टि का समस्त अभ्यास पर लक्ष से किया हुआ है; स्व-लक्ष्य से उसने निर्णय किया ही नहीं है।

मिथ्यादृष्टि जीव समस्त बातों का निर्णय आगम की ओर देखकर करता है। राग की मंदता के कारण ही परसन्मुखता का उधाड़ मानता है। ये सब मिथ्याज्ञान की पर्याय है। शास्त्र में जैसा कहा है, वैसा उसने जाना है; किन्तु पर्यायबुद्धि से जाना है। द्रव्यबुद्धि से जाना ही नहीं है।

यह जीव आगम के लक्ष्यपूर्वक जानता है; किन्तु स्वभाव के आश्रय से निर्विकल्प निर्णय नहीं करता है। पर की ओर विकसित ज्ञान से सम्यग्दर्शन की पर्याय प्रगट नहीं होती। सम्यक्त्व की पर्याय, पर्याय में से नहीं आती है। अज्ञानी मानता है कि शास्त्रज्ञान की विकसित पर्याय की ओर दृष्टि करें तो सम्यक्त्व होगा अर्थात् पर्याय में से पर्याय उत्पन्न होगी; किन्तु ऐसा नहीं है। ज्ञानस्वभावरूप अंशी के आधार से सम्यग्दर्शन होता है हूँ ऐसा वह नहीं मानता, अतः उसे आत्मज्ञान नहीं हो सकता।

शिवभूति मुनिराज को भावश्रुत ज्ञान था। वे आत्मा को चिदानन्द-स्वरूपी तथा आस्रव को आकुलतास्वरूप मानते थे। शांति और धर्म स्वयं के आश्रय से प्रगट होता है हूँ ऐसा उन्हें भावश्रुतज्ञान था और इससे ही केवलज्ञान प्रगट होता है।

● परसन्मुख दृष्टि वाले जीव को ज्ञान का विकसितपना होने पर भी धर्म नहीं होता।

मिथ्यादृष्टि को ज्ञान का अत्यधिक विकास होने पर भी आत्मज्ञान नहीं होने से उसका ज्ञान मिथ्या है। परसन्मुख दृष्टि करते-करते ही कल्याण होगा हूँ ऐसा वह मानता है। निजात्मा के सिवाय समस्त द्रव्यों को

जानता है; व्यवहार से निश्चय होगा हूँ ऐसा वह मानता है। मेरा आत्मा चिदानन्दस्वरूप है हूँ ऐसा यथार्थ निश्चय उसे नहीं है। पर सन्मुखता व्यवहार और स्व-सन्मुखता निश्चय है हूँ यह वह नहीं जानता।

निज की पर्याय स्व-सन्मुखता से प्रगट होगी हूँ ऐसा वह नहीं मानता। प्रथम पर-सन्मुख दृष्टि का अभाव करे तो स्वसन्मुखता प्रगट होती है। आगम की ओर का लक्ष हटाकर पर्याय को द्रव्य सन्मुख करे तो स्वसन्मुख दशा प्रगट होती है; किन्तु वह ऐसा नहीं करता और परसन्मुख लक्ष रखकर क्षयोपशम भाव से धर्म मानता है; परन्तु इससे त्रिकाल में भी धर्म नहीं हो सकता।

अहो ! वस्तुस्वरूप का वर्णन आचार्य भगवंतों ने अद्भुतरीति से किया है। निजात्मा के भान से उन्हें अत्यन्त अंतररमणता बढ़ गई है। वीतरागी दशा होने पर भी बाह्य में शरीर की नग्नदशा उन्हें दिखाई देती है। मुनिराज कहते हैं कि आगम का अभ्यास होने पर पाँच महाव्रत का पालन करते हुए आत्मा की रुचि करो। जो आत्मज्ञान नहीं करता है, उसे आगम का अभ्यास कुछ भी कार्यकारी नहीं है, अतः स्वसन्मुखता की रुचि करके आत्मज्ञान प्रगट करो।

● आत्मज्ञान बिना सम्पूर्ण आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, संयतत्व अकार्यकारी है।

आगम का ज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्व होने पर भी, जिसे आत्मज्ञान नहीं है, उसका कल्याण नहीं हो सकता। आजतक अनेक जीवों ने आत्मज्ञान बिना ही आगम का अभ्यास किया है। अनन्त आत्माएँ हैं, प्रत्येक के अनंत गुण हैं, उन सबकी प्रत्येक पर्याय भी स्वतंत्र है। शरीर, कर्म स्वतंत्र हैं। कोई किसी को कारण नहीं है, वर्तमान की पर्याय भविष्य की पर्याय का कारण नहीं है। स्वरचित जड़ की अवस्था जड़ के कारण और आत्मा की अवस्था आत्मा के कारण होती है हूँ ऐसा जानकर जो नवतत्त्वों की श्रद्धा करता है, जीव को जीव जानता है, अजीव को

अजीव जानता है। पुण्य-पाप, आस्रव-बंध जैसे हैं, वैसा जानता है। संवर-निर्जरा प्रगट नहीं है; किन्तु संवर-निर्जरा एवं मोक्ष का यथार्थ स्वरूप जानता है। आगम द्वारा छह द्रव्यों को स्वतंत्र जानकर, आगम और नवतत्त्वों की श्रद्धा करता है। पाँच इन्द्रियों की विषयाभिलाषा रोककर, पाँच महाव्रत, बारह व्रतरूप शुभभाव करता है। मुनि होकर २८ मूलगुण, संयमादि का पालन करता है; इतना सब कुछ होने पर भी आत्मज्ञान नहीं होने से सिद्धि को प्राप्त नहीं करता है।

● गृहीत मिथ्यात्व टालने पर भी अगृहीत मिथ्यात्व के सद्भाव के कारण जीव संसार में रखड़ता है।

जीव को आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, संयतत्व युगपत् होने पर भी जाननपना स्वलक्ष्य से नहीं है अर्थात् आगम द्वारा परलक्ष्य से किया गया है। वह पुरुष जरा से मोह-मल से, सूक्ष्म मिथ्यात्व के कारण संसार में ही रखड़ रहा है। उसने कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की श्रद्धा छोड़कर सच्चे-देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा की है। आगम अनुसार नव तत्त्वों की व्यवहार श्रद्धा की है। उसे स्थूल-गृहीत मिथ्यात्व व्यवहार से टला है, अतः 'सूक्ष्म' ऐसा कहा अर्थात् जिसे गृहीत मिथ्यात्व, कुदेवादि की श्रद्धा हो उसे तो अगृहीत मिथ्यात्व होता ही है।

जिसे अगृहीत अथवा सूक्ष्म मिथ्यात्व शेष है, उसे सूक्ष्म मोह में लिप्तता है। तीव्र मिथ्यात्वी जीव व्यवहार को टालता है। यदि उसने निश्चय से त्याग किया हो तो पुनः गृहीत मिथ्यादृष्टि नहीं होता। अगृहीत मिथ्यात्व टला हो तो ही स्थूल तीव्र मिथ्यात्व टला हूँ ऐसा कहा जाता है। व्यवहार से गृहीत मिथ्यात्व टला है; किन्तु अगृहीत मिथ्यात्व शेष है, अतः 'जराक' शब्द प्रयुक्त किया है।

● जीव को सूक्ष्म मिथ्यात्व के कारण आत्मा का अनुभव नहीं है।

मोह महामल थोड़ा सा शेष है? अज्ञानी जीव ने जो भी अभ्यास किया है, वह आगम के लक्ष से किया है, स्वलक्ष से नहीं। चैतन्यस्वभाव

की अंतर रुचि न करके शास्त्रों को जानकर ही जीव मूढ़ हो गया है। चैतन्य के आश्रय से लाभ को स्वीकार न करके परसन्मुख लक्षण एवं निमित्त से लाभ मानता है। वह व्यवहार, व्रतादि का पालन करता है; किन्तु ये सब राग हैं, पुण्य हैं; धर्म नहीं। जीव अन्तर में विकार की रुचि करता है; किन्तु स्वभाव की रुचि नहीं करता। निर्विकारी उपयोग में परिणति करके ज्ञानात्मक आत्मा को नहीं अनुभवता।

अब, ज्ञानात्मक आत्मा का स्वरूप कहते हैं? कैसा है ज्ञानात्मक आत्मा? शुद्ध ज्ञानस्वरूप है। उसमें परपदार्थों का ग्रहण-त्याग नहीं है; क्योंकि परपदार्थों का आत्मा में अत्यन्त अभाव है। राग का ग्रहण-त्याग भी ज्ञानात्मक आत्मा में नहीं है। राग का ज्ञान में प्रवेश ही नहीं है, तो फिर उसे दूर करने की बात कैसे होगी? अतः ज्ञानात्मक आत्मा में स्थिर होकर निर्विकारी शुद्ध परिणति का अनुभव करना चाहिए; किन्तु विकार और परसन्मुखता की दृष्टि होने से जो जीव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यदशा का अनुभव नहीं करता है, वह जीव परसन्मुख ही रहता है। ऐसा जीव पर का ज्ञान घटाकर ज्ञान करता है; किन्तु ज्ञानात्मक चैतन्य का आश्रय नहीं लेता। वह जीव अपने ज्ञान में 'यह जीव है, यह अजीव है, यह पाप है' हूँ ऐसे भिन्न-भिन्न भेद करके विषयों का निर्णय करता है। वहाँ राग को जुदा करता है; किन्तु मैं अन्तर ज्ञातास्वरूप एक शुद्ध जीवतत्त्व हूँ हूँ ऐसा एकरूप श्रद्धान-ज्ञान नहीं करता, अतः उसे वीतराग पर्याय का अनुभव नहीं होता।

प्रश्न : हूँ उसे अनुभव अच्छा लगता है या नहीं ?

उत्तर : हूँ यदि उसे स्वात्मा का अनुभव अच्छा लगता हो तो वह विकार का अनुभव करेगा ही नहीं। अज्ञानी जो कुछ भी करता है, वह सब भोग के भाव से करता है। उसे तीव्र मिथ्यात्व नहीं है; किन्तु वह दया-दानादि भावों में अटका है। वह समस्त विकारों का अनुभव करता है; अतः उसे स्वसन्मुखता नहीं होती।

● जीव को सूक्ष्म मिथ्यात्व के कारण कर्म का नाश नहीं होता तथा धर्म भी नहीं होता है।

“....वह पुरुष मात्र उतने (कुछ) मोहमहामलकलंक रूप कीले के साथ बँधे हुए कर्मों से छूटता हुआ सिद्ध नहीं होता।.....”

उस जीव को नव पूर्व और ग्यारह अंगों का अभ्यास है, धारणा करना शेष है; किन्तु स्वसन्मुखता करके ज्ञान नहीं करता है, प्रयोजनभूत तत्त्वों को साधता नहीं है, अतः सूक्ष्म मिथ्यात्व रह गया है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक में भी कहा है कि हूँ “जो जीव जैन है, जिन आज्ञा को मानते हैं, उन्हें भी सूक्ष्म मिथ्यात्व रह जाता है। इस मिथ्यात्व शत्रु का अंश भी बुरा है, अतः यह सूक्ष्म मिथ्यात्व भी त्यागने योग्य है।”

आगमज्ञान से मेरा आत्मज्ञान जागृत होगा हूँ ऐसी मान्यता का सूक्ष्म शल्य अभी विद्यमान है। शरीरादि के प्रति मूर्च्छा है। शरीर, पुण्य, निमित्त आदि की आंशिक रुचि है, अतः उस जीव के अभी सूक्ष्म मोह शेष है।

राग और पुण्य की सूक्ष्म एकत्वबुद्धि के कारण मूर्च्छा कही गई है। पाँच किलो दूध में एक रुपये का जहर डाले तो वह दूध मनुष्य को मार डालता है, उसीप्रकार सूक्ष्म होने पर भी वह मिथ्यात्व होने के कारण अनंत संसार में परिभ्रमण कराता है।

‘सूक्ष्म मोहमल’ का अर्थ यह है कि जीव ने कुदेवादिक की श्रद्धा छोड़ दी है, आगम को स्पष्ट तर्कणा से जाना है। भगवान की परंपरा वाणीरूप शास्त्रों को भी जाना है। नवतत्त्वों को मानता है। व्रतादि का पालन करता है। इतने पर भी कुछ सूक्ष्म मिथ्यात्व पुण्य अथवा परसन्मुख दृष्टि के कारण रह गया है हूँ ऐसा कहकर यहाँ आत्मज्ञान के प्रति जोर दिया गया है।

आत्मज्ञान बिना आगम का ज्ञान आदि सब अकार्यकारी हैं। सूक्ष्म मिथ्यात्व के कारण जब जीव संसार परिभ्रमण करते हैं तो जो जीव पुण्य के कारण धर्म मानते हैं, निमित्त से लाभ मानते हैं, कुदेवादिक की श्रद्धा करते हैं, वे तो स्थूल मिथ्यादृष्टि हैं। संसार परिभ्रमण ही करनेवाले हैं। इन

सूक्ष्म मिथ्यादृष्टि जीवों को स्वभाव का वेदन नहीं है अर्थात् पुण्य का वेदन है। सम्यग्दृष्टि जीव को संसार और राज-पाट होने पर भी उसका लक्ष स्वभाव के प्रति है, अतः उसे धर्म वर्तता है। अज्ञानी जीव घर-बार छोड़कर जंगल में जाता है, महीना-महीना उपवास करता है, अंतर में कषाय मंदता करता है; किन्तु परसन्मुख दृष्टि होने के कारण उसे विभाव का वेदन है। स्वभाव की रुचि नहीं है, अतः आत्मकल्याण भी नहीं है।

संयमपालन किया, नवतत्त्वों की श्रद्धा की, आगम ज्ञान किया, फिर भी सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि हम उसे ज्ञानी नहीं कहते; क्योंकि वह ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव की रुचि नहीं करता। आगमज्ञान, नवतत्त्वों की श्रद्धा और इन्द्रियदमन से सम्यक्त्व नहीं होता है, फिर भी वह इससे ही सम्यक्त्व मानता है। जिसप्रकार कोई यन्त्र कील आदि के अटक जाने से बन्द पड़ जाता है, उसीप्रकार ज्ञानात्मक आत्मस्वरूप में राग से लाभ होगा ह्व ऐसी उल्टी मान्यता की कील अटक गई है, जिसकारण आत्मयन्त्र स्वभावरूप काम नहीं करता और उसे स्वसंवेदन नहीं होता है।

इस रीति से जिस जीव को सूक्ष्म मिथ्यात्व रह गया है, उसे भावकर्म और निमित्तरूप द्रव्यकर्मों का नाश नहीं होता; अतः धर्म भी नहीं होता।

इसप्रकार आत्मा चिदानन्दस्वरूपी है। इसके ज्ञान बिना, शास्त्रज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतपना जरा भी लाभदायक नहीं है। एक साथ, एक समय में तीनों के होने पर भी आत्मा को लाभ नहीं होता। जबतक परसन्मुख दृष्टि है, तबतक आत्मलाभ नहीं हो सकता।

आत्मा का ज्ञानस्वभाव पर के अवलंबन से नहीं है। जगत के समस्त पदार्थों का ज्ञान सर्वज्ञ को है और सर्वज्ञ की वाणी भी परिपूर्ण रहस्यों को बतलानेवाली है। वाणी में जो कहा है, वही आगम में आया है। आगम का ज्ञान तो कर लिया; किन्तु स्व का ज्ञान आगम में नहीं है, इसलिये आगम सन्मुख रहकर ज्ञान करने से आत्मा का ज्ञान नहीं होता।

● आत्मज्ञानशून्य आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, संयतत्व का युगपत्पना कुछ भी लाभदायक नहीं है।

वर्तमान में जीव वर्तमान पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान करते हैं। भूतकाल में रहनेवाले जीव भूतकाल के पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान करते थे और भविष्य में होनेवाले जीव भविष्यकालीन पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान करेंगे। इसप्रकार उस-उस काल में वर्तनेवाले जीवों को उस-उस कालवर्ती समस्त पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान वर्तता है। इसप्रकार तीनकालवर्ती समस्त पदार्थों का एक साथ प्रत्यक्ष ज्ञान संभव है और ऐसा ज्ञान जिनके वर्तता है, वह सर्वज्ञ हैं। अभी इस क्षेत्र में वर्तनेवाले पदार्थों का ज्ञान यहाँ के जीव करते हैं। विदेश में वर्तनेवाले पदार्थों का ज्ञान वहाँ के जीव करते हैं। इसप्रकार भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में रहनेवाले जीवों को उस-उस क्षेत्र का ज्ञान होता है, वहाँ सर्वक्षेत्र में वर्तनेवाले पदार्थों का ज्ञान एक जीव को भी हो सकता है और ऐसा ज्ञान जिसे वर्तता है, वह सर्वज्ञ हैं। उन्हें किसी काल या क्षेत्रवर्ती पदार्थों का जानना शेष नहीं रहता। इसप्रकार सर्वज्ञ की सिद्धि होती है ह्व ऐसा सर्वज्ञ स्वभाव एक समय में समस्त पदार्थों को जान लेने का है।

● परलक्ष से आत्मज्ञान नहीं होता; स्वलक्ष से आत्मज्ञान होता है।

इस जीव का ज्ञानस्वभाव सर्वज्ञ जैसा परिपूर्ण है। अपने ज्ञान स्वभाव का निर्णय किए बिना आगम और आत्मा की बात करे तो उसे स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है। ज्ञान स्वयं का है और स्वयं का ज्ञान पर सन्मुख हो ऐसा नहीं होता। इस आत्मा का ज्ञान परिपूर्ण स्व-पर प्रकाशक है ह्व ऐसा बखान शास्त्रों में आता है और गुरुओं द्वारा भी कहा गया है। इसप्रकार की वाणी को कहनेवाले गुरु शास्त्रसमक्ष ज्ञान की प्राप्ति करते हैं; किन्तु आत्मा का ज्ञान नहीं करें तो उन्हें आत्मज्ञान नहीं हो सकता, इसलिये जिनके ज्ञान का बखान शास्त्र और वाणी में किया है, उनके समक्ष जाकर अर्थात् आत्मा के समक्ष जाकर आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

● आत्मज्ञान बिना प्रत्यक्षज्ञान, प्रत्यक्षज्ञान नहीं; अपितु मिथ्याज्ञान है।

यहाँ कोई कहता है कि यह वस्तु (टेबल) हमें प्रत्यक्ष दिखाई देती है तो उससे हम पूछते हैं कि वह प्रत्यक्ष ज्ञान टेबल में है या आत्मा में?

परज्ञेयों में आत्मा का ज्ञान हो नहीं सकता; अतः प्रत्यक्षज्ञान पर में नहीं है, उसीप्रकार प्रत्यक्षज्ञान पर के लिए भी नहीं है।

दिव्यध्वनि अथवा शास्त्र में कहा है कि ह “तुम्हारा स्वभाव परिपूर्ण, शुद्ध है” शास्त्रों में कही गई जो बात ख्याल में आई, वह ज्ञान तुम्हारा है या शास्त्र का? हे भाई! तुम्हारा स्वभाव ऐसा ही है ह ऐसा प्रथम निश्चित करो। शास्त्र तुम्हारे लिए कहते हैं कि ‘तुम्हारे लिए ऐसा नहीं है।’ तुम्हारे घर में करोड़ रुपया है ह ऐसा कोई दूसरा कहे और तुम प्रसन्न होवो। यह किस काम का है? तुम्हारे घर में करोड़ रुपया है ह इसकी तुम्हें खबर है, इसलिए तुम मानते हो कि दूसरा कहता है इसलिए मानते हो? तुम्हारी बात तुम स्वयं निर्णीत करो। उसीप्रकार आप स्वयं ज्ञानस्वभावी है ह ऐसा जानकर आत्मज्ञान प्रगट करे तो वह कार्यकारी है; किन्तु आगममात्र के लक्ष से अपना ज्ञान कार्यकारी नहीं है।

निमित्त और राग के अवलंबन बिना अपने ज्ञानस्वभाव का आश्रय हुआ, वह आत्मज्ञान/प्रत्यक्षज्ञान यथार्थ है। स्वयं का प्रत्यक्षज्ञान नहीं हो तो यह वस्तु प्रत्यक्ष है ह ऐसा कहना या मानना झूठ है।

● प्रत्यक्षज्ञान के बिना केवल अनुमानज्ञान भी मिथ्याज्ञान है।

इसीप्रकार कोई कहे कि “धुएँ के आधार से अग्नि का अनुमान ज्ञान होता है” तो उससे पूछते हैं कि अनुमान ज्ञान धुएँ में है, अग्नि में है या आत्मा में है? परज्ञेय में अनुमान ज्ञान नहीं हो सकता और यदि अनुमान ज्ञान उसमें है ह ऐसा कहे तो वह अनुमानज्ञान प्रत्यक्षपूर्वक होता है या स्वतंत्र होता है? यदि प्रत्यक्षपूर्वक अनुमान ज्ञान हो तो वह अनुमान ज्ञान सम्यक् है; अतः जिसे रागरहित, निमित्तरहित शुद्धस्वभाव के लक्ष से प्रत्यक्ष ज्ञान प्रगट हुआ है, वह पश्चात् अनुमान करे तो उसका अनुमान ज्ञान सम्यक् है। प्रत्यक्षज्ञान बिना अनुमानज्ञान सम्यक् अनुमानज्ञान नहीं है; अपितु मिथ्याज्ञान ही है।

●

प्रवचनसार गाथा २४०

अब, आगमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्व के युगपत्पने के साथ आत्मज्ञान के युगपत्पने को साधते हैं; (अर्थात् आगमज्ञान, तत्त्वार्थ श्रद्धान और संयतत्व इस त्रिक के साथ आत्मज्ञान के युगपत्पने को सिद्ध करते हैं) :-

पंचसमिदो तिगुत्तो पंचेंदियसंवुडो जितकसाओ।
दंसणणाणसमग्गो समणो सो संजदो भणिदो॥२४०॥
(हरिगीत)

तीन गुप्ति पाँच समिति सहित पंचेन्द्रियजयी।
ज्ञानदर्शनमय श्रमण ही जितकषायी संयमी॥२४०॥

अन्वयार्थ : ह [पंचसमितः] पाँच समितियुक्त, [पंचेन्द्रियसंवृतः] पाँच इन्द्रियों का संवरवाला [त्रिगुप्तः] तीन गुप्ति सहित, [जितकषायः] कषायों को जीतनेवाला, [दर्शनज्ञान समग्रः] दर्शनज्ञान से परिपूर्ण ह [श्रमणः] ऐसा जो श्रमण [सः] वह [संयतः] संयत [भणितः] कहा गया है।

टीका : ह जो पुरुष अनेकान्तकेतन आगमज्ञान के बल से, सकल पदार्थों के ज्ञेयाकारों के साथ मिलित होता हुआ, विशद एक ज्ञान जिसका आकार है ऐसे आत्मा का श्रद्धान और अनुभव करता हुआ आत्मा में ही नित्यनिश्चल वृत्ति को इच्छता हुआ, संयम के साधनरूप बनाये हुए शरीर पात्र को पाँच समितियों से अंकुशित प्रवृत्ति द्वारा प्रवर्तित करता हुआ, क्रमशः पंचेन्द्रियों के निश्चल निरोध द्वारा जिसके काय-वचन-मन का व्यापार विराम को प्राप्त हुआ है ऐसा होकर, चिद्वृत्ति के लिये परद्रव्य में भ्रमण का निमित्त जो कषायसमूह वह आत्मा के साथ अन्योन्य मिलन के कारण अत्यन्त एकरूप हो जाने पर भी स्वभाव भेद के कारण उसे पररूप से निश्चित करके आत्मा से ही कुशल मल्ल की भाँति

अत्यन्त मर्दन^१ करके अक्रम से उसे मार डालता है, वह पुरुष वास्तव में, सकल परद्रव्य से शून्य होने पर भी विशुद्ध^२ दर्शनज्ञानमात्र स्वभावरूप से रहनेवाले आत्मतत्त्व (स्वद्रव्य) में नित्यनिश्चल परिणति उत्पन्न होने से, साक्षात् संयत ही है और उसे ही आगमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्व के युगपत्पने का तथा आत्मज्ञान का युगपत्पना सिद्ध होता है।

गाथा २४० पर प्रवचन

● आगम के आधार से अनेकान्तस्वरूप निज आत्मा को ज्ञानस्वरूप एकाकार जानकर धर्मी जीव श्रद्धान करता है, अनुभव करता है।

आगम का चिन्ह अनेकान्त है। आत्मा स्वरूप से है और पररूप से नहीं है। कायमस्वरूपी वस्तु सदैव कायम रहती है, वह पर से नहीं होती। जो क्षणिकपर्याय है, वह भी क्षणिकरूप स्वयं से ही होती है, पर से नहीं होती। वस्तु, वस्तु के गुण, वस्तु की अवस्था, वस्तु का क्षेत्र ह्व सब स्वयं से हैं, पर से नहीं। वस्तु 'है' ऐसा कहते ही पर के कारण नहीं है, यह समझ में आना चाहिए। पर के कारण वस्तु हो तो अस्तिपना नहीं रहेगा। वस्तु का स्वभाव ही अनेकान्त स्वरूप है। ज्ञान और वाणी में वह इसीप्रकार प्रस्फुटित हुआ है ह्व ऐसे अनेकान्त धर्म को बतानेवाले आगम के बल से निज आत्मा को जानते हुए जो पर को भी जानता है ह्व ऐसा स्वयं का स्व-पर प्रकाशक स्वभाव है। यह निश्चय करने वाला जीव ही धर्मी है। वह परपदार्थ तथा रागादि समस्त ज्ञेयों को स्व में लीन होकर ही जानता है। मिथ्यात्व अवस्था में निमित्त तथा राग की ओर झुका हुआ ज्ञान अनेकता और खण्ड-खण्ड दशा को प्राप्त था, जो अब ज्ञानावस्था में एकरूपता को पा चुका है। मैं ज्ञायकस्वभावी हूँ, मेरा स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है। परज्ञेयों के संबंधवाला ज्ञान मेरा ज्ञान नहीं है ह्व ऐसे स्वयं के ज्ञान से वह एकत्वरूप है। यही निमित्त की अपेक्षा आगमबल कहलाता है।

१ मर्दन कर करके = दबा दबाके, कचर कचरके, दमन करके।

२ आत्मतत्त्व विशुद्धदर्शनज्ञानस्वभाव मात्र है।

वास्तव में तो स्वयं को स्वयं के बल से ही एकत्वपना प्राप्त होता है, तब आगम निमित्त कहलाता है। ऐसे एकाकार, ज्ञानस्वरूप आत्मा का श्रद्धान-अनुभव करना ही आगम है। पूर्व में ज्ञान परसन्मुख था, अब स्वज्ञेय में एकाकार है और शास्त्र में जैसा कहा है वैसे ही निज आत्मा की राग और निमित्त से रहित होकर प्रतीति करता है। स्व-संवेदन ज्ञान प्रगट करता है, इसप्रकार सम्यक्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की बात कही है।

अब, जो जीव स्वभाव में दृढ़तापूर्वक स्थिरता करना चाहते हैं, उनके लिए सम्यक्चारित्र की बात करते हैं।

गाथा २३२ में कहा था कि मोक्षमार्ग का लक्षण एकाग्रता है। जो जीव पर की ओर झुका हुआ था, आगम की ओर झुका हुआ था, वह अब निज स्वभाव की ओर झुका हुआ है। वह धर्मी अपने ज्ञानस्वभाव में ही स्थिर रहना चाहता है। स्वभाव में स्थिरतारूप जो वृत्ति (इच्छा) उत्पन्न होती है, उससे स्वभाव में स्थिरता नहीं होती, वह निश्चय चारित्र नहीं है। इच्छा होना और स्थिरता होना दोनों अलग-अलग हैं। उसे परपदार्थ की तो इच्छा ही नहीं है, शुभाशुभ भावों को भी वह नहीं चाहता, अपितु एक नित्य अंतरनिधानस्वरूप ज्ञानस्वभावी वस्तु में ही स्थिरता चाहता है। वह जीव पाँच समितियों के अंकुरित प्रवृत्ति की ओर प्रवर्तित होता है।

“...संयम के साधनरूप बनाए हुए शरीर पात्र को पाँच समितियों से अंकुरित प्रवृत्ति द्वारा प्रवर्तित करता हुआ।...”

अपने ज्ञानस्वभाव में स्थिर होकर संयम की ओर प्रवर्तित हुआ, वहाँ शरीर पर संयम के साधन का आरोप हुआ। प्रथमतः जिसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान था; किन्तु संयम नहीं था ह्व ऐसे जीव पर संयम-साधन का आरोप नहीं आता है; क्योंकि वहाँ अन्तर में संयम नहीं था; किन्तु अब, संयम प्रगट हुआ है तो आरोप आ गया। संयम स्वभाव का साधन है, शुद्ध अनुभव, परिपूर्ण आनन्द साध्य है। यहाँ निश्चय संयम शरीर के कारण साध्य हुआ ह्व ऐसा कहा है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी भी कहते थे 'देह संयम के हेतु ही है।' हेतु अर्थात् निमित्त। स्वभावरूप उपादान कारण प्रगट हो वहाँ निमित्त पर भी तदनुसार आरोप आता है; किन्तु निमित्त से हुआ हूँ ऐसा कहे तो निमित्त की तटस्थता नहीं रहेगी और निमित्त ने उपादान का कार्य किया हूँ ऐसा कहा जावे तो दोनों के नाश का प्रसंग आयेगा।

“...शरीर पात्र को पाँच समितियों से अंकुशित प्रवृत्ति द्वारा प्रवर्तित करता हुआ...।”

शरीर की क्रिया को आत्मा प्रवर्तित नहीं करा सकता; किन्तु पाँच समितियों के पालन के समय शरीर की क्रिया शरीर के कारण उस-उस समिति के योग्य होती है। जैसे हूँ

(१) ईर्या समिति का पालन करते समय जीव को प्रमादभाव अत्यन्त कम है। देखकर चलने का भाव है, तब गमन रूप क्रिया में धीरे-धीरे, सावधानी से पग रखता है; शीघ्रता नहीं है। गति शीघ्र नहीं है; धीरे-धीरे है।

(२) भाषा समिति के पालन के समय मृदु सत्य वचन बोलने का भाव रहता है। उस समय भाषा भी भाषा के कारण से मृदु संयमी निकलती है। अयोग्य भाषा नहीं निकलती है।

(३) एषणा समिति के पालन में निर्दोष आहार ग्रहण की वृत्ति होती है। आहार ग्रहण करने की वृत्ति पर अंकुश है, विशेष प्रमाद नहीं है। उस समय शरीर की क्रिया भी खड़े रहकर हाथ में आहार लें हूँ ऐसी होती है; किन्तु आहार लेते समय शरीर लेटा अथवा बैठा हो हूँ ऐसा नहीं होता।

(४) आदान-निक्षेपण समिति के पालन के समय वृत्ति पर अंकुश है। वस्तु लेने या ग्रहण करते समय सावधानी रखते हैं। वहाँ हाथ अथवा शरीर की उसप्रकार की अवस्था होती है; किन्तु कोई भी वस्तु जैसे-तैसे ले लेवें यह नहीं होता।

(५) उत्सर्ग समिति के पालन के समय मुनि सावधान होते हैं। विशेष प्रमाद नहीं होने देते। मल-मूत्रादि सावधानी से जीवरहित स्थानों पर

क्षेपण करते हैं। उससमय हाथ आदि की क्रिया हाथ के कारण ही होती है; कैसी भी हो जावे हूँ ऐसा नहीं होता।

इसप्रकार पाँच समिति का पालन बराबर करते हैं, वहाँ संयम के साधनरूप शरीर की क्रिया शरीर के कारण अंकुरित होती है।

● जीवों को पाँच इन्द्रियों के विषयों का निरोध होने से मन-वचन-काया का व्यापार विश्राम को प्राप्त हुआ है।

“.....क्रमशः पंचेन्द्रियों के निश्चल निरोध द्वारा जिसके काय-वचन-मन का व्यापार विराम को प्राप्त हुआ है।.....”

अंतर में स्वरूप रमणता बढ़ने से वे जीव भाव इन्द्रियों का निरोध करते हैं। वहाँ द्रव्य इन्द्रियों का भी सहज निरोध हो जाता है, अंतर में राग अत्यन्त मंद हुआ है। पाँच इन्द्रियों के वश होने से मन-वचन-काया का व्यापार विराम को प्राप्त हो चुका है।

अंतर भावमन का व्यापार आंशिक निवृत्त हुआ है अर्थात् द्रव्य-मन और परमाणुओं के साथ इतना जुड़ान होता है और काया की ओर का लक्षवाला व्यापार आंशिक निवृत्त हुआ है, अतः काया की क्रिया भी काया के अनुरूप होती है।

वचनगत लक्ष्य योग्य व्यापार से भी आंशिक निवृत्ति हुई है अर्थात् वचनों की क्रिया में भी अलक्ष्य वर्तता है।

इसप्रकार वह जीव मन-वचन-काया के व्यापार में कुछ सीमा तक निवृत्त हुआ है।

● स्व-पर भेद विज्ञान के कारण से कषायों को मल्ल के समान दबाकर मार डालते हैं।

‘चिद्वृत्ति के लिये परद्रव्य में भ्रमण का निमित्त कषायसमूह आत्मा के साथ अन्योन्य मिलन के कारण अत्यन्त एकरूप हो जाने पर भी स्वभाव भेद के कारण उसे पररूप से निश्चित करके आत्मा से ही कुशल मल्ल की भाँति अत्यन्त मर्दन करके अक्रम से उसे मार डालता है।’

पर पदार्थों में प्रवृत्ति का कारण क्रोध, मान, माया, लोभरूप अस्थिरता

का परिणाम है। उन परिणामों के साथ आत्मा अत्यन्त एकरूप हो गया है। 'एकरूप हो गया है' अर्थात् एक समय के लिए उत्पन्न हुए हैं, फिर भी आत्मा का ज्ञायक स्वभाव अनाकुल शांत है और कषाय आकुलता उत्पन्न करनेवाले हैं। इसप्रकार स्वभाव भेद होने पर शुद्धात्मा स्व है और कषाय पर है वह ऐसा उस जीव ने निश्चित किया है।

वहाँ शुद्ध आत्मा कुशल मल्ल के समान कषायों को दबा-दबाकर मार डालता है, ये ही चारित्रगत विशेष रमणता की बात है। जिसप्रकार एक मल्ल दूसरे मल्ल को धूल चटाता है, उसीप्रकार यह शुद्धात्मारूपी मल्ल कषायों के समक्ष खड़ा है और खड़ा होकर कषायों को मार डालता है, फिर वे कषाय कैसे उत्पन्न होंगी? वह ऐसी शास्त्र की कथनपद्धति है।

निजात्मा के ज्ञाता-दृष्टा शुद्ध स्वभाव में एकाग्र होते ही कषायें उत्पन्न ही नहीं होती। उन कषायों को वह शुद्धात्मा मल्ल की भाँति पकड़-पकड़ कर मार डालता है। स्वभाव के साथ की एकता जीव के उग्र पुरुषार्थ को सिद्ध करती है।

● ऐसे जीव को विशुद्ध ज्ञानस्वभाव में दृढ़ता होने से वह साक्षात् मुनि है।

इसप्रकार जिस पुरुष को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तो था, पश्चात् स्वभाव में दृढ़तापूर्वक स्थिरता हुई है। पाँच समिति की अंकुशित प्रवृत्ति से प्रवर्तन है। पाँच इन्द्रियों के निरोध से मन-वचन-काया का व्यापार विराम को प्राप्त हुआ है। आत्मा और कषायों का भेद जानकर कषायों को पकड़कर मार डाला है अर्थात् विशेष पुरुषार्थपूर्वक वह अंतर रमणता कर रहा है। वहाँ उस पुरुष को विशुद्ध दर्शन-ज्ञान मात्र स्वभावरूप रहते हुए स्वद्रव्य में वीतरागी दशा उत्पन्न हुई है; अतः वे साक्षात् संयत (मुनि) ही हैं और उन्हें आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, संयतत्व के युगपत्पना तथा आत्मज्ञान का युगपत्पना सिद्ध होता है।

●

प्रवचनसार गाथा २४१

अब, आगमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्व के युगपत्पने का तथा आत्मज्ञान का युगपत्पना जिसे सिद्ध हुआ है ऐसे इस संयत का क्या लक्षण है सो कहते हैं :ह

समसत्तुबंधुवगो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो ।

समलोड्ढकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ॥२४१॥

(हरिगीत)

कांच-कंचन बन्धु-अरि सुख-दुःख प्रशंसा-निन्द में।

शुद्धोपयोगी श्रमण का समभाव जीवन-मरण में ॥२४१॥

अन्वयार्थ :ह [समशत्रुबन्धुवर्गः] जिसे शत्रु और बन्धु वर्ग समान है, [समसुख-दुःखः] सुख और दुःख समान है, [प्रशंसानिन्दासमः] प्रशंसा और निन्दा के प्रति जिसको समता है, [समलोड्ढकाश्चनः] जिसे लोष्ट (मिट्टी का ढेला) और सुवर्ण समान है, [पुनः] तथा [जीवितमरणे समः] जीवन-मरण के प्रति जिसको समता है, वह [श्रमणः] श्रमण है।

टीका :ह संयम, सम्यग्दर्शनज्ञानपूर्वक चारित्र है; चारित्र धर्म है; धर्म साम्य है; साम्य मोहक्षोभ रहित आत्म परिणाम है। इसलिये संयत का, साम्य लक्षण है।

वहाँ, (१) शत्रु-बंधुवर्ग में, (२) सुख-दुःख में, (३) प्रशंसा-निन्दा में, (४) मिट्टी के ढेले और सोने में, (५) जीवित-मरण में एक ही साथ, (१) 'यह मेरा पर (शत्रु) है, यह स्व (स्वजन) है;' (२) 'यह आह्लाद है, यह परिताप है,' (३) 'यह मेरा उत्कर्षण (कीर्ति) है, यह अपकर्षण (अकीर्ति) है,' (४) 'यह मुझे अकिंचित्कर है, यह उपकारक (उपयोगी) है,' (५) 'यह मेरा स्थायित्व है, यह अत्यन्त विनाश है' इसप्रकार मोह के अभाव के कारण सर्वत्र जिसको रागद्वेष का द्वैत प्रगट नहीं होता, जो सतत् विशुद्ध दर्शनज्ञानस्वभाव आत्मा का अनुभव करता है, और (इसप्रकार) शत्रु-बन्धु, सुख-दुःख, प्रशंसा-निन्दा, लोष्ट-कांचन और

जीवित-मरण को निर्विशेषतया ही (अन्तर के बिना ही) ज्ञेयरूप जानकर ज्ञानात्मक आत्मा में जिसकी परिणति अचलित हुई है; उस पुरुष को वास्तव में जो सर्वतः साम्य है वह (साम्य) संयत का लक्षण समझना चाहिये ह्व कि जिस संयत के आगमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्व के युगपत्पने का और आत्मज्ञान का युगपत्पना सिद्ध हुआ है।

गाथा २४१ पर प्रवचन

छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले निर्ग्रन्थ मुनियों का लक्षण वीतरागी समता है।

(१) शत्रु और बंधुवर्ग जिसे समान है ह्व स्वयं का आत्मा ज्ञानस्वभावी है। दया-दानादि विकार मेरा स्वरूप नहीं है। मैं विशुद्ध आत्मतत्त्व हूँ। शत्रु अथवा मित्र तो ज्ञान के ज्ञेय हैं। ज्ञातास्वभाव के शत्रु या मित्र कोई नहीं हो सकते। पर्याय में उत्पन्न विकार शत्रु है और विकार रहित आत्मस्वभाव मित्र है। परद्रव्य कोई भी शत्रु-मित्र नहीं हो सकता ह्व ऐसे समस्त भाव उन्हें वर्तते हैं। मैं सबका भला कर सकता हूँ, पर को मदद कर सकता हूँ, पर के द्वारा मुझे मदद होगी ह्व ये समभाव नहीं है। पर कर्तृत्व से रहित मैं मात्र जाननेवाला हूँ और समस्त पदार्थ ज्ञेय हैं ह्व ऐसा भान होना सम्यग्दर्शन-ज्ञान है। इस भानपूर्वक धर्मी जीव को स्वयं की कमजोरी के कारण अल्प-राग-द्वेष होते हैं। पर के कारण राग-द्वेष होते हैं ह्व ऐसा धर्मी नहीं मानता; किन्तु गृहस्थावस्था में स्वयं के कारण अल्प राग-द्वेष होते हैं। अस्थिरतारूप राग-द्वेष मुनिराज को नहीं होते। मुनिराज को शत्रु-मित्र के संबंध में समानभाव वर्तता है। ज्ञाता के ज्ञान में वे सब आते हैं, वहाँ समस्त ज्ञेयों का एक ही प्रकार है ह्व भेद नहीं।

(२) सुख-दुःख जिनको समान है ह्व धर्मी जीव को अनुकूल व प्रतिकूल दोनों संयोग समान हैं। वह साता के संयोग में सुख नहीं मानता तथा प्रतिकूल संयोगों में दुःख नहीं मानता; क्योंकि परपदार्थ सुख-दुःख के कारण नहीं हैं। मैं निमित्त होकर भी पर जीवों को सुख-दुःख नहीं दे

सकता ह्व ऐसा भान होने पर भी स्वयं की कमजोरी के कारण उसे अल्प राग-द्वेष होते हैं; परन्तु मुनिराज को इतना भी राग-द्वेष नहीं होता। उन्हें सदैव-सर्वत्र समभाव ही वर्तता है। वे समस्त ज्ञेयों को एक समान ही जानते हैं।

(३) प्रशंसा और निन्दा में समानता है ह्व प्रशंसा और निन्दारूप शब्द जड़ की पर्याय है। उन शब्दों से मुझे लाभ या नुकसान नहीं होता है। जगत के जीव प्रशंसा करें अथवा निन्दा करें; किन्तु वे मेरी प्रशंसा-निन्दा नहीं करते हैं। वे स्वयं के भाव की प्रशंसा-निन्दा करते हैं ह्व ऐसा धर्मी जीव जानता है। मुनिराज को अल्प राग-द्वेष भी नहीं होता। वे तो स्वयं के स्वभाव में ही समता भाव रखते हैं।

● समताभाव पर मैं नहीं है, पर के लिए नहीं है, समतास्वरूप आत्मा स्वयं में है और उसमें से ही समतारूप पर्याय प्रगट होती है।

उक्त समताभाव के बिना कोई कहे कि कोई अन्य जीव लकड़ी लेकर आया और मुझे मारने लगा; किन्तु मैंने उस समय समता बनाये रखी तो वह वास्तव में समता नहीं है।

(१) लकड़ी उठाने की अवस्था लकड़ी के कारण हुई है, फिर भी यह मानता है कि आत्मा के कारण लकड़ी ऊपर हुई है, यह मान्यता मिथ्या है।

(२) लकड़ी ऊपर हुई और मेरे शरीर के साथ संयोग होने से मुझे कष्ट हुआ। वास्तव में लकड़ी आत्मा को तो छूती ही नहीं है शरीर को भी नहीं लगी है, दोनों का एक दूसरे में अन्योन्याभाव है; तथापि यह मानता है कि लकड़ी लगने से मुझे दुःख हुआ; सो यह मान्यता मिथ्या है; फिर भी यदि कोई जीव ऐसा माने तो वह शरीर के साथ एकत्वबुद्धि करता है।

(३) द्वेष पर के कारण हुआ ह्व ऐसा वह मानता है और द्वेष को छोड़कर शांति रखता है तो दूसरे के लिए शांति रखी ह्व यह शुभभाव है। यह जीव अल्प शुभभाव से धर्म मानता है; किन्तु यह मान्यता मिथ्या है।

जीव स्वयं समतास्वरूपी है ह्व ऐसे भान बिना वह शुभभाव कार्यकारी नहीं है। यहाँ मुनिराज को भान है कि मेरे विशुद्ध ज्ञान-दर्शनमय स्वभाव में ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है ह्व ऐसे भानपूर्वक वे स्वभाव में लीन रहते हैं और अस्थिरताजनित राग-द्वेष नहीं होने देते।

प्रश्न : ह्व कोई परिवार आदि को नुकसान पहुँचावे तो क्या करें?

उत्तर : - पर जीव आत्मा का परिवार नहीं है। ज्ञान-दर्शनादि अनंतगुण आत्मा का कुटुम्ब है। एक-दूसरे को कोई बचा नहीं सकता। बंधुवर्ग में राग और शत्रुवर्ग में द्वेष ज्ञानी को नहीं वर्तता। स्वरूप में स्थिरता नहीं हो सके तो अल्प राग-द्वेष होता है, उसे धर्मी जीव जानता है, इसमें दूसरा कोई कुछ नहीं कर सकता। मुनिराज को तो इतना राग-द्वेष भी नहीं होता।

(४) मिट्टी के ढेले और स्वर्ण इन दोनों में जिसे समानता है ह्व मिट्टी कार्यकारी नहीं है और सुवर्ण कार्यकारी है ह्व ऐसा धर्मी जीव नहीं मानता। वस्तु स्वयं को लाभ-हानि नहीं पहुँचाती है। जंगल में सोने की खान मिले तो - यह मुझे काम आयेगी अथवा अन्य को काम आयेगी ह्व ऐसा धर्मी जीव नहीं मानता।

परद्रव्य किसी को काम आता है, यह मान्यता मूढ़ जीव की है। कोई वस्तु हो तो वह दूसरे को काम आयेगी ह्व इसप्रकार धर्मी को रागादिपूर्वक अपनापना नहीं है। धर्मी जीव को गृहस्थ दशा में स्वयं के कारण से अल्प राग-द्वेष होते हैं; किन्तु श्रद्धा में उसे निषेध वर्तता है। मुनिराज को तो अस्थिरता जन्य राग-द्वेष भी नहीं होता।

● प्रत्येक द्रव्य की प्रयोजनभूत क्रिया स्वयं से स्वतंत्र होती है, पर के कारण नहीं।

प्रत्येक द्रव्य अपनी प्रयोजनभूत क्रिया अपने स्वयं के लिए करता है, पर के लिए नहीं। प्रत्येक द्रव्य में वस्तुत्व नामक गुण है, जिसके कारण प्रत्येक पदार्थ में उस सम्बन्धी प्रयोजनभूत क्रिया होती है। एक वस्तु का अन्य वस्तु में अभाव होने से एक वस्तु अन्य को मदद कैसे कर सकती

है? अतः दूसरी वस्तु का उपयोग जीव कर सकता है ह्व ऐसा मानना मिथ्यात्व है।

जैन सिद्धान्त प्रवेशिका में वस्तुत्व गुण को समझाते हुए उदाहरण दिया है कि घड़े की प्रयोजनभूत क्रिया घड़े में है और पानी की प्रयोजनभूत क्रिया पानी में है। किसी भी पदार्थ की प्रयोजनभूत क्रिया पर में या पर के लिए नहीं हो सकती ह्व ऐसा निश्चित किए बिना ही यह स्वीकार करे कि यह वस्तु इसे प्रयोजनवान है; अतः उसे मदद करनी चाहिए तो यह मिथ्यात्व शल्य है। इस मिथ्यात्व शल्य के नष्ट होने पर ही जीव व्रती कहलाता है, इसके बिना व्रत-तप सच्चे नहीं हो सकते।

(५) जीवन-मरण में समता है ह्व शरीर का संयोग अथवा वियोग हो ह्व दोनों अवस्थाओं में धर्मी को ज्ञाता-दृष्टा भाव ही है। सर्प/तलवार मुझे मार नहीं सकती। किसी के कारण जीवन बढ़ेगा अथवा घटेगा ह्व ऐसा माननेवाला मूढ़ है। इनमें किसी प्रकार का फेरफार नहीं हो सकता। जीवन बढ़ानेवाले संयोगों को पास लाना और मरण प्राप्त करानेवाले संयोगों को दूर करने का अभिप्राय धर्मी को नहीं वर्तता। आयुष्य समय तक ही जीवन रहता है ह्व ऐसा धर्मी मानता है, वहाँ स्वयं के कारण जो अल्प-राग-द्वेष होते हैं, उसका भी वह ज्ञाता रहता है। मुनिराज को अल्प राग-द्वेष भी नहीं हैं; अतः उन्हें समताभाव है। इसप्रकार अनुकूल और प्रतिकूल संयोगों में श्रद्धा और ज्ञान की समता के पश्चात् जिन्हें चारित्र की रमणतारूप समता है, वे ही मुनि हैं।

● आत्मा के अन्तरस्वरूप रमणतारूपी चारित्र सम्यग्दर्शनज्ञानपूर्वक होता है, चारित्र ही धर्म और समता है।

पाँच इन्द्रियों का दमन, छहकाय के हिंसारूप परिणाम का अभाव इत्यादि प्रकार का संयम विशुद्धदर्शन-ज्ञान मात्र स्वभाव के श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक होता है। स्वभाव की वीतरागी परिणति चारित्र है। मैं दूसरों को सुखी-दुःखी कर सकता हूँ। प्रतिकूल संयोगों के कारण जीव का मरण होता है। मैं परद्रव्य की अर्थक्रिया कर सकता हूँ ह्व इत्यादि अभिप्राय

जिसे वर्तता है, वह मिथ्यात्वी है ह्व उसे संयम नहीं हो सकता। जिसे सम्यग्दर्शन नहीं है, उसे समता नहीं हो सकती। अज्ञानी संयोगों की ओर देखता है; वस्तुस्वभाव की ओर नहीं देखता। वस्तुस्वभाव जाने बिना प्रतिकूलता के प्रसंग में शांति बनाये रखे; किन्तु वह सच्ची शांति नहीं है। इसप्रकार की समता तो इस जीव ने परलक्ष से अनंतबार धारण की है।

वास्तव में आत्मा स्वयं के ज्ञान के अलावा अन्य कुछ भी नहीं कर सकता ह्व ऐसे भानपूर्वक अंतर में रमणता बढ़े वह वास्तव में चारित्र है, चारित्र ही धर्म है, धर्म ही समता है और समता ही निर्दोष वीतरागी परिणाम है।

धर्मी जीव को श्रद्धा अपेक्षा से समता है; किन्तु यहाँ मुनिराज को विशेष लीनतापूर्वक वीतरागी दशा प्रगट है; अतः उन्हें ही सच्ची समता होती है। मुनिराज का लक्षण समता ही है।

● ज्ञाता को ज्ञेयों में इष्ट-अनिष्टपना नहीं है, उसीप्रकार मुनियों को कोई जीव शत्रु-मित्र नहीं है।

धर्मी जीव किसी को शत्रु-मित्र नहीं मानता। पत्नी के प्रति राग और शत्रु के प्रति द्वेष धर्मी को नहीं होता। मेरा स्वभाव ज्ञाता-दृष्ट है। ज्ञेय पदार्थों में कुछ पदार्थ इष्ट हैं और कुछ पदार्थ अनिष्ट हैं ह्व इसप्रकार ज्ञेयों में दो भाग नहीं है और ज्ञानस्वभाव में इष्ट-अनिष्टपना नहीं है। एक ही प्रकार से जानने में आना ज्ञेयों का स्वभाव है तथा उन पदार्थों को जानना मात्र ज्ञान का स्वभाव है। भरत तथा बाहुबली को लड़ाई रूप द्वेष के परिणाम हुए थे, वे पर के कारण नहीं हुए अथवा द्वेष हुआ इसलिये लड़ाई हुई ह्व ऐसा भी नहीं है। लड़ाई की क्रिया के कारण भी द्वेष नहीं हुआ। वस्तुतः वहाँ व्यक्ति के प्रति द्वेष था ही नहीं। धर्मी जीव जानता है कि लड़ाई, लड़ाई के कारण हुई, द्वेष-द्वेष के कारण हुआ तथा ज्ञान-ज्ञान के कारण हुआ ह्व ऐसे स्वतंत्ररूप से समस्त क्रियाएँ स्वयं होती हैं।

अज्ञानी जीव गाड़ी के नीचे चलते हुये कुत्ते के समान पर के कारण राग-द्वेष मानता है। यह सारी अवस्थाएँ मेरे कारण हुई हैं ह्व ऐसा मानता

है; किन्तु यह मिथ्यादर्शन है। ज्ञानी ज्ञानस्वभाव में रहकर समस्त क्रिया तथा राग को जानता है। मुनिराज को शत्रु अथवा मित्र में न राग-द्वेष होता है और न मोह ही होता है।

● मुनिराज अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों में समताभाव धारण करते हैं।

धर्मी जीव साता-असाता में सुख-दुःख की कल्पना नहीं करता। शरीर निरोग रहे, पैसे की प्राप्ति हो अथवा अन्य अनुकूल प्रसंग आने पर मुझे सुख हो अथवा वे प्रसंग मुझे सुखदायी हैं, सुख के दातार हैं ह्व ऐसा धर्मी नहीं मानता। शरीर रोगी है, मैं निर्धन हूँ और प्रतिकूल संयोगों में मुझे दुःख हुआ ह्व ऐसा धर्मी नहीं मानता, उसे सारे संयोग ज्ञेयमात्र लगते हैं। उसमें वह इष्ट-अनिष्ट की कल्पना नहीं करता। स्वयं की कमजोरीवश अल्प राग-द्वेष होते हैं; किन्तु वे राग-द्वेष किसी अन्य के कारण से नहीं; अपितु मेरे स्वयं के कारण हुए हैं ह्व ऐसा मानकर उन्हें टालने का प्रयत्न करता है। मुनियों को अनुकूल-प्रतिकूल संयोग होने पर भी कमजोरीवश राग-द्वेष नहीं होते। उन्होंने तीन कषाय चौकड़ी का नाश किया है। वीतरागी शांति अत्यन्त बढ़ गई है। छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले ऐसे संत को समताभाव वर्तता है।

● अनुकूल-प्रतिकूल सामग्री वर्तमान पुरुषार्थ के कारण नहीं मिलती; अपितु साता-असाता वेदनीय कर्म के कारण मिलती है।

कितने ही जीव मानते हैं कि अनुकूल-प्रतिकूल संयोग जीव के पुरुषार्थ के कारण मिलते हैं, उसमें साता-असाता वेदनीय कर्म निमित्त नहीं है; किन्तु यह बात मिथ्या है।

गाथा में जो सुख-दुःख कहे हैं, वे सुख-दुःख संयोगों की बात है। सुख-दुःख कल्पना की बात नहीं है, यदि यह कल्पनागत बात हो तो इसमें समता नहीं रह सकती। सुख-दुःख के संयोगों में समता रखने की बात होती है, वहाँ इन समस्त संयोगों के मिलने का कारण साता-असाता वेदनीय द्रव्यकर्म का उदय है। इससमय जीव मोह के कारण

सुख-दुःख की कल्पना करता है तो वे प्रकृतियाँ जीवविपाकी कहलाती हैं और जब वे प्रकृतियाँ अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों में निमित्त हों तो उन्हें ही पुद्गलविपाकी कहते हैं।

धवला पुस्तक में आचार्य वीरसेनस्वामी कहते हैं कि संयोगों की प्राप्ति में साता-असाता वेदनीय कर्म की प्रकृति निमित्त है। वह जीवविपाकी और पुद्गलविपाकी के भेद से दो प्रकार की हैं।

परमात्मप्रकाश में भी कहा है कि पूर्व पुण्य के कारण वैभवादि की प्राप्ति होती है; अतः संयोगों के मिलने में साता-असाता वेदनीय कर्म निमित्त है। इससे विपरीत माननेवाला जीव वस्तुस्वरूप से विपरीत और आचार्य भगवान के कथन से विपरीत मान्यतावाला है।

● मुनिराज प्रशंसा अथवा निंदा के प्रसंग में समताभाव रखते हैं।

प्रशंसा अथवा निंदा के शब्द तो जड़ हैं, अतः धर्मी जीव को प्रशंसा अथवा निन्दा के शब्दों में लाभ-हानिरूप बुद्धि नहीं है। उसकी दृष्टि स्वयं के ज्ञानस्वभाव पर है। वह समझता है कि मेरे अस्तित्व में वे शब्द हैं ही नहीं, अतः उसे राग-द्वेष होने पर भी वे राग-द्वेष शब्दादि के कारण नहीं हैं। निंदा-प्रशंसा अथवा राग-द्वेष का काल एक ही होता है; किन्तु धर्मी को उसमें हेयपना है। प्रसंग या घटना के कारण राग-द्वेष हुआ हूँ ऐसा माननेवाला मिथ्यात्वी है। मुनिराज को अत्यन्त वीतरागता है, अतः प्रसंगानुसार उन्हें राग-द्वेष नहीं है और प्रसंग के समय भी राग-द्वेष नहीं है हूँ ऐसी वीतरागदशारूप समताभाव मुनिराज का लक्षण है।

● निर्ग्रन्थ मुनिराज मिट्टी और सुवर्ण दोनों को समान मानते हैं।

इस गाथा में मुनिराज के समता लक्षण का वर्णन है। वे समताधारी मुनिराज कैसे होते हैं? वे किसी जीव को शत्रु-मित्र नहीं मानते तथा उनके प्रति राग-द्वेष भी नहीं करते। अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों को समान जानते हैं। प्रशंसा और निन्दा को समान मानते हैं। चैतन्य शुद्ध स्वभाव में ही स्थिरता रखते हैं। उन्हें सुवर्ण और मिट्टी में समान भाव वर्तता है।

हीरा-माणिक-रुपया पैसा प्राप्त हो तो वे मुझे लाभ करायेंगे अथवा दूसरे को लाभ करायेंगे हूँ ऐसा धर्मी जीव नहीं मानता। जो जीव परद्रव्य के कारण लाभ-हानि मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। धर्मी जीव कोयले और हीरे को समान मानता है; क्योंकि समस्त वस्तुएँ ज्ञेय मात्र हैं। उनमें कोई भेद नहीं है। समकित्ती जीव राज्य-पाट देखता है, उसे अत्यधिक सामग्री प्राप्त है; किन्तु वह पदार्थों में सुख नहीं मानता। मेरा सुख तो मुझमें है। अल्प कमजोरी वश राग होता है, उसके कारण पर की ओर लक्ष जाता है; किन्तु वह राग अथवा पर वस्तुओं में सुख नहीं मानता। राजा हो तो मैं राजा हूँ, मेरे राज्य को लूटने में कोई समर्थ नहीं है हूँ इसप्रकार वस्तुओं से सुख-दुःख नहीं मानता है। अल्प राग-द्वेष स्वयं के कारण होते हैं; परन्तु मुनिराज को तो उतना अल्प राग-द्वेष भी नहीं है, वे सुवर्ण हो या मिट्टी दोनों में समानभाव रखते हैं।

● निर्ग्रन्थ मुनिराजों को जीवन-मरण में न्यूनाधिकता नहीं होती।

मुनिराज को देह छूटे अथवा रहे, दोनों में समानभाव वर्तता है। बड़ा आयुष्य हो तो धर्म होगा और शीघ्र मृत्यु हो तो धर्म नहीं होगा, लड़का बड़ा होगा और हमें कमाकर खिलायेगा हूँ ऐसा धर्मी नहीं मानता है।

आत्मा त्रिकाल अविनाशी जन्म-मरण से रहित है। सूर्य रात्रि में दिखाई नहीं देता, चन्द्रमा दिन में दिखाई नहीं देता तो क्या उन्हें किसी ने छिपा दिया है? नहीं! सूर्य-चन्द्रमा अपनी अवस्था से तदनुसार परिणामित हुए हैं। अगले दिन वे पुनः दिखाई देंगे। एक आत्मा एक भव से अन्य भव में जाता है। अज्ञानी पर पदार्थों के संयोग-वियोग में राग-द्वेष करता है और ज्ञानी इसमें राग-द्वेष नहीं करते हैं। अपनी कमजोरीवश अल्प राग-द्वेष होते हैं; किन्तु इससे आत्मा को लाभ-हानि नहीं होती। यहाँ तो प्रतीति के पश्चात् रमणता की बात है। मुनिराज को तो किसी भी प्रसंग में अल्प राग-द्वेष भी नहीं होते हैं।

जीवन या मरण में नहीं न्यूनाधिकता।

संसार मोक्ष में एक शुद्धभाव ही है वर्तता।।

ऐसी भावना धर्मी जीव को वर्तती है। स्वयं के शरीर के साथ जीवित रहने का प्रसंग हो अथवा मृत्यु का प्रसंग हो। जीवन का प्रसंग अच्छा और मरण का प्रसंग बुरा हूँ ऐसी न्यूनाधिकता यहाँ नहीं है। राग-द्वेष कमजोरीवश होते हैं हूँ उसे टालकर संयमभावस्वरूप मुनिपने में हम शीघ्र ही लगें हूँ ऐसी धर्मी जीव भावना करते हैं।

(१) यह मेरा शत्रु और यह मित्र है : हूँ मुनिराज को यह मेरा मित्र और यह मेरा शत्रु हूँ ऐसा राग-द्वेष नहीं वर्तता। शुद्धस्वभाव मेरा मित्र है और विकारी भाव दुश्मन है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी शत्रु-मित्र उन्हें नहीं है। यह जीव मेरा हितचिंतक है, मेरा भला करेगा हूँ ऐसा अज्ञानी जीव मानता है; किन्तु मेरा हिताहित स्वयं से है, पर से नहीं। मुनिराज को ऐसी दृढ़ श्रद्धा है, स्थिरता है; अतः राग-द्वेष नहीं होता है।

(२) यह आह्लाद है, यह परिताप है : हूँ अज्ञानी अनुकूल संयोगों की प्राप्ति होने पर आह्लाद करता है और प्रतिकूल संयोगों में परिताप करता है। धर्मी जीव संयोगों में सुख-दुःख नहीं मानता है।

(३) यह मेरा उत्कर्षण (कीर्ति) है और यह अपकर्षण (अपकीर्ति) है : हूँ जैसे की अधिकता होने से हमारी कीर्ति हुई और निर्धन होने से हमें कोई पूछता भी नहीं है हूँ ऐसा अज्ञानी मानता है। धर्मी जीव प्रशंसा और निन्दा को समान मानता है। लोग वाह-वाही करें अथवा निन्दा करें, उसकी धर्मी को परवाह नहीं होती। मैं तो विशुद्ध ज्ञानमय आत्मा हूँ हूँ ऐसा उसे भान रहता है और मुनिराज को ऐसी प्रतीति होने पर रंचमात्र भी राग-द्वेष नहीं रहता।

(४) यह मुझे अकिंचित्कर है और यह उपयोगी है : हूँ अज्ञानी परवस्तु को उपकारक मानता है और उसका संग्रह करता है। धर्मी जीव मानता है कि परवस्तु उपयोगी अथवा निरर्थक नहीं है वह तो ज्ञेय है। एक शुद्ध चिदानन्द आत्मा ही उपयोगी है। धर्मी जीव को परवस्तुओं में हिताहितपना नहीं है। मुनिराज को तो श्रद्धा के पश्चात् लीनता हुई है; अतः अस्थिरता का विकल्प उठता ही नहीं है।

(५) यह मेरा स्थायित्व है और यह विनाश है : हूँ आयुष्य के कारण मेरा स्थायित्व है और आयुष्य के अभाव से मेरा मरण है हूँ यह तो संयोग अपेक्षा बात है। धर्मी जीव तो स्वयं के आत्मा को अविनाशी मानता है। मुनिराज रहेंगे तो जैनशासन चलेगा हूँ ऐसी धर्मी जीव को भावना नहीं होती। प्रत्येक जीव अपनी योग्यतानुसार एक के बाद एक भाव करता है, कोई वस्तु अकस्मात् नहीं होती। जिस-जिस समय जो-जो पर्याय जैसी होनेवाली है वैसी होती है, इसमें फेरफार करने में कोई समर्थ नहीं है हूँ ऐसी धर्मी जीव को श्रद्धा होती है और मुनिराज को ऐसी प्रतीति के उपरान्त उसप्रकार का संयोग भी होता है; किन्तु राग-द्वेष नहीं होता।

● **निर्ग्रन्थ मुनिराज मोह के अभाव के लिए ज्ञानस्वभाव का अनुभव करते हैं।**

मुनिराज को मोह का अभाव है। राग-द्वेष प्रगट नहीं होते अर्थात् उनको अस्थिरता का राग-द्वेष टल गया है। वह अपने विशुद्ध दर्शन-ज्ञान-स्वभावी आत्मा को सतत् अनुभवते हैं। देखो मुनिदशा ! मुनि नाम धारण करने से मुनिपना नहीं प्रगटता। देहादि की क्रिया मेरी नहीं है, शुभाशुभ भाव विकार हैं, वह आत्मा का यथार्थ स्वरूप नहीं है। आत्मा तो ज्ञानस्वभावी है हूँ ऐसी स्वभाव-लीनता का नाम मुनिपना है, यही केवलज्ञान का साधन है। इस भान के बिना धर्मीपना नहीं होता।

वर्तमान में शुभविकल्प अथवा जड़ की क्रिया के कारण जो धर्म मानता है, उसे तो श्रद्धा का भी ठिकाना नहीं है फिर मुनिपना कहाँ से होगा? अर्थात् नहीं होगा। आत्मा के श्रद्धान-ज्ञान सहित अंतर रमणता ही साधुपना है। राग-द्वेष का द्वैविधपना हो तो साधुपना नहीं है।

● **निर्ग्रन्थ मुनिराज समस्त ज्ञेयों को जानते हैं।**

मुनिराज किसी को शत्रु-मित्र रूप नहीं देखते; क्योंकि वे दोनों ही ज्ञान के ज्ञेयमात्र हैं। जिसप्रकार ज्ञेयरूप में वह शत्रु-मित्र नहीं हैं, उसीप्रकार ज्ञान में भी शत्रु-मित्र नहीं हैं। कोई चंदन से नहलाये अथवा कोई दीवार

के नीचे दबाकर मारे ह्व उन्हें दोनों में समताभाव है। प्रशंसा और निन्दा को वे अच्छा-बुरा नहीं मानते; क्योंकि दोनों ही भाषा की पर्यायें हैं।

मिट्टी और सोना दोनों ही जड़द्रव्य हैं; अतः वे उनमें राग-द्वेष नहीं करते। किसी की मृत्यु अथवा किसी को बचाने का प्रसंग बने; किन्तु उन्हें राग-द्वेष नहीं होता है। इसप्रकार समस्त प्रसंगों को ज्ञेयरूप जानते हैं और उसमें राग-द्वेष नहीं करते। उन ज्ञेयों की तरफ झुकाव के बिना ही वे समस्त ज्ञेयों को राग-द्वेष से रहित ज्ञान में जानते हैं।

● **निर्ग्रन्थ मुनिराज को वीतरागी परिणति हुई है, अतः उन्हें समताभाव वर्तता है।**

मुनिराज को अपने ज्ञानात्मक स्वभाव में वीतरागी पर्याय प्रगटी है। सम्यग्दृष्टि जीव को श्रद्धा-ज्ञान तो है; किन्तु साथ में अस्थिरता का राग-द्वेष भी है। उसे प्रसंग के कारण राग-द्वेष नहीं होते; किन्तु प्रसंग के समय राग-द्वेष होते हैं। मुनिराज को तो ऐसे राग-द्वेष भी नहीं होते। उन्हें समस्त काल और क्षेत्र में समता वर्तती है। गर्मी में किसी ठंडे स्थान पर जाना, महाबलेश्वर जाना ह्व ऐसा मुनिराज को नहीं होता; क्योंकि परपदार्थों में सुख-दुःख की कल्पना उन्हें नहीं है। सहज ज्ञानानन्द स्वभाव में परिणति के लीन होने पर गृहस्थ को जिसप्रकार का राग-द्वेष होता है, मुनिराज को उसप्रकार का राग-द्वेष नहीं होता, अतः उन्हें सभी में साम्य/समताभाव वर्तता है। ऐसा होता तो अच्छा होता अथवा ऐसा होता तो ठीक होता ह्व ऐसा उन्हें नहीं वर्तता, वे सदैव समता भाव से परिपूर्ण रहते हैं।

● **आगमज्ञानपूर्वक आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान सहित वीतरागी दशारूप समता मुनिपने का लक्षण है।**

इसप्रकार वीतरागी दशारूप समताभाव होने पर राग घटकर शरीर की सहज नग्नअवस्था होती है। यह नग्नअवस्था करनी नहीं पड़ती। नग्नअवस्था के बिना मुनिपना नहीं होता और नग्नअवस्था के कारण मुनिपना नहीं है। २८ मूलगुणों का पालन, नग्नअवस्था आदि बाह्य चिह्न पूर्व की गाथा में कह चुके हैं।

सम्यग्दर्शन और अन्तररमणता के समताभाव बिना मात्र बाह्य में मुनिदशा का धारण मुनिपना नहीं है। मुनिदशा का लक्षण तो सम्यग्दर्शन सहित वीतरागी दशारूप समताभाव है और निमित्तरूप २८ मूलगुणों का पालन और नग्नदशा है।

इसप्रकार आगम का यथार्थ ज्ञान करे, नव तत्त्वों को पृथक्-पृथक् जाने, पाँच इन्द्रिय विषयों का दमन करे, संयम धारण करे साथ ही मैं शुद्ध आत्मा हूँ ह्व ऐसा आत्मज्ञान करे तो कार्यकारी है तथा उन्हें ही मुनिपना होता है। केवल आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्वपना हो; किन्तु आत्मज्ञान नहीं हो तो मुनिपना नहीं होता, वह तो मिथ्यादृष्टि है। साथ ही आत्मज्ञान हो; किन्तु वीतरागी लीनता नहीं है तो वह सम्यग्दृष्टि कहलाता है; मुनि नहीं कहलाता। मुनिराज को श्रद्धा-ज्ञान सहित अंतर वीतरागी दशा रमणता और समताभाव विशेष होता है। इसप्रकार मुनि का लक्षण समताभाव जानना। ●

अरे भाई! यह मूल सिद्धान्त है कि एक द्रव्य के कारण दूसरे में कुछ भी नहीं होता। परन्तु अज्ञानी कल्पना से ऐसा मानते हैं कि मैं ही घर बाहर की बहुत सारी व्यवस्थाएँ करता हूँ, अन्यथा ऐसी सुन्दर व्यवस्था संभव ही नहीं थी। जब कभी मैंने ध्यान नहीं दिया, अथवा मैंने अमुक काम नहीं किया या नहीं कर पाया तो वह काम हुआ ही नहीं। ऐसी एक नहीं अनेक घटनाएँ इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। अज्ञानी ऐसा सोचता है, मानता है और कहता भी है, पर यह उसका सोचना मिथ्या है।

आचार्य अज्ञानी से कहते हैं कि भाई! यह सब तेरा भ्रम है, यह तेरी गलत मान्यता है। तूने तो मात्र राग-द्वेष-मोह के भाव ही किए हैं। राग-द्वेष-मोह के भाव ही पुनः पुद्गल कर्म के बंध के निमित्त कारण होते हैं। **ह्व प्रवचनरत्नाकर भाग-८, पृष्ठ-२६५**

प्रवचनसार गाथा २४२

अब, यह समर्थन करते हैं कि आगमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्व के युगपत्पने के साथ आत्मज्ञान के युगपत्पने की सिद्धिरूप संयतपना ही मोक्षमार्ग है, जिसका दूसरा नाम एकाग्रता लक्षणवाला श्रामण्य है :ह

दंसणणाणचरित्तसु तीसु जुगवं समुट्टिदो जो दु ।

एयग्गदो त्ति मदो सामण्णं तस्स पडिपुण्णं ॥२४२॥

(हरिगीत)

ज्ञानदर्शनचरण में युगपत् सदा आरूढ़ हो ।

एकाग्रता को प्राप्त यति श्रामण्य से परिपूर्ण हैं ॥२४२॥

अन्वयार्थ :ह [यः तु] जो [दर्शनज्ञानचरित्रेषु] दर्शन, ज्ञान और चारित्र [त्रिषु] इन तीनों में [युगपत्] एक ही साथ [समुत्थितः] आरूढ़ है, वह [एकाग्रयगतः] एकाग्रता को प्राप्त है [इति] इसप्रकार [मतः] (शास्त्र में) कहा है । [तस्य] उसके [श्रामण्यं] श्रामण्य [परिपूर्णम्] परिपूर्ण है ।

टीका :ह ज्ञेयतत्त्व और ज्ञातृत्व की तथाप्रकार (जैसी है वैसी ही, यथार्थ) प्रतीति जिसका लक्षण है वह सम्यग्दर्शनपर्याय है; ज्ञेयतत्त्व और ज्ञातृत्व की तथा प्रकार अनुभूति जिसका लक्षण है वह ज्ञानपर्याय है; ज्ञेय और ज्ञाता की क्रियान्तर से^१ निवृत्ति के द्वारा रचित दृष्टिज्ञातृत्व में परिणति जिसका लक्षण है वह चारित्रपर्याय है । इन पर्यायों के आत्मा के भाव्यभावकताके^२ द्वारा उत्पन्न अति गाढ़ इतरेतर मिलन के बल के कारण इन तीनों पर्यायरूप युगपत् अंग-अंगीभाव से परिणत आत्मा के, आत्मनिष्ठता होने पर जो संयतत्व होता है वह संयतपना एकाग्रता-

१ क्रियांतर = अन्य क्रिया; (ज्ञेय और ज्ञाता अन्य क्रिया से निवृत्त हो उसके कारण होनेवाली जो दृष्टा-ज्ञाता आत्मतत्त्व में परिणति वह चारित्रपर्याय का लक्षण है ।)

२ भावक अर्थात् होनेवाला और भावक जिसरूप हो सो भाव्य है । आत्मा भावक है और सम्यग्दर्शनादि पर्यायें भाव्य हैं । भावक और भाव्य का परस्पर अति गाढ़ मिलन (एकमेकता) होता है । भावक आत्मा अंगी है और भाव्यरूप सम्यग्दर्शनादि पर्यायें उसका अंग हैं ।

लक्षणवाला श्रामण्य जिसका दूसरा नाम है ऐसा मोक्षमार्ग ही है ह्व ऐसा जानना चाहिये, क्योंकि वहाँ (संयतपने में) पेयकी^१ भाँति अनेकात्मक^२ एक का अनुभव होने पर भी, समस्त परद्रव्य से निवृत्ति होने से एकाग्रता अभिव्यक्त (प्रगट) है ।

वह (संयतत्वरूप अथवा श्रामण्यरूप मोक्षमार्ग) भेदात्मक होने से 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग है' इसप्रकार पर्यायप्रधान व्यवहारनय से उसका प्रज्ञापन है; वह (मोक्षमार्ग) अभेदात्मक होने से 'एकाग्रता मोक्षमार्ग है' इसप्रकार द्रव्यप्रधान निश्चयनय से उसका प्रज्ञापन है; समस्त ही पदार्थ भेदाभेदात्मक होने से वे दोनों, (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तथा एकाग्रता) में मोक्षमार्ग है' इसप्रकार प्रमाण से उसका प्रज्ञापन है ।

गाथा २४२ पर प्रवचन

● केवलज्ञानी का आदर और निगोद के जीव का अनादर ह्व ऐसा ज्ञाता स्वभाव में नहीं है ।

ज्ञेयतत्त्व और ज्ञानतत्त्व की यथावत् प्रतीति जिसका लक्षण है ह्व उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं । ज्ञेयतत्त्व अर्थात् ज्ञान में जाननेयोग्य पदार्थ और ज्ञातातत्त्व अर्थात् जानने-देखनेवाला ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप आत्मा । आत्मा जानने-देखनेवाला है; शरीर को चलानेवाला अथवा राग करनेवाला नहीं है । वस्तु का स्वभाव अर्थात् द्रव्य-गुण-पर्याय जैसे हैं, वैसा आत्मा जानता है । अनंत निगोदिया जीवों की वह दया पालता है ह्व ऐसा नहीं है; किन्तु ज्ञान में जानता अवश्य है । भगवान ने जीवों के प्रकार बताये हैं; किन्तु वे छह काय के जीवों की रक्षा कर सकते हैं ह्व ऐसा नहीं है । आत्मा सभी को जाननेवाला है और ज्ञेय आत्मा में जानने में आते हैं । आत्मा

१ पेय = पीने की वस्तु, जैसे ठंडाई । (ठंडाई का स्वाद अनेकात्मक एक होता है; क्योंकि अभेद से उसमें एक ठंडाई का ही स्वाद आता है और भेद से उसमें दूध, शक्कर, सोंफ, कालीमिर्च तथा बादाम आदि अनेक वस्तुओं का स्वाद आता है ।)

२ यहाँ अनेकात्मक एक के अनुभव में जो अनेकात्मकता है वह परद्रव्यमय नहीं है वहाँ परद्रव्यों से तो निवृत्ति ही है; मात्र सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप स्व-अंशों के कारण ही अनेकात्मकता है । इसलिये वहाँ, अनेकात्मकता होने पर भी एकाग्रता (एक-अग्रता) प्रगट है ।

परपदार्थों की अवस्था का रक्षक नहीं है, वह केवल ज्ञाता है। आत्मा कुदेवादि और सुदेवादि को भी बराबर जानता है। निगोद की अपूर्ण पर्याय और सिद्ध की पूर्ण पर्याय को भी जानता है; किन्तु निगोद की पर्याय अपूर्ण है, अतः उसका अनादर और केवलज्ञान की पर्याय परिपूर्ण है, अतः उसका आदर करना ह इसप्रकार सम्यग्दृष्टि ज्ञेयों में खण्ड-खण्डपना नहीं करता। समस्त ज्ञेय एक ही प्रकार से जानने में आते हैं और आत्मा उन समस्त ज्ञेयों को एक साथ जानता है।

● जिसप्रकार ज्ञानस्वभावी आत्मा राग का कर्ता नहीं है, उसीप्रकार राग का नाशक भी नहीं है, वह मात्र ज्ञाता है।

आत्मा ज्ञातास्वभावी है, उसमें परवस्तु का ग्रहण त्याग नहीं है; क्योंकि परवस्तु को आत्मा ने न कभी ग्रहण किया है और न कभी छोड़ा है। आत्मा की अवस्था में जो राग-द्वेष होते हैं वह भी परपदार्थ के कारण नहीं है, अपितु स्वयं के कारण से हैं। राग-द्वेष अपनी कमजोरी के कारण होते हैं ह ऐसा वह जानता है; किन्तु आत्मा राग-द्वेष को ग्रहण करे अथवा छोड़े यह वस्तुस्वभाव में नहीं है। आत्मा राग का ज्ञाता है; किन्तु उत्पादक या नाशक नहीं है। आत्मा राग का नाशक है ह ऐसा कहना उपचार है। आत्मा राग को जानता है; किन्तु राग हुआ, इसलिए जाने ह ऐसा नहीं है, अपितु अपने स्वभाव के कारण जानता है।

● ज्ञानस्वभाव उपादान और निमित्त कारण दोनों को यथावत् जानता है।

ज्ञान-ज्ञेयतत्त्व, देव-शास्त्र-गुरु, छहद्रव्य आदि को जैसे हैं ह वैसा जानता है। उन पदार्थों का कोई कर्ता-धर्ता-हर्ता नहीं है। पूर्व में भी कर्ता नहीं था और वर्तमान में भी कर्ता नहीं है। जो ज्ञेय निमित्त हो उसे निमित्त तरीके से जानता है, किन्तु वे निमित्त, उपादान में कुछ कर देते हैं ह ऐसा नहीं है। शास्त्रों में दो कारण कहे हैं ह १. उपादान कारण २. निमित्त कारण।

आत्मा परपदार्थ का तो कर्ता है ही नहीं; किन्तु संसार की पर्याय का भी कर्ता अथवा नाशक नहीं है। संसार उत्पन्न हुआ, नाश हुआ, मोक्षपर्याय उत्पन्न हुई आदि सभी को मात्र जानता है। संसार और मोक्षपर्याय दोनों ही ज्ञेय हैं। विकारी पर्याय को जानता है; किन्तु विकारी पर्याय में लीन नहीं

होता। मैं स्वयं विकार रहित ज्ञानस्वभावी हूँ, उसमें स्थित रहते हुए अर्थात् निज स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करके पश्चात् जो अल्प विकार रहे तो उसे भी जानता है। इसप्रकार स्वभाव और विकार दोनों के यथार्थ ज्ञान बिना श्रावक अथवा मुनिपना नहीं हो सकता।

आत्मा की प्रतीति हुई, वह सम्यक्दर्शन की पर्याय है, सम्यग्दर्शन गुण नहीं है, कितने ही लोग उसे गुण कहते हैं; किन्तु वह गुण नहीं है। पूर्व की अवगुणरूप अवस्था थी, वह गुणरूप हुई है, इस अपेक्षा से उसे गुण कहा जाता है। सिद्धों के आठ गुण कहे हैं, वे प्रगट हैं। गुण तो त्रिकाली हैं, वे प्रकट नहीं होते, अपितु अवस्था प्रकट होती है। संसार अवस्था में जो अवगुणों की दशा थी वह सम्यक् हुई है, अतः उसे गुण कहते हैं; किन्तु वह भी पर्याय ही है ह ऐसा ज्ञानी बराबर निश्चय करते हैं।

● ज्ञानप्रधान से सम्यक् दर्शन की व्यवस्था।

इसप्रकार ज्ञेयतत्त्व तथा ज्ञानतत्त्व जैसे हैं, वैसे उनकी प्रतीति करना सम्यक्दर्शन है। सम्यक्दर्शन का ध्येय एक परमपारिणामिक भाव है। निमित्त, विकार, निर्मल पर्याय, गुण-भेद आदि नहीं हैं। एक स्वभावभाव केवल कारणपरमात्मा ही सम्यग्दर्शन का विषय है। अभेद शुद्धस्वभाव दृष्टि का विषय है।

यहाँ चरणानुयोग का अधिकार है। आत्मा जाननेवाला है और अन्य पदार्थ जानने में आनेयोग्य हैं। ज्ञान राग की पर्याय को जानता है, पर को जानता है, अन्य गुणों को जानता है; किन्तु परपदार्थों को जानना राग का कारण नहीं है। यहाँ तो स्व-पर का यथार्थ ज्ञान कराया है।

ज्ञेय = आत्मा के अतिरिक्त अनन्त पदार्थ।

ज्ञाता = आत्मा।

दोनों में ज्ञाता-ज्ञेय संबंध है। वस्तु की यथावत् प्रतीति करना ज्ञानप्रधान कथन से सम्यक्दर्शन का लक्षण कहा जाता है। दृष्टिप्रधान कथन में क्षायिकभाव भी दृष्टि का विषय नहीं है तथा ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्ध को भी दृष्टि नहीं स्वीकारती है। दृष्टि तो अखण्ड एकरूप स्वभाव को स्वीकारती है। यहाँ चरणानुयोग में ज्ञाता-ज्ञेय का व्यवहार सम्बन्ध बताकर

ज्ञान प्रधानता से सम्यग्दर्शन की व्याख्या की है।

● ज्ञाता और ज्ञेय जैसे हैं, वैसा ज्ञान करना सम्यक्ज्ञान का लक्षण है।

शास्त्रों का ज्ञान किया, उसे ज्ञानपर्याय नहीं कहते हैं। शास्त्रों को जाननेवाले अथवा अनेक मनुष्यों के बीच भाषण देनेवाले व्यक्ति की ज्ञानपर्याय सम्यक्ज्ञान की पर्याय नहीं है। आत्मा ज्ञानस्वभावी है और अन्य अनन्त पदार्थ ज्ञेय हैं। संकल्प, विकल्प, दया, दान आदि समस्त ज्ञेय हैं, इसप्रकार ज्ञेयतत्त्व और ज्ञातातत्त्व की यथायोग्य अनुभूति जिसे है, वह ज्ञानपर्याय है। ज्ञानपर्याय लक्ष्य है और अनुभूति उसका लक्षण है। हजारों पदार्थों को जाने उसे ज्ञान पर्याय नहीं कहते; क्योंकि उन पदार्थों को जानने में बुद्धि खंड-खंड होती है। वह ज्ञान पर की ओर झुका हुआ है, उस ज्ञान का लक्ष्य आत्मा की ओर नहीं है। वहाँ अन्य पदार्थों को जानने में जो शक्ति दिखाई देती है, वह अज्ञान भाव है। निगोद से लेकर समस्त जीव ज्ञेय हैं। राग-द्वेष के परिणाम भी ज्ञेय ही हैं। ज्ञानस्वभावी आत्मा ही ज्ञाता है, उसके अन्तर आश्रय से जो ज्ञान प्रकट होता है, वह सम्यक्ज्ञान है। शास्त्र का जानना ज्ञानपर्याय नहीं है, अपितु अन्तर अनुभूति ज्ञान पर्याय है।

● विभाव की निवृत्तिपूर्वक वीतराग परिणति चारित्र का लक्षण है।

ज्ञेय और ज्ञातापने की क्रिया से निवृत्ति होकर ज्ञाता-दृष्टा तत्त्व (निजात्मा) में जिसकी निरन्तर परिणति चलती है, वह चारित्र पर्याय है। ज्ञेय और ज्ञातारूप विभाव क्रिया से निवृत्त होकर जो देखने-जाननेवाला आत्मा है, उसमें परिणति होना चारित्र का लक्षण है।

प्रथम सम्यक्दर्शन सम्यक्ज्ञान की बात है। वहाँ सम्यक्ज्ञान में भान है कि पर पदार्थों की ओर लक्ष्य जाने से शुभाशुभ भाव हुए; किन्तु वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है वह ऐसी प्रतीति तथा ज्ञान है; किन्तु ज्ञाता जीव अभी विभाव भावों से निवृत्त नहीं हुआ है।

ज्ञातास्वभाव जो राग में अटकता था। अब, उससे निवृत्ति पाकर स्वरूप में लीनता होने से वीतरागी दशा प्रकट हुई है, वह विभावक्रिया से निवृत्ति है। समस्त शुभभाव, दया-दानादि, पंच महाव्रतादि से निवृत्ति

होना यथार्थ चारित्र है। सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञान के समय ज्ञाता जानता है कि जो दया-दान का राग हुआ वह मेरे लिये ज्ञेय है, परन्तु इस अवस्था में वह राग से निवृत्त नहीं है। रागी जीव अन्तर स्वभाव में स्थित हो तो राग का अभाव हो जाता है। राग ज्ञेयरूप भी नहीं रहता; किन्तु राग है, अतः उसका जानना होता है, किन्तु राग में अटकना नहीं चाहिए। राग के जानने पर वह ज्ञाता अन्य ज्ञेयों में अटक जाता था; किन्तु अब नहीं अटकता। अन्य ज्ञेय ज्ञेयरूप रह जाते हैं, इसप्रकार ज्ञेय और ज्ञातापने की विभावक्रिया से वह जीव निवृत्त होता है। इस निवृत्ति के द्वारा रचित ज्ञातास्वभाव की परिणति चारित्र का लक्षण है।

सम्यक्ज्ञान दशा में ज्ञेय ज्ञाता का भान होने पर भी अस्थिरता का राग होता था; किन्तु अब वह राग नहीं है, अतः ज्ञाता और ज्ञान दोनों ही विभाव से निवृत्त हैं। चारित्र पर्याय का लक्षण-शुभभाव अथवा शरीर की नग्न अवस्था को नहीं कहा है; अपितु वीतरागी परिणति को चारित्र का लक्षण कहा है।

● प्रत्येक गुण की प्रत्येक पर्याय का विषय सामान्य है, फिर भी प्रत्येक पर्याय का विकास एक जैसा नहीं है।

आत्मा ज्ञाता-दृष्टास्वरूप अर्थात् सामान्य दर्शन-ज्ञान स्वरूप है। दर्शन सामान्य को देखता है वह ज्ञान के भेद, अन्य पदार्थों के भेद अथवा द्रव्य-गुण-पर्याय के भेदों को नहीं स्वीकारता। उसका विषय सामान्य है, अतः समस्त दर्शन पर्याय का विकास एक जैसा हो वह ऐसा नहीं है। जैसे-जैसे निर्मल दशा बढ़ती जाती है; वैसे-वैसे दर्शन का विकास होता है। जब ज्ञान का विकास होता है, तो वह सभी को भेद करके जानता है। यह द्रव्य है, गुण है, पर्याय है आदि भेद करके ज्ञान जानता है। यह ज्ञाता-दृष्टा की परिणति ही चारित्र है।

इसप्रकार सम्यक्दर्शन, ज्ञान व चारित्र को मोक्षमार्ग कहा है। कितने ही जीव भगवान के दर्शन को दर्शनविशुद्धि कहते हैं; किन्तु वह दर्शनविशुद्धि नहीं है। आत्मा पर और विकार से भिन्न है वह ऐसी श्रद्धा दर्शनविशुद्धि है वह यही आत्मसिद्धि और धर्म का मूल है।

सम्यक्दृष्टि का लक्षण अनुकम्पा नहीं है, अपितु यथार्थ प्रतीति समकृति का लक्षण है। ज्ञान अनेक ज्ञेयों को जानता है, फिर भी राग नहीं करता ह्व यह ज्ञान का लक्षण है। नग्नदशा और बाह्य क्रिया को छोड़कर वीतरागी परिणति चारित्र का लक्षण है। यहाँ तीनों ही पर्याय सम्यक् है और एक समय में है।

● सम्यक्दर्शन ज्ञान-चारित्र-रूप तीनों पर्यायों का आत्मा के साथ एकपना ही मुनिपना है, मोक्षमार्ग है।

“....इन पर्यायों के और आत्मा के भाव्यभावकता के द्वारा उत्पन्न अति गाढ़ इतरेतर मिलन के बल के कारण इन तीनों पर्यायरूप युगपत् अंग-अंगीभाव से परिणत आत्मा के, आत्मनिष्ठता होने पर जो संयतत्व होता है, वह संयतपना एकाग्रतालक्षणवाला श्रामण्य जिसका दूसरा नाम है ह्व ऐसा मोक्षमार्ग ही है ह्व ऐसा जानना चाहिये....”

भावक अर्थात् होनेवाला, और भावक जिसरूप हो सो भाव्य। आत्मा भावक है और सम्यग्दर्शनादि पर्यायें भाव्य हैं। भावक और भाव्य का परस्पर अति गाढ़ मिलन (एकमेकता) होता है। भावक आत्मा अंगी है और भाव्यरूप सम्यग्दर्शनादि पर्यायें उसका अंग हैं। आत्मा की सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय के साथ एकता होती है, भिन्नता नहीं। द्रव्य और पर्याय एक समय के लिए अभेदरूप हैं; सर्वथा अभेद नहीं। सर्वथा अभेद होवें तो पर्याय का नाश होने पर द्रव्य का भी नाश हो जाये, अतः कथंचित् अभेदता है। द्रव्य को उपादान और पर्याय को निमित्त कहकर एकमेक कहा है। पर्याय पर्यायवान में मिल गई और पर्यायवान पर्याय में मिल गया।

द्रव्यानुयोग में मोक्षमार्ग को नाशवान तत्त्व कहा है; क्योंकि मोक्षमार्ग और आत्मा एकमेक हो जावें तो मोक्षमार्ग का नाश होने से आत्मा का भी नाश हो जावे, अतः भिन्न तत्त्व बताकर एक अखण्ड आत्मा को ध्येय बताया है।

प्रश्न :ह्व यहाँ प्रवचनसार में पर्याय द्रव्य को स्पर्श नहीं करती तथा

द्रव्य पर्याय को स्पर्श नहीं करता ह्व ऐसा कहकर द्रव्य और पर्याय को स्वतंत्र बताया है और यहाँ आत्मा और पर्याय का अतिगाढ़ इतरेतर मिलन कहा है। तो क्या अनादि-अनंत एकरूप पारिणामिक भाव बदलकर पर्याय रूप होता है?

समाधान :ह्व भाई ! यह चरणानुयोग का कथन है। यहाँ समय के अनुसार कथन किया गया है। त्रिकाली आत्मा भिन्न और सम्यक्दर्शनादि की पर्याय भिन्न ह्व ऐसा नहीं, अपितु तीनों की एकता में एक समय बताया है। पर्याय और द्रव्य को अभेद करके विवक्षा भेद से कथन किया गया है, इसप्रकार तीनों पर्याय आत्मा के साथ एकरूप हैं। यह आत्मा का आत्मनिष्ठपना है, संयतपना है अथवा एकाग्रता लक्षणवाला मुनिपना या मोक्षमार्ग है।

● सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीन पर्याय होने पर भी आत्मा में एकपना ही अनुभव में आता है।

यहाँ मोक्षमार्ग का अधिकार है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र यह मोक्षमार्ग है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है और शरीर, मन, वाणी, राग-द्वेष आदि समस्त पदार्थ जानने योग्य हैं ह्व ऐसी ज्ञाता और ज्ञान की प्रतीति होना वह सम्यग्दर्शन है। ज्ञेय और ज्ञाता की प्रतीतिपूर्वक अनुभूति सम्यग्ज्ञान है तथा विभाव से निवृत्ति और अंतर में रमणता सम्यक्चारित्र है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की पर्याय तथा आत्मा दोनों भिन्न-भिन्न नहीं है, दोनों ही परस्पर गाढ़ मिलनरूप है। यही आत्मनिष्ठपना है। आत्मा के सन्मुख तत्परता ही संयतपना है।

जिसप्रकार ठंडाई का स्वाद अनेकानेक में भी एक है; क्योंकि अभेद से उसमें एक ठंडाई का स्वाद आता है और भेद से उसमें दूध, शक्कर, सौंफ, कालीमिर्च, बादाम आदि अनेक वस्तुओं का स्वाद आता है, उसीप्रकार संयतपने में अनेकात्मक एक का अनुभव होता है। उस संयतपना में सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों पर्याय भिन्न-भिन्न हैं। इस अपेक्षा उसमें अनेकात्मकपना है; किन्तु तीनों पर्याय आत्मा के साथ एकमेक है, अतः एक है। यहाँ अनेकात्मक एकपने में जो अनेकात्मकता

है, वह परद्रव्य नहीं है। वह तो परद्रव्यों से अर्थात् पुण्य-पाप आदि अनेक विकारी भावों से निवृत्त ही है।

उसीप्रकार अनेक परद्रव्यों के अवलंबन को भी उसने छोड़ा है। मात्र सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप स्व अंशों के लिए ही अनेकात्मकपना है, अतः अनेकात्मकता होने पर भी एक अग्रपना ही प्रगट (मुख्य) है।

अनेकता का ज्ञान है; किन्तु अनेकता में अटकता नहीं है, अतः एकता ही है। पर्याय पर्यायवान के साथ अभेद है। वह एकाग्रता लक्षणवाली संयतदशा अथवा मोक्षमार्ग ही सिद्धदशा होने का कारण है।

● चैतन्य दीपक में स्व-पर प्रकाशक स्वभाव के बिना व्रतादि की समस्त क्रिया संसार के लिए है।

अज्ञानी जीवों को लगता है कि हमने बाह्य का कुछ किया तो क्या हुआ ? किन्तु भाई ! विचार तो कर ! तू बाह्य पदार्थों का कुछ नहीं कर सकता। पर की ओर का लक्ष राग का प्रतीक है और रागरहित ज्ञानस्वभाव में ठहरना यथार्थ क्रिया है; किन्तु जीवों को इस देह, पुण्य-पाप तथा सम्पूर्ण आत्मा को जाननेवाले चैतन्यदीपक की खबर नहीं है।

पुण्य से धर्म होता है। शरीर की क्रिया से लाभ होता है, निमित्त से उपादान में कार्य होता है ह इसप्रकार स्वरूप के भान बिना व्रत, तप, उपवास, यात्रा आदि समस्त क्रियाएँ कार्यकारी नहीं है, इससे तो व्यर्थ में ही संसार बढ़ता है। शरीर वाणी पर है, पुण्य-पाप विकार है, मैं तो ज्ञातास्वरूप हूँ, पुण्य-पाप विकार में अटकना मेरा स्वभाव नहीं है, मैं तो सभी को जाननेवाला हूँ हूँ ऐसे चैतन्य दीपक के प्रकाश से अपना सम्पूर्ण आत्मा भरा है। अर्थात् स्व-पर प्रकाशक ज्ञान में सबकुछ जानने में आता है।

अनंत आत्माएँ तथा पुद्गलादि द्रव्य सभी स्व-स्वरूप में कायम रहकर परिवर्तन कर रहे हैं। जीव अपने स्वभाव से चूक गया तो विकार उत्पन्न होता है और स्वभाव में स्थिर रहे तो निर्जरा होती है। आत्मा में

अनंत गुण हैं। दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि तीनों गुणों की भिन्न-भिन्न पर्याय है, अतः अन्तर अनुभव बढ़ने पर एकाग्रता बढ़ती है, इसप्रकार यथार्थ ज्ञान प्रगट होता है।

मोक्ष कही निज शुद्धता, जो पावे वह पंथ।

समझाया संक्षेप में, सकल मार्ग निर्ग्रन्थ ॥

अपनी आत्मा की परिपूर्ण शुद्धदशा ही मोक्ष है। सिद्धशिला पर जाने से मोक्ष नहीं होता। सम्पूर्ण शुद्धता को प्राप्त होना मोक्ष है। मोक्षदशा पाने का कारण मोक्षमार्ग है और वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता है।

● मोक्षमार्ग की एक ही पर्याय में व्यवहारनय, निश्चयनय और प्रमाण है।

मोक्षमार्ग को भेदात्मक कहने पर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग है ह यह कथन पर्यायप्रधान व्यवहारनय का कथन है। यहाँ व्यवहार रत्नत्रय को भेदात्मक कहा है। राग के विकल्परूप भेद की यहाँ बात नहीं है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र के गुण-पर्यायगत भेदों का यहाँ व्यवहारनय से कथन किया गया है।

उक्त तीनों भेदरूप होने से आत्मा का अनुभव नहीं होता, यह बात यहाँ नहीं ली है। त्रिकालीद्रव्य को जाने वह निश्चयनय है और पर्याय को जाने वह व्यवहारनय है। इसप्रकार निश्चयनय और व्यवहारनय का कथन यहाँ लिया है।

मुख्यरूप से यहाँ तो मोक्षमार्ग की व्याख्या है। मोक्षमार्ग पर्याय है। उस पर्याय में व्यवहारनय, निश्चयनय और प्रमाण तीनों हैं हूँ ऐसा कहा है। यहाँ चरणानुयोग के कथन में एक ही पर्याय में तीनों को बताकर भेदाभेद कहा है।

(१) प्रथमतः ऊपर कहे अनुसार मोक्षमार्ग की पर्याय में सम्यग्दर्शन, ज्ञान-चारित्र ऐसा भेद करके ज्ञान कराया वह पर्याय प्रधान व्यवहारनय से कथन है। (पुण्य-पापरूप भेद की बात यहाँ नहीं है।)

(२) मोक्षमार्ग अभेदात्मक भी है; क्योंकि तीनों ही पर्याय आत्मा के साथ अभेद हैं और स्वभाव में ही अभेद करके आत्मा के साथ लीन हुई हैं, इसप्रकार मोक्षमार्ग की पर्याय का अभेद से ज्ञान करना अर्थात् एकाग्रता/

एकता ही मोक्षमार्ग है, यह द्रव्यप्रधान निश्चयनय से कथन है। यहाँ निश्चयनय कहा अर्थात् उसका विषय द्रव्य है ह्व ऐसा नहीं, यहाँ भी नयरूप विषय तो मोक्ष की पर्याय ही है; किन्तु तीनों की एकता होकर एकपने का ज्ञान हुआ वह निश्चयनय का कथन है।

३) समस्त पदार्थ भेदाभेदात्मक होने से मोक्षमार्ग की पर्याय भी भेदाभेदात्मक है। उस पर्याय में दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीनों की अपेक्षा से भेद है, तथापि वहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों पर्यायों की एकता आत्मा के साथ अभेदरूप में हुई; अतः एकाग्रता मोक्षमार्ग है। इसप्रकार मोक्षमार्ग की पर्यायों का एक साथ ज्ञान करना प्रमाण का कथन है। चरणानुयोग होने से मोक्षमार्ग की एक समय की पर्याय में निश्चयनय, व्यवहारनय और प्रमाण तीनों को कह दिया है।

(अब श्लोक द्वारा मोक्षप्राप्ति के लिये दृष्टा-ज्ञाता में लीनता करने को कहा जाता है।)

(शार्दूलविक्रीडित)

इत्येवं प्रतिपत्तुराशयवशादेकोऽप्यनेकीभवं-
स्रैलक्षण्यमथैकतामुपगतो मार्गोऽपवर्गस्य यः।
द्रष्टृज्ञातृनिबद्धवृत्तिमचलं लोकस्तमास्कन्दता-
मास्कन्दत्यचिराद्विकाशमतुलं येनोल्लसन्त्याश्रितेः ॥१६॥

(मनहरण कवित्त)

इसप्रकार जो प्रतिपादन के अनुसार।

एक होकर भी अनेक रूप होता है ॥

निश्चयनय से तो मात्र एकाग्रता ही।

पर व्यवहार से तीनरूप होता है ॥

ऐसे मोक्षमार्ग के अचलालम्बन से।

ज्ञाता-दृष्टाभाव को निज में ही बाँध ले ॥

उल्लसित चेतना का अतुल विलास लख।

आत्मीकसुख प्राप्त करे अल्पकाल में ॥१६॥

अर्थ :ह्व इसप्रकार प्रतिपादक के आशय के वश, एक होने पर भी अनेक होता हुआ (अभेदप्रधान निश्चयनय से एक-एकाग्रतारूप ह्व होता हुआ भी वक्ता के अभिप्रायानुसार भेदप्रधान व्यवहारनय से अनेक भी ह्व दर्शनज्ञानचारित्ररूप भी ह्व होता होने से) एकता^१ (एकलक्षणता) को तथा त्रिलक्षणता को^२ प्राप्त जो अपवर्ग (मोक्ष) का मार्ग उसे लोक दृष्टा-ज्ञाता में परिणति बाँधकर (लीन करके) अचलरूप से अवलम्बन करे, जिससे वह (लोक) उल्लसित चेतना के अतुल विकास को अल्पकाल में प्राप्त हो।

कलश १६ पर प्रवचन

जो जीव अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप में लीनता करते हैं, वे अल्पकाल में ही केवलज्ञान प्राप्त करते हैं। इस अभिप्राय के अनुसार निश्चयनय से स्वभाव में एकाग्रता ही मोक्षमार्ग है और भेद-प्रधान कथन से मोक्षमार्ग-सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप अनेकरूप भी होता है; अतः मोक्षमार्ग निश्चयनय से एक लक्षणवाला और व्यवहारनय से त्रिलक्षणवाला है।

इस मोक्षमार्ग को अनंत जीवों ने अपने ज्ञानस्वभाव में प्रतीतिपूर्वक अचलरूप से प्राप्त किया है। मैं चैतन्य, शुद्ध हूँ। जड़ क्रिया, पुण्य-पाप क्रिया से रहित मात्र जानने-देखनेवाला हूँ ह्व ऐसी अन्तरदृष्टि-लीनता करके चैतन्य का अवलम्बन लेवें।

हे भाई ! आचार्य भगवान समस्त लोक के जीवों को यह समझा रहे हैं कि जिसप्रकार पानी की फुहारें फव्वारे से बाहर आती हैं, उसीप्रकार चैतन्य की श्रद्धा-ज्ञान करके उसमें स्थिरता करते ही चैतन्य अतुल विकास से उल्लसित होकर केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्य को शीघ्र ही पाता है।

जितना काल संसार में लगा है, उतना काल मुक्ति के लिए नहीं लगता। अल्पकाल में ही मुक्ति प्राप्त होती है। यही योग की साधना है। इस योग की साधना से परमात्मदशा-योगीदशा प्राप्त होती है। ●

१. द्रव्यप्रधान निश्चयनय से मात्र एकाग्रता ही एक मोक्षमार्ग का लक्षण है।

२. उसीप्रकार व्यवहारनय से दर्शनज्ञानचारित्ररूप त्रिक मोक्षमार्ग का लक्षण है।

प्रवचनसार गाथा २४३

अब, ऐसा दरशाते हैं कि ह्व अनेकाग्रता के मोक्षमार्गपना घटित नहीं होता (अर्थात् अनेकाग्रता मोक्षमार्ग नहीं है) :ह्व

मुज्झदि वा रज्जदि वा दुस्सदि वा दव्वमण्णमासेज्ज ।

जदि समणो अण्णाणी बज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं ॥२४३॥

(हरिगीत)

अज्ञानि परद्रव्याश्रयी हो मुग्ध राग-द्वेषमय ।

जो श्रमण वह ही बाँधता है विविध विध के कर्म सब ॥२४३॥

अन्वयार्थ :ह्व [यदि] यदि [श्रमणः] श्रमण, [अन्यत् द्रव्यम् आसाद्य] अन्य द्रव्य का आश्रय करके [अज्ञानी] अज्ञानी होता हुआ, [मुह्यति वा] मोह करता है, [रज्जति वा] राग करता है, [द्वेष्टि वा] अथवा द्वेष करता है, तो वह [विविधैः कर्मभिः] विविध कर्मों से [बध्यते] बाँधता है ।

टीका :ह्व जो वास्तव में ज्ञानात्मक आत्मारूप एक अग्र (विषय) को नहीं भाता, वह अवश्य ज्ञेयभूत अन्य द्रव्य का आश्रय करता है और उसका आश्रय करके, ज्ञानात्मक आत्मा के ज्ञान से भ्रष्ट वह स्वयं अज्ञानी होता हुआ मोह करता है, राग करता है अथवा द्वेष करता है; और ऐसा (मोही, रागी अथवा द्वेषी) होता हुआ बंध को ही प्राप्त होता है, परन्तु मुक्त नहीं होता ।

इससे अनेकाग्रता को मोक्षमार्गपना सिद्ध नहीं होता ।

गाथा २४३ पर प्रवचन

● जो मुनिराज पर में लाभ मानकर पर का आश्रय करते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं, उन्हें अनेक कर्मों का बंध होता है ।

जो मुनि अपने चैतन्य स्वभाव का आश्रय छोड़कर शरीर, मन, वाणी से लाभ मानते हैं । पुस्तक से ज्ञान होगा, यात्रा करने से धर्म होगा ह्व ऐसा मानकर निमित्त तथा पुण्य-पाप के भावों का आश्रय करते हैं, वे

मोही हैं । परद्रव्य तथा पुण्य-पाप से निवृत्त होने पर धर्म होता है, ऐसा न मानकर पर में लाभ-नुकसान माने यह मिथ्या है ।

यहाँ मुख्यता से मुनिराज और गौणरूप से श्रावक की बात है । जंगल, गिरि-गुफा में जाने से धर्म नहीं होता । यदि ऐसा हो तो उसमें रहने वाले पशु-पक्षियों को भी धर्म हो । शास्त्रों में निमित्तरूप अनेक कथन आते हैं । जहाँ से जीव केवलज्ञान प्रगट करता है, उस क्षेत्र पर भी आरोप आता है, किन्तु क्षेत्र से केवलज्ञान नहीं होता । अज्ञानी जीव पर में लाभ-हानि मानकर अनुकूल पदार्थों में प्रीति और प्रतिकूल पदार्थों में द्वेष करता है; अतः उसे विविध कर्म बाँधते हैं ।

● अज्ञानी पर में एकत्वबुद्धि करके मोही-रागी-द्वेषी होता है ।

आत्मा, शरीर-कर्म आदि से भिन्न है । विकार उसका स्वरूप नहीं है । आत्मा ज्ञानस्वरूप है ह्व ऐसे आत्मा को अग्र करके उसकी श्रद्धा-ज्ञान नहीं करता । जानने-देखनेवाले तत्त्व की श्रद्धा नहीं है; अतः जीव शरीर, मन, वाणी, दया, दान इत्यादि ज्ञेयभूत अन्य पदार्थों का आश्रय करता है । आत्मा के भान सहित व्यवहार होना अन्य बात है, फिर भी धर्मों को रागादि की भावना नहीं है । अज्ञानी जीव व्रत करूँ, पूजा करूँ तो धर्म होगा ह्व ऐसा मानता है; किन्तु अपने ज्ञानस्वभाव को नहीं जानता ।

स्वयं में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, पुरुषार्थ भरा हुआ है ह्व ऐसी श्रद्धा न करके ज्ञान से भ्रष्ट होकर अज्ञानी होता है । ज्ञानी को परपदार्थ पास में लाऊँ या दूर करूँ ह्व ऐसा अभिप्राय नहीं है; किन्तु अज्ञानी को यह चीज समीप लाना, यह दूर करना ऐसी भ्रांति है, अतः वह मोही-रागी-द्वेषी होता है । परपदार्थों का आना या नहीं आना जीव के आधीन नहीं है । वह ज्ञेय तो ज्ञान में जानने-योग्य है, फिर भी जीव की होशियारी से रुपया-पैसा मिलता है ह्व ऐसा अज्ञानी मानता है ।

कोई पदार्थ यह नहीं कहता कि मेरा रक्षण करो । जड़कर्म अज्ञानी को यह नहीं कहते कि तुम अज्ञानी होओ; किन्तु अज्ञानी जीव सदैव पर में ही तत्पर होकर अपनी स्वयं की तत्परता को भूल जाता है । अनुकूल पदार्थ

समीप हो तो अच्छा और प्रतिकूल पदार्थ दूर हो तो अच्छा हूँ ऐसा राग-द्वेष करता है। कर्मों के कारण राग-द्वेष करने से जीव बँधता ही है, छूटता नहीं है।

अन्य ग्रन्थों में कर्म का निमित्तरूप से ज्ञान करने का वर्णन मिलता है। जीव विकार करता है, वहाँ कर्म निमित्त है। यहाँ ज्ञान के स्व-पर प्रकाशक स्वभाव की पुष्टि होती है; किन्तु कर्म ने विकार कराया हूँ ऐसा कोई शास्त्र नहीं कहता। जिसे स्व की भावना नहीं है, वह परद्रव्य की भावना किए बिना नहीं रहेगा। पर को समझाऊँ अथवा पर के कारण समझ में आया हूँ ऐसा माननेवाला 'मैं स्वयं ज्ञानस्वभावी तत्त्व हूँ', इस बात को भूलकर पर में ही अटकता है और नवीन कर्मों का बँध करता है, इसप्रकार पर तथा विकल्प इत्यादि में एकाग्र होने से उसे मोक्षमार्ग की सिद्धि नहीं होती है। ●

भाई! जिनेश्वरदेव का मार्ग बहुत सूक्ष्म तथा अपूर्व है। जैसे हूँ सर्प को पकड़ने की मोटी संडासी हीरा-मोती को पकड़ने में काम नहीं आ सकती। उसीप्रकार अतिसूक्ष्म भगवान आत्मा को ग्रहण करने में हूँ पकड़ने में स्थूल विकल्प काम नहीं आ सकते। यह तो निर्विकल्प ज्ञान व आनन्द से पकड़ने में आता है। ऐसा निर्विकल्पज्ञान व आनन्द जिसे प्रगट है, वे सम्यग्दृष्टि आत्मा को ऐसा अनुभवते हैं कि हूँ 'मैं तो एक हूँ'। मैं एक ज्ञायक चैतन्यस्वरूप हूँ तथा यह शरीर-मन-वाणी, देव-गुरु-शास्त्र आदि सब परज्ञेय हैं। वे मेरी वस्तु नहीं हैं या मेरे में नहीं हैं। वे मेरे कारण से नहीं हैं और मैं भी उनके कारण से नहीं हूँ। मैं ज्ञायक हूँ तथा वह ज्ञेय है, इतना मात्र ज्ञेय-ज्ञायकभाव है।

हूँ प्रवचनरत्नाकर भाग-२, पृष्ठ-१२३

प्रवचनसार गाथा २४४

अब, एकाग्रता वह मोक्षमार्ग है ऐसा (आचार्य महाराज) निश्चित करते हुए (मोक्षमार्ग-प्रज्ञापन का) उपसंहार करते हैं :हूँ

अट्टेसु जो ण मुज्झदि ण हि रज्जदि णेव दोसमुवयादि ।

समणो जदि सो णियदं खबेदि कम्माणि विविहाणि ॥२४४॥

(हरिगीत)

मोहित न हो जो लोक में अर राग-द्वेष नहीं करें।

वे श्रमण ही नियम से क्षय करें विध-विध कर्म सब ॥२४४॥

अन्वयार्थ :हूँ [यदि यः श्रमणः] यदि श्रमण [अर्थेषु] पदार्थों में, [न मुहाति] मोह नहीं करता, [न हि रज्जति] राग नहीं करता, [न एव द्वेषम् उपयाति] और द्वेष को नहीं प्राप्त होता है [सः] तो वह [नियतं] नियम से (निश्चित) [विविधानि कर्माणि] विविध कर्मों को [क्षपयति] खपाता है।

टीका :हूँ जो ज्ञानात्मक आत्मारूप एक अग्र (विषय) को भाता है, वह ज्ञेयभूत अन्य द्रव्य का आश्रय नहीं करता; और उसका आश्रय नहीं करके ज्ञानात्मक आत्मा के ज्ञान से अभ्रष्ट ऐसा वह स्वयमेव ज्ञानीभूत रहता हुआ, मोह नहीं करता, राग नहीं करता, द्वेष नहीं करता और ऐसा (अमोही, अरागी, अद्वेषी) वर्तता हुआ (वह) मुक्त ही होता है, परन्तु बँधता नहीं है।

इससे एकाग्रता को ही मोक्षमार्गत्व सिद्ध होता है।

इसप्रकार यहाँ मोक्षमार्ग प्रज्ञापन समाप्त हुआ।

गाथा २४४ पर प्रवचन

● शरीर आदि संयोगी पदार्थों में सुख-दुःख नहीं है; अपितु मिथ्या मान्यता ही दुःख और संसार है।

आत्मा और शरीर भिन्न-भिन्न हैं। शरीर जड़ है, फिर भी शरीर से सुख माननेवाला अपने अन्तरंग के सुख को नहीं स्वीकारता तथा चैतन्यसत्ता

में शांति का अभाव मानता है। शरीर सुख में काम आयेगा ह्व ऐसी मान्यता हो तो शरीर का अभाव होने पर जीव को दुःखी होना चाहिए; किन्तु शरीररहित सिद्ध भगवान तो परम सुखी हैं। शरीर जड़ है, उसकी अवस्था से आत्मा में कुछ नहीं होता, अतः शरीर में फेरफार होने से मुझमें फेरफार हुआ ऐसी असत्कल्पना दुःखदायक है। वह स्वयं जानने-देखनेवाला नहीं रहा। शरीर के साथ एकता नहीं होने पर भी वह जीव शरीर के साथ एकता मानता है ह्व यह दुःख है। पैसे में सुख हो तो पैसे का घड़ा भरकर देने से सुख होना चाहिए; किन्तु पैसे का आत्मा में अभाव है। अभाव का भोग किस रीति से कर पायेंगे? उसीप्रकार राग का भोग भी कैसे कर पायेंगे?

जिसप्रकार एक आत्मा में अन्य आत्मा का अभाव है, उसीप्रकार एक जड़ पदार्थ का अन्य जड़ पदार्थ में अभाव है। अभाव अर्थात् पृथकता है। पर को कोई भोग नहीं सकता; पर के भोगने का भाव ही दुःख है। समस्त परपदार्थ संयोगी हैं। यदि उन वस्तुओं में सुख हो तो उन वस्तुओं के छूट जाने पर सुख भी छूट जावें; यदि ऐसा हो तो मुनिराज और सिद्धों का सुख छूट जाना चाहिए। वे जीव दुःखी दिखाई देने चाहिए; किन्तु ऐसा नहीं होता, अतः जो परवस्तु में सुख मानता है, वह दुःखी है। स्व की तत्परता छोड़कर पर की तत्परता करना ही पराधीनता है। परपदार्थ ज्ञान में जानने लायक हैं और आत्मा जाननेवाला है; फिर भी 'मैं उनका हूँ और वे मेरे हैं' ह्व ऐसी उल्टी मान्यता से तो संसार ही खड़ा होता है।

● धर्मी जीव मिथ्या मान्यता नहीं करता, अतः उसे मोह-राग-द्वेष नहीं है।

ज्ञानी जीव विपरीत मान्यता नहीं करता। वह परपदार्थों को भिन्न मानता है। आत्मा का स्वभाव जानने-देखने का है। शरीर, मन, वाणी में धर्मी जीव एकत्वबुद्धि नहीं करता। परपदार्थों में तत्पर नहीं होता; किन्तु परपदार्थों की अवस्था को जानता है। मेरे कारण उनकी अवस्था हुई ह्व ऐसा वह नहीं मानता। शरीर, कर्मादि परपदार्थ मेरे विषय नहीं हैं। मैं परपदार्थ का विषय नहीं हूँ। दोनों पृथक्-पृथक् हैं। वहाँ धर्मी जीव मोह

नहीं करता। उसे एकत्वबुद्धि, राग, द्वेष नहीं होता। यहाँ इस गाथा में मुनि की प्रधानता से बात की है। मुनिराज को अस्थिरताजन्य राग-द्वेष नहीं वर्तता; अतः वे बंधनरहित हैं।

● समस्त संयोगों में धर्मी जीव ज्ञानस्वरूप आत्मा की ही भावना भाता है।

जिसप्रकार शक्कर का स्वरूप मिठास है, नमक का स्वरूप खारापना है, उसीप्रकार आत्मा का स्वभाव ज्ञानात्मक है। ज्ञानी एक ज्ञानस्वरूप आत्मा को ही भाता है। जिसे जिसकी भावना होती है, वह उसे निरन्तर भाता है। संसार की भावनावाला बाह्य सांसारिक पदार्थों को ही चाहता है, संयोगी पदार्थों की ही भावना करता है।

जो जिसकी भावना भाता है, वह वहाँ तत्पर होता है। ज्ञानी को परपदार्थों की भावना नहीं होती, उसे केवल ज्ञानस्वभाव की ही भावना होती है। सम्यग्दृष्टि जीव को गृहस्थदशा में अल्प शुभाशुभ भाव होने पर भी संयोग और संयोगी भावों में धर्मबुद्धि नहीं है। उसका वह स्वामी नहीं होता। राग करने से पर में फेरफार होता है ह्व ऐसा धर्मी नहीं मानता। वह औषधी का सेवन करता है; किन्तु उसे औषधी ग्रहण की भावना नहीं रहती। जिसप्रकार रोग होने पर व्यक्ति औषधी का ग्रहण करता है; किन्तु निरोगता होने पर औषधी नहीं लेता, उसीप्रकार धर्मी जीव को कमजोरीवश शुभाशुभ भाव हुए हैं; किन्तु वह उसकी भावना नहीं करता। राग के कारण परपदार्थ पर लक्ष जाता है; किन्तु पर के कारण स्वयं में कार्य होता है अथवा स्वयं के राग से पर में कार्य होता है ह्व ऐसा वह नहीं मानता।

ज्ञानी प्रतिसमय अपने ज्ञायकभाव को ऊर्ध्व रखता है। पर को तथा विकार को अग्र नहीं करता तथा ज्ञान में जो-जो ज्ञेय जानने में आते हैं, उन ज्ञेयों का आश्रय भी नहीं करता वह तो मात्र ज्ञान स्वभाव का आश्रय करता है।

● वर्तमान लौकिक ज्ञान का विकास पूर्व के कारण है, वह वर्तमान पुरुषार्थ का फल नहीं है।

अज्ञानी जीव को स्वयं के ज्ञान स्वभाव का श्रद्धान-ज्ञान नहीं है,

अतः पर में ही सुधार-बिगाड़ करना चाहता है। ज्ञान स्वयं से न मानकर पर के कारण होता है वह ऐसा मानता है। वह कहता है कि यह वस्तु हमें प्रत्यक्ष दिखाई दे रही हैं, वह इस बात का अभिमान करता है; किन्तु भाई ! परवस्तु का ऐसा या वैसा करना यह तुम्हारे हाथ की बात नहीं है। परवस्तु को जाननेरूप जो ज्ञान का उघाड़ देखने में आता है, वह पूर्व कर्म के कारण प्राप्त हुआ है, जो व्यक्त दिखाई देता है। वह उघाड़ परवस्तु के कारण नहीं हुआ। उसीप्रकार वर्तमान में अशुभराग जानने में आया, अतः ज्ञान का उघाड़ हुआ वह ऐसा नहीं है। वर्तमान, लौकिक पदार्थों के अभ्यास का भाव तो पापभाव है। अज्ञानी मानता है कि मैंने इतनी मेहनत की इसलिए मेरे ज्ञान का इतना विकास हुआ; किन्तु यदि ऐसा हो तो कोई विशेष जाति के भाव से और भी ज्ञान का उघाड़ देखने में आना चाहिये; पर ऐसा है नहीं। भाई, लौकिक ज्ञान का जो विकास देखने में आता है, वह सब पूर्व का व्यक्त विकास है। वर्तमान पापभाव और ज्ञानस्वभाव के नकार से तो ज्ञानावरण तथा अन्य कर्मों का बंध होता है।

● **ज्ञानस्वभावी आत्मा से ज्ञान प्रगट होता है, वहाँ उसे योग्य शास्त्र निमित्त होते हैं।**

धर्म के नाम पर कोई कहता है कि शास्त्र से ज्ञान होता है तो उसकी यह मान्यता मिथ्या है। अधिक शास्त्र पढ़े तो ज्ञान हुआ वह ऐसा नहीं है।

प्रश्न : वह यहाँ कोई पूछता है कि शास्त्र से ज्ञान नहीं होता तो समयसार क्यों खरीदते हो? पद्मपुराण क्यों नहीं खरीदते?

समाधान : वह भाई ! समस्त शास्त्र पर हैं। उन्हें आत्मा न ग्रहण करता है और न छोड़ता है। ज्ञान स्वभाव में से ज्ञान प्रगट होता है। आत्मा, शास्त्र और शास्त्र के राग से भिन्न है। जिसे जिसप्रकार के ज्ञान की लायकात होती है, वहाँ उसे योग्य शास्त्र निमित्त होते हैं। जिससमय जो निमित्त स्वयं के कारण होते हैं, उसे ज्ञानी जानते हैं; किन्तु निमित्त को लाते नहीं हैं।

पद्मपुराण लेवें तो अध्यात्म का ज्ञान नहीं होगा और समयसार लेवें

तो अध्यात्म का ज्ञान होगा वह ऐसा ज्ञान पराधीन नहीं है। ज्ञानपर्याय में जो भी पदार्थ आते हैं, वह उसे जानती है, उसी का ज्ञान करती है, वहाँ वह पदार्थ निमित्त होता है। अज्ञानी की संयोगदृष्टि है, अतः यह लिया और यह नहीं लिया वह ऐसे संयोगों में भटकने की वह भावना करता है; किन्तु यह अधर्म है।

● **जो मुनि मोह-राग-द्वेष नहीं करते, वे संयोगों से भी नहीं बँधते हैं।**

ज्ञानी समझता है कि वर्तमान ज्ञान शास्त्र के कारण नहीं है; किन्तु मैं ज्ञानात्मक हूँ और उसमें से ज्ञान प्रगट होता है। परपदार्थ निमित्त कारण हैं; किन्तु मैं परपदार्थों का कुछ नहीं करता, अतः पर का आश्रय भी नहीं कर सकता हूँ। वह स्वयं के आत्मज्ञान से भ्रष्ट नहीं है अर्थात् सदैव ज्ञानस्वभावी ही रहते हैं। कर्म मंद हुए है, अतः ज्ञानी हुआ वह ऐसा नहीं है; किन्तु ज्ञानस्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान के कारण ज्ञानी कहलाता है। वह मोह-राग-द्वेष नहीं करता। पर के अवलंबन से मुझे लाभ होगा और पर का अवलंबन छोड़ने से नुकसान होगा वह ऐसा वह नहीं मानता।

बाह्य पदार्थ अनुकूल व प्रतिकूल नहीं हैं; किन्तु स्वयं का रागरहित ज्ञानस्वभाव अनुकूल है और विकार प्रतिकूल है। सच्चे श्रद्धा-ज्ञान के कारण धर्मी जीव को एकत्वबुद्धि का राग-द्वेष नहीं होता और जो मुनि विशेष स्थिरता करते हैं, वे मोह-राग-द्वेष रूप नहीं परिणमते तथा कर्मों से भी नहीं बँधते, अपितु मुक्त ही होते हैं।

अज्ञानी कर्मों से बँधता है और ज्ञानी कर्मों से मुक्त है, यही चरणानुयोग है। यहाँ निमित्ताधीन कथन किया है। मुनि स्वयं के स्वभाव में सावधान रहते हैं, अतः वे बँधते नहीं हैं। आत्मा चैतन्यस्वभावी है वह ऐसा निर्णय करके एक आत्मा को लक्ष्य करके उसमें ही श्रद्धा-ज्ञान लीनता करें तो मोक्षमार्ग सिद्ध होता है।

इसप्रकार यहाँ, मोक्षमार्ग प्रज्ञापन अधिकार समाप्त हुआ।

प्रवचनसार गाथा २४५

अब, शुभोपयोग का प्रज्ञापन करते हैं। उसमें (प्रथम), शुभोपयोगियों को श्रमणरूप में गौणतया बतलाते हैं।

समणा सुद्धवजुत्ता सुहोवजुत्ता य होंति समयम्हि ।

तेसु वि सुद्धवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा ॥२४५॥

(हरिगीत)

शुद्धोपयोगी श्रमण हैं शुभोपयोगी भी श्रमण ।

शुद्धोपयोगी निरास्रव हैं आस्रवी हैं शेष सब ॥२४५॥

अन्वयार्थः ह्य [समये] शास्त्र में (ऐसा कहा है कि), [शुद्धोपयुक्ताः श्रमणाः] शुद्धोपयोगी वे श्रमण हैं, [शुभोपयुक्ताः च भवन्ति] शुभोपयोगी भी श्रमण होते हैं; [तेषु अपि] उनमें भी [शुद्धोपयुक्ताः अनास्रवाः] शुद्धोपयोगी निरास्रव हैं, [शेषाः सास्रवाः] शेष सास्रव हैं, (अर्थात् शुभोपयोगी आस्रव सहित हैं।)

टीका : ह्य जो वास्तव में श्रामण्यपरिणति की प्रतिज्ञा करके भी, कषाय कण के जीवित (विद्यमान) होने से, समस्त परद्रव्य से निवृत्तिरूप से प्रवर्तमान ऐसी जो सुविशुद्धदर्शनज्ञानस्वभाव^१ आत्मतत्त्व में परिणतिरूप शुद्धोपयोग भूमिका उसमें आरोहण करने को असमर्थ हैं; वे (शुभोपयोगी) जीव ह्य जो कि शुद्धोपयोग भूमिका के उपकंठ^२ निवास कर रहे हैं, और कषाय ने जिनकी शक्ति कुण्ठित की है तथा जो अत्यन्त उत्कण्ठित (आतुर) मनवाले हैं, वे ह्य श्रमण हैं या नहीं, यह यहाँ कहा जाता है : ह्य

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपओगजुदो । पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं ॥^३ इसप्रकार (भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य ने ११वीं गाथा में) स्वयं ही निरूपण किया है, इसलिये शुभोपयोग का धर्म के साथ

एकार्थसमवाय^१ है। इसलिये शुभोपयोगी भी, उनके धर्म का सद्भाव होने से, श्रमण हैं। किन्तु वे शुद्धोपयोगियों के साथ समान कोटि के नहीं हैं; क्योंकि शुद्धोपयोगी समस्त कषायों को निरस्त किया होने से निरास्रव ही हैं और ये शुभोपयोगी तो कषायकण अविनष्ट होने से सास्रव ही हैं और ऐसा होने से ही शुद्धोपयोगियों के साथ इनको (शुभोपयोगियों को) नहीं लिया (वर्णन नहीं किया) जाता, मात्र पीछे से (गौणरूप में ही) लिया जाता है।

भावार्थ :- परमागम में ऐसा कहा है कि शुद्धोपयोगी श्रमण हैं और शुभोपयोगी भी गौणरूप से श्रमण हैं। जैसे निश्चय से शुद्धबुद्ध-एकस्वभावी सिद्ध जीव ही जीव कहलाते हैं और व्यवहार से चतुर्गति परिणत अशुद्ध जीव भी जीव कहे जाते हैं, उसीप्रकार श्रमणरूप से शुद्धोपयोगी जीवों की मुख्यता है और शुभोपयोगी जीवों की गौणता है; क्योंकि शुद्धोपयोगी निजशुद्धात्म भावना के बल से समस्त शुभाशुभ संकल्प-विकल्पों से रहित होने से निरास्रव ही हैं और शुभोपयोगियों के मिथ्यात्व विषय कषायरूप अशुभास्रव का निरोध होने पर भी वे पुण्यास्रवयुक्त हैं।

गाथा २४५ पर प्रवचन

● शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी का स्वरूप ह्य

आत्मा ज्ञानानन्द स्वरूप है। शरीर, मन, वाणी पर हैं। दया-दानादि विकल्प उत्पन्न होते हैं, उससे रहित अनाकुल शांत स्वभाव की प्रतीति धर्म (सम्यग्दर्शन) है। सम्यग्दर्शन होने के बाद शुद्ध स्वभाव में स्थिरता अथवा रमणता करें, वह निश्चय साधु है। यहाँ साधु को स्वरूप रमणता है; किन्तु राग नहीं है, वह शुद्धोपयोगी अथवा निश्चय साधु है।

मुनिराज को आत्मा का भान तथा कुछ स्थिरता भी है; किन्तु पाँच महाव्रतादिरूप विकल्प हों तो उन विकल्पों का वह स्वामी नहीं है; फिर भी विकल्पों को टालकर यदि वह शुद्ध स्वभाव में स्थित नहीं हो तो उसे

१. आत्मतत्त्व का स्वभाव सुविशुद्ध दर्शन और ज्ञान है।

२. उपकंठ = तलहटी; पड़ोस; नजदीक का भाग; निकटता।

३. अर्थ = धर्मपरिणत-स्वरूपवाला आत्मा यदि शुद्धोपयोग में युक्त हो तो मोक्षसुख को पाता है और यदि शुभोपयोग में युक्त हो तो स्वर्गसुख को (बंध को) पाता है।

व्यवहार अथवा शुभोपयोगी साधु कहते हैं।

किसी मुनिराज को आत्मा का भान हो, अन्तर में स्थिरता भी हो; किन्तु पाँच महाव्रतादिरूप विकल्प उठता हो तो उन विकल्पों का वह स्वामी नहीं है। यदि विकल्पों को टालकर शुद्धस्वभाव में ठहरने से पीछे रहता है तो उसे व्यवहार अथवा शुभोपयोगी साधु कहते हैं।

एकाग्रता अथवा मोक्षमार्ग के दो भेद कहे हैं। सातवें गुणस्थान से एकरूप में लीनता वर्तती है। छठवें में भी मोक्षमार्ग है, यहाँ पर भी अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण कषाय के अभाव में चारित्र प्रगट हुआ है; किन्तु छठवें गुणस्थान में शुभास्रव को गौण करके मुनि को व्यवहार साधु कहा है। यहाँ चारित्रगत निश्चय और व्यवहार की बात है।

दृष्टि का निश्चय हूँ मैं ज्ञानस्वरूपी हूँ, शरीरादि क्रिया नहीं कर सकता। राग मेरा स्वरूप नहीं है हूँ जो ऐसी प्रतीति तो चौथे गुणस्थान में ही हो चुकी है, यहाँ उसके बाद की बात है। स्वरूप में रमणता निश्चय और शुभविकल्प व्यवहार है।

यहाँ चारित्र धर्म की बात चल रही है। जिसे निश्चयदृष्टि का भान नहीं है, चतुर्थ गुणस्थान प्रगट नहीं है, शरीर की क्रिया अथवा पुण्य की क्रिया से धर्म मानता है, बाह्य पाँच महाव्रतादि को पालता है तो वह भी व्यवहार साधु कहलाता है।

शुद्ध स्वभाव का भान होने पर मुनि स्वयं के स्वभाव में लीनता करते हैं, उन्हें अनास्रव कहते हैं अर्थात् वहाँ मलिनभाव का बंधन नहीं है और जिन मुनिराज को स्वरूप का भान है, फिर भी स्वरूप में नहीं ठहरते, उन्हें महाव्रतादि के विकल्परूप मलिनभाव उत्पन्न होते हैं, अतः वे बंधन में हैं।

प्रश्न हूँ समयसार में सम्यग्दृष्टि जीव को अर्थात् चतुर्थ गुणस्थानवर्ती ज्ञानी को निरास्रवी कहा है और छठवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज को आस्रव सहित कहा। यह कैसे?

समाधान : हूँ सम्यग्दृष्टि दृष्टि की अपेक्षा निरास्रवी है और शुभोपयोगी मुनिराज अस्थिरता की अपेक्षा से आस्रवी है।

अज्ञानी जीव अनादिकाल से शरीर की क्रिया और पुण्य में धर्म मानता आया था, अब शरीर मेरा नहीं, पुण्य की क्रिया मेरी नहीं, मैं तो ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ हूँ ऐसी श्रद्धा है, अतः वह विकार का स्वामी नहीं है। अनंत संसार के कारणस्वरूप मिथ्यात्व, राग-द्वेष का आस्रव उसे नहीं है, अतः दृष्टि अपेक्षा से चतुर्थ गुणस्थानवर्ती को समयसार में निरास्रवी कहा है।

यहाँ चरणानुयोग का अधिकार है। मुनिराज को आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान है। तीन कषाय चौकड़ी का अभाव होने पर भी महाव्रतादि के विकल्प उठते हैं; वह मलिनता बंध का कारण है; अतः यहाँ चारित्र की अपेक्षा से उन्हें आस्रवी कहा है।

● शुभोपयोगी जीव को श्रमण कहें कि नहीं ?

मुनिराज को शुद्धस्वभाव के भान सहित स्वरूप रमणता करने की प्रतिज्ञा होती है; किन्तु वहाँ अस्थिरताजन्य राग-द्वेष विद्यमान हैं। भगवान की भक्ति, दया आदि का राग वर्तता है अर्थात् कषाय पूर्णतः समाप्त नहीं हुई है। चारित्र-मोहनीय कर्म का उदय है, अतः कषायकण विद्यमान हैं हूँ ऐसा नहीं है, अपितु स्वरूप में लीन नहीं हुए हैं, इसलिये रागादि कषायकण विद्यमान हैं। अपनी आत्मा का स्वभाव तो सुविशुद्ध दर्शन और ज्ञानमय है। वहाँ आत्मा में लीनतारूप शुद्ध उपयोगरूप परिणति है, जो कि समस्त परद्रव्यों और शुभाशुभ भावों से निवृत्तरूप है, उसमें लीन रहने में जो समर्थ नहीं है, वह शुभोपयोगी मुनि है।

(१) मुनिराज को स्वरूप का भान है, वे स्वरूप में ही ठहरना चाहते हैं; फिर भी स्वभाव में स्थिर नहीं हो सकते। जिसप्रकार गाँव से कुछ दूरी पर स्थित व्यक्ति गाँव का ही कहलाता है, उसीप्रकार मुनिराज स्वरूप शांति में ठहरने के इच्छुक हैं, अतः शुद्धोपयोग के समीप ही स्थित है।

(२) जिसप्रकार कोई मनुष्य किसी का गला दबावे और उसका

श्वास रूँध जावे, उसीप्रकार छठवें गुणस्थान में वर्तते मुनिराज को संज्वलन कषाय वर्तती है, वह कषाय शुद्धोपयोगरूप दशा नहीं होने देती।

“...आत्मा का भान होने के पश्चात् पंच महाव्रतादि के परिणाम में जो अत्यन्त आतुर मनवाले हैं। ...”

(३) शुद्धोपयोगी मुनि स्वरूप में लीन होते हैं, वहाँ मन का संबंध बुद्धिपूर्वक नहीं होता; परन्तु छठवें गुणस्थान में राग वर्तता है, अतः उन्हें आतुर मनवाला कहा है ह्व ऐसे शुभोपयोगी जीव शुद्धोपयोग के समीपवर्ती है।

अब, जो पाँच महाव्रतादि पालन करते हैं वे श्रमण हैं कि नहीं सो कहते हैं।

● पुण्य से धर्म माननेवाले और बतानेवाले संसार की ओर झुके हुए हैं।

अहो ! देखो वस्तुस्वरूप की महिमा !! दृष्टि का भान है; किन्तु अभी पंचमहाव्रतादि के विकल्प उत्पन्न हो रहे हैं, उन्हें मुनि कहना या नहीं, उसकी यहाँ बात कहते हैं। जो जीव पाप में हित मानते या बताते हैं अथवा पुण्य में धर्म मानते या बताते हैं, वे संसाररूपी कुँ में पड़े हुए हैं। वे स्वयं तो उसमें से निकल नहीं सकते; अपितु दूसरे को भी नहीं निकाल सकते हैं।

● धर्म से दूर और सांसारिक कार्यों में रचे-पचे जीव दीर्घ संसारी हैं।

कोई कहे कि हमें इन सब बातों से क्या काम? किन्तु भाई ! मुनि कैसे होते हैं ? उनकी पहिचान तो करना चाहिए न ? मुनिपने की व्यवहार श्रद्धा भी नहीं हो तो उसे अंतर अनुभव नहीं होगा और मुक्ति भी नहीं होगी। जो सारे दिन संसार में ही लगा रहता है, जो पाप में सुख मानता है, जिसे राग की ही रुचि पड़ी है, वह तो अनात्मा है। पैसा, शरीरादि मेरे हैं ह्व ऐसा वह विचार करता है; किन्तु मेरा आत्मा कैसा है ? मुझे मोक्ष की प्राप्ति कैसे होगी? इस पर विचार नहीं करता।

पाँच-पचास लाख रुपया हो, कुटुंब-परिवार हो तो स्वयं को सुखी मानता है; किन्तु इसमें सुख नहीं है। यदि कोई रोग आ जावे, प्रतिकूलता

आ जावे तो विचार करता है कि जीवन किसप्रकार व्यतीत होगा ? अरे भाई ! यह तो जड़ की अवस्था है। उसे रहना होगा तो रहेगी, तू तो आत्मा की पहिचान कर ! यहाँ, तो आत्मा के भानसहित जीवों के पाँच महाव्रतादि के परिणाम को भी दुःखस्वरूप कहा है।

जो जीव अन्तरस्वरूप में ठहरने के इच्छुक हैं, यहाँ उनकी बात है। फिर जो मात्र अशुभभाव में ही मग्न हैं, आत्मा की रुचि करते ही नहीं हैं, वे तो दीर्घ संसारी हैं, अतः उन्हें धर्म या मुनिपना कैसे होगा? मोक्षमार्ग अथवा मुनिपने की श्रद्धा तो सम्यक् ही होनी चाहिए।

● छठवें गुणस्थान में जो आंशिक वीतरागता है, उस अपेक्षा से शुभोपयोगी को भी श्रमण कहते हैं।

धर्ममय परिणमित स्वरूपगुप्त आत्मा जो शुद्ध उपयोग में जुड़ा हुआ है, वह मोक्ष सुख पाता है और जो शुभोपयोगी है, वह स्वर्ग सुख पाता है। आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने ११वीं गाथा में निरूपण किया है कि “शुभोपयोग का धर्म के साथ एकार्थ समवाय है अर्थात् आत्मा का धर्म और शुभोपयोग एक साथ हो सकते हैं।”

शुद्ध आत्मा के लक्ष से धर्म हो ह्व ऐसी सम्यग्दृष्टि और पुण्य से धर्म हो - ऐसी मिथ्यादृष्टि ह्व ये दोनों एकसाथ नहीं हो सकते; किन्तु स्वरूप का भान होने के पश्चात् चारित्र की पर्याय कुछ अंशों में निर्मल और कुछ अंश में मलिनता रूप होती है। छठवें गुणस्थान में शुभोपयोगी जीव को कुछ अंश में वीतरागता है और कुछ अंश में राग है ह्व ऐसे दोनों एकसाथ हैं, उसमें कोई विरोध नहीं है, अतः शुभोपयोगी भी श्रमण हैं।

● शुद्धोपयोगी निरास्रवी होने से मुख्य श्रमण हैं और शुभोपयोगी आस्रवी होने से गौण श्रमण हैं।

जो अपने शुद्धस्वभाव में लीन रहता है, उसकी शुद्धोपयोग के साथ रुचि है; क्योंकि शुद्धोपयोगी मुनि ने बुद्धिपूर्वक राग-द्वेष का अभाव किया है। संज्वलनरूप अबुद्धिपूर्वक राग तो दसवें गुणस्थान के अंत में

समाप्त होगा; किन्तु बुद्धिपूर्वक राग का अभाव उन्होंने किया है, अतः समस्त कषायें टल जाने से वे निरास्रवी हैं।

शुभोपयोगी मुनि को छठवें गुणस्थान में संज्वलन का तीव्र उदय होने से वह आस्रवी है। इस रीति से शुद्धोपयोगी निरास्रवी और शुभोपयोगी आस्रवी है। यहाँ शुभोपयोगी को शुद्धोपयोगी के साथ ग्रहण नहीं किया जा सकता; किन्तु यदि ग्रहण किया गया हो तो गौण रूप से ग्रहण किया है वह ऐसा जानना।

उपचार का अर्थ झूठा नहीं है। छठवें गुणस्थान में तीन कषाय का अभाव करके आंशिक वीतरागता है, वह अनुपचार दशा है और वे जीव परिपूर्ण वीतरागता के इच्छुक हैं, अतः वहाँ शुभराग से निमित्त कहकर उपचार किया है। मुक्तिमार्ग में अग्रसर तो शुद्धोपयोगी मुनि ही हैं। छठवें गुणस्थानवाले शुभोपयोगी अग्रसर नहीं हैं, अतः उन्हें बाद में ग्रहण किया है। फिर भी जो जीव पुण्य और बाह्य क्रिया से धर्म मानते हैं, वे तो बहुत दूर हैं अर्थात् मिथ्यादृष्टि ही हैं।

प्रश्न :हम आत्मा की श्रद्धा करेंगे; पर चारित्र का क्या काम है?

उत्तर :हम अरे भाई! चारित्र के अनादर में आत्मा का अनादर है, ऐसे जीव की श्रद्धा भी सम्यक् नहीं है।

दर्शनशुद्धिपूर्वक चारित्र की भावना करो। जहाँ श्रद्धा आत्मा को परिपूर्ण स्वीकार करती है, वहाँ आत्मा के समस्त गुण आ जाते हैं। चारित्र का अनादर नहीं हो सकता है। कोई जीव स्वयं की कमजोरीवश चारित्र को ग्रहण नहीं कर पावे, यह अन्य बात है; किन्तु चारित्र का अनादर करना तो आत्मा के अनादर जैसी बात है। उसकी दृष्टि भी सच्ची नहीं होगी, अतः चारित्र बाद में हो जायेगा वह ऐसा न कहना चाहिए और न सोचना चाहिए। भावना और श्रद्धा तो पूर्ण आत्मा की ही भाना चाहिए, वहाँ समस्त गुण अखण्डरूप में परिपूर्ण हों वह ऐसी भावना भाना अर्थात् यथावत् यथार्थ ज्ञान करना।

● सर्व क्षेत्र, सर्व काल और सर्व पदार्थों को जानने वाला ज्ञान ही है।

आत्मा का मूल स्वभाव दुःखदायक नहीं है, अपितु पराधीन दृष्टि दुःखदायक है, पराधीनता में दुःख है, स्वभाव में दुःख नहीं है, जिसे दुःख को नष्ट करके सुख प्रगट करना हो, उसे शुद्ध आत्मस्वभाव को भाना चाहिए। मैं अन्तर्मुख दृष्टि करूँ तभी मुझे शांति प्राप्त होगी। मैं समतास्वरूपी हूँ, मेरा आनन्द मुझमें ही है; किन्तु अज्ञानी जीवों को इसकी खबर नहीं है।

आत्मा जानने-देखनेवाला है। शरीर-पैसा, राग-द्वेषादि सब जाने जाते हैं। इस जगत में ऐसा कौनसा पदार्थ है कि जिसे आत्मा नहीं जानता हो? किसी क्षेत्र को याद करें तो उसके पीछे ज्ञान की ही विद्यमानता है। जहाँ कहीं भी जो वस्तु हो उसको जानने के पीछे ज्ञान ही रहता है। पूर्व में किए हुए अपराध या अहंकार याद आवे, निर्धनता अथवा सधनता याद आवे, अनेक विकल्प, कुटुम्बीजन, शुभाशुभ भाव याद आवें तो उसके पीछे एक ज्ञान ही रहता है। कोई कहता है कि यह बात मुझे याद नहीं रहती, मैं भूल जाता हूँ तो इसके पीछे भी ज्ञान की ही विद्यमानता है। ज्ञान की पर्याय कहाँ, किस क्षेत्र में नहीं है, कौनसे ज्ञेय को नहीं जानती है? वह तो समस्त वस्तुओं को देखती-जानती है।

● जो ज्ञान आकुलता में न अटककर आंशिक निराकुलता पाता है, वह सम्यक्ज्ञान है।

समस्त वस्तुओं के स्मरण के पीछे ज्ञान विद्यमान है। विकल्प अनेक और ज्ञान एक है। मिथ्यादृष्टि को अज्ञान होने से दुःख है। साधक ज्ञानी को आंशिक आनन्द है। ज्ञान की पर्याय में जो ज्ञान की एकता दिखाई देती है, उस पर्याय का धाम नित्य ध्रुव पदार्थ है। उसकी श्रद्धा-ज्ञान करे वह साधक कहलाता है। वह साधकदशा और सिद्धदशा कैसे प्रगट होती है? उसकी यहाँ बात चल रही है। विकार की आकुलता के कारण जो अनेकता दिखाई देती है वह अनेकता मिटकर अनाकुलता हो तो ज्ञान की एकता हुई वह ऐसा कहा जाता है।

दया-दानादि अनेकता का लक्ष छोड़कर ज्ञान की एकता के साथ संधी करके मैं ज्ञानस्वभावी शांत हूँ हूँ ऐसा निश्चय करना सम्यग्दर्शन है। इसके बाद साधुपना होता है। जो ज्ञान, ज्ञानरूप भासित होता है, वह चैतन्य शक्ति में से आता है। जानने की अवस्था पलट जाती है, फिरभी ज्ञान रहता है, वह ज्ञान की कायम स्वरूपी शक्ति है। जगत के किसी भी पदार्थ की स्थिति को जानने में ज्ञान की उपस्थिति है। ज्ञान स्वयं सदा उपस्थित रहता है। उसे स्वयं की शांति के लिए परपदार्थों की आवश्यकता नहीं है। शरीर, मन, वाणी, राग-द्वेष इन सबको जानने से मुझे सुख मिलेगा हूँ ऐसी जिसकी श्रद्धा है, वह सच्ची श्रद्धा नहीं है।

अन्तरसन्मुख दशा के बिना आनन्द नहीं हो सकता। पूर्णदशा को साधने का साधन स्वयं में ही है। आनन्द में परपदार्थ नहीं है; अतः आनन्द में मैं हूँ हूँ यह नक्की करके चैतन्य को जागृत करना चाहिए। जैसे सोते हुए लड़के को माँ-बाप जगाते हैं, वैसे ही अनादिकाल से मोह-निद्रा में सोये हुए आत्मा को सर्वज्ञदेव जागृत करते हैं; किन्तु यह अभीतक जागृत ही नहीं हुआ है। मैं कौन हूँ हूँ इसका विचार ही इसने नहीं किया है।

मैं आत्मा आनन्दस्वरूप हूँ हूँ ऐसी विचारणा कर। अहो ! मैं सबको जाननेवाला हूँ तो फिर मुझे दुःख कैसे हो सकता है। ज्ञान में भेद नहीं होता हूँ ऐसा निश्चित करके ज्ञान के साथ आंशिक आनन्द प्रगट करे तो ही सम्यग्दर्शन और धर्म की भूमिका हो सकती है। ज्ञान के साथ सर्वथा आकुलता और खेद रहे तो धर्मदशा नहीं होती; किन्तु ज्ञान के साथ आंशिक अनाकुल आनन्ददशा प्रगट होती है। वह दशा ज्ञान के नित्यधाम शुद्ध स्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता से प्रगट होती है।

● स्वरूप में रमण करने वाले मुनि मुख्यश्रमण और शुभोपयोगी मुनि गौण श्रमण है।

ज्ञान-भानपूर्वक स्वरूप में विशेष लीनता बढ़ती है। जिसने अंतर

ज्ञानव्यापार को स्थिर किया है हूँ ऐसे शुद्धोपयोगी मुनि श्रमण हैं और शुभोपयोगी भी गौणरूप से श्रमण हैं। ऐसा कथन परमागमों में कहा है।

जिसप्रकार परमशुद्ध और पूर्ण ज्ञानदशा को पाये हुए सिद्ध जीव ही निश्चय से जीव कहलाते हैं और व्यवहार से चार गतियों में रहने वाले संसारी जीव भी जीव कहलाते हैं, किन्तु जड़ पदार्थ कभी भी जीव नहीं कहलाते। उसीप्रकार स्वरूप की अंतर रमणता करने वाले साधु मुख्य श्रमण हैं और जिन्हें स्वरूप का भान तो है; किन्तु लीनता नहीं है तथा पाँच महाव्रतादि के पालन में जो तत्पर हैं हूँ ऐसे शुभोपयोगी जीव गौणरूप से श्रमण कहलाते हैं।

शुद्धोपयोगी श्रमणों ने आत्मा के शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान के उपरान्त एकाग्रता की बुद्धिपूर्वक समस्त शुभाशुभभावों का अभाव किया है, अतः आस्रव रहित हैं तथा दया आदि के परिणामों में रहनेवाले शुभोपयोगी आस्रव सहित हैं। उन्हें मिथ्यात्व का परिणाम नहीं है तथा संसार के स्त्री कुटुंबादिक का अशुभ आस्रवरूप परिणाम भी नहीं है; तथापि महाव्रतादि के परिणाम होते हैं, उनका निषेध करते हुए वे शुद्ध स्वभाव में ठहरने के इच्छुक होते हैं, अतः उन्हें गौण रूप से साधु कहते हैं।

जो शरीर की क्रिया से, पुण्य से धर्म मानते हैं और वस्त्र सहित मुनिपना मानते हैं, वे तो मुनि ही नहीं हैं। वीतरागी अंतर मुनिदशा होते ही बाह्य में नग्न दिगम्बर दशा सहज होती है। वस्त्र का राग नहीं होता। अभक्ष्यादि भक्षण का भाव नहीं होता। परजीवों को मारने का भाव नहीं होता हूँ ऐसी सहज दशा होने पर मुनि को स्वरूप लीनता होती है, उन्हें मुख्य श्रमण कहते हैं तथा जिन्हें महाव्रतादि परिणाम होते हैं, उन्हें गौण श्रमण कहते हैं हूँ यही वस्तुस्थिति है।

●

प्रवचनसार गाथा २४६

अब, शुभोपयोगी श्रमण का लक्षण सूत्र द्वारा (गाथा द्वारा) कहते हैं :ह

अरहंतादिसु भक्ती वच्छलदा पवयणाभिजुत्तेसु ।
विज्जदि जदि सामण्णे सा सुहजुत्ता भवे चरिया।।२४६।।
(हरिगीत)

वात्सल्य प्रवचनरतों में अर भक्ति अर्हत् आदि में ।
बस यही चर्या श्रमणजन की कही शुभ उपयोग है।।२४६।।

अन्वयार्थ :ह [श्रामण्ये] श्रामण्य में [यदि] यदि [अर्हदादिषु भक्तिः] अर्हन्तादि के प्रति भक्ति तथा [प्रवचनाभियुक्तेषु वत्सलता] प्रवचनरत जीवों के प्रति वात्सल्य [विद्यते] पाया जाता है तो [सा] वह [शुभयुक्ता चर्या] शुभयुक्त चर्या (शुभोपयोगी चारित्र) [भवेत्] है ।

टीका :ह सकल संग के संन्यासस्वरूप श्रामण्य होने पर भी जो कषायांश (अल्पकषाय) के आवेश के वश केवल शुद्धात्मपरिणतिरूप से रहने में स्वयं अशक्त है ऐसा श्रमण, पर ऐसे जो (१) केवल शुद्धात्म परिणतरूप से रहने वाले अर्हन्तादिक तथा (२) केवल शुद्धात्मपरिणतरूप से रहने का प्रतिपादन करने वाले प्रवचनरत जीवों के प्रति (१) भक्ति तथा (२) वात्सल्य से चंचल है उस (श्रमण) के, मात्र उतने राग से प्रवर्तमान परद्रव्यप्रवृत्ति के साथ शुद्धात्मपरिणतिमिलित होने के कारण, शुभोपयोगी चारित्र है ।

इससे (ऐसा कहा गया है कि) शुद्धात्मा का अनुरागयुक्त चारित्र शुभोपयोगी श्रमणों का लक्षण है ।

भावार्थ :ह मात्र शुद्धात्मपरिणतिरूप रहने में असमर्थ होने के कारण जो श्रमण, पर ऐसे अर्हन्तादि के प्रति भक्ति से तथा पर ऐसे आगमपरायण

जीवों के प्रति वात्सल्य से चंचल (अस्थिर) हैं उस श्रमण के शुभोपयोगी चारित्र है, क्योंकि शुद्धात्मपरिणति परद्रव्य प्रवृत्ति (परद्रव्य में प्रवृत्ति) के साथ मिली हुई है अर्थात् वह शुभभाव के साथ मिश्रित है ।

गाथा २४६ पर प्रवचन

● मुनिराज शुभोपयोग में हों तो उन्हें अरहन्तादि की भक्ति भी वर्तती है ।
मुनिराज आत्मस्वभाव में स्थिर नहीं हो सकते हों तो उन्हें शुभभाव होते हैं, उसकी मर्यादा क्या और कितनी है? अब, यह बताते हैं ह
मुनियों को समस्त संग से रहित रहने की भावना वर्तती है । आत्मा ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी शरीर, कर्मादि से भिन्न है । पुण्य-पाप आत्मा का स्वरूप नहीं है ह ऐसे भानसहित किसी भी पदार्थ, पुण्य-पाप अथवा मन में संग करने की भावना उन्हें नहीं होती, अपितु सर्वथा असंग रहने की ही भावना वर्तती है । तथापि सर्वथा असंग होने के लिए जितना पुरुषार्थ चाहिए उतना पुरुषार्थ नहीं होने से कुछ कषायांश के वशीभूत अर्थात् अस्थिरता के राग-द्वेष के कारण सर्वथा अपनी शुद्ध आत्मा में वे स्थिर रहने में समर्थ नहीं होते हैं ।

देखो ! यहाँ कर्म के वशीभूत होकर शुद्धात्मा का अनुभव नहीं होता ह ऐसा नहीं कहा है । यहाँ मुनि को राग और कषाय होते हैं; किन्तु संज्वलन कषाय का उनकी दृष्टि में नकार वर्तता है । ऐसे राग को ही जब यहाँ आवेश कहा है तो मिथ्यात्व सहित राग तो अत्यन्त कठोर आवेश है ।

किसी समय यदि मुनिराज को शुभभाव हों तो अर्हन्त, सिद्ध आदि के प्रति भक्ति का राग होता है । कुदेवादि के प्रति भक्ति का राग नहीं होता । राग करना चाहिए अथवा इसप्रकार का राग करने योग्य है ह ऐसी उनकी मान्यता नहीं है । उन्हें तो राग का सर्वथा निषेध ही वर्तता है । राग को छोड़कर वे स्वरूप में लीन रहना चाहते हैं; अतः मुनिराज को अल्पराग वर्तता है, इसप्रकार किनके प्रति राग वर्तता है, उस भूमिका का यहाँ ज्ञान कराया है ।

● शुभोपयोगी मुनिराज वस्तुस्वरूप के यथार्थ प्रतिपादक के प्रति वात्सल्य भाववाले रहते हैं।

हे भाई ! जो जीव वीतरागी शास्त्रों में रत रहते हैं। शुद्धात्मा के अनुभव में ही रहने का प्रतिपादन करते हैं, उन जीवों के प्रति शुभोपयोगी मुनि को वात्सल्य भाव होता है।

जो वीतरागी शास्त्रानुसार प्रतिपादन करता है, वह शरीर की क्रिया अथवा पुण्य से धर्म नहीं मानता। धर्म तो आत्मा के श्रद्धा, ज्ञान और रमणता से है हू ऐसा कहनेवाले जीवों के प्रति ही उन्हें वात्सल्यभाव वर्तता है। इससे विपरीत जो पुण्य से धर्म माने, व्यवहार करते-करते धर्म मानें हू ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवों के प्रति अथवा द्रव्यलिंगी मुनियों के प्रति भावलिंगी मुनियों को वात्सल्यभाव नहीं होता है।

● अब, भावलिंगी मुनि को शुभभाव आवें तो किसके प्रति आते हैं, वह बताते हैं।

प्रवचनरत जीवों के प्रति भावलिंगी मुनियों को शुभभाव अर्थात् वात्सल्यभाव होता है। प्रथमतः तो वे शुद्धात्मा में ही ठहरते हैं; किन्तु यदि स्थिर नहीं हो सकें तो शुद्धात्मा के प्रतिपादन करने वालों की ओर उनका लक्ष्य जाता है। यहाँ लक्ष्य में लोकोत्तर जीवों को लिया है। लौकिक में सामान्य शुभभाव करता हो हू ऐसे जीवों के प्रति उन्हें वात्सल्यभाव नहीं आता। सर्वज्ञ की विराधना करनेवाला और शास्त्र से विपरीत प्ररूपना करनेवाले के प्रति भी शुभराग नहीं होता है। द्रव्यलिंगी का अन्तर अभिप्राय सर्वज्ञ से विरुद्ध है, अतः भावलिंगी मुनिराज को उनके प्रति वात्सल्यभाव नहीं है।

इससे निश्चित होता है कि जो जीव जैन सम्प्रदाय में जन्म लेकर पुण्य से धर्म मानते हैं, दया-दान से धर्म मानते हैं, वे जैन नहीं हैं।

इसप्रकार जो मुनिराज पूर्णतः स्वभाव में स्थिर नहीं हैं; किन्तु तीन कषाय के अभावांश के कारण जिन्हें आंशिक वीतरागता है और जैसा

शुभराग ऊपर कहा है, वैसा मर्यादारूप में वर्तता है। वह राग भी अरहन्तादि की भक्ति अथवा शुद्धात्मा का प्रतिपादन करनेवाले प्रवचनरत जीवों के प्रति वात्सल्यभावस्वरूप ही वर्तता है, इसप्रकार शुद्धता के साथ शुभराग वर्तता है, उनके शुभोपयोगी चारित्र है।

यहाँ ऐसा कहा है कि शुद्ध आत्मा के अनुराग सहित चारित्र शुभोपयोगी श्रमण का लक्षण है। जो निमित्त अथवा पुण्य से धर्म मानता है, निमित्त से कार्य मानता है, वस्त्र सहित मुनिपना मानता है, वह मिथ्यादृष्टि ही है, मुनि नहीं है।

अरहन्तादि के प्रति भक्ति तथा आगम परायण जीवों के प्रति वात्सल्यभाव, वह शुभोपयोगी मुनि का लक्षण है।

भावार्थ पर प्रवचन

आत्मा का मूल स्वभाव आनन्दस्वरूप है। शरीरादि जड़ पदार्थ आत्मा से भिन्न हैं। दया, दानादि भाव विकार हैं और विकार रहित स्वरूप पवित्र है। उसकी दृष्टि करना धर्म है, इसके पश्चात् साधुपने की बात चलती है।

आत्मा के भान सहित शुद्धात्मा में रमणता सातवें गुणस्थान में होती है। वहाँ मुनिराज स्थिर रहने में समर्थ नहीं हों तो छठवें गुणस्थान में आते हैं और शुभराग हो जाता है। वे शुभराग को धर्म अथवा धर्म का सहायक नहीं मानते; किन्तु शुभराग हुए बिना रहता नहीं है। उस समय अरहन्तादि के प्रति भक्ति और आगम परायण जीवों के प्रति वात्सल्यभाव आता है; परन्तु जो जीव ईश्वर को कर्ता मानते हैं, निमित्त से कार्य अथवा पुण्य से धर्म मानते हैं, वस्त्रसहित मुनिपना मानते हैं, वे जीव मिथ्यादृष्टि हैं। उनके प्रति उन्हें वात्सल्यभाव नहीं आता।

शुभोपयोगी मुनि को भक्ति तथा वात्सल्य का राग होने से चंचलता है; वह भाव पुण्य है, बंध का हेतु है, उससे शुभोपयोगी चारित्र होता है; यहाँ शुद्ध उपयोग नहीं है; किन्तु आंशिक शुद्धदशा के साथ शुभ उपयोग रहा है।

इसप्रकार शुद्धात्म परिणति और शुभोपयोगी चारित्र ह्व ऐसे दो प्रकार के मुनियों की चर्चा की। वर्तमान में ऐसी मुनिदशा देखना दुर्लभ है और उक्त मुनिदशा के बिना केवलज्ञान नहीं होता। सर्वज्ञ भगवान द्वारा बताया हुआ यही मार्ग है। इसका संत आदर करते हैं, इन्द्र भी इसे मानते हैं। मुनिराज स्व के भान सहित आनन्द के झूले में प्रतिसमय झूलते रहते हैं। बाह्य में नग्नदशा और अन्तर में प्रतिसमय अनुभव की धारा में विराजित रहते हैं। उसके पश्चात् सर्वज्ञ दशा को प्राप्त करते हैं।

केवली भगवान को आहार, मल-मूत्र क्षेपण, पसीना आदि नहीं होता। उन्हें तो परमौदारिक शरीर होता है। तीर्थकरों की इच्छा बिना ही वाणी खिरती है और एक समय में तीनकाल और तीनलोकवर्ती समस्त पदार्थ जानने में आते हैं ह्व ऐसी दशा को वे मुनिराज पुरुषार्थपूर्वक प्राप्त करते हैं। ●

अरे! कभी-कभी यह अज्ञानी जीव सांसारिक झंझटों से घबराकर उनसे निवृत्त हो जाता है, कुटुम्ब-परिवार की जिम्मेदारी से परेशान होकर उन्हें छोड़ देता है तथा शुभभाव एवं शुभभावों के निमित्तों का सहारा लेकर ऐसा मान लेता है कि इनसे मेरा कल्याण हो जायेगा परन्तु भाई! मोक्षपाहुड़ में आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि ह्व 'परदव्वाओ दुग्गइ' अर्थात् अपने परमानन्द स्वरूप भगवान आत्मा के सिवाय ह्व कुटुम्ब परिवार या देव-शास्त्र-गुरु की ओर के लक्ष्य से हुआ रागादि सब दुर्गति है। वह आत्मा की या चैतन्य की गति नहीं है। यद्यपि शुभभावों से देवगति मिलती है; परन्तु वह भी दुर्गति है। जिसभाव से संसार की गति मिले, वह भाव ही दुर्गति है और वह गति भी दुर्गति है। **ह्व प्रवचनरत्नाकर भाग-१०, पृष्ठ-२१५**

प्रवचनसार गाथा २४७

अब, शुभोपयोगी श्रमणों की प्रवृत्ति बतलाते हैं :ह्व

वन्दणमंसणेहिं अब्भुट्टाणाणुगमणपडिवत्ती ।

समणेषु समावणओ ण णिंदिदा रागचरियम्हि ॥२४७॥

(हरिगीत)

श्रमणजन के प्रति बंदन नमन एवं अनुगमन।

विनय श्रमपरिहार निन्दित नहीं हैं जिनमार्ग में ॥२४७॥

अन्वयार्थ :ह्व [श्रमणेषु] श्रमणों के प्रति [वन्दननमस्करणाभ्यां]

वन्दन-नमस्कार सहित [अभ्युत्थानानुगमनप्रतिपत्तिः] अभ्युत्थान^१ और अनुगमनरूप^२ विनीत^३ प्रवृत्ति करना तथा [श्रमापनयः] उनका श्रम दूर करना वह [रागचर्यायाम्] रागचर्या में [न नन्दिता] निन्दित नहीं है।

टीका :ह्व शुभोपयोगियों के शुद्धात्मा के अनुरागयुक्त चारित्र होता है, इसलिये जिनने शुद्धात्मपरिणति प्राप्त की है ऐसे श्रमणों के प्रति जो वन्दन-नमस्कार अभ्युत्थान अनुगमन रूप विनीत वर्तन की प्रवृत्ति तथा शुद्धात्मपरिणति की रक्षा की निमित्तभूत ऐसी जो श्रम दूर करने की (वैयावृत्तरूप प्रवृत्ति) है, वह शुभोपयोगियों के लिये दूषित (दोषरूप, निन्दित) नहीं है। अर्थात् शुभोपयोगी मुनियों के ऐसी प्रवृत्ति का निषेध नहीं है।)

गाथा २४७ पर प्रवचन

● शुभोपयोगी मुनिराज के शुद्धोपयोगी मुनिराज को वंदन-नमस्कारादि करने का शुभराग होता है।

जो मुनि शुभोपयोग में हैं, उन्हें शुद्धात्मा के अनुराग सहित चारित्र होता है। उन्हें अपनी शुद्धात्मा में ही निरन्तर रमणता करना चाहिए;

१. अभ्युत्थान = सम्मानार्थ खड़ा हो जाना वह।

२. अनुगमन = पीछे चलना वह।

३. विनीत = विनययुक्त, सन्मानयुक्त, विवेकी, सभ्य।

किन्तु वे जीव रमणता को प्राप्त नहीं करते। यहाँ शुद्धात्मा के प्रति वर्तनेवाला राग स्वयं के कारण है, पर के कारण नहीं। पर के कारण राग हुआ हूँ ऐसा माने तो वह जीव मिथ्यादृष्टि है। धर्मात्मा मुनि को राग के काल में अपनी कमजोरी के कारण शुभराग होता है।

शुभोपयोगी मुनि शुद्धात्मपरिणति को प्राप्त मुनिराज को वंदन आदि करते हैं। जिन्हें वंदन करते हैं, उन मुनिराजों ने शुद्धात्मपरिणति को प्राप्त कर लिया है। इससे यह निश्चित होता है कि पूर्व में अशुद्ध अवस्था थी; किन्तु सम्यक्ज्ञान और लीनता द्वारा जिन मुनिराजों ने अन्तरस्वभाव में शुद्धता प्रगट की है, उन मुनिराजों को शुभोपयोगी मुनिराज वंदन-नमस्कारादि करते हैं, उनका गुणगान करते हैं।

नमस्कारादि के समय उन्हें जो शुभराग होता है, उसे वे (शुभोपयोगी मुनिराज) मात्र जानते हैं। शुभभाव हुआ, इसलिये नमन, खड़े होने, हाथ जोड़ने आदि की क्रिया नहीं होती। जड़ की क्रिया तो जड़ के कारण होती है। आत्मा उसका कर्ता-धर्ता-हर्ता नहीं है; किन्तु उससमय जिसप्रकार का शुभभाव हुआ, उसे वे अवश्य जानते हैं। वे शुभोपयोगी मुनिराज अन्य मुनिराजों की सेवा करते हैं। यदि उन्हें विहारादि में थकावट हुई हो तो उसे दूर करने के लिए वैयावृत्ति करते हैं। यह वैयावृत्ति की प्रवृत्ति उन्हें शुद्धात्मा में स्थिर होने के लिए निमित्तभूत है। शरीर के हाथ-पैर दबाकर वे उनकी थकावट दूर करते हैं; किन्तु यहाँ हाथ की क्रिया आत्मा नहीं करता। राग होवे तो तदनुसार लक्ष्य जाता है; किन्तु हाथ की क्रिया हाथ के कारण होती है।

(१) वैयावृत्ति का राग आया, अतः हाथ की क्रिया हुई हूँ ऐसा नहीं है।

(२) हाथ की क्रिया हुई, इसलिए मुनियों की थकावट दूर हुई हूँ ऐसा भी नहीं है।

(३) मुनिराज की थकावट दूर हुई, इसलिये श्रमरहित शरीर की अवस्था उनकी शुद्धात्म परिणति में मदद करेगी हूँ ऐसा भी नहीं है।

शुद्धात्म परिणति करते हैं तो शरीर को निमित्त कहा जाता है। वीतरागी परिणति और शरीर की पर्याय में काल भेद नहीं है।

यहाँ चरणानुयोग अधिकार में शुभभाव की बात है। शुभभाव के समय जहाँ लक्ष्य होता है, उस समय जो जो क्रिया होती है, उसके ऊपर निमित्त का आरोप करके कथन किया जाता है। वंदन आदि की क्रिया तो आत्मा नहीं कर सकता; किन्तु उसके भानसहित जो शुभभाव होते हैं, उसकी यहाँ बात की है।

शुभभाव हो तो अलौकिक महात्मा का गुणगान होता है; किन्तु लौकिक में कोई बड़ा हो तो भी गुणगान या वंदन को प्राप्त नहीं होता। वे बाह्य से त्यागी होते हैं; किन्तु आत्मस्वरूप से विपरीत मान्यतावाले हैं, अतः उनका गुणगान या वंदना नहीं होती।

इसप्रकार शुभोपयोगी मुनि को शुभभाव यदि हो तो धर्मात्मा के प्रति होता है। यह निंदित या निषेधरूप नहीं है। दृष्टि में तो निषेध ही है, परन्तु चरणानुयोग में राग की भूमिकानुसार किसप्रकार का राग आता है, उसका यहाँ ज्ञान कराया है।

प्रश्न : हूँ मुनिराज के शरीर में थकावट हो तो उन्हें शुद्ध परिणति नहीं होती, यदि वे लूले-लंगड़े हों तो उन्हें धर्म कैसे होगा?

उत्तर : हूँ भाई ! शरीरादि बाह्य क्रिया के साथ धर्म का संबंध नहीं है। थकावट जड़ की अवस्था है और धर्म आत्मा की वीतरागी दशा है। आत्मा वीतरागी परिणाम करता है तो शरीर की अवस्था निमित्त कहलाती है। जब स्वरूप में ठहर नहीं सकते, तब शरीर में थकावट हुई हो अथवा भूख लगी हो तो मुनि का उस ओर लक्ष्य जाता है तथा थकावट समाप्त हो जाए और अंतरलीनता हो हूँ ऐसा भी नहीं है; किन्तु स्वयं स्वरूप में लीनता करें और उस समय शरीर का श्रम दूर हुआ हो तो श्रमरहित शरीर की अवस्था वीतरागी परिणति के रक्षण में निमित्त होती है हूँ ऐसा कथन चरणानुयोग में संयोग की अपेक्षा से किया गया है। वहाँ शरीर की श्रमरहित होने की अवस्था में मुनियों का शुभविकल्प निमित्त है हूँ ऐसा कहा है।

भूख लगी हो, उससे धर्म नहीं होता। यदि खाने से धर्म होता हो तो खूब खाने पर केवलज्ञान प्रगट हो, किन्तु पर वस्तु से कदापि धर्म नहीं होता है। जड़ की पर्याय से धर्म का संबंध नहीं है। मुनिराज स्वरूप रमणता से वंचित हुए हैं, अतः शुभ में आते हैं, लेकिन उन्हें शुभ से धर्म नहीं है। जहाँ शुभपने से ही धर्म नहीं है तो रोटी आदि खाने से कहाँ से धर्म होगा? अर्थात् नहीं होगा।

स्वभाव का भान नहीं किया तो धर्म भी नहीं होगा। अनंतभव संसार में व्यतीत हुए हैं; किन्तु तेरा शुद्धस्वभाव जैसा का तैसा ही है। वह कभी नष्ट नहीं हुआ, उसमें त्रुटि नहीं हुई है। असंख्यप्रदेशी तत्त्व जैसे का तैसा शुद्ध है। उसकी श्रद्धा करे तो धर्म होगा। बाह्य संयोग तेरे धर्म को नहीं रोकते हैं। हाँ, तेरी विपरीत बुद्धि अवश्य तेरी आत्मा के धर्म को नष्ट करती है।

सम्यग्दृष्टि जीव को दृष्टि का भान होने पर शुभाशुभ भाव हुए हैं; किन्तु पतंग की डोर हाथ में रखने के समान अपनी शुद्ध पर्याय को भी वे हाथ में ही रखते हैं। मुनियों को शुभरागरूप प्रवृत्ति होती है; किन्तु फिर भी वे स्वभाव की डोरी हाथ में ही रखते हैं। विशेष पुरुषार्थ करके राग से दूर होते हैं और स्वभावदशा का आधार लेकर वीतरागता की ओर बढ़ते रहते हैं। ●

अहा! एक समय में तीनलोक व तीनकाल को जानने वाले भगवान सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि में सिंहनाद हुआ कि ह्व भगवान! तू निश्चय से परमात्मस्वरूप है, जो परमात्मा की जाति है, वही तेरी जाति है। जिसतरह परमात्मा की सर्वज्ञता, उनका ज्ञान केवलज्ञान रूप प्रगट पर्याय में है, उसीतरह स्वभाव से तेरे अन्दर भी सर्वज्ञत्व शक्ति, सर्वदर्शित्व शक्ति विद्यमान है। तेरा भी सर्वज्ञ स्वभाव है और तू भी अन्तर्मुखी पुरुषार्थ से पर्याय में सर्वज्ञता प्रगट कर सकता है।

ह्व प्रवचनरत्नाकर भाग-१०, पृष्ठ-२२०

प्रवचनसार गाथा २४८

अब, ऐसा प्रतिपादन करते हैं कि शुभोपयोगियों के ही ऐसी प्रवृत्तियाँ होती हैं :-

दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसण तेसिं ।

चरिया हि सरागाणं जिणिंदपूजोवदेसो य ॥२४८॥

(हरिगीत)

उपदेश दर्शन-ज्ञान-पूजन शिष्यजन का परिग्रहण।

और पोषण ये सभी हैं रागियों के आचरण ॥२४८॥

अन्वयार्थ : ह्व [दर्शनज्ञानोपदेशः] दर्शनज्ञान का (सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का) उपदेश, [शिष्यग्रहणं] शिष्यों का ग्रहण, [च] तथा [तेषाम् पोषण] उनका पोषण, [च] और [जिनेन्द्रपूजोपदेशः] जिनेन्द्र की पूजा का उपदेश [हि] वास्तव में [सरागाणां चर्या] सरागियों की चर्या है।

टीका : ह्व अनुग्रह करने की इच्छापूर्वक दर्शनज्ञान के उपदेश की प्रवृत्ति, शिष्य ग्रहण की प्रवृत्ति, उनके पोषण की प्रवृत्ति और जिनेन्द्र पूजन के उपदेश की प्रवृत्ति शुभोपयोगियों के ही होती है, शुद्धोपयोगियों के नहीं।

गाथा २४८ पर प्रवचन

● मुनिराज सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का उपदेश देते हैं।

अब, शुभोपयोगी मुनिराज की प्रवृत्ति का वर्णन करते हैं।

अनंतकाल से यह जीव संसार में भटक रहा है। संसार के दुःख को समझकर यदि संसारी जीव धर्म का स्वरूप समझने का इच्छुक हो, मेरा हित कैसे होगा ? इसका बारम्बार विचार करता हो तो ऐसे जीव को संसार से वैराग्य लाकर धर्म का स्वरूप बताने के लिये मुनिराज को उपदेश देने का विकल्प आता है और वे ज्ञान-दर्शन स्वरूप का उपदेश देते हैं।

मुनिराज को उपदेश देने का विकल्प आवे और उनके श्रीमुख से

संसार को भेदन करनेवाला उपदेश निकले तो मुनि ने अनुग्रह किया हूँ ऐसा कहा जाता है, किन्तु जबतक पात्र जीव ना मिले तबतक वे भी उपदेशादि में प्रवृत्ति नहीं करते हैं।

गृहस्थ को उपदेश समझना है, अतः मुनिराज को राग हुआ, गृहस्थ के कारण उनके श्रीमुख से उपदेश निकला अथवा मुनिराज को राग हुआ, अतः उपदेश दिया गया हूँ ऐसा नहीं है। यहाँ तो मुनिराज को शुभराग की उत्पत्ति होनेपर किसप्रकार का निमित्त-नैमित्तिक संबंध रहता है, उसका ज्ञान कराया है। वे तो सदैव ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप आत्मा का ही उपदेश देते हैं।

आत्मा ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप है, शरीरादि पदार्थ जड़ हैं। शुभराग विकार है। किसी को समझाने का भाव उत्पन्न हुआ, वह भी शुभराग है। इस शुभराग के कारण धर्म नहीं होता। मुनिराज कहते हैं कि हे भाई ! तुम हमारा और शुभराग का लक्ष छोड़कर स्वयं के ज्ञान-दर्शनमय आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान करो, तुम्हें अवश्य धर्म होगा। हमारे कारण धर्म होगा हूँ ऐसा कदापि संभव नहीं है। इसप्रकार मुनिराज सदैव निज शुद्धस्वभाव के श्रद्धान-ज्ञान का ही उपदेश देते हैं।

यहाँ चरणानुयोग में वे सम्यग्दर्शन और ज्ञान का ही उपदेश देते हैं, अन्य कुछ नहीं कहते। व्रत-पूजा आदि का जो शुभराग उत्पन्न होता है, वह जीव का स्वरूप नहीं है, धर्म के लिये मददगार नहीं है हूँ ऐसा जान। इसप्रकार मुनिराज रागोत्पत्ति के काल में उपदेश देते हैं।

● मुनिराज को शिष्य के ग्रहण तथा पोषण की प्रवृत्ति होती है।

शुभोपयोगी मुनिराज राग के होने पर योग्य शिष्य को दीक्षा देते हैं। उसके पोषण की प्रवृत्ति की ओर लक्ष देते हैं। अभी, शिष्य अपने स्वभाव में स्थित नहीं है। निजस्वभाव का पूर्ण पोषण करने में समर्थ नहीं है, अतः आचार्यदेव शिष्य की योग्यतानुसार वर्तनेवाले राग को जानते हैं।

अमुक आहार अथवा अमुक क्षेत्र शिष्य के अनुकूल अथवा पोषण में योग्य हो सकता है हूँ ऐसा विकल्प आवे तो शिष्य की भूमिकानुसार उसकी स्थिरता के लिये वे अमुक स्थान पर जाओ हूँ ऐसा भी कहते हैं।

इसप्रकार आचार्य को आहारादि के प्रति विकल्प आते हैं। यहाँ तो शिष्य की भूमिका बनी रहे, इसलिये उनका विकल्प निमित्तमात्र है, इसका ज्ञान कराया है। स्वयं के विकल्पानुसार संयोग मिल जाँएँगे अथवा शिष्य को अनुकूल संयोग मिलने पर वह बना रहेगा हूँ ऐसा वे नहीं मानते।

प्रत्येक वस्तु स्वयं स्वतंत्र है, तथापि शिष्य के पोषण में मुनिराज के विकल्प किसप्रकार निमित्त होते हैं, इसका यहाँ ज्ञान कराया है।

● जिनेन्द्र भगवान के पूजा-भक्ति के उपदेश में भी मुनिराज की प्रवृत्ति होती है।

श्रावकों के लिये जिनेन्द्र भगवान की पूजा-भक्ति का भी वे उपदेश देते हैं, आदेश नहीं देते। रागी देवी-देवता अथवा अन्य किसी प्रतिमा की पूजा आदि का वे उपदेश नहीं देते; किन्तु वीतरागी परमात्मा, जिनेन्द्र भगवान की पूजा का उपदेश अवश्य देते हैं।

मुनिराज को इस बात का भी पूर्णतः भान है कि उपदेश देने का यह विकल्प जहर है, स्व-स्वरूप नहीं है। वे जानते हैं कि उनके उपदेश से सामनेवाला जीव समझ जाएगा हूँ ऐसा नहीं है। वह जीव स्वयं अपनी योग्यता से ही समझता है।

गृहस्थों को उपदेश देते समय वे कहते हैं कि तुम स्वभाव में स्थिर नहीं हो सकते, अतः जिनेन्द्र भगवान की पूजा करो, यात्रा करो; किन्तु वे राग या पूजा में धर्म नहीं मानते। मुनिराज को शुद्ध स्वभाव का भान है, परन्तु भूमिकानुसार राग भी वर्तता है, अतः शुद्धस्वभाव को पाकर भी जिनेन्द्र के बहुमान का उपदेश देते हैं। बाह्य क्रिया तो जड़ के कारण होती है, तथापि पूजा का यथायोग्य हेतु कहकर पूजा करने को कहते हैं।

मुनि को शुभराग हो तो तदनुसार प्रवृत्ति होती है; किन्तु दृष्टि में निषेध ही वर्तता है। यहाँ शुभराग के कारण प्रवृत्ति में किसप्रकार का वर्तन होता है, यह बताया है। जो मुनिराज निजस्वरूप में स्थिर हैं, उन्हें उपदेश अथवा शिष्य के ग्रहण आदि की प्रवृत्ति नहीं वर्तती है। ●

प्रवचनसार गाथा २४९

अब, ऐसा निश्चित करते हैं कि सभी प्रवृत्तियाँ शुभोपयोगियों के ही होती हैं :-

उवकुणदि जो वि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स ।

कायविराधणरहिदं सो वि सरागप्पधानो से ॥२४९॥

(हरिगीत)

तनविराधन रहित कोई श्रमण पर उपकार में ।

नित लगा हो तो जानना है राग की ही मुख्यता ॥२४९॥

अन्वयार्थ :ह [यः अपि] जो कोई (श्रमण) [नित्यं] सदा [कायविराधनरहितं] (छह) काय की विराधना से रहित [चातुर्वर्णस्य] चार प्रकार के [श्रमणसंघस्य] श्रमण संघ का [उपकरोति] उपकार करता है, [सः अपि] वह भी [सरागप्रधानः स्यात्] राग की प्रधानता वाला है ।

टीका :ह संयम की प्रतिज्ञा की होने से छहकाय^१ के विराधन से रहित जो कोई भी, शुद्धात्मपरिणति के रक्षण में निमित्तभूत ऐसी, चार^२ प्रकार के श्रमणसंघ का उपकार करने की प्रवृत्ति है वह सभी रागप्रधानता के कारण शुभोपयोगियों के ही होती है, शुद्धोपयोगियों के कदापि नहीं ।

गाथा २४९ की उत्थानिका पर प्रवचन

● मिथ्यादृष्टि पर का कुछ नहीं कर सकता; परन्तु स्वयं भ्रान्तिरूप होकर राग-द्वेष की प्रवृत्ति करता है ।

१. श्रमणसंघ को शुद्धात्मपरिणति के रक्षण में निमित्तभूत ऐसी जो उपकारवृत्ति शुभोपयोगी श्रमण करते हैं वह छहकाय की विराधना से रहित होती है, क्योंकि उन (शुभोपयोगी श्रमणों) ने संयम की प्रतिज्ञा ली है ।

२. श्रमण के ४ प्रकार यह हैं : (१) ऋषि, (२) मुनि, (३) यति और (४) अनगार । ऋद्धिप्राप्त श्रमण ऋषि हैं, अवधि, मनःपर्यय अथवा केवलज्ञान वाले श्रमण मुनि हैं, उपशमक या क्षपकश्रेणी में आरूढ़ श्रमण यति हैं और सामान्य साधु वह अनगार हैं । इसप्रकार चतुर्विध श्रमण संघ है ।

आत्मा ज्ञान-दर्शन स्वरूप है । वह परद्रव्यों की समस्त प्रवृत्तियों से रहित है । प्र = विशेष, वृत्ति = परिणति । प्रवृत्ति = विशेष परिणति ।

परपदार्थों की प्रवृत्ति अर्थात् विशेष अवस्था का ज्ञानी व अज्ञानी कोई भी कर्ता नहीं है । अज्ञानी मानता है कि मैं कुटुंब का पालन-पोषण करता हूँ, देश की प्रवृत्ति करता हूँ, पर की दया पाल सकता हूँ; किन्तु उन-उन पदार्थों की प्रवृत्ति अर्थात् विशेष परिणति उनसे ही होती है । अज्ञानी का आत्मा उन पदार्थों में कुछ नहीं कर सकता; किन्तु मैं इन पर पदार्थों को कर सकता हूँहूँ ऐसी मिथ्याभ्रान्तिरूप प्रवृत्ति वह स्वयं करता है ।

आत्मा की सत्ता परपदार्थों की सत्ता में नहीं हो सकती और परपदार्थों की सत्ता आत्मा में नहीं हो सकती । आत्मा चिदानन्द मूर्ति है । शरीर, कर्म आदि जड़ पदार्थ हैं । जड़ पदार्थों को आत्मा करे तो भिन्न-भिन्न पदार्थ एक हो जावें । शरीर और कर्मादि का होना तो द्रव्याधीन है । वकालत अथवा डॉक्टर बनने के भाव करने से पैसा प्राप्त नहीं होता । स्वयं के ज्ञान-दर्शन स्वरूप को भूलकर यह जीव रुपया-पैसा कमाता है और अभिमान करता है, किन्तु इसके अभिमान से पैसे के आने-जाने का निश्चितपना नहीं है, फिर भी मिथ्यादृष्टि जीव इसीप्रकार की प्रवृत्ति करता है ।

● सम्यग्दृष्टि को भ्रान्तिरूप प्रवृत्ति छूट गई है, किन्तु शुभाशुभ भावों में प्रवृत्ति होती है ।

(१) चौथे गुणस्थानवर्ती धर्मी जीव की प्रवृत्ति :हूँ धर्मी जीव जानता है कि मैं ज्ञान-दर्शनमय हूँ । परपदार्थों के परिणाम बदलने की ताकत मुझमें नहीं है । मेरी स्वयं की कमजोरी के कारण मुझमें शुभाशुभ भाव हुए हैं, वे होने पर भी मैं उस रूप नहीं हूँ । मैं तो ज्ञाता हूँ, पर की प्रवृत्ति मैं नहीं कर सकता, अतः पर से मुझे सुख होता है हूँ ऐसी प्रवृत्ति टल जाती है ।

उसे अनंत पदार्थों के कर्तृत्व का अभिमान टल गया है और त्रिकाली स्वभाव का भान हुआ है हूँ ऐसे समय में शुभाशुभ भावों का स्वामित्व भी

नहीं है। इसप्रकार सम्यग्दृष्टि जीव को भ्रान्ति का अभाव है, किन्तु शुभाशुभ भावों में प्रवृत्ति होती है।

पाँचवें गुणस्थान में भी भ्रान्ति टल गई है और उसके पश्चात् अशुभभावों की प्रवृत्ति घटकर शुभाशुभभावरूप व्रतादि परिणामों में प्रवृत्ति हुई है।

● शुद्धोपयोगी मुनि को शुद्धात्मा में लीनतारूप प्रवृत्ति होती है।

(२) शुद्धोपयोगी मुनि की प्रवृत्ति : ह्य आत्मा शुद्ध चैतन्यज्योति है ह्य ऐसे भानपूर्वक उन्हें आत्मा का ध्यान है। शुद्धात्मा की प्रवृत्ति/रमणता बढ़ जाने से शुभाशुभभावों में प्रवृत्ति नहीं है। श्रावक को उपदेश देना अथवा शिष्य को दीक्षा देना ह्य ऐसी प्रवृत्ति उन्हें नहीं होती। तीर्थकर भगवान वंद्य है और मैं वंदक ह्य ऐसी प्रवृत्ति नहीं होती। वंद्य-वंदक भाव का मुनि को अभाव है। उन्हें मात्र शुद्धात्मा की प्रवृत्ति होती है और शुभाशुभ भावों से निवृत्ति होती है।

● शुभोपयोगी मुनि को मुख्यता से शुभभावों में प्रवृत्ति होती है।

(३) शुभोपयोगी मुनि की प्रवृत्ति : ह्य आत्मा शुद्धस्वभावी है ह्य ऐसा भान होने से आंशिक वीतरागता है, फिर भी सर्वथारूप से स्वभाव में स्थिरता नहीं है, अतः पाँच महाव्रतादि के शुभ परिणाम होते हैं।

शरीर को वस्त्रादि से ढकनेरूप राग उन्हें नहीं वर्तता। नग्न दिगम्बर दशा होती है, फिर भी छह काय की रक्षा और महाव्रतादि के परिणाम का शुभराग होता है। शुभराग की प्रवृत्ति और उसका स्वरूप ही इस गाथा में कहा है।

गाथा २४९ पर प्रवचन

● मुनिराज को छहकाय के जीवों को दुःख देने का भाव नहीं होता ह्य

जो जीव आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान स्वरूप में लीनतारूप मुनिपना अंगीकार करते हैं, वे मुनिराज संयम की प्रतिज्ञा करते हैं। श्रमण संघ को शुद्धात्म परिणति के रक्षण में निमित्तभूत ऐसी यदि उन्हें उपकार प्रवृत्ति

होती है, तो वह शुभोपयोगी श्रमण हैं। यह प्रवृत्ति छहकाय की विराधना बिना होती है, क्योंकि उन्होंने संयम की प्रतिज्ञा ली है।

मुनिराज का चैतन्यसूर्य शुभाशुभ भावों में अटकता है, अतः उनके पूर्ण विकास दिखाई नहीं देता। चैतन्यस्वभाव में सर्वथा स्थित होवें तो केवलज्ञान प्रगट हो, किन्तु शुभोपयोगी मुनि अभी भी अस्थिरता अर्थात् शुभराग में वर्तते हैं। इस शुभराग की मर्यादा भी है। पृथ्वी कायिकादि पाँच स्थावर और एक त्रस ऐसे छहकाय के जीवों की वे विराधना नहीं करते। सम्यग्दृष्टि को कमजोरी वश अभी भी अशुभभावों में प्रवृत्ति होती है। लड़ाई का परिणाम होता है, किन्तु उसे वहाँ भी आत्मा का भान है।

मेरा कोई दुश्मन नहीं है ह्य ऐसा विचार करने पर भी द्वेष का परिणाम होता है। चक्रवर्ती का राज्य-वैभव होता है, जहाँ बड़े प्रमाण में विषयों का भोग होता है ह्य ऐसी अशुभभाव की प्रवृत्ति सम्यग्दृष्टि को आत्मा का भान होने पर भी होती है, किन्तु मुनिराज को सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा अन्तरलीनता और वीतरागता बढ़ी है, अतः अशुभराग घट गया है। किसी जीव की हिंसा हो ह्य ऐसी अशुभभावना मुनि को नहीं होती और वे ऐसा आदेश भी नहीं करते। एकेन्द्रिय जीव को भी मारने का भाव मुनिराज को नहीं होता। एक जीव अन्य को न मार सकता है और न जिला सकता है ह्य ऐसा श्रद्धान ज्ञान उन्हें वर्तता है। साथ ही स्वयं के कारण अन्य किसी जीव को दुःख नहीं हो ह्य इसका भी वे पूर्णतः ख्याल रखते हैं।

हमारे लिए यह आहार बनाओ ह्य ऐसी वृत्ति मुनिराज को नहीं होती। सम्यग्दृष्टि को अनेकों बार अशुभभाव भी होते हैं, किन्तु मुनिपना होने पर अंतरलीनता अत्यन्त बढ़ गई है। बाह्य परिग्रह अर्थात् वस्त्रादि का राग छूट गया है, अतः नग्न दिगम्बर दशा वर्तती है।

ऐसे साधुपद के बाद केवलज्ञानदशा प्राप्त होती है, उसके बिना केवलज्ञान नहीं होता। अन्तर भानसहित लीनता बढ़ने से राग घट गया है। रोग हो तो मुनिराज औषधी वगैरह ग्रहण करने का भाव नहीं करते। सम्यग्दृष्टि को औषधी सेवन का भाव होता है; किन्तु मुनिराज अशुभराग

की प्रवृत्ति से अत्यन्त दूर हैं और शुभराग में भी मर्यादा वर्तती है। प्रतिज्ञा तो निजस्वभाव में रमणता की है, अतः परिग्रहादि के अशुभभाव टल गए हैं। पाप परिणामों का त्याग है और जो शुभभाव आते हैं ह्व वे भी धर्मात्मा के प्रति आते हैं। ऐसे साधुपद से आगे बढ़कर जीव केवलज्ञान पाता है।

यहाँ कोई कहे कि अभी केवलज्ञान नहीं है, फिर मुनिपने का क्या काम ? तो उससे कहते हैं कि भाई ! केवलज्ञान का साधन मुनिपना है। उसकी सम्यक् श्रद्धा तो कर। सम्यक् श्रद्धा के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होगा और सम्यग्दर्शन के बिना मुनिपना अथवा मुक्ति नहीं होगी, अतः जैसा वस्तुस्वरूप है वैसा श्रद्धान-ज्ञान करना चाहिए।

● शुभोपयोगी मुनि चार श्रमण संघ के प्रति उपकार की प्रवृत्ति करते हैं।

उपकार का स्वरूप ह्व

उन शुभोपयोगी मुनि को शुद्धात्म परिणति के रक्षण में निमित्तभूत चार प्रकार के संघ का उपकार करने की प्रवृत्ति होती है। श्रमण चार प्रकार के हैं ह्व

(१) ऋद्धिवाले श्रमण ऋषि हैं।

(२) अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान अथवा केवलज्ञानवाले श्रमण मुनि हैं।

(३) उपशमक अथवा क्षपक श्रेणी में आरूढ़ श्रमण यति हैं।

(४) सामान्य साधु अनगार हैं।

इसप्रकार चार प्रकार का श्रमण संघ है। साधु, आर्यिका, श्रावक, श्राविकाओं को भी गौणरूप से संघ कहते हैं। एक जीव अन्य के प्रति उपकार नहीं करता; किन्तु यहाँ चरणानुयोग में निमित्त से कथन किया है। शुभोपयोगी मुनि को उसप्रकार का विकल्प उठता है और विकल्प के काल में उनका लक्ष किसके ऊपर होता है, यह बताते हैं।

(१) ऋषि : ह्व आत्मा के भानपूर्वक जिन मुनिराज को ऋद्धि प्रगट हुई

है, वे ऋषि कहलाते हैं। आत्मा और शरीर की क्रिया को जो भिन्न जानते हैं। ऋद्धि प्रगट होने पर भी उसके परखने का भाव नहीं होता ह्व ऐसे मुनियों की शुभोपयोगी मुनि वैयावृत्ति करते हैं, इसप्रकार ऋषि का उपकार करते हैं।

(२) अवधिज्ञानी मुनि स्वर्ग, नरक आदि स्थानों में विशेष सीमा पर्यन्त जान सकते हैं और मनःपर्यय ज्ञानी अन्य के मन में स्थित विचारों को जान लेते हैं, उनकी वैयावृत्ति शुभोपयोगी करते हैं। कोई बीमार हो तो उनकी सेवा का भाव करते हैं, इसप्रकार मुनि का उपकार करते हैं।

तीर्थंकर भगवान के प्रति उपकार की प्रवृत्ति ह्व सर्वज्ञ भगवान विराजमान हों, वहाँ बारह सभायें होती हैं। दिव्यध्वनि खिरती है। होंठ बन्द रहते हैं। इच्छा के बिना ही आत्मा के सर्वांग प्रदेशों से अनक्षरी वाणी खिरती है। भगवान जमीन से ऊपर अंतरीक्ष में विराजते हैं। इससमय शुभोपयोगी मुनि को राग आवे तब वे उनकी वाणी सुनने जाते हैं। वाणी सुनकर जैसे भगवान कहते हैं, वैसे ही अपने स्वरूप में एकाग्र हो जाते हैं, यही तीर्थंकर की सेवा और उपकार किया ह्व ऐसा कहने में आता है।

(३) यति : ह्व उपशमक अथवा क्षपक श्रेणी में आरूढ़ मुनिराज को देखकर शुभोपयोगी मुनि विचार करता है कि अहो ! धन्य आपकी दशा। आत्मस्वभाव में स्थिर होकर जो पुनः नीचे आते हैं, वह उपशम श्रेणी कहलाती है और आत्मस्वभाव में स्थिर होकर जो नीचे न आकर केवलज्ञान दशा को प्राप्त करते हैं, वह क्षपक श्रेणी कहलाती है।

जिसप्रकार नारियल का सफेद गोला बाहर की छाल, काचली और लालिमा से रहित है, उसीप्रकार शरीर बाह्य छाल समान है, कर्म काचलीसमान है और पुण्य-पाप विकारी भाव लालिमा के समान हैं, इन सबसे रहित आत्मा शुद्ध आनन्दकन्द सफेद गोले के समान है ह्व ऐसे चैतन्य गोले में लीन होने पर परिपूर्णदशा प्रगट होते ही मात्र चैतन्यगोला

(चैतन्यसूर्य) दिखाई देता है हूँ ऐसी दशा को प्राप्त करने के लिए जो यत्न करते हैं, वे यति हैं।

इन यतियों को देखकर शुभोपयोगी मुनि विचार करते हैं हूँ अहा ! धन्य अवतार ! मैं भी श्रेणी माँडकर केवलज्ञान प्राप्त करूँगा यही भावना यति के प्रति उपकार है।

(४) अनगार हूँ सामान्य साधु। आगार अर्थात् मकान इत्यादि। यह जिसके नहीं होते हैं, वे अनगार है। परिग्रह रहित ऐसे साधु के प्रति वैयावृत्ति का भाव वह उनके प्रति उपकार है।

इसप्रकार की प्रवृत्ति में राग की मुख्यता है। यह प्रवृत्ति शुभोपयोगी मुनि को होती है। 'रागप्रधानता' ऐसा शब्द यहाँ लिया है। दृष्टि में रागप्रधानता नहीं है, दृष्टि में तो ज्ञानप्रधानता ही है। अखण्ड ज्ञानस्वभाव ही है; किन्तु स्वरूप में स्थिर न होकर जब शुभराग में वर्तन होता है, तो वह रागप्रधानता है।

ऐसा स्वरूप सातवें गुणस्थानवर्ती शुद्धोपयोगी मुनि का नहीं होता। उन्हें मुनि की सेवा अथवा भगवान की भक्ति का भी भाव नहीं वर्तता है।

सर्वज्ञ की सभा में कोई मुनिराज जावें वहाँ शुद्धभाव हों और पुरुषार्थ को जागृत कर स्वरूप में लीनता करे, तब उसका उपयोग भगवान की वाणी समझने की ओर नहीं है, अतः उसने भगवान का अनादर किया हूँ ऐसा नहीं है अथवा स्वरूप लीनता के समय कोई मुनि अस्वस्थ हो तो उनकी वैयावृत्ति का भाव भी शुद्धोपयोगी मुनि को नहीं होता, अतः वे मुनि का अनादर करते हैं हूँ ऐसा भी नहीं है।

यहाँ तो मुनिराज को शुभभाव आवें तो किसप्रकार की प्रवृत्ति होती है, उसकी मर्यादा बतलाई है।



प्रवचनसार गाथा २५०

अब, प्रवृत्ति के संयम की विरोधी होने का निषेध करते हैं (अर्थात् शुभोपयोगी श्रमण के संयम के साथ विरोधवाली प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये हूँ ऐसा कहते हैं) हूँ

जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावच्चत्थमुज्जदो समणो।

ण हवदि हवदि अगारो धम्मो सो सावयाणं से॥२५०॥

(हरिगीत)

जो श्रमण वैयावृत्ति में छहकाय को पीड़ित करें।

वह गृही ही है क्योंकि यह तो श्रावकों का धर्म है॥२५०॥

अन्वयार्थःहूँ [यदि] यदि (श्रमण) [वैयावृत्यर्थम् उद्यतः] वैयावृत्ति के लिये उद्यमी वर्तता हुआ [कायखेदं] छह काय को पीड़ित [करोति] करता है तो वह [श्रमणः न भवति] श्रमण नहीं है, [अगारी भवति] गृहस्थ है; (क्योंकि) [सः] वह (छह काय की विराधना सहित वैयावृत्ति [श्रावकाणां धर्मः स्यात्] श्रावकों का धर्म है।

टीका :हूँ जो (श्रमण) दूसरे की शुद्धात्मपरिणति की रक्षा हो ऐसे अभिप्राय से वैयावृत्य की प्रवृत्ति करता हुआ अपने संयम की विराधना करता है, वह गृहस्थधर्म में प्रवेश कर रहा होने से श्रामण्य से च्युत होता है। इससे (ऐसा कहा है कि) जो भी प्रवृत्ति हो वह सर्वथा संयम के साथ विरोध न आये इसप्रकार ही करनी चाहिये, क्योंकि प्रवृत्ति में भी संयम ही साध्य है।

भावार्थ :हूँ जो श्रमण छह काय की विराधना सहित वैयावृत्यादि प्रवृत्ति करता है, वह गृहस्थधर्म में प्रवेश करता है; इसलिये श्रमण को वैयावृत्यादि की प्रवृत्ति इसप्रकार करनी चाहिये कि जिससे संयम की विराधना न हो।

यहाँ इतना विशेष समझना चाहिये कि हूँ जो स्वशरीर पोषण के लिये या शिष्यादि के मोह से सावद्य को नहीं चाहता उसे वैयावृत्यादि में भी

सावद्य की इच्छा नहीं करनी चाहिये, वह शोभास्पद है। जो अन्यत्र तो सावद्य की इच्छा करे; किन्तु अपनी अवस्था के योग्य वैयावृत्यादि धर्मकार्य में सावद्य को न चाहे तो उसके सम्यक्त्व ही नहीं है।

गाथा २५० की उत्थानिका पर प्रवचन

● भिन्न-भिन्न गुणस्थान में प्रवृत्ति की मर्यादा ह

(१) आत्मा आनन्दस्वरूप है, यह भूलकर पर में सुख है, पुण्य से धर्म होता है ह ऐसी जिसकी मान्यता है, उस जीव की प्रवृत्ति पर्यायमूढ़ है। वह मिथ्याभ्रान्तिरूप प्रवृत्ति उसके स्वयं के अज्ञान के कारण है। अपनी इस भ्रान्तिरूप प्रवृत्ति के कारण वह पर्याय और परपदार्थों में ही फेरफार की बुद्धि करता है, किन्तु वास्तव में ऐसा होता नहीं है।

(२) चतुर्थ गुणस्थानवर्ती धर्मी जीव को आत्मा का भान है। शरीरादि क्रिया मेरी नहीं है, विकार मेरा नहीं है, विकार मेरा त्रिकाली स्वरूप नहीं है ह ऐसा भान होने से उसके उक्त भ्रान्तिरूप प्रवृत्ति मिट गई है; किन्तु शुभाशुभ भावों की प्रवृत्ति है।

(३) पाँचवें गुणस्थान में भ्रान्ति की प्रवृत्ति नहीं है। आसक्ति भी कम अंश में है। पाप का भाव कम है और व्रतादि की प्रवृत्ति अधिक है।

(४) छठवें गुणस्थान में भ्रान्ति की प्रवृत्ति नहीं है तथा अशुभभावों में भी अधिक प्रवृत्ति नहीं है, शुभरूप प्रवृत्ति होती है और वह भी मर्यादा में ही होती है।

(५) सातवें गुणस्थान में बुद्धिपूर्वक राग का अभाव है। शुद्धात्मा में लीनतारूप प्रवृत्ति है। चतुर्थ से बारहवें गुणस्थान तक अपूर्ण भूमिका है। आत्मा का भान हो और शीघ्र ही निर्मलदशा की प्राप्ति हो जावे ह ऐसा नहीं है। मलिनता और निर्मलता का स्वरूप भी जानना चाहिए। परपदार्थों में प्रवृत्ति तो अज्ञानी या ज्ञानी कोई भी नहीं कर सकता है।

यहाँ छठवें गुणस्थान में झूलनेवाले मुनिराज को शुभराग की उपस्थिति में कितनी निर्मलता है और कितनी मलिनता है उसकी मर्यादा बताई है; किन्तु संयम को विरोध उत्पन्न करनेवाली प्रवृत्ति उनके नहीं होती।

गाथा २५० पर प्रवचन

● मुनि वैयावृत्य की प्रवृत्ति में छहकाय के जीवों को दुःख देवे तो वह मुनि नहीं कहलाता।

सम्यग्दर्शन की बात करने के पश्चात् अब, मुनिराज को वर्तनेवाले राग की बात करते हैं। किसी मुनिराज को कदाचित् कोई रोग हो, थकावट हुई हो तो अन्य मुनिराज का उनकी वैयावृत्ति की ओर लक्ष जाता है; वहाँ वे उनकी वैयावृत्ति भी करते हैं, किन्तु यदि उस वैयावृत्ति में परजीव की हिंसा होती हो तो उनका मुनिपना नहीं रहता।

पृथ्वी, अग्नि, पानी, वायु में असंख्य जीव हैं और अभक्ष्य (आलू, लहसुन) आदि पदार्थों में भी अनंत जीव हैं; अतः उनकी हिंसा का दोष लगे ह ऐसा प्रवर्तन मुनिराज नहीं करते।

भगवान की पूजा आदि के लिए जलादि लानेरूप जो श्रावकों के कर्तव्य हैं, वे मुनिराज नहीं करते हैं। प्रत्येक जीव की अवस्था क्रमबद्ध है। छहकाय के जीवों का जन्मना और मरना भी क्रमबद्ध है, उन्हें हम प्रयत्नपूर्वक बचा नहीं सकते और हिंसा के भाव से उन्हें मार भी नहीं सकते।

यहाँ तो आत्मज्ञान होने पर राग की मर्यादा कितनी और कैसी होती है? उसका स्वरूप बताया है। सम्यग्दृष्टि श्रावक को आत्मभान होनेपर भी वह स्वयं के लिए औषधि आदि लाता है, यह राग की प्रवृत्ति है; किन्तु मुनिराज को श्रावक के समान राग नहीं होता है। यदि मुनिराज को उसप्रकार का राग आवे और वे तदनुसार कार्य करें तो उनके श्रावकपना हो जाएगा। वह जीव भी भ्रान्ति के कारण मिथ्यादृष्टि कहलायेगा।

विष्णुकुमार मुनि का नाम वात्सल्य अंग में प्रसिद्ध हुआ ह ऐसा शास्त्रों में आता है। सात सौ मुनियों को बचाकर वे उनके रक्षण में निमित्त हुए; किन्तु स्वयं का मुनिपना छोड़कर वे निचली दशा को प्राप्त हुए थे। यद्यपि निजस्वरूप का भान छूटा नहीं था, किन्तु बाह्य में जो क्रिया हुई वह मुनिपने के योग्य नहीं थी।

जो मुनिराज “अन्य मुनि के शुद्ध आत्मा की लीनता का रक्षण होगा” ह्व ऐसे अभिप्राय से उनकी वैयावृत्ति करते हैं, वे स्वयं के संयम की विराधना के कारण गृहस्थदशा में आ जाते हैं और इस पाँचवें गुणस्थान में आने पर भी वे स्वयं को मुनिपना मानें तो मिथ्यादृष्टि हो जाते हैं।

● मुनिराजों को संयम के साथ विरोध न हो, इसप्रकार का आचरण करना चाहिए।

यहाँ कहते हैं कि मुनियों को जो शुभराग की प्रवृत्ति होती है, वह सर्वथा संयम में विरोध न आवे, इसप्रकार की होना चाहिए। वात्सल्य, प्रभावना, उपदेश आदि के भाव उत्पन्न होते हैं; किन्तु उनमें मर्यादा होना चाहिए। उन भावों में इतनी तीव्रता नहीं होना चाहिए कि जिससे स्वयं के संयम पालन में विरोध उत्पन्न हो, क्योंकि प्रवृत्ति में संयम ही साध्य है।

द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा एक परम पारिणामिक भाव ही साध्य है। निमित्त और कर्म के बिना, पुण्य-पाप के अंश रहित शुद्ध त्रिकाली द्रव्य ही ध्येय है। पुण्यभाव अथवा प्रगट आंशिक ज्ञान से धर्म नहीं होता। एक चैतन्य के आधार से ही धर्म होता है।

पंच महाव्रतादि के पालन से धर्म नहीं होता। धर्म तो त्रिकाली द्रव्य के आश्रय से होता है, जहाँ एक शुद्धस्वभाव ही ध्येय होता है। शुद्धस्वभाव ही साधने योग्य है, यह भान उन्हें निरन्तर बना रहता है। मुनिराज को मर्यादा में शुभराग आता है और संयम में बाधा न आवे ऐसा शुभराग उनको वर्तता है, अतः संयम को साध्य कहा है।

चरणानुयोग में पर्याय को ही साध्य कहा है। चरणानुयोग में आत्मा भिन्न और द्रव्यानुयोग में आत्मा भिन्न ह्व ऐसा नहीं है, मात्र कथनपद्धति में अन्तर है। चरणानुयोग शुभभाव और निमित्तप्रधान कथन करता है; किन्तु शुभभाव से धर्म होता है ह्व ऐसा उसका कथन नहीं है।

चरणानुयोग शुभराग की मर्यादा बताता है। मुनिराज को उस शुभराग के समय भी शुद्धता का भान है। इस अपेक्षा से उन्हें शुभराग का नकार ही वर्तता है। जितनी स्थिरता है, उतना निश्चयधर्म है और जो धर्मानुकूल

राग है, तदनुसार प्रवृत्ति को उपचार से व्यवहार धर्म कहते हैं।

भावार्थ पर प्रवचन

जो मुनिराज छहकाय के जीवों को दुःख देकर वैयावृत्य आदि की प्रवृत्ति करते हैं, वह मुनि नहीं हैं, मिथ्यादृष्टि हैं। छह काय के जीवों को मैं बचा सकता हूँ अथवा मार सकता हूँ ह्व ऐसा माननेवाला तो मिथ्यादृष्टि ही है। यहाँ भावों की प्रधानता से बात की है।

यहाँ बताते हैं कि मुनियों को वैयावृत्य आदि की प्रवृत्ति इसप्रकार होना चाहिए कि जिससे संयम में विराधना नहीं हो। साथ ही वैयावृत्ति का तीव्र राग भी नहीं होना चाहिए, यह विशेष समझना।

जो मुनिराज स्वयं के शरीर के प्रति किसीप्रकार की पापप्रवृत्ति नहीं करते अथवा शिष्यादि से मोह भी नहीं करते उनके लिए वैयावृत्य, भक्ति आदि भावों में आरंभादि का पापभाव न करना ही शोभास्पद है।

● जो संसार-सावद्य के कार्यों में प्रवृत्ति करता है, किन्तु धर्म कार्यों में उत्साह नहीं बताता, वह दीर्घसंसारी है।

अन्य लोग पाप प्रवृत्ति करते हैं ह्व ऐसा मानकर जो गृहस्थ संसार में आरंभ-समारंभ करता है तथा स्वयं के अवस्था योग्य वैयावृत्य, भक्ति आदि धर्म कार्यों में आरंभ करने में पाप मानकर धर्मकार्य नहीं करता है, वह गृहस्थ ही नहीं है।

स्वयं के लड़के की शादी-विवाह हो तो खूब वैभव का प्रदर्शन करता है और भगवान की पूजा, भक्ति प्रसंग की बात आवे तो आरंभादि प्रवृत्ति से मना करता है। पूजा करने अथवा मंदिर बनाने में जीवों की हिंसा होती है, अतः हमें छहकाय के जीवों की हिंसा नहीं करना चाहिए ह्व ऐसा कहता है।

उससे ज्ञानी पूछते हैं कि पुत्र की शादी के समय पानी आदि का अपव्यय हुआ कि नहीं? रसोई में जीवों की हिंसा हुई कि नहीं? उससमय हिंसा का बहाना नहीं था और धर्म की बात आते ही हिंसा का बहाना बनाता है, इसका मतलब है उस जीव को धर्म से प्रेम ही नहीं है।

शादी-पार्टी में पाँच-पच्चीस हजार रुपये खर्च करता है और धर्म में स्वयं की ओर से पाँच सौ रुपये देता है तो बहुत दे दिया है ऐसा मानता है। स्वयं के लिए आलीशान मकान बनाता है और धर्मात्मा के लिए मकान बनाने की चर्चा होवे तो सामान्यसा मकान बनाने की कहता है। यह निरुत्साह/अरुचि का द्योतक है।

संसार के प्रत्येक कार्य के लिए समय निकालता है, किन्तु धर्म कार्य के लिए कहे तो इसके पास समय नहीं है वह ऐसे जीव को धर्म की रुचि नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि है। वह संसार की रुचिवाला दीर्घ संसारी जीव है। धर्मी जीव को धर्मप्रभावना के समय कषाय घटकर शुभराग आवे बिना नहीं रहता है।

जिन गृहस्थों को आत्मा का भान है, जिनकी अरागी दृष्टि है, उन्हें राग के होनेपर राग की कितनी प्रवृत्ति होती है, वह बताते हैं। राग से पर में कार्य होता है और राग न हो तो पर में कार्य नहीं होता यह मान्यता झूठी है।

● **भिन्न-भिन्न भूमिकाओं में यथार्थ ज्ञान बिना सामायिक नहीं होती है।**

भाई! रागी जीव वीतराग नहीं हुआ है। स्वभाव में ठहर नहीं सकता, अतः धर्मरूप राग कई दिशाओं में घूमता है, जिसे हमें जानना चाहिए। राग से धर्म होता है अथवा राग से पर में कुछ होता है वह ऐसी बात नहीं है; किन्तु प्रशस्त राग किसप्रकार का होता है और उससमय किसप्रकार की भूमिका होनी चाहिये; यह बात बताते हैं। यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान बिना सामायिक भी नहीं हो सकती। देह को बैठाता हूँ, वाणी को मौन रखता हूँ वह यह तो मिथ्याभाव है। जड़ की अवस्था जड़ के कारण होती है। आत्मा और शरीर भिन्न-भिन्न हैं वह ऐसा भान होने के पश्चात् राग हो तो किसप्रकार का होगा? वह भी जानना चाहिए।

यहाँ कोई कहे कि मुनि वैयावृत्ति आदि के कार्य के लिए तीव्र राग करते हैं, किन्तु यदि वे छह काय की विराधना करें तो उनमें मुनिपना नहीं रहता, अपितु वे गृहस्थ हो जाते हैं और दृष्टि में विपरीतता आवे तो

मिथ्यादृष्टि हो जाते हैं।

श्रावक हो तो अपने शरीर, कुटुम्ब आदि के लिए प्रवृत्ति करते हैं और रुपया खर्च करते हैं, परन्तु धर्म के प्रसंग में प्रभावना हो वैसा कार्य नहीं करते। छह काय के जीवों की हिंसा होगी वह ऐसा बहाना बनाते हैं। स्वयं कषाय का पोषण करते हैं, उन्हें सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता वे संसार की रुचिवाले जीव हैं।

जहाँ जहाँ जो जो योग्य है, वहाँ समझे वेह।

वहाँ वहाँ वह वह आचरें, आत्मार्थी जन तेह ॥

अतः जहाँ जो हो, जिसप्रकार से हो उसे जानकर राग को घटाकर आचरण करना चाहिए।

सम्यग्दर्शन होने के बाद साधु हुए जीव को राग बाकी है, उसका लक्ष्य कहाँ है? यहाँ उसका वर्णन है। सम्यग्दर्शन/सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हो तो साधुपना होता है, उसके बिना साधुपना नहीं होता।

श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक जिस साधु को राग वर्तता है वह दूसरे के लिए होता है वह ऐसा नहीं है; किन्तु जिन मुनियों को अपनी मर्यादा के उपरान्त राग आता है, उन्हें छहकाय के जीवों को कष्ट देने का भाव आवे तो वे मुनिपने से भ्रष्ट हो जाते हैं। गृहस्थ को अपने स्वभाव की महिमा भूलकर स्वभाव के साधक जीवों के प्रति शुभराग नहीं आवे और लौकिकजनों के प्रति तीव्रराग आवे तो उसे सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता।

अब आगामी गाथा में शुभोपयोगी के शुभराग की प्रवृत्ति दो प्रकार से होती है, वह दर्शाते हैं। आत्मा का भान है, मैं शुद्ध हूँ, जगत के समस्त पदार्थों का ज्ञाता हूँ और वे मेरे ज्ञेय हैं। मैं ज्ञाता-दृष्टा हूँ और वे मेरे दृश्य हैं। उनसे मुझे लाभ-नुकसान नहीं है वह ऐसा भान होने पर भी जो राग है, उसके दो विभाग है, उन्हें यहाँ बताते हैं। जो शुद्धात्मा आत्मपरिणति में लीन है, वह स्वयं के लिए उपकार करने योग्य है, यह बात मूल गाथा में है और जो पुण्य या निमित्त से लाभ मानते हैं उनके प्रति उपकार नहीं करना चाहिए, इस बात को नास्ति से टीका में बताया है। ●

प्रवचनसार गाथा २५१

अब, प्रवृत्ति के विषय के दो विभाग बतलाते हैं (अर्थात् अब यह बतलाते हैं कि शुभोपयोगियों को किसके प्रति उपकार की प्रवृत्ति करना योग्य है और किसके प्रति नहीं) :ह

जोणहाणं गिरवेक्खं सागारणगारचरियजुत्ताणं ।

अणुकंपयोवयारं कुव्वदु लेवो जदि वि अप्पो।।२५१।।

(हरिगीत)

दया से सेवा सदा जो श्रमण-श्रावकजनों की ।

करे वह भी अल्पलेपी कहा है जिनमार्ग में ।।२५१।।

अन्वयार्थ :ह [यद्यपि अल्पः लेपः] यद्यपि अल्प लेप होता है तथापि [साकारानाकारचर्यायुक्तानाम्] साकार-अनाकार चर्यायुक्त [जैानां] जैनों का [अनुकम्पया] अनुकम्पा से [निरपेक्षं] निरपेक्षतया [उपकारं करोतु] (शुभोपयोग से) उपकार करो ।

टीका :ह जो अनुकम्पापूर्वक परोपकारस्वरूप प्रवृत्ति उसके करने से यद्यपि अल्प लेप तो होता है, तथापि अनेकान्त के साथ मैत्री से जिनका चित्त प्रवृत्त हुआ है ऐसे शुद्ध जैनों के प्रति ह जो कि शुद्धात्मा के ज्ञान-दर्शन में प्रवर्तमान वृत्ति^१ के कारण साकार ह अनाकार^२ चर्यावाले हैं उनके प्रति ह शुद्धात्मा की उपलब्धि के अतिरिक्त अन्य सबकी अपेक्षा किये बिना ही, उस प्रवृत्ति के करने का निषेध नहीं है; किन्तु अल्प लेप वाली होने से सबके प्रति सभी प्रकार से वह प्रवृत्ति अनिषिद्ध हो ऐसा नहीं है, क्योंकि वहाँ (अर्थात् यदि सबके प्रति सभी प्रकार से की जाय तो) उस प्रकार की प्रवृत्ति से पर के और निज के शुद्धात्मपरिणति की रक्षा नहीं हो सकती ।

१. वृत्ति = परिणति; वर्तन; वर्तना वह ।

२. ज्ञान साकार है और दर्शन अनाकार है ।

भावार्थ :ह यद्यपि अनुकम्पापूर्वक परोपकारस्वरूप प्रवृत्ति से अल्प लेप तो होता है, तथापि यदि (१) शुद्धात्मा की ज्ञानदर्शनस्वरूप चर्यावाले शुद्ध जैनों के प्रति तथा (२) शुद्धात्मा की उपलब्धि की अपेक्षा से ही, वह प्रवृत्ति की जाती हो तो शुभोपयोगी के उसका निषेध नहीं है, परन्तु यद्यपि अनुकम्पापूर्वक परोपकारस्वरूप प्रवृत्ति से अल्प ही लेप होता है तथापि (१) शुद्धात्मा की ज्ञानदर्शनरूप चर्यावाले शुद्ध जैनों के अतिरिक्त दूसरों के प्रति तथा (२) शुद्धात्मा की उपलब्धि के अतिरिक्त अन्य किसी भी अपेक्षा से, वह प्रवृत्ति करने का शुभोपयोगी के निषेध है, क्योंकि इसप्रकार से पर को या निज को शुद्धात्मपरिणति की रक्षा नहीं होती ।

गाथा २५१ पर प्रवचन

● शुभोपयोगी को धर्मात्मा जीवों के प्रति निरपेक्षरूप से परोपकार प्रवृत्ति होती है ।

धर्मी जीव शुभविकल्पों में धर्म नहीं मानता, फिर भी यहाँ शुभराग की मर्यादा का वर्णन किया है । चैतन्यतत्त्व का श्रद्धान-ज्ञान होने पर धर्मी की दृष्टि में सूक्ष्मता आती है । इस सूक्ष्मतापूर्वक उसके अन्तर स्थिरता भी बढ़ी है ।

शुभराग के कारण पुण्यबंध होता है, किन्तु वह आत्मा की शांति को रोकता है तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अंतराय आदि पाप-प्रकृतियों का भी बंध कराता है । इसप्रकार शुभभाव से पाप व पुण्य दोनों का बंध होता है ।

साकार = ज्ञान, निराकार = दर्शन । जिसने ज्ञान-दर्शन में स्थिरता की है, वह जैन है । ज्ञान-दर्शन में रमणता करे वह जैन है । पुण्य-पाप की रमणता छोड़कर आत्मा की ज्ञाता-दृष्टारूप प्रतीति करें तो सम्यग्दर्शन होता है और उसमें रमणता से सम्यक्चारित्र होता है ।

आत्मा तो जानने-देखने वाला है । यद्यपि वह पर को जानता नहीं है; तथापि स्वयं को जानते हुए पर को भी जानता है । मैं पुण्य-पाप

अथवा अपूर्ण पर्यायरूप नहीं हूँ। मैं तो त्रिकाली ज्ञायक हूँ हूँ ऐसी प्रतीति ही सम्यग्दर्शन है। इसमें रमणता करनेवाला ही सच्चा जैन मुनि है। उपचार से सम्यग्दृष्टि गृहस्थों को भी जैन कहते हैं। शुभोपयोगी को शुभराग का अल्पबंधन है, तथापि ज्ञान-दर्शन में स्थिर जीव अनुकंपा आदि अन्य किसी प्रकार की अपेक्षा रखे बिना धर्मात्माओं का उपकार करते हैं। यथार्थ में तो कोई किसी का उपकार नहीं कर सकता, किन्तु रागवश शुभोपयोगी जीव का धर्मात्मा की ओर लक्ष जाता है। धर्मात्मा की शुद्ध अवस्था के काल में शुभोपयोगी का शुभभाव निमित्त होता है, अतः उपकार किया हूँ ऐसा कहा जाता है। यहाँ अन्य कोई अपेक्षा नहीं है।

शुभोपयोगी का लक्ष वहाँ धर्मात्मा जीव के हित के लिये जाता है। वह शुभराग भी ज्ञान-दर्शन में ही निमित्त होता है। धर्मात्मा जीवों के अतिरिक्त अन्य जीवों के प्रति उन्हें राग नहीं होता है।

● अनुकंपा अर्थात् परोपकार स्वरूप प्रवृत्ति हूँ

शुभोपयोगी जीव को आत्मा का भान है। वह जानता है कि हूँ एक जीव अन्य जीव का उपकार नहीं कर सकता, मेरे शुभराग से धर्मात्मा की शुद्धता का रक्षण नहीं होता; किन्तु जबतक स्वयं की स्वभाव में स्थिरता नहीं होती तबतक धर्मात्मा की स्वभाव में स्थिरता के लिए जो राग उत्पन्न होता है, वह निमित्त होने से अनुकम्पा पूर्वक परोपकार स्वरूप प्रवृत्ति कहलाती है।

यद्यपि शुभरागरूप प्रवृत्ति बंध का कारण है, तथापि जिसे स्वयं के शुद्धस्वभाव का प्रेम है, उसे शुद्ध आत्मा के साधक जीवों के प्रति भी शुभराग होता है। उसका यहाँ निषेध नहीं है।

यहाँ चरणानुयोग का कथन है, अतः शुभराग होने पर वह कितनी मर्यादा का होता है, उसका ज्ञान कराया है।

जैनी अनेकांतरूपी सुदर्शनचक्र से छह द्रव्यों को साधता है और एकांतमान्यता का नाश करता है।

अब, शुभराग की प्रवृत्ति किसके प्रति होती है? अनेकांत के साथ

मैत्री होने से जिसका चित्त पवित्र हो गया है हूँ ऐसे शुद्ध जैनी कैसे हैं? वह बताते हैं।

एक वस्तु में वस्तुपने को प्रदर्शित करनेवाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाश ही अनेकान्त है। अनेकान्त के साथ मैत्री करने से जिसका मन पवित्र हो गया है, वही जैनी है।

जिसप्रकार चक्रवर्ती राजा सुदर्शन चक्र के आधार से छह खण्ड को जीतता है, वहाँ कोई मध्य में आवे तो सुदर्शन-चक्र उसका मस्तक काट देता है, उसीप्रकार धर्मी जीव अनेकान्तरूपी सुदर्शन चक्र से छह द्रव्यों के यथार्थ वस्तुस्वरूप को साधता है। गुण-पर्यायपूर्वक उसका स्वरूप जानता है। जो विरुद्ध कथन करें उसको पराजित करता है, इसप्रकार एकांत मान्यता का नाश होता है।

● एकांत मिथ्यामान्यता का नाश करनेवाले अनेकांत का स्वरूप हूँ

एक वस्तु में वस्तुपने को सिद्ध करनेवाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाश ही अनेकांत है। विरोधी धर्म वस्तु का नाश नहीं करता; अपितु वस्तु की सिद्धि करता है।

- (१) मैं आत्मा ज्ञानस्वभावी हूँ, पर जीव और जड़-पदार्थरूप नहीं हूँ।
- (२) परपदार्थ एवं परजीव पर हैं, वे मेरे आत्मा में नहीं है।
- (३) परवस्तु मेरे साथ संयोगरूप है, वह मुझे लाभदायक या नुकसान-दायक नहीं है।
- (४) राग-द्वेष आदि अवस्था मेरे स्वयं के कारण है, कर्म अथवा पर पदार्थ के कारण नहीं।
- (५) राग-द्वेष आदि पर्याय स्व के दोष से होने पर भी त्रिकाली स्वभाव में नहीं हैं।
- (६) राग-द्वेष आदि विकार विकाररूप है, शुद्ध स्वभावरूप नहीं।
- (७) शुद्धस्वभाव शुद्धस्वभाव के कारण है, विकार के कारण नहीं।
- (८) ज्ञान की पर्याय ज्ञान के कारण है, राग के कारण नहीं।
- (९) एक समय की पर्याय एक समयवर्ती है, त्रिकालवर्ती नहीं।

- (१०) एक गुण त्रिकालरूप है, एक समय का नहीं।
 (११) एक गुण एक गुणरूप है, सम्पूर्ण द्रव्यरूप नहीं।
 (१२) एक गुण एक गुणरूप है, अन्य गुणरूप नहीं।
 (१३) द्रव्य-द्रव्यरूप है, एक गुणस्वरूप नहीं।
 (१४) द्रव्य-द्रव्यरूप है, एक पर्याय जितना नहीं।
 (१५) संसार एक समयवर्ती है, त्रिकाली शुद्धस्वभाव में नहीं।
 (१६) अल्पज्ञता अल्पज्ञतारूप है, सर्वज्ञतारूप नहीं।
 (१७) सर्वज्ञता सर्वज्ञता रूप है, अल्पज्ञतारूप नहीं।

इसप्रकार प्रत्येक वस्तु स्वयं से है और पर से नहीं है। वस्तु के दोनों ही धर्मों को समझे तो वस्तु पूर्ण होती है।

इसप्रकार अनेकांत स्वरूप के साथ मैत्री करने से जिसका मन पवित्र हो गया है वह ऐसे धर्मात्माओं के प्रति, वीतरागी संतों के प्रति शुभोपयोगी को शुभराग आता है।

● इन्द्रियाँ मूल वस्तु नहीं है, वह तो अनंत परमाणुओं की स्कंधरूप अवस्था है।

आत्मा 'स्व' से ज्ञान करता है, इन्द्रियों से ज्ञान नहीं करता वह यह अनेकांत है। इन्द्रियों से ज्ञान नहीं करता वह ऐसा कहना भी संयोगी कथन है; क्योंकि इन्द्रियाँ वास्तव में मूलद्रव्य नहीं हैं, इन्द्रियाँ तो पुद्गल स्कंध हैं। अनेक परमाणुओं के समूह को स्कंध कहते हैं, अतः मूल स्वरूप तो परमाणु है। इन्द्रियाँ वास्तव में कोई मूल वस्तु नहीं है। एक-एक परमाणु स्वतंत्र है। जब वह एक क्षेत्र अर्थात् स्कंधरूप में आती है तो इन्द्रिय नाम प्राप्त होता है।

इन्द्रियों का यथार्थ ज्ञान करने के इच्छुक जीव को परमाणुस्वरूप मूलद्रव्य का ज्ञान करना होगा।

इन्द्रियों का विचार करने पर स्कंध का विचार होता है, स्कंध का विचार करने पर अनेक परमाणुओं से युक्त पर्याय का विचार होता है। उन समस्त पर्यायों में एक पर्याय परमाणु की है। इस परमाणुस्वरूप मूलद्रव्य

का विचार करने पर वस्तुस्थिति समझ में आती है।

इसप्रकार जिसे पर्याय का यथार्थ ज्ञान है, उसे पर्यायवान का लक्ष करना होगा। वस्तु का कोई भी अंश हो अंशी के ज्ञान बिना अंश का ज्ञान सच्चा नहीं हो सकता। द्रव्य के ज्ञान बिना पर्याय का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। पर वस्तुओं का भी यथार्थ ज्ञान करने के लिए परमाणुओं का मूल स्वभाव जानना होगा। एक-एक परमाणु स्वतंत्र है। स्कंधरूप होने पर भी एक परमाणु अन्य परमाणु में अभावस्वरूप है। एक गुण अन्य गुण में अभावरूप है। एक पर्याय अन्य पर्याय के अभाव स्वभावरूप है, इस प्रकार परपदार्थों का ज्ञान करते हुए भी मूल द्रव्य पर दृष्टि करना चाहिए।

● परमाणु द्रव्य का ज्ञान करने का इच्छुक जीव आत्मा की ओर दृष्टि करता है।

परपदार्थरूप मूल द्रव्य यही है वह इसका यथार्थ निर्णय कौन करेगा? इन्द्रियाँ स्कंधरूप हैं, अनंत परमाणु भिन्न-भिन्न हैं। परमाणु द्रव्य है या पर्याय है अथवा कोई अंश किस अंशी का है वह यह निश्चय कैसे होगा?

परमाणु का ज्ञान है; किन्तु परमाणु क्या है? यह ज्ञात नहीं है। इन्द्रिय, स्कंध का ज्ञान तो आत्मा करता है। वास्तव में ज्ञान को परमाणु का ही लक्ष करना चाहिये, तभी यथार्थता आ सकती है। ज्ञान को स्व की ओर झुकाकर स्व का स्वरूप निर्णित करना होगा।

● आत्मा स्व-पर प्रकाशक है वह ऐसा यथार्थ निर्णय होने पर ज्ञान में परपदार्थों का यथावत ज्ञान होता है।

'स्व' स्व के कारण है, इन्द्रियों के कारण नहीं। परलक्ष से शुभाशुभभाव होते हैं, वे विकृत और एक समय के हैं। वे मेरा स्वरूप नहीं है वह ऐसा यह जीव अनेकान्त द्वारा जानता है। पर्याय में जो जाननपना होता है, वह इन्द्रियाँ, परवस्तु या विकार के कारण नहीं होता; अपितु स्वयं की ज्ञानपर्याय के कारण होता है।

वह ज्ञानपर्याय किसकी है? कहाँ से आती है? किसका अंश है? इसका विचार करने पर निश्चित रूप से द्रव्य की ओर ही दृष्टि जाती है।

आत्म द्रव्य ज्ञान का भण्डार है, वह निम्नप्रकार से जाना जाता है।

- (१) जो द्रव्य का यथार्थ ज्ञान करता है, वह जीव अपनी पर्याय का यथार्थ ज्ञान करता है।
- (२) स्व के स्व-पर प्रकाशक ज्ञान स्वभाव का निर्णय होने पर स्व को जानते हुए पर को भी जाना जाता है।
- (३) जिन्होंने स्व में द्रव्यदृष्टि की है, वे जीव समस्त पदार्थों को द्रव्यदृष्टि से अर्थात् मूलस्वरूप से जानते हैं।
- (४) जो इन्द्रियाँ हैं, उसमें मूलवस्तु तो परमाणु है। जैसे परमाणु की अवस्था स्कन्धरूप होकर विशिष्ट प्रकार के संयोगरूप होने पर उसे इन्द्रिय कहते हैं वह ऐसा व्यवहार है।
छद्मस्थ जीव भले ही परमाणुओं को प्रत्यक्ष नहीं जानता है, किन्तु परोक्ष रीति से परमाणु (द्रव्य) का निर्णय कर सकता है।
- (५) द्रव्यदृष्टि से देखने पर इन्द्रियाँ मूल वस्तु नहीं हैं। अनंत परमाणु एक दूसरे में अभावस्वरूप स्कन्धरूप विशिष्टाकार में रहते हैं। जब इन्द्रियाँ कोई मूल वस्तु ही नहीं हैं, तो फिर आत्मा को इन्द्रियों से ज्ञान होता है यह मानना स्थूल भूल है। जो जीव द्रव्यदृष्टिपूर्वक समस्त पदार्थों को देखकर संयोगादि का ज्ञान करते हैं, उन्हें अन्तर में निश्चय प्रगट होता है, तब उपचार से व्यवहार का आरोप आता है।

● पर्यायदृष्टि राग और द्रव्यदृष्टि वीतरागता का कारण है।

अज्ञानी जीव परपदार्थों के संयोग की ओर झुकता है। जिस जीव को पर्यायदृष्टि है, वह स्वयं और अन्य को पर्याय से ही जानता है वह ऐसे जीव को राग-द्वेष-मोह अवश्य होते हैं। जो स्वभावदृष्टिवाला पर तथा स्व के मूल स्वभाव पर दृष्टि रखता है, उसे पर्यायों में फेरफार होने पर भी राग-द्वेष नहीं होता। मैं ज्ञानमात्र हूँ वह इसप्रकार परद्रव्य से लक्ष हटकर उसे द्रव्यदृष्टि होती है। सच्चा श्रद्धान-ज्ञान होता है और स्थिरता बढ़ने पर वीतरागता भी होती है।

● सूक्ष्म पदार्थ (द्रव्य) के ज्ञान बिना स्थूल स्कंध (पर्याय) का ज्ञान मिथ्या है।

कोई कहता है 'यह घोड़ा है' और कोई कहता है 'यह घोड़े जैसा दिखता है'? यहाँ घोड़ा मूल वस्तु नहीं है। घोड़े की आत्मा और शरीर दोनों भिन्न-भिन्न हैं। घोड़े के शरीर की बात लेवें तो आँख, कान इत्यादि से मिलकर स्कन्धरूप शरीराकार को घोड़ा कहा है। जो स्कन्ध है, वह भी मूल वस्तुस्वरूप नहीं है। स्कन्ध भी अनेक परमाणुओं को बताता है।

(१) मूलद्रव्य के ज्ञान बिना पर्याय का ज्ञान सच्चा नहीं है।

(२) एक पर्याय के सच्चे ज्ञान बिना पर्याय और स्कन्ध का सच्चा ज्ञान नहीं हो सकता है।

(३) स्कन्धों के सच्चे ज्ञान बिना 'यह घोड़ा है' ऐसा अज्ञानी कहे तो उसका तत्सम्बन्धी ज्ञान मिथ्या है।

ऐसे ज्ञानपूर्वक अज्ञानी जीव घोड़े को घोड़ा कहे या जाने तो भी उसे घोड़े का यथार्थ ज्ञान नहीं है; क्योंकि मूल वस्तु घोड़ा नहीं है, मूल वस्तु तो परमाणु है; अतः मूलद्रव्य को खोजना चाहिए।

केवल पर्याय को जानने से ज्ञान सच्चा नहीं होता, उसके मूल स्वभावी द्रव्य को भी जानना पड़ेगा। अज्ञानी तो स्थूल पदार्थ को ही जानता है। स्थूल तो अनंत परमाणुओं का स्कन्ध है। उसमें एक परमाणु अन्य परमाणुरूप नहीं है, एक गुण अन्य गुणरूप नहीं है, एक पर्याय अन्य पर्यायरूप नहीं है। इसप्रकार अनेकान्त को जानते हुए मूल द्रव्य का ज्ञान करना चाहिए। सूक्ष्म का ज्ञान किये बिना स्थूल का ज्ञान भी सच्चा नहीं होता।

● सूक्ष्म आत्मा का ज्ञान होने पर अन्य द्रव्यों का भी यथार्थ ज्ञान होता है।

सूक्ष्म से क्या तात्पर्य है? आत्मा परमाणु को जाननेवाला है। मेरा आत्मा विकार, निमित्त अथवा अंशस्वरूप नहीं है। मैं त्रिकाली शुद्ध हूँ वह ऐसी स्व दृष्टि करने पर स्व-पर प्रकाशक ज्ञान खिल उठता है और पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होता है।

एक पर्याय का अन्य पर्याय में अभाव है। जो पर्याय द्रव्य में से आती है, वह इन्द्रियों को इन्द्रियरूप न जानकर एक-एक परमाणु को परमाणुरूप जानती है।

प्रत्येक जीव निश्चय से स्व को जानता है। स्व को जानते हुए पर द्रव्यों को भी जानता है और पर द्रव्यों को जानते हुए स्कन्ध आदि का ज्ञान व्यवहार से जैसे का तैसा करता है।

स्व की सच्ची दृष्टि होने पर स्व-पर प्रकाशक ज्ञान खिल गया है। मैं और परद्रव्य दोनों भिन्न-भिन्न ही हैं यथा ह

(१) अग्नि है इसलिये आत्मा का ज्ञान नहीं होता।

(२) अग्नि के कारण ज्ञान नहीं होता।

(३) अग्नि के अभाव एवं ज्ञान के सद्भाव से ज्ञान नहीं हुआ है।

परवस्तु का परवस्तु में सद्भाव है। स्व में पर का अभाव है, अतः प्रत्येक ज्ञेय के अभाव से और आत्मा के सद्भाव से ज्ञान होता है।

प्रश्न हूँ ऐसा कहेंगे तो पर का अस्तित्व नष्ट हो जाएगा?

समाधान हूँ 'स्व' का निश्चय करनेवाला जीव ही परपदार्थ को पररूप जानता है।

पर का अस्तित्व आत्मा से सदा के लिए निकल गया है। आजतक बाह्य पदार्थों का अस्तित्व आत्मा में कभी आया ही नहीं था, अतः उसे निकालने का काम ही नहीं है। पर का अस्तित्व पर में है। पर वस्तु का द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव स्व के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अभावरूप ही वर्तता है। पर का अभाव और स्व का सद्भाव ऐसा निश्चित करें तो स्व स्व के कारण है और पर पर के कारण है।

मेरी ज्ञान पर्याय पर के कारण स्थिर नहीं है हूँ ऐसा ज्ञान करने पर ही परद्रव्य का सच्चा ज्ञान होता है। पर द्रव्य मेरे कारण नहीं है, मेरा ज्ञान मुझसे है और परद्रव्य पर से है हूँ ऐसा व्यवहार से ज्ञान करना चाहिए।

यहाँ पर के अस्तित्व की सिद्धि करना है। स्व को जाने बिना पर

पररूप है, इसका निश्चय कैसे होगा? स्व को निश्चित करने वाला जीव ही पर का अस्तित्व पर में है हूँ ऐसा यथार्थ स्वीकार करता है।

प्रश्न हूँ यह सब पिष्टपेषण जैसा लगता है?

समाधान हूँ ज्ञान स्वभाव की दृढ़ता करना पिष्टपेषण नहीं है, अपितु समय-समय की निर्मलता बढ़ाना है। यह तो अनेकांत के साथ मैत्री है। एक समय की ज्ञान पर्याय अगले समय में विशेष निर्मलता पाती है। सूक्ष्मता विशेष है; अतः बात को यथावत समझ लेना चाहिए, फिर भी अरूचि दिखाई देवे तो समझना कि वह जीव बाधकदशा में पड़ा है। चैतन्य स्वभाव के आश्रय से एक के बाद एक पर्याय में शुद्धता बढ़ती जाती है। जिसने ज्ञान-दर्शन को स्वपने स्वीकार किया है, उसकी निर्मलता बढ़ती है।

पूर्व की पर्याय में आगे की पर्याय नहीं है, आगे की होनेवाली प्रत्येक पर्याय नवीन है सत्स्वरूप है। वास्तव में स्वयं की पर्याय को पर्यायवान के साथ जोड़े बिना उसका बाधकपना टलता नहीं है; अतः जीव को पिष्टपेषण जैसा लगता है, किन्तु वह पिष्टपेषण नहीं है।

● क्षायिक सम्यक्त्वी को प्रत्येक नवीन पर्याय में स्थिरता की अपेक्षा से अपूर्वता हैं और वह उसे केवलज्ञान के नजदीक ले जाती है।

निर्मलता का एक अंश प्रगट हुआ तो प्रतिसमय निर्मलता बढ़कर द्रव्य के साथ एकाकार होती है। अंश अंशी का ही है यह निश्चित करनेवाले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की वर्तमान पर्याय के पश्चात् प्रगट निर्मलता और अधिक विशेष होती है, वह जीव को केवलज्ञान के निकट ले जाती है। मोक्षदशा होने पर अंश-अंशी सर्वथा एकरूप होकर पूर्ण व्यक्त दशा प्रगट होती है।

केवलज्ञान प्रगट होने के पश्चात् सादि-अनंत काल तक शुद्ध आनन्द-ज्ञान व अनुभव की एक-एक पर्याय होती है। एक समयवर्ती केवलज्ञान की पर्याय अन्य समय की नहीं है। केवलज्ञान की प्रत्येक पर्याय में काल भेद की अपेक्षा अपूर्वता है।

● अंशी का ज्ञान करनेवाले को अंश का सच्चा ज्ञान है ।

किसी किताब का एक पन्ना पढ़ने के लिए सम्पूर्ण किताब को देखना पड़ता है, उसीप्रकार शरीर, कर्म, इन्द्रिय यह सब एकसाथ ही हैं; तथापि कर्म, कर्म के कारण है, अन्य के कारण नहीं । कर्म की प्रत्येक पर्याय स्व-स्वरूप है, अन्यरूप नहीं । मूल अवस्था तो परमाणु द्रव्य की है । इसीप्रकार शरीर इन्द्रिय आदि पर भी घटाना चाहिए ।

अंशी के ज्ञान बिना अंश का ज्ञान सच्चा नहीं हो सकता । शरीर, कर्म और परमाणु की अवस्था आत्मा के लिए नहीं है । वह मूल द्रव्य के लिए है । इसप्रकार पर का अंश परद्रव्य के लिए है - यह निश्चित हुआ ।

पर पदार्थ की पर्याय पर के लिए है । पर की पर्याय मेरे ज्ञान पर्याय में हो हूँ ऐसा नहीं है । स्वयं को जानने के पश्चात् परपदार्थ भी जानने में आते हैं; अतः वर्तमान व्यक्त ज्ञानपर्याय मेरे स्वयं की है ।

आत्मा ज्ञानस्वभावी है । निमित्त, राग अथवा अपूर्ण पर्यायरूप नहीं है । मेरा स्वभाव तो अनंत ज्ञान का घनपिण्ड है हूँ इसप्रकार द्रव्य को निश्चित करनेवाली पर्याय का यहाँ यथार्थ ज्ञान कराया है हूँ ऐसे ज्ञानपूर्वक परद्रव्य तथा अंश एवं स्कंध का यथार्थ ज्ञान व्यवहार से होता है ।

● अनेकान्त को यथार्थ जानने पर पर्यायदृष्टि नष्ट होती है और द्रव्यदृष्टि पूर्वक वीतरागता आती है ।

जिसने अनेकांत स्वरूप को जाना है उसका चित्त पवित्र हुआ है । अनेकांतस्वरूप आत्मा को जाने और पवित्रता न आवे ऐसा नहीं हो सकता ।

(१) मैं स्वयं से हूँ; अनंत परपदार्थरूप नहीं हूँ । मेरा राग मेरे कारण है; कर्म आदि पर के कारण नहीं है हूँ ऐसा निश्चित करने पर 'राग पर से होता है' - ऐसी निमित्ताधीन बुद्धि का नाश हो जाता है । अनंत परपदार्थों के प्रति वर्तनेवाली पर्यायदृष्टि का नाश होता है ।

(२) वर्तमान राग राग के कारण है, स्वभाव के कारण नहीं हूँ ऐसा

निश्चित होने पर राग से धर्म माननेवाली मिथ्याबुद्धि अथवा मैं 'रागरूप हूँ' हूँ ऐसी बुद्धि का नाश होकर अविकारी स्वभाव की प्राप्ति होती है ।

(३) वर्तमान ज्ञानपर्याय स्व के कारण है; पर के कारण नहीं हूँ ऐसी मान्यता होने पर ज्ञान की पराधीनता नष्ट होकर स्वभाव की ओर दृष्टि होती है । देव-शास्त्र-गुरु की ओर भी दृष्टि नहीं करनी पड़ती ।

(४) वर्तमान ज्ञानांश व्यक्त दिखाई देता है, वह स्वयं के कारण है, पर के कारण नहीं । प्रत्येक पर्याय एक के बाद एक होती है, वह पूर्वपर्याय के कारण नहीं होती, पर्याय में से पर्याय नहीं होती, अतः पर्याय का आधार पर्यायवान द्रव्य है । इसप्रकार द्रव्य की ओर दृष्टि होने से पर्यायबुद्धि का नाश होता है ।

अनेकांत को निश्चित करनेवाली दृष्टि अनंत परपदार्थों, शुभाशुभ-भावों तथा व्यक्त ज्ञान की अपूर्ण पर्याय से हटकर अनंत गुणों के पिण्डस्वरूप द्रव्य पर स्थिर होती है । इससे मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषाय का अभाव होता है । आत्मस्थिरता बढ़ती है और मोक्षदशा की प्राप्ति होती है ।

● जैन कौन है?

जो मिथ्यात्व-राग-द्वेष-मोह को जीते, वह जैन है । जैन कोई सम्प्रदाय नहीं है । यह तो वस्तुदर्शन है । मिथ्यात्व और राग-द्वेष को जीतनेवाला ही जैन है । विकार पर के कारण होता है; किन्तु स्वयं की कमजोरी ही उसमें प्रबल कारण है । यदि आत्मा में विकार हो तो स्वभाव में भी विकार हो जाए, किन्तु विकार त्रिकाली स्वभाव में नहीं है ।

जो सच्चा श्रद्धान-ज्ञान करके विकार को जीतता है, उसे अविकारी दशा प्रगट होती है और वह कायमस्वरूपी रहता है ।

निर्मलता का उत्पन्न होना अस्तिस्वरूप है और मलिनता का नाश होना यह नास्ति से बात है । इसप्रकार अस्ति-नास्ति का स्वरूप यथार्थ समझकर विकार का नाश करके अविकारी दशा प्रगट करे; वह जैन है ।

जैन शब्द में ही जीतने की अपेक्षा निहीत है । अज्ञान राग-द्वेष को

जीते वह जैन है। जीतने में विकार को टालने की अपेक्षा है; अतः यह सापेक्ष कथन है।

प्रश्न ह्व राग को किसप्रकार जीतना चाहिये?

उत्तर ह्व पूर्व रागपर्याय का व्यय हो गया, अतः उसे जीतना नहीं है। भविष्य की रागपर्याय उत्पन्न नहीं हुई है, अतः उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है। त्रिकालवर्ती राग को जीतने की दृष्टि भी नहीं करना है, स्वयं के ज्ञान स्वभाव में श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता करने से राग उत्पन्न ही नहीं होगा, तब राग को जीत लिया ह्व ऐसा कहा जाता है।

● अनेकांत के साथ मैत्री करनेवाले को शुद्ध द्रव्य तथा केवलज्ञान की प्रतीति होती है

अनेकांत के साथ मैत्री रखनेवाले जीव की परद्रव्य, विकार तथा वर्तमानगत हीन पर्यायों से दृष्टि हट गई है। उसने यह निश्चित किया है कि ज्ञान-दर्शन की जो हीन पर्याय दिखाई देती है, वह परपदार्थों के आश्रय के कारण है, इसलिये परपदार्थों का सर्वथा आश्रय छोड़कर द्रव्य का आश्रय करें तो अपूर्णता नहीं रहेगी और पूर्णदशा प्रगट होगी।

अनेकांत के साथ मैत्री करनेवाले द्रव्य की प्रतीति करने पर केवलज्ञान की भी स्वतः प्रतीति होती है। यद्यपि उस जीव को समस्त पदार्थों का प्रत्यक्ष अवलोकन नहीं है; किन्तु अव्यक्तरूप से पदार्थों का भावभासन अवश्य होता है।

- (१) अनंत ज्ञेयपदार्थ मुझमें अभावरूप हैं और स्व में सद्भावरूप हैं।
- (२) मेरा स्व-पर प्रकाशक स्वभाव मेरे कारण है; पर के कारण नहीं।
- (३) पर ज्ञेय मुझमें मेरे कारण जानने में आते हैं; पर के कारण नहीं।
- (४) पर का मुझमें अभाव है, किन्तु उनमें स्वयं का सद्भाव है।
- (५) पर का मुझमें अभाव होने पर भी मुझे पर का ज्ञान मेरे स्वयं के कारण होता है; क्योंकि मेरा ज्ञान स्व-पर प्रकाशक है।

इसप्रकार जिसने वस्तु का स्वरूप निश्चित किया है, उसे द्रव्य और

केवलज्ञान की प्रतीति होती है। पश्चात् विशेष पुरुषार्थपूर्वक वह केवलज्ञान और मोक्षदशा को पाता है।

● स्वभाव की सूक्ष्मता के भानपूर्वक ही अनेकांत का यथार्थ ज्ञान होता है।

प्रथमतः अनेकांत स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होना चाहिए। उसके यथार्थ ज्ञान बिना सच्ची समझ नहीं हो सकती। वाणी को समझनेवाला निर्णय करता है कि वाणी से मुझे सच्चा ज्ञान नहीं होता। वाणी और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं; अतः मेरा ज्ञान मेरे स्वयं के कारण है। वाणी मूलवस्तु नहीं है। अनंत पुद्गल परमाणु भिन्न-भिन्न हैं। अनेकान्ततत्त्व एक-एक वस्तु की पृथकता सिद्ध करता है। एक पर्याय का अन्य पर्याय में अभाव है। स्कन्धरूप वाणी आदि सब संयोग है। परमाणु उपादान असंयोगी तत्त्व है, उसे लक्ष में लेवें तो परपदार्थ की सूक्ष्मता का ज्ञान स्व की सूक्ष्मता से होता है। पर की सूक्ष्मता का यथार्थ ज्ञान होवे तो पुद्गल परमाणु, सूक्ष्म-स्थूल स्कंध, शरीर, कर्म और इन्द्रिय इन सब का भी यथार्थ ज्ञान होता है।

● ज्ञान की पर्याय स्व से है, पर से नहीं ह्व ऐसा निश्चित करने पर द्रव्यदृष्टि होती है।

आत्मदर्शन या वस्तुदर्शन एक ही बात है। एक ज्ञान पर्याय कहते ही अनंत परद्रव्य, उसके गुण तथा पर्यायों का अभाव हो जाता है।

ज्ञान पर्याय कहते ही राग की पर्याय तथा पूर्व एवं भविष्य की ज्ञानपर्याय ग्रहण नहीं होती। विशेष विशेष के कारण है, सामान्य के कारण नहीं और सामान्य, सामान्य के कारण है, विशेष के कारण नहीं। यदि विशेष सामान्य के लिये हो तो विशेष और सामान्य एक हो जाए; किन्तु ऐसा नहीं होता।

इसप्रकार कथंचित अपेक्षा समझकर निश्चित करने वाली दृष्टि परपदार्थ, गुणभेद, पूर्वपर्याय तथा सामान्य और विशेष के भेद से हट जाती है और स्वभाव की ओर ढल जाती है।

केवलज्ञान की एक पर्याय ग्रहण करते ही अन्य द्रव्य, अन्य गुण, पूर्व पर्याय अथवा भविष्य की पर्याय हूँ इन सभी का अभाव हो जाता है। आत्मा एक ही है। अन्य का आत्मा में अभाव है, किन्तु उसका स्वयं में सद्भाव है हूँ ऐसी सच्ची समझ करनेवाले को द्रव्यदृष्टि होती है। यह द्रव्यदृष्टि ही सम्यग्दर्शन और वीतरागता का कारण है।

● **समझना-समझाना आदि क्रियाओं का आग्रह संसार के लिए है।**

अज्ञानी जीवों को वस्तुस्वरूप के ख्याल बिना सच्चा माहात्म्य समझ में नहीं आता; अतः वे समस्त क्रियाएँ विपरीत ही करते हैं। उन्होंने वस्तुस्वरूप को समझा ही नहीं है।

प्रतिक्रमण आदि का भाव तो शुभराग है। इस शुभराग को टालकर शुक्लध्यानपूर्वक केवलज्ञान की प्राप्ति करना है। शुक्लध्यान और वीतरागता के बिना शुभराग लाभ का कारण नहीं है। अज्ञानी को सच्चा प्रतिक्रमण भी नहीं हो सकता।

राग रहे तो लाभ नहीं होगा और राग टले तो लाभ होगा इत्यादि अनेक प्रकार से अनेकान्त का स्वरूप कहा गया है। इस अनेकान्त स्वरूप को स्व में उतारकर अपने में पवित्रता अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य प्रगट करना चाहिए।

इसप्रकार शुद्ध जैनी अर्थात् मुनियों के प्रति शुभोपयोगी जीव को वैयावृत्ति आदि का शुभराग होता है, किन्तु अन्य के लिए नहीं होता।

● **भगवान की दिव्यध्वनि में आया हुआ अपूर्व अनेकांत का स्वरूप हूँ**

आत्मा की पूर्णदशा को साधनेवाले साधु हैं, जब मुनिराज स्वयं स्वरूप में स्थिर नहीं रह सकते, तब उन्हें शुभराग आता है। अन्य धर्मात्माओं के प्रति अनुकम्पापूर्वक वात्सल्यभाव होता है। शुभराग उनके लिए अल्प राग के समान है, फिर भी अनेकांत के साथ मैत्री से जिनका चित्त परमपवित्र हो गया है हूँ ऐसे शुद्ध जैनियों के प्रति शुभोपयोगी जीवों को शुभराग आता है।

● **अब, अनेकान्त का स्वरूप भगवान की दिव्यध्वनि में किसप्रकार आया है, वह कहते हैं।**

जगत की कोई भी वस्तु हो, वह स्व से है और पर से नहीं है। मैं आत्मा अन्य वस्तुरूप नहीं हूँ हूँ ऐसे वस्तु के स्वरूप को जाननेवाला जीव जैन है। जो वस्तु के स्वरूप को नहीं माने वह जैन ही नहीं है।

‘आत्मा है’ ऐसा कहकर पश्चात् उसे ईश्वर ने बनाया हूँ ऐसा भी कहे तो विरोध आता है। किसी ने बनाया हूँ ऐसा कहे तो अस्तिपने का निषेध होता है; अतः आत्मा का कोई कर्ता नहीं है।

- (१) तीनों काल आत्मा स्व से है, पर से नहीं।
- (२) वर्तमान पर्याय स्व से है, अन्य के कारण नहीं।
- (३) मेरी राग पर्याय मेरी कमजोरी के कारण है; अन्य के कारण नहीं।
- (४) मैं त्रिकाली हूँ; वर्तमान राग जितना नहीं हूँ।
- (५) ज्ञान-चैतन्य के आश्रय से धर्म होता है; वर्तमान पुण्य-पाप के आश्रय से धर्म नहीं होता।
- (६) धर्म स्व से है; राग अथवा पर के कारण नहीं।
- (७) राग, राग के कारण है; शुद्धस्वभाव के कारण नहीं।
- (८) धर्म स्वयं के पुरुषार्थ से है; गुरुकृपा से नहीं।
- (९) निर्मलदशा ही धर्म है, वह स्वभाव के आश्रय से प्रगट होती है।
- (१०) पर आत्मा और पर शरीर अपने स्वयं के कारण है; मेरे कारण नहीं।
- (११) शरीर, शरीर के कारण है, मेरे राग अथवा निमित्त के कारण नहीं।
- (१२) शरीर, शरीर के कारण चलता है; मेरे ज्ञान के कारण नहीं।

इसप्रकार शरीर और आत्मा भिन्न वस्तु है। अच्छी तरह ध्यान रखने से शरीर बना रहता है, यह बात झूठी है। वस्तु के गुण, पर्याय अथवा निर्मल वा विकारी स्व में होनेवाली समस्त पर्यायें स्वयं के कारण हैं, पर के कारण नहीं। यही अनेकान्त की सिद्धि है।

प्रत्येक द्रव्य का अस्तित्व स्व से है; किन्तु उसे पर से माने तो स्वपना नहीं रहता है।

- (१) प्रत्येक द्रव्य स्वयं के कारण है; पर द्रव्य के कारण नहीं।
- (२) प्रत्येक द्रव्य स्वयं के स्वक्षेत्र से है; परक्षेत्र के कारण नहीं।
- (३) प्रत्येक द्रव्य स्वयं के स्वकाल से है; परकाल के कारण नहीं।
- (४) प्रत्येक द्रव्य स्वयं के स्वभाव से है; परभाव के कारण नहीं।
- (५) शांति अथवा धर्म स्व के कारण है; संयोग के कारण नहीं।
- (६) धर्म स्वयं के कारण है; देव-गुरु-शास्त्र अथवा राग के कारण नहीं।
- (७) राग-राग के कारण है; धर्म की पर्याय के कारण नहीं।
- (८) वस्तु का एक-एक परमाणु स्वयं के कारण है; अन्य के कारण नहीं।

स्वपदार्थ, परद्रव्य-गुण-पर्यायों से नहीं है ह्व ऐसा निश्चित करते ही अनन्त परपदार्थों से दृष्टि हट जाती है। जड़ की पर्याय जड़ के कारण और मेरी पर्याय मेरे कारण है ह्व ऐसा निश्चित करते ही पवित्रदशा प्राप्त हुए बिना नहीं रहती।

जिसप्रकार स्कन्ध में परमाणु की विभाव अवस्था हुई है, उसमें कोई अन्य परमाणु निमित्त है, इसलिये हुई ह्व ऐसा नहीं है; अपितु स्व की योग्यता से हुई है; उसीप्रकार राग, राग के कारण है; कर्म के कारण नहीं।

● अनेकान्त धर्म को निश्चित करनेवाला जीव पर की ओर से हटकर स्व की ओर बुद्धि करता है।

अनेकान्त की धारणा करना मात्र कार्यकारी नहीं है। मैं स्वरूप से हूँ और पररूप से नहीं हूँ ह्व ऐसा परिणमन होना ही शुद्धता है। मध्यस्वरूप से विचार करने पर वस्तु का कोई कर्ता हो, यह बात नष्ट हो जाती है। तीनों काल प्रत्येक द्रव्य स्व से है और पर से नहीं है। स्व में परिपूर्ण निर्मलता प्रगट होने के पश्चात् अवतार धारण करके संसार में आवे ह्व ऐसा नहीं होता।

एक बार विकारी भाव का सर्वथा नाश होनेपर अन्य पदार्थों का क्या होगा? ऐसा विचार नहीं रहता। यही अनेकान्त स्वरूप है।

● अनेकान्त का रहस्य जानकर जो ज्ञान और क्रिया की मैत्री साधता है, वही जैन है।

अनेकान्त का रहस्य जानकर स्व में परिणमन करना चाहिए। ज्ञान

की पर्याय ज्ञान के कारण है, राग के कारण नहीं। श्रद्धा की पर्याय श्रद्धा के कारण है। परपदार्थ के कारण नहीं। वीतरागता की पर्याय वीतरागता के कारण है, राग के कारण नहीं है ह्व ऐसा निश्चित करके अपनी आत्मा को पर तथा विकार से भिन्न करके अन्तर परिणमन करें तो सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। इसी समय क्रिया और ज्ञान की मैत्री भी सिद्ध होती है।

स्वयं स्वयं के कारण है, पर के कारण नहीं। मैं स्वयं ज्ञानस्वरूप हूँ, विकारस्वरूप नहीं ह्व ऐसा ज्ञान और अन्तर परिणमन करते ही अनन्त पदार्थों के कर्तृत्वपने का अहंकार भाव नष्ट हो जाता है। आंशिक वीतरागता प्रगट होती है। इसप्रकार ज्ञान और क्रिया की मैत्री सिद्ध होती है, यही अनेकान्त है। बाह्यक्रिया को आत्मा नहीं कर सकता। पुण्य-पाप आदि भी आत्मा की क्रिया नहीं है। रागरहित अंतर परिणमन ही ज्ञानी की क्रिया है। इसप्रकार अनेकान्त का रहस्य जानकर ज्ञान और क्रिया की मैत्री साधनेवाला ही जैन है।

● प्रत्येक वस्तु स्वयं की स्वतंत्रता को व्यक्त करती है।

वर्तमान भाव स्वयं के कारण हुआ ह्व ऐसा निश्चित होने पर निमित्त की आवश्यकता ही नहीं रहती। यह जीव वर्तमान में अपने स्वयं के अपराध के कारण राग करता है, परद्रव्य के कारण राग नहीं करता। त्रिकाली द्रव्य, गुण, आकार तथा अर्थपर्याय स्वयं के कारण है; पर के कारण नहीं।

चाकू का संयोग होने पर ऊँगली कट जाती है, किन्तु ऊँगली ऊँगली के कारण से कटी है; चाकू के कारण नहीं और चाकू, चाकू के कारण है, ऊँगली के कारण नहीं। चाकू ने ऊँगली को काटा ही नहीं है। चाकू स्वयं अपना कार्य करता है और ऊँगली ऊँगली के अर्थस्वरूप अपना कार्य करती है। ऊँगली का कटना उसके अपने सद्भाव से हुआ है; पर के कारण नहीं। इसीप्रकार पर का आग्रह छूटते ही परसम्मुख दृष्टि भी छूट जाती है। मेरा धर्म मेरे स्वयं में है; पर में नहीं है ह्व ऐसी अनेकान्तदृष्टि होती है। प्रत्येक वस्तु की स्वयं स्वतंत्रता प्रदर्शित होती है।

● यह अद्भुत अनेकान्त स्वरूप वीतरागदर्शन के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं है।

‘मैं हूँ’, ‘मेरा कोई कर्ता है’ परद्रव्य के कारण मुझे ऐसा भाव हुआ अथवा राग के कारण पैसा आया इत्यादि सब अज्ञानी की मान्यता है। पैसा पैसे के कारण आता है; रागी के राग के कारण नहीं। ज्ञान पर्याय स्व के कारण दृष्टिगत होती है; वाणी के कारण नहीं। वाणी, वाणी के कारण है; जीव के कारण नहीं। एक परिवार में अनेक लोग रहते हैं; किन्तु कोई किसी के लिए नहीं है। एक के कारण दूसरे का कुछ होता हो तो एक को कुछ कहने पर सबको मानना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। प्रत्येक जीव स्व के कारण है, पर के कारण नहीं।

घड़े का आकार मिट्टी के कारण हुआ है, कुम्हार के कारण नहीं। कोई कहे की पूर्व में यह आकार नहीं था, तब उससे कहते हैं कि पूर्व का आकार भी उसके स्वयं के कारण था; पर के कारण नहीं। अन्य आकार भी स्व के कारण हुआ; पर के कारण नहीं। एक गुण सम्पूर्ण द्रव्य रूप नहीं है और एक वस्तु एक गुण में नहीं आ सकती। सामान्यपना अपने स्वयं के कारण है, विशेष के कारण नहीं – यही वस्तु का स्वरूप है। यह अद्भुत अनेकान्त का स्वरूप वीतरागदर्शन के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं है।

प्रश्न हूँ घर में कोई बात नहीं माने तो क्या करें?

उत्तर हूँ तुम्हारे प्रश्न में ही तुम्हारा जवाब सम्मिलित है। पुत्र स्वयं अपने मन की बात मानता है, लेकिन तुम्हारी बात नहीं मानता। तुम अपनी स्वयं की बात मानते हो, पुत्र की बात नहीं मानते। व्यवहार के जो समस्त संयोग हैं, वे ज्ञान मात्र करने के लिए हैं।

मेरा भाव पर में नहीं है, पर के लिए नहीं है। ज्ञान विशेष करें तो वाणी का विस्तार होता है और वाणी का विस्तार होने से जीव समझते हैं हूँ ऐसा तीन काल में नहीं हो सकता। उसीप्रकार ज्ञान का विशेष विस्तार होने से वाणी में अधिक स्पष्टता आती है हूँ ऐसा भी नहीं है। राग, ज्ञान, वाणी तथा अन्य समस्त जीव सभी स्वतन्त्र हैं। अनेकान्त स्वरूप सुदर्शन

चक्र छह द्रव्यों को साधकर स्वयं में स्वानुभव जगाता है।

● एक द्रव्य का अन्य द्रव्य में, एक पर्याय का अन्य पर्याय में अभाव है। अभावात्मक वस्तु परद्रव्य अथवा पर पर्याय में क्या करें ?

एक घड़े की पर्याय में कुम्हार की पर्याय का अभाव है। जो वस्तु अभावरूप है, उसे सद्भावरूप कहना अथवा उसमें फेरफार करना मूढ़ता है। प्रत्येक पदार्थ की वर्तमान पर्याय स्व से है, पर से नहीं हूँ यह स्वतन्त्रता जगजाहिर है। वस्तु का परिणमन तो चलता ही रहता है। किसी परमाणु की अवस्था भिन्न होने रूप हो तो परमाणु की अवस्था पलटती है। यह तो पुद्गल का स्वभाव है। उसका रूपान्तर स्व के कारण होता है, पर के कारण नहीं है। वर्तमान में जीव को जो विकार हुआ है, वह स्व की वर्तमान पर्याय में है, त्रिकाल में नहीं। विकार स्वयं की कमजोरी के कारण है, पर के कारण नहीं है।

पूर्व में पाप किये इसलिए विकार हुआ हूँ ऐसा नहीं है। पूर्व के पाप पूर्व में थे, वर्तमान में नहीं हैं। दोनों का एक-दूसरे में अभाव है हूँ ऐसा ही अनेकान्त वस्तुस्वरूप है। जिसे जीवनभर यह बात समझ में नहीं आयी हो, वह करें तो क्या करें ? अतः जो जीव अनेकान्तस्वरूप को समझकर अपने अन्तर में परिणमन करता है, वह परपदार्थों के लक्षण तथा राग से भिन्न होकर सम्यग्दर्शन प्रगट करता है।

● स्व-पर शुद्धात्म परिणति में निमित्तभूत शुभराग शुभोपयोगी को होता है।

ज्ञानी जीव अनेकान्तस्वरूप को स्वयं समझकर, अपने ज्ञानदर्शन स्वभाव में ही जानने-देखने की प्रवृत्ति करते हैं। अन्य धर्मात्माओं को अनेकान्त मैत्री का स्वरूप समझाते हैं। ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव में परिणमित हुए हैं। शुभोपयोगी होकर रागरूप वात्सल्य का शुभभाव करते हैं, वे भी धर्मी हैं। जिसके प्रति शुभभाव करते हैं, वह भी धर्मी जीव ही होता है। इसप्रकार शुद्धात्मा के प्रति सेवा आदि का शुभराग हो तो उसका निषेध नहीं है।

शुद्धात्मा की प्राप्ति के सिवा अन्य कोई अपेक्षा नहीं होनी चाहिए। शुभोपयोगी जीव को शुभराग होने पर भी उसका अभाव करके अपने शुद्धात्मा में ठहरना चाहिए; किन्तु यदि स्थिरता नहीं हो सके तो कुछ काल तक शुभराग भी आता है।

स्वयं की शुद्धता के योग्य शुभराग होना चाहिए अथवा अपनी अवस्था के योग्य अन्य धर्मात्माओं की शुद्धता में निमित्तभूत शुभराग होना चाहिए।

स्वयं की मान-प्रशंसा अथवा आशीर्वाद या प्रतिष्ठा की दृष्टि से शुभराग नहीं होना चाहिए। शुद्धात्मा की उपलब्धि में निमित्त हो वह ऐसे शुभराग की प्रवृत्ति का निषेध नहीं है। यह शुभराग अल्प दोष लगाता है, किंचित् बंध कराता है, किन्तु इससे शुभराग करनेयोग्य है वह ऐसा नहीं है।

(१) जो-जो जीव पुण्य से धर्म मानते हैं, निमित्त से कार्य होना मानते हैं, वे विपरीत प्ररूपणा करते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव भले ही बाह्य से मुनि हो तो भी उनके प्रति वात्सल्य, भक्ति के शुभराग का निषेध है, क्योंकि उनके प्रति वर्तनेवाला राग धर्म का निमित्त नहीं है।

(२) यहाँ सभी प्रकार के राग का निषेध है। रागरूप राग नहीं होना चाहिए। अपने स्वभाव की स्थिरता को बढ़ानेवाला किंचित् राग हो तो वह चल सकता है।

प्रश्न : वह फिर शुद्धात्मा का राग करने में कोई कष्ट तो नहीं है ?

उत्तर : वह भाई ! राग तो करने जैसा है ही नहीं। प्रशस्त वा अप्रशस्त किसी भी प्रकार का राग करने जैसा नहीं है। यह तो प्रथमदृष्टि है।

पूर्णरूप से स्वरूप स्थिरता न हो सके और राग हो तो किसप्रकार का हो और किसके प्रति हो वह उसकी यहाँ बात चल रही है।

धर्मी जीव मानता है कि मेरे शुभराग से मेरी शुद्धता नहीं ठहरती अथवा मेरे राग के कारण मेरी और अन्य जीव (धर्मात्मा) की शुद्ध परिणति नहीं टिकती। यदि मेरे शुभराग से मेरी और अन्य जीव की शुद्ध परिणति टिके तो शुभभाव शुद्धपरिणति के रक्षण में निमित्त कहलायें और निमित्त के अभाव में शुद्धता करने का निषेध सिद्ध हो।

बहुत से जीव पुण्य से धर्म मानते हैं। वे वस्तुस्थिति नहीं समझते। यहाँ कुदेवादि के प्रति वात्सल्यभाव का निषेध है। स्वयं को थोड़ी पवित्रता प्रगटी है और थोड़ा राग है। आप स्वयं तो परिपूर्ण होने का ही इच्छुक है। राग रहे तो शुद्धात्मा की ओर लक्ष नहीं जाये; क्योंकि शुभराग के कारण शुद्धात्मपरिणति का रक्षण नहीं हो सकता।

शुभराग शुद्धात्मपरिणति का रक्षण नहीं करता; किन्तु शुद्धात्मपरिणति स्वयं में और पर में होने पर, स्वयं और पर के प्रति कैसा शुभराग होता है, वह यहाँ बताया है। स्वयं और पर की शुद्धता में निमित्त हो वह ऐसा शुभराग होना चाहिए।

वस्तुस्वरूप को समझे बिना केवल जय बोलना कार्यकारी नहीं है, अतः अनेकान्तस्वरूप को अच्छी तरह समझना चाहिए। शुभोपयोगी को राग की भूमिका के समय भी शुद्धात्मा के प्रति राग होता है और अन्य के प्रति राग नहीं होता वह इसमें भी अनेकान्तपना ही है।

अपनी शुद्ध परिणति में निमित्त के सिवा ज्ञानी को अन्य प्रकार का शुभराग नहीं होता। इस रीति से धर्मी के शुभराग की मर्यादा को बताया है।

● शुद्ध जैनियों के लिए शुद्धात्मा की उपलब्धि की अपेक्षा से शुभराग का निषेध नहीं है।

आत्मा की अवस्था में विकार होता है। विकार से रहित आत्मा का स्वरूप शुद्ध आनन्दमय है वह ऐसी प्रतीति, ज्ञान और रमणता ही मोक्षमार्ग है। इस मोक्षमार्ग में चलते हुए मुनि को वीतरागता न होने पर किस प्रकार का शुभराग होता है, उसकी मर्यादा का यहाँ वर्णन किया है।

सच्चे मुनिराज के शरीर में रोग हुआ हो अथवा उन्हें थकान लगी हो तो शुभोपयोगी जीव को उनकी वैयावृत्ति का विकल्प आता है; किन्तु वह विकल्प बंध का कारण है, धर्म का कारण नहीं।

यहाँ कोई पूछता है कि व्यवहार धर्म तो सच्चा है न? व्यवहार सच्चा नहीं होता। शुभभाव से पुण्यप्रकृति बंधती है और शुभभाव स्वयं की शांति को रोकते हैं। उससे घातिकर्मस्वरूप पाप प्रकृतियाँ भी बंधती हैं।

पुण्य-पाप रहित ज्ञातास्वरूप का भान करके जो अरागी चारित्र दशा प्रगट करें उसे शुद्ध जैनी कहते हैं।

पुण्य से धर्म माने वह जैन नहीं है वह तो अज्ञानी है। शुभराग से ज्ञानावरणादि प्रकृतियाँ बंधती हैं वह ऐसा मानकर शुभ को जहर माने और स्वरूपस्थिरता नहीं हो सके, तब उसे सच्चे श्रद्धा-ज्ञानवाले जैनियों के प्रति वैयावृत्ति का शुभराग आता है, इस शुभराग में किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है। स्व-पर शुद्धात्मा की परिणति में निमित्त हो यही अपेक्षा है। इसप्रकार के शुभराग का यहाँ निषेध नहीं है।

● मिथ्यादृष्टि के लिए अन्य अपेक्षा होने पर शुभराग का निषेध है।

वस्तुस्वरूप के विपरीत मान्यतावाले जीवों के प्रति शुभराग का निषेध है। जो पुण्य से धर्म माने, शरीर की क्रिया से धर्म माने, वह मिथ्यादृष्टि है। उसे वस्तु के स्वरूप की खबर नहीं है। शुभाशुभ भाव स्व हिंसा है; क्योंकि यह अपने ज्ञाता-दृष्टास्वभाव से विपरीत भाव है। चिदानन्द आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान सहित वीतरागी दशा ही अहिंसा है।

इससे जो विपरीत मानता है, उन जीवों के प्रति शुभोपयोगी को अनुकम्पा का भाव नहीं आता। स्व-पर शुद्धात्मा की परिणति में शुभभाव निमित्त हो, यहाँ यही अपेक्षा है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई अपेक्षा नहीं है। मान-पूजादि की पुष्टि के लिए शुभराग का निषेध है, क्योंकि इस रीति से पर अथवा स्वयं के शुद्धात्मपरिणति की रक्षा नहीं होती। ●

पर्यायों की परिवर्तनशीलता वस्तु का पर्यायगत स्वभाव होने से आत्मार्थी के लिए हितकर ही है; क्योंकि यदि पर्यायें परिवर्तनशील नहीं होतीं तो फिर संसारपर्याय का अभाव होकर मोक्षपर्याय प्रकट होने के लिए अवकाश भी नहीं रहता। अनन्तसुखरूप मोक्ष-अवस्था सर्वसंयोगों के अभावरूप ही होती है। यदि संयोग अस्थाई न होकर स्थाई होते तो फिर मोक्ष कैसे होता? अतः संयोगों की विनाशीकता भी आत्मा के हित में ही है। **ह्व बारहभावना एक अनु., पृष्ठ-२८**

प्रवचनसार गाथा २५२

अब, प्रवृत्ति के काल का विभाग बतलाते हैं (अर्थात् यह बतलाते हैं कि ह्व शुभोपयोगी श्रमण को किस समय प्रवृत्ति करना योग्य है और किस समय नहीं) :ह्व

रोगेण वा छुधाए तण्हाए वा समेण वा रूढं ।

दिट्ठा समणं साहू पडिवज्जदु आदसत्तीए।।२५२।।

(हरिगीत)

श्रम रोग भूखरु प्यास से आक्रान्त हैं जो श्रमणजन।

उन्हें लखकर शक्ति के अनुसार वैयावृत करो।।२५२।।

अन्वयार्थ :ह्व [रोगेण वा] रोग से, [क्षुधया] क्षुधा से, [तृष्णया वा] तृषा से [श्रमेण वा] अथवा श्रम से [रूढम्] आक्रांत [श्रमणं] श्रमण को [दिट्ठा] देखकर [साधुः] साधु [आत्मशक्त्या] अपनी शक्ति के अनुसार [प्रतिपद्यताम्] वैयावृत्यादि करो।

टीका :ह्व जब शुद्धात्मपरिणति को प्राप्त श्रमण को, उससे च्युत करे ऐसा कारण ह्व कोई भी उपसर्ग आ जाय, तब वह काल, शुभोपयोगीको अपनी शक्ति के अनुसार प्रतिकार^१ करने की इच्छारूप प्रवृत्ति का काल है और उसके अतिरिक्त का काल अपनी शुद्धात्मपरिणति को प्राप्ति के लिये केवल निवृत्ति का काल है।

भावार्थ :ह्व जब शुद्धात्मपरिणति को प्राप्त श्रमण के स्वस्थ भाव का नाश करनेवाला रोगादिक आ जाय तब उस समय शुभोपयोगी साधु को उनकी सेवा की इच्छारूप प्रवृत्ति होती है और शेष काल में शुद्धात्मपरिणति को प्राप्त करने के लिये निज अनुष्ठान होता है।

गाथा २५२ पर प्रवचन

● भावलिंगी मुनियों के उपसर्ग काल में शुभोपयोगी मुनिराज उनकी सेवा करते हैं, शेष समय शुद्धता में लीन रहते हैं।

१. प्रतिकार = उपाय; सहाय।

आत्मा शरीरादि परपदार्थों से भिन्न है। पुण्य-पाप उसका स्वरूप नहीं है। आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है ह्व ऐसे भानपूर्वक ही स्वरूप की लीनता बढ़ती है। यदि मुनिराज अपने स्वरूप से च्युत हो जाए, उन पर कोई उपसर्ग आ जावें अथवा शरीर में रोग, क्षुधा, तृषा अथवा थकान हो रही हो तो अन्य शुभोपयोगी मुनिराज उनको शक्ति अनुसार सेवा करते हैं।

आत्मा को रोग, क्षुधा, तृषा, थकान आदि नहीं होती, ये सब तो शरीर की अवस्थायें हैं। मुनिराज स्वयं शुद्धता से च्युत नहीं होते, किन्तु यदि अपनी कमजोरीवश वे शुद्धता से च्युत हो जावें तो क्षुधा आदि उपसर्ग उसमें निमित्त कहलाते हैं।

शुभोपयोगी मुनिराज के शुभभाव से सच्चे मुनिराज की सेवा नहीं होती तथा मुनिराज पर उपसर्ग आया, इसलिये अन्य मुनिराज को शुभोपयोग हुआ ह्व ऐसा भी नहीं है।

उपसर्ग युक्त मुनिराज के उपसर्ग काल में सहज भाव से अन्य मुनिराज को शुभोपयोग होता है। उससमय अन्य मुनिराज को वैयावृत्ती आदि का भाव होता है।

यहाँ पर के कारण शुभभाव हुआ ह्व ऐसा नहीं समझना चाहिए। चरणानुयोग में निमित्त प्रधान कथन होता है। जब मुनिराज अपने ज्ञानानन्द स्वभाव में स्थित रहते हैं, उससमय विकल्पवाली दशा में शुभराग होता है और अन्य मुनिराज की सेवा सहजरूप से होती है।

बाह्य क्रिया जो होनी हो वह हो, वह आत्मा के आधीन नहीं है। उसके अतिरिक्त सम्पूर्ण काल शुद्धता की परिपूर्णता के लिए निवृत्ति का काल है।

भावार्थ पर प्रवचन

● निर्ग्रन्थ भावलिंगी मुनि का स्वरूप ह्व

शरीर, मन, वाणी जड़ हैं। इनसे आत्मा को लाभ-हानि नहीं होती। विकार अशुद्धता है, आत्मा त्रिकाल शुद्ध है। आत्मा के भानपूर्वक जो अंतर में लीनता करें, वह मुनि है। ज्ञान और आनन्द में ठहरना ही मुनिराज का यथार्थ अनुष्ठान है। पुण्य-पाप रहित वीतरागी दशारूप निज आचरण

ही मुक्ति का कारण है। इसके बिना मुक्ति नहीं हो सकती। आभ्यन्तर वीतरागी दशा होते ही बाह्य में नग्न दिगम्बर दशा सहज होती है। नग्न दिगम्बर दशा करना या लाना नहीं है।

मुनिराज को वस्त्रादि ग्रहण करने का राग नहीं होता। राग के नष्ट होने पर वस्त्रादि का संयोग भी नहीं दिखाई देता। संयोगावस्था में मुनिपना कदापि नहीं हो सकता। वस्त्र-पात्र रखकर जो मुनिपना मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है; जैन नहीं है।

वस्त्रसहित अवस्था में मुक्ति न मानकर गृहस्थदशा मानें तो सम्यक्त्व हो सकता है, किन्तु वस्त्रसहित मुनिपना मानें तो मिथ्यादृष्टि है। अंतर में वीतरागदशा बढ़ते हुए बाह्य में नग्न दिगम्बरदशा होती है ह्व ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। सनातन वस्तुस्वरूप ऐसा ही है।

कोई जीव बाह्य में नग्न हो जाए और अंतर में शरीर की क्रिया से धर्म माने, निमित्त अथवा पुण्य से धर्म माने तो वह मिथ्यादृष्टि है; मुनि नहीं हैं। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो पहले होना चाहिए। सम्यक्त्वपूर्वक आभ्यन्तर और बाह्य में जिन्हें निर्ग्रन्थदशा वर्तती है, वे ही सच्चे मुनिराज हैं।

निर्विकारी आत्मा और शुभभावरूप विकार इन दोनों के एकत्व-रूप मिथ्यात्व की गाँठ को तोड़कर अभेद आत्मा की श्रद्धा होना ही सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन पूर्वक आत्मा की पर्याय में अस्थिरतारूप विकार की गाँठ टूटकर आत्मा की रमणता होना ही सम्यक्चारित्र है।

मिथ्यात्व सबसे बड़ी गाँठ है। शुद्ध स्वभाव के श्रद्धा ज्ञान होने पर मिथ्यात्व गाँठ का नाश होता है। अव्रत और व्रतभाव दोनों ही विकार हैं। विकाररूप गाँठ का नाश करके जो अंतर रमणता करें, वह साधुपद है।

भावलिंगी मुनिराज के शरीर में रोग आदि हो जावें और उसे देखकर अन्य भावलिंगी मुनिराज शुभोपयोग में होवें तो उससमय उपसर्गयुक्त मुनिराज की वे सेवा करते हैं। मिथ्यादृष्टि मुनिराज की सेवा नहीं करते। तथा अन्य समय अपने शुद्धात्मा की आराधना में ही व्यतीत करते हैं।

इसप्रकार प्रवृत्ति के काल का विभाग दर्शाया है। ●

प्रवचनसार गाथा २५३

अब, लौकिकजनों के साथ बातचीत करने की प्रवृत्ति उसके निमित्त के विभाग सहित बतलाते हैं (अर्थात् शुभोपयोगी श्रमण को लौकिकजनों के साथ बातचीत की प्रवृत्ति किस निमित्त से करना योग्य है और किस निमित्त से नहीं, वह कहते हैं) :ह

वेजावच्चणिमित्तं गिलाणगुरुबालवुड्डसमणाणं ।

लोगिगजणसंभासा ण णिंदिदा वा सुहोवजुदा ॥२५३॥

(हरिगीत)

ग्लान गुरु अर वृद्ध बालक श्रमण सेवा निमित्त से ।

निंदित नहीं शुभभावमय संवाद लौकिकजनों से ॥२५३॥

अन्वयार्थ :ह [वा] और [ग्लानगुरुबालवृद्धश्रमणानाम्] रोगी, गुरु (पूज्य, बड़े), बाल तथा वृद्ध श्रमणों की [वैयावृत्यनिमित्तं] सेवा के निमित्त से, [शुभोपयुता] शुभोपयोगयुक्त [लौकिकजनसंभासा] लौकिकजनों के साथ की बातचीत [न निन्दिता] निन्दित नहीं है ।

टीका :ह शुद्धात्मपरिणति को प्राप्त रोगी, गुरु, बाल और वृद्ध श्रमणों की सेवा के निमित्त से ही (शुभोपयोगी श्रमण को) शुद्धात्मपरिणतिशून्य लोगों के साथ बातचीत प्रसिद्ध है (शास्त्रों में निषिद्ध नहीं) है, किन्तु अन्य निमित्त से भी प्रसिद्ध हो ऐसा नहीं है ।

गाथा २५३ पर प्रवचन

● शुभोपयोगी मुनिराज लौकिक जनों के साथ मुनि की सेवा के निमित्त बातचीत करते हैं, संसार के कार्य के निमित्त नहीं ।

मुनिराज आत्मज्ञान सहित स्वरूप में झूलनेवाले हैं । जिसप्रकार पानी पर थाप देते ही फव्वारा उछलता है, उसीप्रकार पुण्य-पाप रहित आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान और एकाग्रता करने पर शुद्धता का फव्वारा निकलता है ।

शुद्धात्मपरिणति में लीन मुनिराज को शुभोपयोग होने पर रोगी, गुरु, बाल, वृद्ध मुनिराज की सेवा के निमित्त से लौकिकजनों के साथ बातचीत करने का निषेध नहीं है ।

सेवा का भाव आने पर मुनिराज का रोग दूर होगा ह्व ऐसा नहीं हैं, किन्तु सेवाभाव उत्पन्न होने पर लौकिक जनों के साथ बातचीत करें, वैद्य को रोगादि के बारे में पूछें? रोग के नष्ट होने में कितना समय लगेगा? कौनसा रोग है? इत्यादि बातों को पूछने का निषेध नहीं है । इससे आगे बढ़कर यदि वे संसारी कार्यों की बातचीत करें तो उसका अवश्य निषेध है । जैसे ह्व हाल-चाल कैसे हैं? किसका क्या चल रहा है? लड़की की शादी हुई या नहीं? आहार-पानी कैसा है? इत्यादि प्रकार की बातचीत का निषेध है ।

● द्रव्यानुयोग का सिद्धान्त रखकर चरणानुयोग के निमित्त से कथन करते हैं ।

यहाँ मुनिराज को रोगादि होने पर सेवा करने का विकल्प आया, इसलिये वे पर का कुछ कर सकते हैं ह्व ऐसा नहीं समझना चाहिए । कोई भी जीव पर का कुछ नहीं कर सकता । यहाँ तो केवल शुभभाव होने पर कैसी बातचीत होती है ह्व यह बताया है ।

कोई कहता है कि हमें पर का कार्य करना है, बस आसक्ति नहीं रखेंगे, अनासक्ति भाव से करेंगे; पर भाई ! इससे विपरीत 'मैं पर का कार्य करता हूँ' ह्व ऐसा महान् आसक्ति भाव उसके अन्तर में विद्यमान है । ऐसा जीव अज्ञानी है, मूढ़ है । इसप्रकार की मूढ़ता मुनिराज को नहीं होती । प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र परिणामन कर रहा है । इसप्रकार द्रव्यानुयोग का सिद्धान्त रखकर चरणानुयोग की बात की है ।

यहाँ कोई कहता है कि मुनिराज के रोग कैसे हो सकता है? वे कोई चमत्कार करें और रोग को नष्ट करें ।

● मुनिराज की पवित्रता का शरीरजनित साता-असाता के साथ संबंध नहीं है ।

(१) मुनिराज के शरीर में रोग आवे, यह तो पूर्व के असाता कर्म का संयोग है। उसका वर्तमान पुरुषार्थ के साथ कोई संबंध नहीं है; अतः पवित्रता हो तो पुण्य होना ही चाहिए वह ऐसा नियम नहीं है। पवित्रता और पुण्य दोनों भिन्न-भिन्न वस्तु हैं।

सुकौशल मुनिराज को सिंहनी ने खाया, सनत्कुमार मुनिराज को ७०० वर्षों तक कोढ़ रहा; किन्तु रोग अथवा उपसर्ग नुकसान नहीं कराते हैं। वादिराज मुनिराज के रोग मिटकर शरीर की सुन्दरता प्राप्त हुई, वह आत्मगुणों के कारण नहीं, अपितु पुण्ययोग के कारण हुई है। मुनि हो तो उन्हें रोग नहीं हो हू ऐसा नहीं है।

● मुनिराज को चमत्कार आदि से रोग मिटाने का विकल्प नहीं उठता।

(२) चमत्कार दिखाकर रोग को मिटा देनेवाली बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि शरीरादि की क्रिया को आत्मा त्रिकाल में कभी भी नहीं कर सकता। मुनिराज को इसका पक्का श्रद्धान वर्तता है। मिथ्यादृष्टि चाहे तो भी शरीर की अवस्था में फेर-फार नहीं कर सकता। मुनिराज को भी फेर-फार का विकल्प नहीं उठता, किन्तु स्वयं की कमजोरी के कारण जो राग वर्तता है, वहाँ लक्ष जाता है। सनत्कुमार मुनिराज को शक्ति होने पर भी उन्होंने अपने शरीर पर उसका प्रयोग नहीं किया, क्योंकि मुनिराज जानते हैं कि रोग के रहने का जितना काल है, उसमें कोई फेरफार नहीं कर सकता है। उसे कोई मिटा नहीं सकता।

● अपने ज्ञानस्वभाव में अरागी परिणति अहिंसा है, उसका अन्य जीवों के परिणाम के साथ संबंध नहीं है।

(३) अहिंसा हू मुनिराज को अहिंसा प्रगटी हो तो सिंहादि उनके समक्ष अपना वैरभाव भूल जाते हैं, यही अहिंसा का स्वरूप है। अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव में अरागी परिणति ही अहिंसा है। कोई हिंसा का भाव न करे तो मुनिराज की अहिंसा टिके हू ऐसी दूसरे के आश्रित मुनिराज की अहिंसा नहीं है। अहिंसा का बाह्य के साथ कोई संबंध नहीं

है। तीर्थकर के समवशरण में शेर-हिरण, बिल्ली-चूहा अपनी वैरवृत्ति को अपनी-अपनी योग्यता से विस्मरण करते हैं; तीर्थकर के कारण नहीं। तीर्थकर पुण्यप्रकृति उसमें निमित्त मात्र है।

● भावलिंगी मुनिराज क्षुधा-तृषादि, विकल्प आदि ज्ञेयों के ज्ञाता है।

वस्तुस्वरूप के यथार्थ भानपूर्वक ही मुनिपना होता है। वस्तुस्वरूप के भान बिना २८ मूलगुणों का पालन किया, नवमें ग्रैवेयक तक गये; किन्तु शुद्धता का अनादर और राग का आदर होने से आजतक भवभ्रमण नहीं मिटा है।

सच्चे मुनिराज को वस्तुस्वरूप का भान है, अन्तरदशा बड़ी है, बाह्य में नग्न दिग्म्बरदशा वर्त रही है। वे मुनिराज दिन में एक बार आहार ग्रहण करते हैं। यदि कोई रोग होंवे तो श्रावक आहार के साथ दवा आदि देवें तो ग्रहण करते हैं, स्वयं अलग से ग्रहण नहीं करते। रोग, क्षुधा-तृषा को ज्ञेयरूप जानते हैं। आत्मा को निरन्तर ध्याते हैं।

स्वयं की देह छूटने का काल निकट आनेपर सभी मुनिराज को उसका भावभासन हो जावे हू ऐसा नहीं है। जिस काल में, जिस क्षेत्र में, जिन संयोगों में देह छूटना हो, उसीसमय छूटती है, फिर भी विकल्प आने पर कदाचित् उस सम्बन्ध में पूछना हो तो पूछते हैं।

उक्त समस्त अवस्था अर्थात् विकल्पादि में, भाषा के परिणामन में, आहार के साथ दवा आदि के ग्रहण में मुनिराज ज्ञाता ही रहते हैं।

इसप्रकार का भाव भावलिंगी मुनियों की सेवा के वक्त शुभोपयोगी मुनिराज को होता है; किन्तु संसार के अर्थ की पोषक बातचीत वे नहीं करते।

●

प्रवचनसार गाथा २५४

अब, इसप्रकार से कहे गये शुभोपयोग का गौण-मुख्य विभाग बतलाते हैं; (अर्थात् यह बतलाते हैं कि किसके शुभोपयोग गौण होता है और किसके मुख्य होता है।) :ह

एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं ।

चरिया परेत्ति भणिदा ताएव परं लहदि सोक्खं॥२५४॥

(हरिगीत)

प्रशस्त चर्या श्रमण के हो गौण किन्तु गृहीजन ।

के मुख्य होती है सदा अर वे उसी से सुखी हो॥२५४॥

अन्वयार्थ :ह [एषा] यह [प्रशस्तभूता] प्रशस्तभूत [चर्या] चर्या [श्रमणानां] श्रमणों के (गौण) होती है [वा गृहस्थानां पुनः] और गृहस्थों के तो [परा] मुख्य होती है, [इति भणिता] ऐसा (शास्त्रों में) कहा है; [तथा एव] उसी से [परं सौख्यं लभते] (परम्परा से) गृहस्थ परम सौख्य को प्राप्त होता है ।

टीका :ह इसप्रकार शुद्धात्मानुरागयुक्त प्रशस्तचर्यारूप जो यह शुभोपयोग वर्णित किया गया है वह यह शुभोपयोग, शुद्धात्मा की प्रकाशक सर्वविरति को प्राप्त श्रमणों के कषायकण के सद्भाव के कारण प्रवर्तित होता हुआ, गौण होता है; क्योंकि वह शुभोपयोग शुद्धात्मपरिणति से विरुद्ध ऐसे राग के साथ संबन्धवान है और वह शुभोपयोग गृहस्थों के तो, सर्वविरति के अभाव से शुद्धात्मप्रकाशनका^१ अभाव होने से कषाय के सद्भाव के कारण प्रवर्तमान होता हुआ भी मुख्य है; क्योंकि ह जैसे ईधन को स्फटिक के संपर्क से सूर्य के तेज का अनुभव होता है (और इसलिये वह क्रमशः जल उठता है) उसीप्रकार - गृहस्थ को राग के संयोग से

शुद्धात्मा का अनुभव होता है और (इसलिये वह शुभोपयोग) क्रमशः परम निर्वाणसौख्य का कारण होता है ।

भावार्थ :ह दर्शनापेक्षा से तो श्रमण को तथा सम्यग्दृष्टि गृहस्थ को शुद्धात्मा का ही आश्रय है, परन्तु चारित्र्यापेक्षा से श्रमण के मुनियोग्य शुद्धात्मपरिणति मुख्य होने से शुभोपयोग गौण है और सम्यग्दृष्टि गृहस्थ के मुनियोग्य शुद्धात्मपरिणति को प्राप्त न हो सकने से अशुभवंचनार्थ शुभोपयोग मुख्य है । सम्यग्दृष्टि गृहस्थ के अशुभ से (विशेष अशुद्ध परिणति से) छूटने के लिये प्रवर्तमान जो यह शुभोपयोग का पुरुषार्थ वह भी शुद्धि का ही मन्दपुरुषार्थ है; क्योंकि शुद्धात्मद्रव्य के मंद आलम्बन से अशुभ परिणति बदलकर शुभपरिणति होती है और शुद्धात्मद्रव्य के उग्र आलम्बन से शुभ परिणति भी बदलकर शुद्धपरिणति हो जाती है ।

गाथा २५४ पर प्रवचन

शुभोपयोग अर्थात् पुण्य परिणाम । आत्मा में दया-दानादि के परिणाम होते हैं, वे पुण्य परिणाम हैं । ज्ञानानन्द स्वभाव में रमणता की दृष्टि ही धर्म है । स्वभाव में जब तक स्थिर नहीं हों, तब तक गृहस्थ और मुनिराज को शुभभाव होते हैं । ऐसे समय में किसके गौण शुभोपयोग और किसके मुख्य शुभोपयोग होता है । वह बताते हैं ह

अन्य मुनिराज की वैयावृत्ति, जिनेन्द्रदेव की भक्ति आदि शुभचर्या का भाव मुनिराज को गौणरूप से वर्तता है । आत्मा के शुद्धस्वभाव के भानपूर्वक उन्हें अन्तर लीनता बढ़ गई है, शरीर के प्रति वर्तनेवाला राग कम हुआ है । सेवा आदि का शुभभाव होता है, किन्तु वह अत्यन्त अल्प है अर्थात् गौण है । मुख्यता तो शुद्धोपयोग की है ।

गृहस्थ को भी पुण्य-पाप की रुचि नहीं है । ध्येय तो एक शुद्ध आत्मा के प्रति ही है; परन्तु गृहस्थदशा में बुद्धिपूर्वक राग का अभाव करके शुद्धोपयोग बहुत कम होता है और दया-दान-व्रत-पूजा आदि का शुभोपयोग मुख्यपने होता है ह ऐसा तीर्थकर परमात्मा की दिव्यध्वनि में आया है ।

१. चारित्रदशामें प्रवर्तमान उग्र शुद्धात्मप्रकाशनको ही यहाँ शुद्धात्मप्रकाशन गिना है; सम्यग्दृष्टि गृहस्थ के उसका अभाव है । शेष दर्शनापेक्षा से तो सम्यग्दृष्टि गृहस्थ के भी शुद्धात्मा का प्रकाशन ही है ।

गृहस्थ की दृष्टि शुद्ध चैतन्य के ऊपर है। शुभराग होने पर भी उसकी दृष्टि शुभराग पर नहीं होती; अतः शुद्धता के लक्ष्य से राग का अभाव कर परमात्मदशा को प्राप्त किया जाता है।

● शुद्धस्वभाव की श्रद्धा से सम्यग्दर्शन और उसमें स्थिरता से मोक्ष प्राप्त होता है।

जिसप्रकार शक्कर में मिठास भरी हुई है; किन्तु पानी में डालने पर वह मिठास दिखाई नहीं देती, उसीप्रकार आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है; किन्तु पुण्य-पाप के भावों को साथ जोड़ने पर उसका ज्ञानानन्दपना दिखाई नहीं देता।

जिसकी प्रतीति करने पर क्रम-क्रम से वीतरागता बढ़े और स्वभाव में परिपूर्ण ठहरने पर पूर्ण आनन्द केवलदशा की प्राप्ति हो वह ऐसा पूर्ण आनन्द और ज्ञानस्वरूप अपना स्वभाव है।

इन्द्रियों के जानने या अन्य ज्ञेयों के कारण मेरा ज्ञान नहीं है। मैं तो स्वयं के कारण परिपूर्ण ज्ञानस्वरूप हूँ। पुण्य-पाप तो आकुलता है; मैं आकुलता स्वरूप नहीं हूँ वह ऐसे शुद्धस्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान से ही सम्यग्दर्शन होता है। परम अनाकुलदशा की प्रतीति ही सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् पुण्य-पाप और निमित्त का संसर्ग हो तो पूर्ण अनाकुल दशा प्राप्त नहीं होती; किन्तु स्वभाव के संसर्ग से पूर्ण दशा प्राप्त होती है।

● मुनिराज को शुद्धोपयोग की मुख्यता और शुभोपयोग की गौणता होती है।

आत्मा ज्ञानस्वरूप है। शरीरादि पर हैं। पुण्य-पाप के भाव विकार हैं। आत्मा उससे रहित है वह ऐसी शुद्धात्मा के अनुराग सहित शुभोपयोग की यहाँ बात है। जो पुण्य से अथवा शरीर की क्रिया से धर्म मानता हो, उसकी यहाँ बात नहीं है।

जिसे आत्मभान हुआ है। स्वरूपलीनता बढ़ने से जो ६-७ वें गुणस्थान में झूल रहे हैं। अधिक राग से निवृत्त हुए हैं। उन्हें चारित्र की

कमजोरीवश किंचित् राग वर्त रहा होने के कारण गौण शुभोपयोग है; क्योंकि उन्हें शुद्धात्मपरिणति से विरुद्ध राग के साथ सम्बन्धवाला शुभोपयोग है। शुभोपयोग के समय अन्य मुनि की सेवा अथवा वात्सल्यभाव आता है, उससमय अन्तर में शुद्धात्मा के प्रति भी प्रेम वर्तता है; किन्तु यहाँ शुद्धात्मानुभव गौण है।

● गृहस्थ को शुभोपयोग की मुख्यता और शुद्धोपयोग की गौणता है।

गृहस्थ जीवों को संसार दशा में अत्यधिक राग वर्तता है। वे सर्व संग से रहित नहीं हुए हैं, तथापि उन्हें आत्मा का किंचित् भान वर्तता है। पुण्य-पाप आत्मा को लाभ नहीं करते।

आत्मस्वभाव शुद्ध है। निजात्मा का श्रद्धान-ज्ञान उन्हें वर्तता है; किन्तु स्वरूप स्थिरता के द्योतक चारित्रदशा में स्थिर करनेवाले उग्र शुद्धात्मप्रकाश का सम्यग्दृष्टि गृहस्थ के अभाव है। दर्शन अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि को शुद्धात्मा का प्रकाश वर्त रहा है, किन्तु वह मुख्य शुद्धोपयोग नहीं है।

गृहस्थ तथा मुनिराज हूँ दोनों को ही शुद्धात्मा की रुचि तो समान ही है; किन्तु अन्तर यह है कि मुनिराज के राग घट गया है तथा श्रावक को अभी भी दया-दान प्रभावना आदि का राग वर्तता है। आत्मा का भान होने पर भी मुनिराज के समान स्वरूप लीनता का अभाव है; अतः शुभभाव मुख्य है। मुनिराज को केवलज्ञान प्रगट करनेवाली तात्कालिक-दशा वर्तती है और गृहस्थ को केवलज्ञान प्रगट करनेवाली तात्कालिक-दशा नहीं है।

● गृहस्थ का शुद्धोपयोग क्रमशः मोक्ष का कारण है।

जिसप्रकार स्फटिक में सूर्य का तेज पड़ते ही वह अधिक प्रज्वलित होता है, उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि गृहस्थ को शुभराग के निमित्त से आत्मा में लीनता होती है और उसका शुभोपयोग क्रमशः मोक्षदशा का कारण होता है।

सम्यग्दृष्टि जीव को भान है कि मेरे आत्मा में केवलज्ञान दशा को प्राप्त करने की ताकत है। शुभराग मेरा स्वरूप नहीं है। उसे राग का निषेध है, राग की रुचि नहीं है, केवल शुद्धस्वभाव की ही रुचि है। चैतन्य स्वभाव में एकाग्र केवलज्ञान प्राप्त करने की भावना है। पुरुषार्थपूर्वक अशुभराग टला है और शुभराग टालकर वह अन्तर में स्थिरता करना चाहता है। इस सम्पूर्ण प्रक्रियापूर्वक वीतरागदशा को क्रमशः प्राप्त करता है, अतः शुभराग को परम्परा से मोक्ष का कारण कहा है।

● शुभोपयोग को परम्परा से मोक्ष का कारण कैसे कहा है?

सूर्य का निमित्त होने पर भी जंगल में उपस्थित सभी लकड़ियाँ नहीं जलती; किन्तु किसी लकड़ी में योग्यता हो तो वह जल उठती है, उसीप्रकार जिस मिथ्यादृष्टि को शुद्धात्मा का प्रेम नहीं है तथा जो पुण्य में धर्म मानता है, उसका शुभराग मोक्ष का कारण नहीं होता।

इससे विपरीत शुद्धात्मा के प्रति प्रेम रखनेवाले, चैतन्य स्वभाव को जाननेवाले सम्यग्दृष्टि के शुभराग का अभाव है। वह जीव पुरुषार्थ पूर्वक केवलज्ञान को अवश्य प्राप्त करेगा, तथापि उसके राग को निमित्त कहा है।

राग करते-करते मोक्ष की प्राप्ति होगी हूँ ऐसा नहीं है, अपितु राग का अभाव करने पर मोक्ष की प्राप्ति होगी। यहाँ तो राग पर उपचारमात्र किया है। शुद्धात्मा उपादान कारण है। अशुभराग को टालकर शुभराग में वर्तन होता है, अतः शुभराग को निमित्त अथवा संयोग कहा जाता है। राग का संयोग = राग का निमित्त। चरणानुयोग में निमित्त की अपेक्षा कथन है; क्योंकि गृहस्थ को राग होने पर भी उसकी दृष्टि राग पर नहीं है।

गृहस्थ की दृष्टि केवल अखण्ड ज्ञायकस्वभाव पर है। उसमें क्रम-क्रम से पुरुषार्थ लाकर वे मुनिदशा प्रगट करते हैं। जिसने मुनिदशा प्रगट की है, उसे शुभभाव गौण तथा शुद्धोपयोग मुख्य होकर विशेष स्थिरता होती है।

वीतरागतापूर्वक प्रगट होनेवाले केवलज्ञान में राग का सर्वथा अभाव होता है, वहाँ मुख्य-गौणता नहीं होती। राग का सर्वथा नाश होने पर ही

मोक्षदशा की प्राप्ति होती है। इसप्रकार शुभोपयोग पर उपचार करके उसे मोक्ष का परम्परा कारण कहा है।

प्रश्न हूँ क्या यह राग को स्पष्ट करनेवाली गाथा है?

उत्तर हूँ अरे भाई! यह तो राग का ज्ञान कराकर राग के अभावपूर्वक केवलज्ञान प्राप्त करानेवाली गाथा है। राग का होना तो आत्मा का दोष है, किन्तु स्वभाव के प्रति प्रेम होने से शुभभाव घटकर अरागी भाव प्रकट होते हैं, अतः राग को निमित्त कारण कहकर उसका वर्णन किया है। शुद्धपर्याय आंशिक रूप से प्रगट हुई है, वह बढ़कर निश्चितरूप से केवलज्ञान प्राप्त करेगी, अतः राग को निमित्त कारण कहा है।

जो जीव पुण्य से धर्म मानते हैं, वे मिट्टी के ढेले समान हैं, उन्हें शुद्धात्मा की प्रतीति नहीं है। जिसे पुण्य की रुचि है, उसे जड़ की रुचि है; आत्मा की रुचि नहीं है हूँ ऐसे जीवों को कदापि मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। उनके उपादान में अभी परिपक्वता नहीं आयी है; अतः शुभरागरूप निमित्त का आरोप भी किया जाता है।

प्रश्न हूँ सम्यक्त्वी शुभराग को गौण करें तो?

समाधान हूँ धर्मी जीव को श्रद्धा में अखण्ड शुद्धस्वभाव ही मुख्य है तथा चारित्र में मुख्य-गौणता वर्तती है। उसका स्पष्टीकरण हूँ

(१) शरीर, मन, वाणी आदि पदार्थ पर हैं। जीव में होनेवाले शुभाशुभ भाव भी आत्मा का सच्चा स्वरूप नहीं है। आत्मा तो ज्ञानानन्द स्वरूप है हूँ ऐसा श्रद्धान-ज्ञान सम्यक्त्वी मुनि को होता है। श्रद्धा तो अखण्ड स्वभाव को ही ग्रहण करती है, अतः दोनों को श्रद्धा अपेक्षा केवलज्ञान स्वभाव ही मुख्य वर्तता है, उन्हें प्रत्येक समय शुद्ध स्वभाव की रुचि ही अधिक होती है।

(२) यहाँ, मुख्य-गौण के जो प्रकार कहने में आते हैं, वे चारित्र की अपेक्षा हैं। मुनिराज को श्रद्धा-ज्ञान होने के उपरान्त अधिक लीनता बड़ी है। अखण्ड आत्मा ही मुख्य हो रहा है और पाँच महाव्रतों के परिणामों की गौणता है, उन्हें शुद्धता मुख्य और शुभभाव गौण है।

श्रावक को आत्मा का ज्ञान-श्रद्धान है, किन्तु अरागी परिणति नहीं है। शुभ मुख्य है और शुद्धता गौण है। इसप्रकार चारित्र पर्याय की अपेक्षा से मुख्य-गौणता कही है।

(३) गृहस्थ को स्वभाव का भान नहीं है। वह क्रम-क्रम से पुरुषार्थ पूर्वक मुनिपना प्रगट करता है। ऐसे समय वह शुभ को गौण और शुद्ध को मुख्य करता है। पश्चात् वह विशेष पुरुषार्थपूर्वक शुभ को गौणरूप से भी टालकर परिपूर्ण वीतरागदशा प्राप्त करके केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त करता है। वहाँ राग का अभाव है, अतः गौणता-मुख्यता नहीं है। इसप्रकार मुख्य-गौण की स्पष्टता की है।

जो धर्मी गृहस्थ अखण्ड-अभेद द्रव्य की मुख्यता को छोड़कर पुण्य-पाप की अधिकता में श्रद्धा करता है, वह मिथ्यादृष्टि है। धर्मी को शुभभाव की मुख्यता नहीं है। उसे आत्मा का अनुभव अनेक बार होता है और त्रिकाल चैतन्य सत्ता शुद्ध वर्तती है। चैतन्य सत्ता का अंतर परिणमन उसे कभी दूर नहीं हुआ है। ऐसे जीव विशेष पुरुषार्थ को जगाकर मुनिपना अंगीकार कर मोक्ष प्राप्त करते हैं।

यहाँ राग में मोक्ष के कारण का उपचार किया है, किन्तु अरे भाई! जब मोक्षमार्ग से मुक्ति नहीं है तो राग के कारण कैसे मुक्ति हो? क्योंकि मोक्षमार्ग भी पर्याय है। मुक्ति तो अखण्ड द्रव्य के आश्रय से प्राप्त होती है। चरणानुयोग में निमित्ताधीन कथन होता है।

● प्रशस्त शुभराग धर्म का कारण है। निमित्त, शुभराग अथवा पूर्व के ज्ञान का उघाड़ धर्म का कारण नहीं है।

मूल गाथा में “एसा प्रशस्तभूता” शब्द है। यह प्रशस्तभूत चर्या किसके होती है? दया-दान व्रतादि से धर्म मानने वाले जीवों के शुभराग की बात यहाँ नहीं है। मैं रागरहित निर्मल ज्ञानस्वरूप अखण्ड तत्त्व हूँ हूँ ऐसी दृष्टिपूर्वक जो राग वर्तता है, उसे प्रशस्त शुभराग कहते हैं। यहाँ धर्मदृष्टि की बात है। धर्म के कारण की बात है।

(१) धर्म का कारण शुभभाव नहीं हो सकता, क्योंकि धर्म आत्मा की अविकारी अवस्था है और शुभभाव विकार है। विकार कारण और अविकारी कार्य हूँ ऐसा नहीं हो सकता; अतः शुभभाव धर्म का कारण नहीं है।

(२) पर्याय में से धर्मपर्याय प्रगट नहीं होती; क्योंकि पर्याय में से पर्याय प्रगट नहीं हो सकती है, अतः शुभभाव धर्म का कारण नहीं है।

(३) द्रव्य अखण्ड है, उसमें ज्ञान-दर्शन-सुख भरा हुआ है, उसके आधार से धर्म प्रगट होता है। जिसप्रकार कुण्डल की अवस्था सुवर्णकार या हथोड़े से नहीं होती तथा कुण्डल रूप पर्याय पूर्व की अवस्था में से नहीं आती है, अपितु प्रत्येक पर्याय में सुवर्ण स्वयं ध्रुव रूप रहता है और उसमें से नवीन-नवीन पर्याय उत्पन्न होती है। धर्म पर्याय निमित्त, परद्रव्य, विकल्प अथवा पूर्वज्ञान के उघाड़ के आश्रय से प्रगट नहीं होती है, न टिकती और न वृद्धि को प्राप्त होती है। एक आत्मा के आधार से ही धर्मपर्याय टिकती है हूँ ऐसे शुद्धात्मा के अनुरागपूर्वक शुभचर्या की यहाँ बात है। ‘प्रशस्तभूता’ शब्द का यही अर्थ है।

● प्रत्येक द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभावी है।

प्रत्येक द्रव्य के उत्पाद, व्यय, ध्रुव यह तीन अंश हैं। किसी भी पदार्थ की पूर्वपर्याय नाश होती है और नवीनपर्याय उत्पन्न होती है तथा वस्तु सदैव ध्रुवरूप रहती है।

आत्मा में सम्यग्दर्शन का उत्पाद, मिथ्यादर्शन का व्यय और श्रद्धा गुण ध्रुवरूप में रहता है। अनंत आत्मा, अनंतानंत परमाणु और अन्य चार अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन छह द्रव्यों को तीर्थकर देव ने प्रत्यक्ष देखा है।

साथ ही प्रत्येक द्रव्य में एक ही समय में तीनों अंशों को भी प्रत्यक्ष देखा है। जो वस्तु है उसका कोई कर्ता नहीं हो सकता और कर्ता हो तो वस्तु नित्य नहीं रहती। जो है उसे कौन करेगा? अतः वस्तु नित्य है।

यदि कोई अवस्थागत परिवर्तन को स्वीकार ना करें तो विकार

टलकर अविकारी अवस्था कैसे प्रगट हो? अतः वस्तु नित्य रहते हुए परिणमन करती है अथवा एक समय में उत्पाद, व्यय, ध्रुव इन तीनों अंशों से युक्त होती है। इसप्रकार आत्मा के उत्पाद-व्यय-ध्रुव स्वरूप को स्पष्ट किया है।

● गृहस्थ तथा मुनिराज को श्रद्धा अपेक्षा से शुद्धात्मा का ही आश्रय है।

धर्म उत्पाद तो ध्रुव आत्मा के आधार से ही है। द्रव्य अर्थात् वस्तु चैतन्य आनन्दकन्द है। उसके आधार से सम्यग्दर्शन होता है। द्रव्यदृष्टि सो सम्यग्दृष्टि। श्रद्धा अपेक्षा से तो मुनिराज तथा सम्यग्दृष्टि को शुद्धात्मा का ही आश्रय है, क्योंकि उसके आश्रय से ही धर्म होता है, टिकता है और वृद्धि को प्राप्त होता है।

जिसप्रकार लेंडीपीपर में व्याप्त ६४ पुटी तीखापन पत्थर पर घिसने या अन्य निमित्त से प्रगट नहीं हुआ है। अपूर्ण तीखेपन के आधार से भी प्रगट नहीं हुआ है, भले ही अपूर्ण तीखेपन का नाश होकर ६४ पुटी तीखापन प्रगट होता है। वास्तव में ६४ पुटी तीखापन लेंडीपीपर में स्वतः व्याप्त है। वह तीखापन उसके स्वयं के अन्तर से प्रगट होता है, उसीप्रकार आत्मा शुद्ध चिदानन्द मूर्ति है, उसमें केवलज्ञान और सिद्ध पद भरा हुआ है, उसमें से ही धर्म प्रगट होता है। निमित्त, शुभराग या पूर्व के मिथ्यात्व पर्याय में से सम्यग्दर्शन नहीं होता।

जिसप्रकार सुवर्ण और पत्थर की खान एक दूसरे के पास हो, किन्तु सुवर्ण की खान खोदने पर सुवर्ण मिलता है, पत्थर की खान खोदने पर सुवर्ण नहीं मिलता। उसीप्रकार चैतन्य धातुरूप आत्मा सुख की खान है। उसके श्रद्धा, ज्ञान और एकाग्रता से ही धर्म प्रगट होता है। इस अपेक्षा मुनि और सम्यग्दृष्टि को धर्म शुद्धात्मा के आश्रय से होता है।

● मुनिराज को शुभोपयोग गौण और गृहस्थ को शुभोपयोग मुख्य है।

यहाँ जो श्रावक और मुनि कहा है वह आत्मज्ञान सहित श्रावक और मुनिराज की बात है। मुनिराज को चारित्र की अपेक्षा अपनी भूमिका के योग्य स्वरूपलीनता है।

“सिद्धसमान सदा पद मेरो” अर्थात् वे अपना पद सिद्धसमान समझते हैं। अंतर एकाग्रता से ही आत्मा की शांति का फव्वारा निकलता है ह ऐसी वीतरागीस्वरूप रमणता उनके होती है।

मुनिराज को वैयावृत्ति आदि का शुभभाव भी अनेक बार आता है, किन्तु उन्हें शुभोपयोग गौण वर्तता है। गृहस्थ को आत्मा का भान है। आत्मा चिदानन्दमय है। आत्मा में से ही धर्म और सुख प्रगट होता है; किन्तु उसे मुनिराज जितनी अंतरस्वरूप रमणता विशेष प्रगट नहीं है। वह शुद्धता में नहीं पहुँचा है, इस अपेक्षा उसे अशुभ से बचने के लिए शुभोपयोग मुख्य है।

मुनिराज अथवा गृहस्थ को अशुभभाव नहीं आते ह ऐसा नहीं है, किन्तु शुभभाव से रचित होने के कारण उनके अशुभभाव व्यक्त नहीं होते।

जिसप्रकार पर्वत पर चढ़ने वाला व्यक्ति थोड़ा विश्राम लेता है, किन्तु ध्येय/लक्ष्य तो पर्वत पर चढ़ने का ही होता है; उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि को शुद्धता का ध्येय है, किन्तु मुनिराज जितना उग्र पुरुषार्थ नहीं है, अतः वे अशुभ से बचकर शुभोपयोग में वर्तन करते हैं। वहाँ उन्हें शुभोपयोग मुख्य होता है। दया-दान-व्रत पूजा आदि का भाव मुख्य नहीं है।

● धर्मी जीव को श्रद्धा अपेक्षा से चैतन्य का पूर्ण अवलंबन है; किन्तु चारित्र की अपेक्षा तीव्रता-मंदता होती है।

सम्यग्दृष्टि को अशुभ से बचने के लिए शुभोपयोग का पुरुषार्थ तो है, किन्तु शुद्धता का मंद पुरुषार्थ है। शुद्धात्मा के मन्द आलम्बन से अशुभ परिणति पलटकर शुभ हो जाती है और शुद्धात्मा के उग्र आलम्बन से शुभ का परिणमन शुद्ध पर्याय में होता है। वस्तुस्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है। धर्मी जीव को श्रद्धा अपेक्षा से तो शुद्ध आत्मा का ही पूर्ण अवलम्बन है, किन्तु चारित्र पर्याय की अपेक्षा से भेद है।

(१) समस्त धर्मी जीवों को श्रद्धा अपेक्षा से चैतन्य के शुद्धस्वभाव का परिपूर्ण अवलंबन है।

(२) चारित्र की अपेक्षा से शुद्ध आत्मा का उग्र अवलंबन हो तो पर्याय में शुद्धस्वभाव प्रगट होता है।

(३) चारित्र की अपेक्षा से शुद्ध आत्मा का मंद अवलंबन हो तो पर्याय में शुभभाव होता है।

(४) चारित्र की अपेक्षा से शुद्ध आत्मा का मंदतम अवलंबन हो तो पर्याय में अशुभभाव होता है।

सम्यग्दृष्टि को अशुभराग के घटने के काल में शुद्ध आत्मा का अवलंबन होता है। शुभराग के समय भी चारित्र की अपेक्षा से वह शुद्धात्मा का अवलंबन करता है। वहाँ सम्यग्दृष्टि अशुभ से छूटकर शुभ में जुड़ता है, किन्तु उसे शुद्धता का मंद पुरुषार्थ है।

बाह्य में अशुभभाव पलटकर शुभ हुए हैं, किन्तु वह अशुद्धता ही है। चैतन्य की शुद्धता का काल अशुभकाल की अपेक्षा विशेष है, अतः वह शुद्धता का पुरुषार्थ है। जो मुनिराज शुद्धात्मा का तीव्र अवलंबन नहीं लेते, वे भी अशुभ में ही हैं, यदि तीव्र अवलंबन लेवें तो शुद्धात्मा में लीन रहते हैं। इसप्रकार शुद्धात्मा के अवलंबन का आधार है। श्रद्धा अपेक्षा तो अवलंबन पूर्ण है, किन्तु चारित्र अपेक्षा भेद कहा है।

प्रश्न : ह् चतुर्थ गुणस्थान में कोई जीव शुभोपयोग में हो और पंचम गुणस्थान में कोई जीव अशुभोपयोग में हो तो चैतन्य का अवलंबन किसके विशेष हैं?

उत्तर : ह् पंचम गुणस्थानवर्ती अशुभोपयोगी जीव को चतुर्थ गुणस्थानवर्ती शुभोपयोगी जीव की अपेक्षा चारित्र एवं स्वभाव का विशेष अवलंबन है; क्योंकि पंचम गुणस्थानवर्ती को अशुभभाव होने पर भी अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण कषाय का अभाव है और चतुर्थ गुणस्थानवर्ती को मात्र अनंतानुबंधी का अभाव है; अतः पंचम गुणस्थानवर्ती जीव को स्वभाव का विशेष अवलंबन है।

● सम्यग्दर्शन और मोक्षदशा दोनों का कारण शुद्धात्मा ही है।

सम्यग्दर्शन और मोक्षदशा इन दोनों में प्रमुख कारण एक निज द्रव्य ही है। चतुर्थ गुणस्थान में शुद्धात्मा का विशेष अवलंबन लेवें तो अशुभभाव नहीं होते। पाँचवें गुणस्थान में शुद्धात्मा का मंद अवलंबन लेवें तो शुभभाव होते हैं। छठवें गुणस्थान में शुद्धात्मा का तीव्र अवलंबन लेवें तो शुद्धभाव होते हैं और छठवें गुणस्थान में शुद्धात्मा का मंद अवलंबन लेवें तो शुभभाव होते हैं।

द्रव्यदृष्टि अर्थात् शुद्ध स्वभाव का अवलंबन। सम्यग्दृष्टि को शुद्ध-चैतन्य का आश्रय है और वह जितना पुरुषार्थ करता है, उतना कार्य उसे होता है।

शास्त्र में वर्णन आता है कि धर्मी जीव अशुभ से बचने के लिए शुभ में आता है। यहाँ शुभ के अवलंबन से अशुभ का टलना, यह व्यवहार है। वास्तव में शुभभाव भी चैतन्य के अवलंबन से ही टलते हैं। सम्यग्दर्शन, चारित्र, शुक्लध्यान, केवलज्ञान यह सभी दशाएँ एक शुद्धात्मा के अवलंबन से ही प्रगट होती हैं।

● चैतन्यस्वभाव में केवलज्ञान भरा है, उसमें एकाग्रता करने से केवलज्ञान प्रगट होता है।

ज्ञानी जीव को गृहस्थदशा में अपने स्वरूप का भान है। श्रद्धा अपेक्षा से तो चैतन्य का पूर्ण अवलंबन है। शक्ति अपेक्षा स्वयं को भगवान मानता है, किन्तु पर्याय में पामरता है। उस पामर पर्याय का नाश करके केवलज्ञान प्रगट करने की भावना है।

पर्याय में कमजोरी है, किन्तु आश्रय तो चैतन्य स्वभाव का ही है। पर्याय में अशुद्धता है, किन्तु स्वभाव में अशुद्धता हो तो नाश कैसे होगा? माचिस में अग्नि शक्तिरूप नहीं हो तो प्रगट कैसी होगी? माचिस की लकड़ी को घिसने से आग नहीं निकलती, अपितु उसकी टोपी अर्थात् गूगल को घिसने से आग निकलती है; उसीप्रकार शरीर या पुण्य-पाप के

करने से केवलज्ञान प्रगट नहीं होता, किन्तु चैतन्यस्वभाव में एकाग्र होने से केवलज्ञान प्रगट होता है। मंद पुरुषार्थ के कारण यह जीव शुभभाववश पूजा आदि करता है।

● अज्ञानी जीव ज्ञानी के शुभभाव की नकल करता है, किन्तु शुद्धभाव की अकल न होने के कारण संसार में भ्रमता है।

जंगल में कोई व्यक्ति माचिस आदि के आधार से घास आदि जलाकर अग्नि से तपते हों, वहीं जंगल में स्थित कोई बंदरों का समूह घास में जलती अग्नि को देखकर स्वयं अग्नि जलाना चाहे, किन्तु उन्हें माचिस और अग्नि दोनों का ही ज्ञान नहीं है, उसीप्रकार ज्ञानी के शुभरागस्वरूप पूजा-भक्ति आदि को देखकर अज्ञानी बंदर की भाँति नकल करते हुए उपवास-व्रत-पूजादि करता है। दया-दान करता है, किन्तु यह वास्तविकता नहीं है।

वास्तव में मूल वस्तु चैतन्य स्वभाव, जिसमें केवलज्ञान के प्रगट होने की ताकत है तथा जिसका ज्ञानियों ने अवलंबन लिया है, उसे मुख्य रखकर ही ज्ञानी शुभभाव की क्रिया में प्रवर्तन करते हैं तथा अज्ञानी जीव मुख्य वस्तु का ख्याल न करके नकल करता है, किन्तु नकल में भी अकल की जरूरत होती है, जो उसे नहीं है। ज्ञानियों के शुभभाव के पीछे चैतन्य का विशेष जोर है। अज्ञानी इस ओर दृष्टि न करके खूब मेहनत करता है, किन्तु उसकी सारी मेहनत व्यर्थ है। संसार परिभ्रमण ही चल रहा है।

यहाँ धर्मी जीव की बात है। धर्मी जीव को श्रद्धा तो शुद्धात्मा की ही है, किन्तु चारित्र अपेक्षा से मंद अवलंबन होने से शुभभाव होते हैं तथा उग्र पुरुषार्थ होने पर शुद्ध परिणति होती है।

●

प्रवचनसार गाथा २५५

अब, ऐसा सिद्ध करते हैं कि शुभोपयोग को कारण की विपरीतता से फल की विपरीतता होती है :ह

रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं ।

णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि ।।२५५।।

(हरिगीत)

एकविध का बीज विध-विध भूमि के संयोग से।

विपरीत फल शुभभाव दे बस पात्र के संयोग से ।।२५५।।

अन्वयार्थ :ह [इह नानाभूमिगतानि बीजानि इव] जैसे इस जगत में अनेक प्रकार की भूमियों में पड़े हुए बीज [सस्यकाले] धान्यकाल में विपरीतरूप से फलते हैं, उसीप्रकार [प्रशस्तभूतः रागः] प्रशस्तभूत राग [वस्तुविशेषेण] वस्तु-भेद से (पात्रभेद से) [विपरीतं फलति] विपरीतरूप से फलता है।

टीका :ह जैसे बीज ज्यों के त्यों होने पर भी भूमि की विपरीतता से निष्पत्ति की विपरीतता होती है (अर्थात् अच्छी भूमि में उसी बीज का अच्छा अन्न उत्पन्न होता है और खराब भूमि में वही खराब हो जाता है या उत्पन्न ही नहीं होता), उसीप्रकार प्रशस्तरागस्वरूप शुभोपयोग ज्यों का त्यों होनेपर भी पात्र की विपरीतता से फल की विपरीतता होती है; क्योंकि कारण के भेद से कार्य का भेद अवश्यम्भावी (अनिवार्य) है।

गाथा २५५ पर प्रवचन

जिसे आत्मा का भान है; किन्तु स्वभाव स्थिरता नहीं है। उसे दया-दान-व्रत पूजा आदि का शुभभाव और शुद्धात्मा का अनुराग वर्तता है तथा उसकी दृष्टि स्वभाव पर है। श्रद्धा में राग का निषेध है; फिर भी वीतरागता क्रम-क्रम से ही प्रगट होती है।

धर्मी जीव के शुभराग को उपचार से मोक्ष का कारण कहा है। अज्ञानी जीव की श्रद्धा कुदेव-कुगुरु और कुशास्त्र पर है, उसका शुभभाव

अज्ञानी जीवों के प्रति है। कषाय की मंदता होने पर भी कारण और कार्य दोनों में विपरीतता ही है; अतः ये संसार का ही निमित्त है।

● अज्ञानी को शुभभाव में विपरीतता होने से कार्य (फल) में भी विपरीतता है।

जिसप्रकार अनाज के बीज एक ही प्रकार के होने पर भी भूमि की विपरीतता से बीज की उत्पत्ति में भी विपरीतता होती है अर्थात् अच्छी भूमि में उस बीज का अच्छा फल उत्पन्न होता है और खराब भूमि में खराब फल उत्पन्न होता है अथवा उत्पन्न नहीं होता।

मिट्टी के बर्तन में पकाई रसोई और तपेली में पकाई रसोई का स्वाद भिन्न-भिन्न होता है। कुएँ का पानी और नदी का पानी इन दोनों का भी स्वाद भिन्न-भिन्न होता है।

बीज अथवा पदार्थ की तत्समयानुरूप जो योग्यता जैसी होनी होती है, वैसी हुई है। निमित्त के कारण परिवर्तन होता है ह्व ऐसा नहीं है। यहाँ निमित्त की प्रधानता से कथन किया है, अतः जिसप्रकार के दया-दान-व्रतादि का शुभभाव ज्ञानी को होता है, वैसा अज्ञानी को नहीं होता; किन्तु अज्ञानी को भी शुभभाव अवश्य होते हैं।

यहाँ शुभ के कारण में विपरीतता है, अतः कार्य में भी विपरीतता है। ज्ञानी के शुभभाव परम्परा से मोक्ष का कारण है और अज्ञानी के शुभभाव संसार का कारण है।

गाथा २५४ में धर्मी के शुभराग की दिशा बताई थी और इस गाथा में अज्ञानी के शुभभाव की दिशा विपरीत होने से फल में भी विपरीतता होना बताया है।

ज्ञानी को अन्तर में विद्यमान सर्वज्ञशक्ति का ज्ञान है, उसमें एकाग्र होने से धर्म होता है। एकाग्रस्वरूप को जिन्होंने प्राप्त किया है ह्व ऐसे सर्वज्ञदेव, निर्ग्रन्थ गुरु के प्रति धर्मी को प्रेम होता है। इनके प्रति विद्यमान राग में उसे विवेक वर्तता है; अतः वह राग मोक्ष का निमित्त भी है।

अज्ञानी को सर्वज्ञ के स्वरूप से विपरीत दिशा की ओर राग वर्तता है। वह व्यवहार धर्म को मानता है। नौ बार णमोकार मंत्र बोलने से अथवा दया-दान-यात्रा से धर्म मानता है, कुगुरु-कुदेव-कुधर्म से धर्म मानता है, किन्तु यह सब संसार का ही कारण है। कुदेवादि के प्रति रुचि-पुण्य अथवा व्यवहार की रुचि है, अतः मिथ्यादृष्टि जीव पापानुबंधी पुण्य बाँधकर संसार में ही रखड़ता है।

● तत्त्व के आराधक सिद्धगति में और विराधक निगोदगति में जाते हैं।

जिसप्रकार घूमता हुआ लट्टू (भौंरा) घूमते हुए भी स्थिर दिखाई देता है, उसीप्रकार तत्त्वज्ञान के तीव्र विरोधी, पुण्य से धर्म मानने वाले हैं। आत्मा का मनचाहा स्वरूप माननेवाले, बाह्य क्रिया में धर्म माननेवाले, यथार्थ ज्ञान का तीव्र विरोध करनेवाले जीव वर्तमान में कदाचित् शुभभाव के फल में देवगति पा जावें; किन्तु परम्परा से निगोद में ही जाने वाले हैं।

ऐसे जीव को स्थिर, किन्तु परिभ्रमण करनेवाले लट्टू की भाँति निगोदिया शरीर में ही असंख्य सागरोपम काल तक आयु व्यतीत करनी पड़ती है।

तत्त्व के तीव्र आराधक जीव सिद्धगति और तत्त्व के विराधक जीव निगोदगति प्राप्त करते हैं। आराधकतापूर्वक शुभभाव हो तो जीव देवगति में जाए, किन्तु संसार परिभ्रमण चलता रहता है तथा विराधकतापूर्वक अशुभभाव हो तो नरकगति में जाता है। पात्रता की विपरीतता से फल में भी विपरीतता आती है।

● निमित्त-उपादान की प्रसिद्धि ह्व

ज्ञानी को निश्चयपूर्वक व्यवहार है, स्वसन्मुख अभिप्राय है। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को परलक्षी माननेवालों की, यहाँ बात नहीं है। उसने तो सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का यथार्थ स्वरूप समझा ही नहीं है। सर्वज्ञदेव, निर्ग्रन्थ गुरु, अनेकान्तस्वरूपी शास्त्र क्या कहते हैं? इन्हें यथार्थ जाननेवाले का मिथ्यात्व अवश्य टलता है।

जैसा सर्वज्ञ का आत्मा है, वैसा मेरा आत्मा है। मैं भी सर्वज्ञ हो सकता हूँ, इत्यादि प्रकार से ज्ञानी जीव श्रद्धा करता है और सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की पहिचान करता है। आत्मज्ञान बिना सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की पहिचान नहीं हो सकती।

● निमित्त किसे कहते हैं?

उपादान में कार्य हो, तब निमित्त पर आरोप आता है। निमित्त, उपादान की प्रसिद्धि करता है। सर्वज्ञ को यथार्थ मानने वाला जीव ज्ञानी है। जिसने अपने स्वरूप में आंशिक वीतरागता प्रगट की है, वह सर्वज्ञ को माननेवाला यथार्थ जीव है। इससे विपरीत जो दया-दानादि व्यवहार और शरीर की क्रिया से धर्म मानते हैं, जिन्हें सर्वज्ञ शक्तिस्वरूप आत्मा की खबर नहीं है तथा विपरीत स्वरूप दर्शानेवाले कुदेव-कुगुरु-कुधर्म के प्रति प्रेम है, उनका निश्चयस्वरूप भी संसार का कारण है। निमित्त के प्रति रुचिवाला जीव संसार की रुचिवाला है, पुण्य की रुचिवाला है।

जिसप्रकार साहूकार के पास साठ पैसा प्रतिशत ब्याज से कोई खुद की पूँजी जमा करावे तो वह सुरक्षित रहती है। ब्याज सहित वापिस भी मिलती है। साधारण व्यक्ति के पास देवें तो पूँजी की गारन्टी नहीं होती है और पूँजी तथा ब्याज दोनों ही जाने का भय रहता है, उसीप्रकार धर्मी जीव अपनी पूँजी को सर्वज्ञ के पास रखता है, जिससे पूँजी और ब्याज दोनों ही सुरक्षित वापिस मिलते हैं अर्थात् उसे सच्चे आत्मा की प्रतीति होकर केवलज्ञान की प्राप्ति होती है।

इससे विपरीत कुदेवादि के पास अपनी पूँजी रखे तो वह जीव निज आत्मा से दूर हो जाता है, उसका कोई पार नहीं है। ब्याज रूप संसार परिभ्रमण चलता ही रहता है। इसप्रकार निमित्त और पात्रता का फेर है। पात्रता में विपरीतता हो तो फल भी विपरीत ही होगा।

●

प्रवचनसार गाथा २५६

अब, कारण की विपरीतता और फल की विपरीतता बतलाते हैं :ह
छदुमत्थविहिदवस्थुमुवदणियमज्झयणझाणदाणरदो।
ण लहदि अपुणब्भावं सादप्पगं लहदि।।२५६।।

(हरिगीत)

अज्ञानियों से मान्य व्रत-तप देव-गुरु-धर्मादि में।

रत जीव बाँधे पुण्यहीनरु मोक्ष पद को ना लहें।।२५६।।

अन्वयार्थ :ह [छद्वस्थविहितवस्तुषु] जो जीव छद्वस्थविहित वस्तुओं में (छद्वस्थ अज्ञानी के द्वारा कथित देव-गुरु-धर्मादि में) [व्रतनियमाध्ययनध्यानदानरतः] व्रत-नियम-अध्ययन-ध्यान-दान में रत होता है वह जीव [अपुनर्भावं] मोक्ष को [न लभते] प्राप्त नहीं होता किन्तु [सातात्मकं भावं] सातात्मक भाव को [लभते] प्राप्त होता है।

टीका :ह सर्वज्ञस्थापित^१ वस्तुओं में युक्त शुभोपयोग का फल पुण्यसंचयपूर्वक मोक्ष की प्राप्ति है। वह फल, कारण की विपरीतता होने से विपरीत ही होता है। वहाँ, छद्वस्थस्थापित वस्तुयें वे कारणविपरीतता है; उनमें व्रत-नियम-अध्ययन-ध्यान-दानरतरूप से युक्त शुभोपयोग का फल जो मोक्षशून्य केवल पुण्यापसद^२ की प्राप्ति है वह फल की विपरीतता है; वह फल सुदेव-मनुष्यत्व है।

गाथा २५६ पर प्रवचन

● वस्तुस्वरूप से विपरीत कथन करनेवाला जीव अज्ञानी है।

सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कारण नहीं है। निमित्त उपादान का कार्य नहीं कर सकता। आत्मा त्रिकाली शुद्ध है, विकार क्षणिक है। शुद्ध आत्मा के लक्ष्य से विकार टलकर अविकारी दशा प्राप्त होती है। पुण्य से धर्म नहीं होता। पुण्य और संवर दोनों भिन्न-

१. सर्वज्ञस्थापित = सर्वज्ञ कथित।

२. पुण्यापसद = पुण्य अपसद; अधमपुण्य; हतपुण्य।

भिन्न तत्त्व हैं। नव तत्त्व पृथक-पृथक हैं ह्व ऐसा सर्वज्ञ भगवान ने यथार्थ वस्तुस्वरूप बताया है।

तीन लोक और तीन काल का सम्पूर्ण ज्ञान उन्हें वर्तता है। भूतकाल के समान भविष्यकाल की पर्यायें भी अनंत हैं। दर्शन-ज्ञान-सुख-वीर्य समस्त गुणों की पर्यायें भूत एवं भविष्य काल की अपेक्षा अनंत-अनंत गुणी है।

जिस द्रव्य की जैसी पर्याय है वैसा ही स्वरूप सर्वज्ञ भगवान ने बताया है, इसलिये जो वस्तुस्वरूप को नहीं मानता, वह सर्वज्ञ को ही नहीं मानता। अज्ञानी मिथ्यादृष्टि व्रत, पुण्य या निमित्त से धर्म हुआ अथवा उनसे उपादान में कार्य हुआ ह्व मानता है। यह व्रत, उपवास आदि शुभ में धर्म मानता है।

यहाँ पाठ में आये हुए छद्मस्थ शब्द का अर्थ अज्ञानी समझना चाहिए।

● सत्शास्त्र निमित्त होने पर भी उसके मर्म को नहीं समझनेवाला जीव अज्ञानी है।

जिसे व्यवहार से सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का अवलंबन मिला, सत्शास्त्र जैसे निमित्त मिलें; तथापि जो वस्तु के यथार्थ भाव को ग्रहण नहीं करता और पुण्य अथवा निमित्त से धर्म मानता है, वह जीव अज्ञानी है।

शुभोपयोग परम्परा से मोक्ष का कारण है, किन्तु कर्मोदयवश जीव परिभ्रमण करता है। अज्ञानी जीव शुभभाव को ही मोक्ष का वास्तविक कारण मानकर व्रत-तपादि में लीन रहते हैं और फल की प्राप्ति नहीं होवे तो कर्म से नुकसान हुआ मानते हैं।

शास्त्र के मर्म को समझे बिना व्यवहार रत्नत्रय भाव को धारण किया; किन्तु चैतन्यलक्ष्मी की प्राप्ति नहीं हुई। ज्ञानी कहते हैं कि हे भाई ! यह निमित्त का कथन है, वास्तव में ज्ञान स्वरूप में एकाग्र होकर श्रद्धा व ज्ञान करें तो ही शांति की प्राप्ति होती है।

स्वयं के पास सर्वज्ञशक्ति है, उसमें धर्म व शांति न मानकर अज्ञानी जीव ध्यान, व्यवहाररत्नत्रय आदि में शान्ति मानता है। उत्तम कुल में

जन्म लेने से सर्वज्ञ देव-शास्त्र-गुरु का सान्निध्य मिला; पर इनकी महिमा को नहीं समझता है, अतः यह समस्त वस्तुएँ मिलने पर भी न मिलने के समान ही है। वीतरागता के पोषकशास्त्र मिलने पर भी उसका मर्म नहीं समझे तो अज्ञानी ही है।

● स्वभावेश्वर, विभावेश्वर और जड़ेश्वर की स्पष्टता ह्व

अनेक जीव समाधि-साधना में धर्म मानते हैं, किन्तु यह सब मूढ़ता है। जगत में अनंत आत्मा, अनंतानंत पुद्गल परमाणु, धर्म, अधर्म, आकाश एक-एक और असंख्य कालाणु द्रव्य हैं। प्रत्येक पदार्थ कायमस्वरूपी रहकर परिवर्तन कर रहा है। इन सबमें आत्मा चेतन है और बाकी सब अचेतन द्रव्य हैं।

यहाँ तीन प्रकार के ईश्वर की बात करते हैं।

स्वभावेश्वर ह्व प्रत्येक आत्मा ज्ञान-दर्शन-सुख, वीर्य आदि शक्तियों का भण्डार है, परिपूर्ण प्रभु है। उसका स्वभाव ज्ञानानन्द शुद्ध है। प्रत्येक काल व क्षेत्र में वह अपने ऐश्वर्य से विराजमान है, उसे कोई लूट नहीं सकता है।

विभावेश्वर ह्व अज्ञानी आत्मा अपने चैतन्य स्वभाव को भूलकर राग-द्वेष आदि विकारी भाव करता है। आत्मा का ऐश्वर्य स्थिर होने पर भी यह विभाव परिणाम करता है। विभावभाव को टालने में साक्षात् तीर्थकर भी समर्थ नहीं हैं। विकार में भी आत्मा स्वतंत्र है और विकार टालकर स्वभाव में रत होने में भी वह स्वतः स्वतंत्र है।

जड़ेश्वर ह्व प्रत्येक परमाणु और अन्य जड़ द्रव्य ऐश्वर्यवान हैं। उनकी पर्याय को पलटने में कोई समर्थ नहीं है ह्व ऐसी शक्ति जड़पदार्थ में परिपूर्ण व्याप्त है; अतः वह जड़ेश्वर हैं।

उक्त तीन प्रकार के ईश्वरों की यथावत् प्रतीति करो ह्व ऐसा सर्वज्ञ की वाणी में आया है, किन्तु अज्ञानी जीव इन तीनों ईश्वरों को नहीं मानता। स्वभाव का भान न रखकर शरीर की क्रिया का भान रखता है, पुण्य से धर्म मानता है।

● अज्ञानी के कहे हुए व्रत-तपादि में जो जीव लीन हैं, उन्हें धर्म नहीं होता।

अज्ञानी जीव शास्त्र के विरुद्ध अर्थ करता है। अज्ञानियों द्वारा कहे हुए व्रत-तपादि में ही लीन रहता है। अत्यधिक शुभराग करने से मोक्ष की प्राप्ति मानता है; किन्तु इससे केवल पुण्य प्रकृतियाँ बंधती हैं, संसार परिभ्रमण नहीं छूटता।

धर्मी को शुभ के पीछे शुद्धस्वभाव का भान है, सर्वज्ञ में श्रद्धा है। अज्ञानी को केवल कुदेवादि की श्रद्धा होने से वह विभावभाव में लीन है। कुदेवादि की श्रद्धा से युक्त तथा व्रतादि से धर्म माननेवाला जीव शुभ भाव के कारण संसार में ही रखड़ता है।

गाथा २५५ में कहा कि जमीन (भूमि) की विपरीतता से बीज भी विपरीत फल देता है, उसीप्रकार अज्ञानी का शुभराग भी संसार को फलाता है। अज्ञानी के कहे हुए व्रत-तप, दया-दान में जो जीव रत हैं, वे जीव मोक्ष को प्राप्त नहीं करते; अपितु पुण्यबंध होने से संसार में ही भ्रमण करते हैं।

● स्वयं में सर्वज्ञ होने की ताकत है हूँ ऐसी प्रतीति से युक्त जीव ही सर्वज्ञ को मानता है।

“सर्वज्ञस्थापित वस्तुओं में युक्त शुभोपयोग का फल पुण्य संचय पूर्वक मोक्ष की प्राप्ति है” इस पंक्ति में बहुत रहस्य भरा है। प्रथम शब्द सर्वज्ञस्थापित है, अतः सर्वज्ञ किसे कहना यह प्रथम जानना चाहिए।

सब मिलकर एक आत्मा नहीं है, किन्तु स्वतंत्र अनंत आत्मायें हैं। प्रत्येक आत्मा अपने स्वयं के कारण सुख-दुःख प्राप्त करता है। उसमें कितने ही जीवों ने आत्मज्ञान करके सर्वज्ञदशा को प्राप्त किया है। वे किस रीति से सर्वज्ञता को प्राप्त हुए उसका यहाँ वर्णन किया है?

आत्मा का ‘ज्ञ’ अर्थात् जानने-देखने का स्वभाव है। शरीर, मन, वाणी आत्मा से अत्यन्त भिन्न हैं। आत्मा की पर्याय में राग-द्वेषादि विकार तथा ज्ञान की हीन पर्याय दिखाई देती है, यह आत्मा का यथार्थ

स्वभाव नहीं है। आत्मा का स्वभाव तो परिपूर्ण जानने का है। सर्वज्ञ और सर्वदर्शी शक्ति प्रत्येक आत्मा में है। उस शक्ति का भरोसा करके बहुत जीवों ने सर्वज्ञदशा प्राप्त की है।

मैं भी अपने सर्वज्ञस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करके सर्वज्ञपद को पा सकता हूँ। पुण्य-पाप अथवा अल्पज्ञता मेरा स्वरूप नहीं है। पुण्य-पाप के आधार से मेरा सर्वज्ञपद नहीं प्रगटता, अपितु मेरे सर्वज्ञस्वभाव के आधार से सर्वज्ञपना प्रगटता है।

प्रत्येक जीव सर्वज्ञदशा को पा सकता है। अनादिकाल से अब तक अनंत सर्वज्ञ हो चुके हैं तथा सर्वज्ञदशा की प्रतीतिवाले, सर्वज्ञदशा को ही साधनेवाले असंख्यात साधक जीव वर्तमान में भी विद्यमान हैं।

पुण्य-पाप और निमित्त की अपेक्षा से रहित होकर आत्मा को साधने वाले और अपने को शरीर-मन-वाणी, अल्पज्ञरूप नहीं माननेवाले ज्ञानी हैं। विकार में अटकने पर अशुद्धता और अपूर्णता प्राप्त होती है और यदि ज्ञान में सर्वथा स्थिर हो गये तो सर्वज्ञदशा की ही प्राप्ति होती है। इस प्रतीति से युक्त जीव पुण्य-पाप अथवा जड़ की क्रिया में अपना कर्तव्य नहीं मानता।

पूर्व में ऋषभदेव-महावीर आदि सर्वज्ञ हुए हैं तथा वर्तमान में सीमंधर परमात्मा सर्वज्ञरूप से विराजमान हैं। भविष्य में अनंत सर्वज्ञ होंगे। प्रथमतः इनकी व्यवहार श्रद्धा करे, तब सर्वज्ञ को माना कहा जाये। ज्ञान की रुचि होते ही विकार की रुचि नष्ट होती है। ऐसे रुचिवाले जीव को केवलज्ञान प्रगट होता है।

जिसप्रकार लौकिक में किसी जीव को धन की रुचि हो, वह धनवान के गीत गाता है, उसीप्रकार जिसे सर्वज्ञपद की रुचि है, वह सर्वज्ञ के गीत गाता है। जो जीव आत्मा की रुचि करता है, वह विकार तथा अन्य पदार्थों की रुचि नहीं रख सकता।

● सर्वज्ञ की वाणी में आया हुआ वस्तु स्वरूप हूँ

सर्वज्ञ तीर्थकर देव की वाणी जीवों के कल्याण में निमित्तरूप न हो

हूँ ऐसा नहीं होता। वाणी के बिना सर्वज्ञ और वस्तु स्वरूप दोनों को ही समझ पाना मुश्किल है। सर्वज्ञ हुए बिना देह छूटकर मोक्ष दशा प्रगट नहीं होती। पूर्व अल्पज्ञावस्था में “मैं परिपूर्ण स्वभाव को प्राप्त करूँ और दूसरों को भी परिपूर्णतारूप स्वभाव की बात समझाऊँ” हूँ ऐसा शुभराग किया था। इस शुभराग के फल में ही तीर्थकर नामकर्म की प्रकृति बँधी और वह उदय में आने पर वाणी का खिरना स्वयमेव हुआ।

सर्वज्ञ की वाणी में आया हुआ वस्तुस्वरूप जैसा स्वतंत्र है, वैसा जानना चाहिए। आत्मा जानने-देखनेवाला है। ज्ञान में दुःख नहीं है। विकार में अटकना ज्ञान का स्वरूप नहीं है। ज्ञान में एकाग्र होवे तो परिपूर्णता प्रगट होती है। प्रत्येक वस्तु गुण-पर्यायों से भरी हुई है। कोई भी वस्तु पराधीन नहीं है, अतः छह द्रव्य और नव तत्त्वों का पृथक-पृथक स्वरूप जानना चाहिए।

इसप्रकार धर्मी जीव सर्वज्ञ, सर्वज्ञ की वाणी और सर्वज्ञ की वाणी में आये हुये वस्तुस्वरूप का यथार्थ निर्णय करता है। वस्तुस्वरूप के विरुद्ध कहनेवाले कुदेवादि को वंदन नहीं करता और सर्वज्ञ के प्रति शंका नहीं करता।

अज्ञानी जगत मानता है कि भगवान मदद करेंगे; किन्तु ऐसा मानने से पुण्य का नाश होता है और सर्वज्ञ का अनादर होता है, अतः जिसे पुण्य-पाप का आदर है, वह धर्म को नहीं जानता तथा धर्मी जीव पुण्य-पाप के आधार से धर्म नहीं मानता।

जिसप्रकार माचिस के गूगल को घिसने से अग्नि प्रगट होती है, लकड़ी को घिसने से अग्नि नहीं प्रगटती, उसीप्रकार पुण्य-पाप के आधार से केवलज्ञान नहीं होता, अपितु चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान और रमणता से केवलज्ञान होता है। अनेक जीवों ने इसीप्रकार राग का सर्वथा नाश करके सर्वज्ञदशा प्राप्त की है।

यह जीव स्वयं ही स्वयं का परमेश्वर है। अन्य कोई परमेश्वर इस जगत का कर्ता नहीं है। जो वस्तु में कोई कुछ नहीं कर सकता।

त्रिकाली के समान वर्तमान का भी कोई कर्ता नहीं है। आत्मा स्वयं अनादि से है और वर्तमान पर्याय में विकारी अथवा अविकारी दशा का कर्ता स्वयं है। वह स्वयं स्वभाव के लक्ष्य से विकार का सर्वथा नाश करके सम्पूर्ण निर्दोष अवस्था प्राप्त करता है, यही वीतरागदशा है।

● यथार्थ वस्तुस्वरूप से युक्त शुभोपयोग का फल पुण्यसंचय पूर्वक मोक्ष की प्राप्ति है।

सर्वज्ञ स्वभाव का भान होनेपर भी जबतक पूर्णदशा की प्राप्ति नहीं हुई है, तबतक उसे शुभराग विद्यमान है; किन्तु वह शुभराग को अपना स्वरूप नहीं मानता तथा उसपर दृष्टि भी नहीं करता है।

जिसप्रकार खेत में गेहूँ की फसल हो तो श्रमिक का ध्यान गेहूँ पर होता है, चारे पर नहीं। चारा तो सहज ही मिल जाता है, उसीप्रकार धर्मी की दृष्टि चिदानन्द भगवान आत्मा पर है। अपूर्णदशा में जितना राग रह गया है, उसके फल में देवगति, तीर्थकर पुण्यप्रकृति, बलदेव आदि का भव मिलता है, किन्तु इस पुण्यफल पर उसकी दृष्टि नहीं होती; क्योंकि शुभभाव और शुभभावों के फल में आत्मा की शान्ति नहीं है।

पुण्य-पाप से रहित शुद्ध चैतन्य में एकाग्रता ही शांति है। धर्मी जीव सर्वज्ञ, सर्वज्ञ की वाणी और सर्वज्ञ द्वारा कथित वस्तुओं में श्रद्धा करता है; किन्तु जब स्वभाव में स्थिर नहीं हो सकता, तब शुभोपयोग में उपयोग लगाता है। स्वभाव में जितनी स्थिरता है, उतनी शुद्धता है और अल्पराग के कारण पुण्यबंध भी होता है, किन्तु ज्ञानी को पुण्य की रुचि नहीं है। रुचि तो स्वभाव के प्रति है। वह क्रम-क्रम से शुभभाव का अभाव करके मोक्ष की प्राप्ति करता है।

● अज्ञानी वस्तुस्वरूप से विपरीत कथन करता है; अतः उसके कथन में कारण विपरीतता है।

कारण की विपरीतता होने पर फल भी विपरीत ही होता है। छद्मस्थ अज्ञानी द्वारा कहा हुआ वस्तुस्वरूप कारण विपरीतता ही है।

आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान एकाग्रता को सर्वज्ञदेव धर्म कहते हैं और अज्ञानी पुण्यक्रिया में धर्म मानता है। इस जीव को आत्मा तथा देव-गुरु-शास्त्र का भान नहीं है; इसलिये बाह्य साधनों में धर्म मानता है। अन्तर में अनन्त शांति भरी है, उसमें शांति न मानकर बाह्य में शांति मानता है। निमित्त से उपादान में कार्य मानता है। देव-गुरु का स्वरूप विपरीत कहता है। वास्तव में अज्ञानी को सच्ची क्रिया की खबर ही नहीं है।

(१) अपने शुद्ध स्वभाव के लक्ष्य से क्रिया न मानकर शरीर और पुण्य से धर्मक्रिया मानता है, उसे यथार्थ धर्मक्रिया का भान नहीं है।

(२) विकार की क्रिया स्वयं के दोष के कारण पर्याय में होती है, उसे न मानकर कर्म और पर से विकार मानता है, उसे विकारीक्रिया का भी भान नहीं है।

(३) शरीरादि जड़ पदार्थों की क्रिया जड़ से न मानकर आत्मा से शरीर की क्रिया मानता है, इसप्रकार जड़ की क्रिया को स्वतंत्र नहीं मानता।

अज्ञानी समस्त क्रियाओं को विपरीत तथा ज्ञानी यथावत् जानते हैं। अज्ञानी द्वारा कहा हुआ वस्तुस्वरूप सर्वज्ञ से विपरीत है। अज्ञानी के द्वारा स्थापित बात में स्वतः ही कारण विपरीतता है।

● वस्तुस्वरूप की विपरीत मान्यता से युक्त शुभोपयोग का फल संसार है।

अज्ञानी जीव पुण्य और निमित्त से धर्म मानकर अनेक प्रकार से तपादि करें, व्रतोद्यापन करें, नियम से शास्त्र-स्वाध्याय करे, ध्यान करे, हजारों रुपयों का दान करें, शुभोपयोग करें तो भी इन सबका फल अधम पुण्य ही है। यद्यपि शुभभाव के फल में देवगति मिलती है, किन्तु वह भी संसार ही है। यह फल की विपरीतता है।

कोई द्रव्यलिंगी मुनि के समान परिणाम रखे, २८ मूलगुणों का पालन करें, सुदेवादि को मानने से मंदकषायरूप भाव रखे तो कदाचित् नवमें ग्रैवेयक तक गमन हो सकता है। सामान्य परिणाम करें तो सामान्य स्थितिवाला मनुष्य होता है, किन्तु चारगतिरूप संसार दोनों ही अवस्था में है। जन्म-मरण का अभाव नहीं हुआ है।

● जो जिसमें लाभ मानता है, उसमें एकाग्र होता है।

अरहन्त भगवान की वाणी में आया है कि जो जिसमें लाभ मानता है, वह उसमें एकाग्रता करता है।

(१) मैं सर्वज्ञ शक्तिवाला हूँ। वर्तमान में अपनी कमजोरी के कारण ही भटक रहा हूँ, कर्म के कारण नहीं। अपने स्वभाव में विशेष स्थिरता करूँ तो सर्वज्ञता प्रगट हो सकती है हूँ ऐसा मानकर ज्ञानी जीव शुद्धस्वभाव के साथ एकता-प्रतीति करता है, पश्चात् चारित्र में एकाग्रता करता है।

(२) अज्ञानी जीव मानता है कि कर्मों के हलके पड़ने अथवा शुभभाव करने से धर्म होता है; किन्तु ऐसे जीव शुभभाव के साथ एकता करने से संसार में रखड़ते हैं।

(३) कोई अज्ञानी मानता है कि आत्मा स्वभाव से शुद्ध है। स्वभाव में अन्य की आवश्यकता नहीं है, किन्तु पर्याय में धर्म अथवा केवलज्ञान प्रगट करने के लिए सर्वज्ञरूप निमित्त को खोजना चाहिये। वास्तव में ऐसा माननेवाला जीव भी निमित्तों के साथ एकता करके संसार में परिभ्रमण ही करता है।

खोजना किसे है? परवस्तु को मिलाना तो तेरे हाथ की बात नहीं है; अतः अपने स्वभाव को खोज ! स्वयं की तैयारी में अनुकूल निमित्त संयोगरूप ही होंगे। आत्मा स्वयं सर्वज्ञ है, गुरु है, साक्षी है। अज्ञानी इसे स्वीकार न करके निमित्तों को खोजता है। धर्म के लिए परद्रव्यों में एकाग्र होता है, यही मूढ़ता है।

चैतन्यस्वभाव में एकाग्रता करते ही केवलज्ञानरूप ज्योति प्रकाशमान होती है, किन्तु अज्ञानी को इसकी खबर नहीं है। अज्ञानी सदैव वाणी-व्यापार में ही ध्यान रखता है; धर्म की बात में होशियार नहीं रहता। परीक्षा किये बिना ही प्ररूपणा चलाता है।

जो अज्ञानी निमित्त और पुण्य-पाप में एकाग्र होता है, उसे शुभभाव के कारण-देव-मनुष्यगति मिलती है, किन्तु मोक्ष नहीं मिलता। वह

चतुर्गति में ही भ्रमण करता है। इसप्रकार कारण विपरीतता का फल बताया है।

● यह आत्मा स्ववस्तु है, उसे परिपूर्ण ही स्वीकारना चाहिए।

आत्मा ज्ञानस्वभावी है, उसे परपदार्थों की अपेक्षा नहीं है। परपदार्थ और पुण्य-पाप से रहित आत्मा शुद्धस्वभावी है वह ऐसा श्रद्धान-ज्ञान होने पर भी जो जीव स्वभाव में स्थिर नहीं हो सकते उन्हें शुभभाव आते हैं। और एकबार स्वभाव की दृष्टि हो तो वे शुभभाव भी नष्ट होकर मोक्ष का कारण बनते हैं।

अज्ञानी स्व-स्वभाव से मुक्ति न मानकर पुण्य और निमित्त से धर्म मानता है। शुभभाव का लक्ष्य होने पर पुण्य ही बंधता है, मोक्ष नहीं होता।

आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है। 'वस्तु है' वह ऐसा कहने पर भी यदि उसे पर की अपेक्षा लेना पड़े तो वस्तु का अस्तिपना नहीं रहता। 'है' कहते ही परिपूर्णता सिद्ध होती है।

जिसप्रकार १६ तावयुक्त सोने में एक अंश भी तांबे का हो तो वह सोना अशुद्ध कहलाता है, किन्तु तांबे की अपेक्षा ग्रहण न करें तो वह सोना १६ ताववाला ही है, उसीप्रकार आत्मा की पर्याय में दया-दानादि विकार होते हैं, किन्तु दया-दानादि की अपेक्षा ग्रहण न करें तो आत्मा स्वभाव से शुद्ध, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी आदि शक्तियों से भरा हुआ है।

विकार के कारण अपूर्णता नहीं है, विकार भी पर्याय में स्वतंत्र ही है। स्वभाव भी स्वतंत्र है। इसप्रकार श्रद्धा-ज्ञान करे तो विकार और अपूर्णता का नाश होकर मोक्षदशा प्रगट होती है।

● चैतन्य वस्तु में सुख मिलता है, परवस्तु में सुख नहीं मिलता।

परनिमित्त के कारण धर्म होता है वह ऐसा माने तो सर्वज्ञ स्वभाव का निर्णय नहीं होता। निमित्त, राग और अपूर्णता से रहित स्वयं का परिपूर्ण स्वभाव है। इसे आजतक अज्ञानी जीव ने स्वीकार ही नहीं किया है।

लौकिक में निवास करने के लिए घर का होना अत्यन्त आवश्यक है, उसीप्रकार चैतन्यस्वभाव में अनंत शक्तियाँ भरी हैं, उसके ज्ञान बिना

सुख से रहना संभव नहीं है। विकार का परिहार करके ही सच्चा ज्ञान होता है। इस सच्ची मान्यतापूर्वक ही धर्मदशा/सुखदशा प्रगट होती है।

प्रश्न : वह सर्वज्ञ स्थापित वस्तु की श्रद्धा कब होती है?

उत्तर : वह स्वयं आत्मा केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि अनन्त चतुष्टय से भरा हुआ है। वह बाह्य निमित्त और पुण्य के अवलंबन बिना सहज ही प्रगट होता है, तभी वस्तु की श्रद्धा हुई, कही जाती है।

● अज्ञानी स्वभाव को न देखकर संयोगों की ओर झुकता है।

अज्ञानी जीव की दृष्टि संयोगाधीन है। स्वभाव के प्रति उसकी दृष्टि नहीं है। ६४ पुटी तीखेपन से युक्त लेंडीपीपर को घिसते ही उसकी अन्तरशक्ति व्यक्त हो उठती है, किन्तु अज्ञानी जीव पत्थर के संयोग को ही देखता है; लेंडीपीपर के समान स्वयं में व्याप्त अन्तरंग शुद्धता को नहीं देखता।

अरे भाई ! लेंडीपीपर की प्रगट वर्तमान पर्याय में उसी की अन्य पर्याय का अभाव है, फिर पत्थर तो भिन्न ही है। स्वभाव की बात होने पर संयोग का कोई काम नहीं रहता।

सर्वज्ञ द्वारा कहे हुये वस्तुस्वभाव का भान अज्ञानी को नहीं है। वह मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता तथा शुभभाव का फल अधम पुण्य को बाँधता है। इससे विपरीत ज्ञानी क्रम-क्रम से मोक्ष पाते हैं।

● यदि निमित्त के कारण पर्याय प्रगटती हो तो निमित्त के न होने पर वह कैसे प्रगट होगी और कैसे टिकेगी?

यहाँ कहते हैं कि द्रव्य की पर्याय प्रगट करने के लिए अन्य निमित्त की आवश्यकता नहीं है जो जीव अन्य निमित्तों की अनिवार्यता मानते हैं, उनसे पूछते हैं वह

(१) केवलज्ञान प्रगट होने पर सादि-अनंतकाल तक उसमें समय-समय परिणमन होता है। केवलज्ञान प्रगट होने में ज्ञानावरणादि कर्म का विनाश अथवा अन्य कारण की उपस्थिति बतायें तो वर्तमान में केवलज्ञान

की उपस्थिति में वे कारण नहीं हैं, फिर ज्ञान अनंतकाल तक किस आधार से रहेगा?

(२) लेंडीपीपर में ६४ पुटी तीखापन पत्थर पर घिसने से आता हो तो ६४ पुटी तीखापन व्यक्त होने पर वह यथावत् किसप्रकार बना रहता है?

(३) मकान कारीगर बनाता है, किन्तु कारीगर के बनाने के पश्चात् ५०-१०० वर्षों तक वह किसके आधार से टिका रहता है?

(४) हार-कुण्डल आदि सुवर्णकार और हथौड़ी से बने हैं ह्व ऐसा कहें तो हार-कुण्डल बनने के बाद सुवर्णकार और हथौड़ी के बिना भी वे बहुत समय तक यथावत् रहते हैं ह्व वह कैसे?

यदि संयोग के आधार से पर्याय होती हो तो संयोग के नष्ट होने पर पर्याय भी नष्ट हो जावे।

(१) केवलज्ञान होने के पश्चात् बारंबार कर्म का क्षय नहीं है तथा संहनन आदि भी विशेष नहीं हैं, यदि इनके आधार से केवलज्ञान होवे तो केवलज्ञान नहीं रहना चाहिए।

(२) पत्थर के आधार से पीपर में तीखापन प्रगट होवे तो पत्थर के हटते ही तीखापन नष्ट हो जाना चाहिये।

(३) सीमेंट अथवा कारीगर के आधार से मकान बनता हो तो कारीगर की अनुपस्थिति में मकान भी नहीं रहना चाहिये।

(४) सुवर्णकार और हथौड़ी के आधार से हार बनता हो तो सुवर्णकार और हथौड़ी के हटते ही हार नष्ट हो जाना चाहिये।

यहाँ अज्ञानी तर्क करता है कि पर्याय के होने में तदनुकूल निमित्त कार्यकारी हैं तथा कार्य हो जाने पर उन संयोगों की आवश्यकता नहीं रहती।

● एकसमयवर्ती पर्याय को निमित्त बिना स्वीकार कर सकते हैं तो त्रिकालवर्ती पर्याय निमित्त बिना क्यों नहीं हो सकती?

किसी निश्चित पर्याय की उत्पत्ति के पश्चात् वह पर्याय परपदार्थ

और संयोगों के बिना टिकी हुई मानना है तो प्रथमतः ही पर्याय की उत्पत्ति संयोगों के बिना होती है ह्व ऐसा मानना चाहिये।

जिसप्रकार एक मकान बनने में १ वर्ष समय लगा, तत्पश्चात् वह ५०-१०० वर्षों तक टिका रहा। जिसप्रकार ५०-१०० वर्षों तक वह मकान कारीगर के बिना टिका रहा, उसीप्रकार मकान के बनने में जो एक वर्ष का समय लगा है, उसमें भी मकान कारीगर के बिना ही बना है। इसप्रकार सिद्धान्त को भी समझ लेना चाहिए।

स्थूल स्कन्धों में निश्चित समय तक निमित्तों का संयोग दिखाई देता है। सूक्ष्म स्कन्ध भी स्थूल की अपेक्षा अनंतानंत हैं, वे प्रतिसमय परिवर्तन कर रहे हैं। क्या वे संयोग या निमित्त के आधार से परिवर्तन कर रहे हैं? अरे भाई ! वे सूक्ष्म स्कन्ध बिना निमित्त के ही परिवर्तन कर रहे हैं।

स्कन्ध की समग्र पर्याय को ख्याल में लेकर विचार करें कि अहो ! कोई भी पर्याय निमित्त और संयोग के आधार बिना ही टिकती है और परिवर्तन करती है। एकसमय भी निमित्त के बिना बदलना या टिकना उसका स्वयं का स्वभाव है। तब त्रिकालवर्ती पर्याय का भी ऐसा ही स्वभाव है, क्योंकि एक समय हो अथवा सौ समय, नियम तो नियम ही होता है।

इसप्रकार ज्ञानी सच्ची समझपूर्वक अपनी पर्याय को पर से भिन्न करके स्वयं में अभेद करता है। उसे पुण्यसंचयपूर्वक मोक्ष मिलता है। अज्ञानी थोड़े से निमित्त को मानकर पर्याय पर के कारण हुई ह्व ऐसा मानता है। द्रव्य तथा पर्याय को भिन्न-भिन्न मानता है, अभेद नहीं मानता, अतः उसे मोक्ष नहीं होता, अपितु शुभभाव के फल में अधम पुण्य उपार्जन होने से वह संसार में ही रखड़ता है।

●

प्रवचनसार गाथा २५७

अब (इस गाथा में भी) कारणविपरीतता और फलविपरीतता ही बतलाते हैं :ह

अविदिंदपरमत्थेसु य विसयकसायाधिगेषु पुरिसेसु ।

जुष्टं कदं व दत्तं फलदि कुदेवेसु मणुवेसु ॥२५७॥

(हरिगीत)

जाना नहीं परमार्थ अर रत रहें विषय-कषाय में ।

उपकार सेवादान दें तो जाय कुनर-कुदेव में ॥२५७॥

अन्वयार्थ :ह [अविदितपरमार्थेषु] जिन्होंने परमार्थ को नहीं जाना है, [च] और [विषयकषायाधिकेषु] जो विषय-कषाय में अधिक हैं, [पुरुवेषु] ऐसे पुरुषों के प्रति [जुष्टं कृतं वा दत्तं] सेवा, उपकार या दान [कुदेवेषु मनुजेषु] कुदेवरूप में और कुमनुष्यरूप में [फलति] फलता है ।

टीका :ह जो छद्मस्थस्थापित वस्तुयें हैं वे कारणविपरीतता है, वे (विपरीत कारण) वास्तव में (१) शुद्धात्मज्ञान से शून्यता के कारण, 'परमार्थ के अजान' और (२) शुद्धात्मपरिणति को प्राप्त न करने से 'विषयकषाय में अधिक' ऐसे पुरुष हैं । उनके प्रति शुभोपयोगात्मक जीवों को ह सेवा, उपकार या दान करनेवाले जीवों को ह जो केवल पुण्यापसद की प्राप्ति वह फलविपरीतता है, वह (फल) कुदेव कुमनुष्यत्व है ।

गाथा २५७ पर प्रवचन

गाथा २५६ में यह कहा था कि अज्ञानी जीव शुद्धात्मा के लक्ष से धर्म न मानकर ब्रत-तपादि शुभभावों में लीन रहता है । इससे उसे पुण्यबंध होता है और देव अथवा मनुष्यगति मिलती है । इससे विपरीत यदि वह अज्ञानी गुरुओं की सेवा-पूजा करता हो तो उसे अधम पुण्यबंध होता है । २५६वीं गाथा में पुण्य के फल में सुदेव-मनुष्यगति की प्राप्ति कही थी ।

अब, इस गाथा में कुदेव-कुमनुष्यपने की बात कहते हैं ।

अज्ञानी परिपूर्ण शुद्ध स्वभाव से धर्म न मानकर पुण्य से धर्म मानता है । ज्ञान-दर्शन स्वभाव के आधार से धर्म और वीतरागता प्रगट होती है; उसे नहीं मानता । ऐसे पुरुषों के प्रति जो जीव उपकार करते हैं, उसके फल में कुदेवपना व कुमनुष्यपना मिलता है ।

● जो जीव शुद्धात्मा के ज्ञान से रहित हैं; वे परमार्थ से अज्ञानी ही हैं ।

प्रत्येक आत्मा शक्तिरूप परिपूर्ण है और पर्याय में परिपूर्ण होने की शक्ति है; तथापि जो शुद्ध आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान से धर्म नहीं मानते और धर्म पर्याय के लिए पर या पुण्य की आवश्यकता मानते हैं, वे अज्ञानी हैं ।

अज्ञानी जिस वस्तु का प्रतिपादन करता है, वह कारण विपरीतता है । आत्मा ज्ञान-दर्शन से भरा हुआ, निर्विकारी शुद्ध है, शांतस्वरूप है । निमित्त का आत्मा में अभाव है । विकार आत्मा का सच्चा स्वरूप नहीं है । आत्मा अनंत शक्तिवान परमेश्वर है; किन्तु अपने स्वरूप व ऐश्वर्य को भूलकर वह निमित्त एवं पुण्य से ऐश्वर्य मानता है और अपने आत्मज्ञान से शून्य है, अतः परमार्थ से अज्ञानी ही है ।

● अज्ञानी वीतरागता को प्राप्त नहीं करता, अतः विषय कषाय में अधिकता करता है ।

जो जीव पुण्य से धर्म मानते या मनाते हैं । पूजा-व्रतादि से धर्म होना मानते हैं ह वे अज्ञानी हैं । जो जीव शुभभाव अथवा दया-दानादि से पाप होगा ह ऐसा मानते हैं, वे तो तीव्र मिथ्यादृष्टि हैं, उनकी यहाँ बात नहीं है ।

दया-दानादि के भाव पुण्य हैं; किन्तु जो पुण्य को धर्म का कारण मानता है, वह आत्मा को नहीं मानता, भगवान को भी नहीं मानता, उसे कदापि धर्म नहीं हो सकता, वह जीव वीतरागी दशा प्राप्त नहीं कर सकता ।

अज्ञानी जीव विकार से धर्म मानता है; स्वभाव से धर्म नहीं मानता अर्थात् विषय-कषायों में ही लीन रहता है ।

● अज्ञानी जीव कुदेव-कुगुरु की सेवा के फल में अधमपुण्य प्राप्त करके संसार में ही परिभ्रमण करता है।

जो जीव अज्ञानी जीवों के प्रति शुभभाव करते हैं, उनकी सेवा करते हैं, पूजा, दया-दान करते हैं, उन्हें पुण्यबंध तो होता है; किन्तु कारण में विपरीतता होने से फल में भी विपरीतता ही होती है। इसकारण वे जीव व्यंतर, भवनवासी जाति के निम्न देव अथवा रोगी, निर्धन मनुष्य होते हैं।

● पुण्य के तीन प्रकार कहे हैं ह

(१) चैतन्य स्वभाव के आदर से युक्त धर्मी जीव को शुभराग के फल में श्रेष्ठ पुण्यबंध होता है, उसे क्रम से नष्ट करके वह शीघ्र ही मोक्षदशा की प्राप्ति करता है।

(२) शुद्धस्वभाव के भान बिना व्रत-तपादि करें, उसे शुभभाव के फलस्वरूप मध्यम पुण्य बंधता है, और मनुष्यपना मिलता है; मोक्ष नहीं मिलता अर्थात् चारगतिरूप परिभ्रमण नहीं छूटता।

(३) स्वरूप को विपरीत माननेवाले एवं कुदेव-कुगुरु की सेवा-पूजा-दान करनेवाले को शुभ के फल में निम्न जाति का पुण्य बंधता है, जिससे कुदेव व कुमनुष्यपना मिलता है; किन्तु मोक्ष नहीं मिलता। इसप्रकार विपरीतता के कारण संसार परिभ्रमण चलता ही रहता है।

इसप्रकार चरणानुयोग में मिथ्यादृष्टि के पुण्य को यथावत् बताकर उसका फल स्पष्ट किया है। ●

अहा! संतों की करुणा तो देखो! कहते हैं कि भाई! तू अपने ऊपर दया क्यों नहीं करता? पर के आश्रय से ह दया-दानादि के भावों से तो तेरे स्वभाव का घात होता है; क्योंकि उसमें तेरे स्वभाव का अनादर होता है।

ह प्रवचनरत्नाकर भाग-८, पृष्ठ-१९१

प्रवचनसार गाथा २५८

अब, ऐसी श्रद्धा करवाते हैं कि कारण की विपरीतता से अविपरीत फल सिद्ध नहीं होता :ह

जदि ते विसयकसाया पाव त्ति परूविदा व सत्थेसु।

किह ते तप्पडिबद्धाः पुरिसा णित्थारगा होंति।।२५८।।

(हरिगीत)

शास्त्र में ऐसा कहा कि पाप विषय-कषाय हैं।

जो पुरुष उनमें लीन वे कल्याणकारक किसतरह।।२५८।।

अन्वयार्थ :ह [यदि वा] जबकि [ते विषयकषायाः] वे विषयकषाय [पापम्] पाप हैं [इति] इसप्रकार [शास्त्रेषु] शास्त्रों में [प्ररूपिताः] प्ररूपित किया गया है, तो [तत्प्रतिबद्धाः] उनमें प्रतिबद्ध (विषय-कषायों में लीन) [ते पुरुषाः] वे पुरुष [निस्तारकाः] निस्तारक (पार लगाने वाले) [कथं भवन्ति] कैसे हो सकते हैं?

टीका :ह प्रथम तो विषयकषाय पाप ही हैं; विषयकषायवान् पुरुष भी पाप ही हैं; विषयकषायवान् पुरुषों के प्रति अनुरक्त जीव भी पाप में अनुरक्त होने से पाप ही हैं। इसलिये विषयकषायवान् पुरुष स्वानुरक्त (अपने प्रति अनुराग वाले) पुरुषों को पुण्य का कारण भी नहीं होते, तब फिर वे संसार से निस्तार के कारण तो कैसे हो सकते हैं? (नहीं हो सकते); इसलिये उनसे अविपरीत फल सिद्ध नहीं होता (अर्थात् विषयकषायवान् पुरुषरूप विपरीत कारण का फल अविपरीत नहीं होता।)

गाथा २५८ पर प्रवचन

● पाँच इन्द्रियों के विषयों में अनुरक्त जीव पाप में ही अनुरक्त हैं।

आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वभावी है ह ऐसे भानपूर्वक होनेवाला शुभराग क्रम-क्रम से मोक्ष का कारण बनता है। जिसे शुद्ध स्वभाव की दृष्टि नहीं है; किन्तु व्रतादि के शुभभाव हैं, उसे मोक्ष नहीं हो सकता, किन्तु सुदेव-सुमनुष्यपना मिलता है।

जिसे शुद्धस्वभाव का भान नहीं है और जो कुदेवादि के प्रति ही समर्पण करता हो, उसे तत्फलस्वरूप कुदेव-कुमनुष्यपना मिलता है। इतनी बात पिछली गाथा में कही।

अब, इस गाथा जो आत्मा का भान नहीं होने से जो शुभभाव नहीं करते हैं तथा अशुभभाव रूप विषय-कषाय में ही लीन रहते हैं, वे पाप कार्य करते हैं वह यह बताते हैं।

ज्ञाता-दृष्टास्वभावी आत्मा के आश्रय से कल्याण की भावना न करके व्रतादि, मान, ख्याति, चाह में ही जो अपना जीवन लगाते हैं, वह पापी है। उसे भजनेवाले भी पापी ही हैं।

शुद्ध चैतन्यतत्त्व का आश्रय छोड़कर पाँच इन्द्रिय विषयों को भोगनेवाले अधर्मी हैं। जिसे राग की मंदता भी नहीं है, वह जीव पापी ही है; क्योंकि क्रोध-मान-माया-लोभ के समस्त परिणाम पापरूप ही हैं।

● अज्ञानी जीव के पास जब पुण्य का कारण ही नहीं है तो धर्म का कारण कैसे होगा?

अज्ञानी जीवों के प्रति जो अनुराग करता है अर्थात् जो कुदेवादि को मानता है, रागी-द्वेषी-देवताओं से धर्म या पुण्य मानता है, उसका पुण्य भी पाप में परिवर्तन हो जाता है।

जिन गुरुओं को विषय-कषाय की आस है, ब्रह्मचर्य नहीं है, लक्ष्मी और व्यापार में लाभ दिखता है, वे सब कुगुरु हैं। पैसा आदि कमाने का भाव करना अथवा उसका उपाय बताना तो पाप ही है और पाप की अनुमोदना करनेवाला भी पापी ही है।

पैसे में पुण्य मानने से पुण्य नहीं होता। यथार्थ पुण्य भी राग को घटाने से होता है; अतः मान, कीर्ति आदि भी विषय-कषाय के पोषक होने से पाप ही हैं।

● वस्तुस्वरूप की जिसे खबर नहीं है, उसे देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप का यथार्थ भान नहीं है।

(१) जिसे रागरहित अपने शुद्धस्वभाव का भान है, उसे सर्वज्ञदेव

का भान है। सर्वज्ञदेव को वीतरागदशा वर्तती है। वे एक समय में तीन काल और तीन लोक को जानते हैं, उन्हें आहारादि नहीं होते, वे अठारह दोषों से रहित होते हैं।

(२) जिसे वस्तुस्वरूप का भान है, उसे गुरु की भी यथार्थ प्रतीति है। चैतन्य स्वभाव के उग्र अवलम्बन से मुनियों का तीव्र राग घट गया है और वे केवलज्ञान लेने की तैयारी में हैं। उनका राग घटने से बहुत से संयोग छूट गये हैं। उन्हें वस्त्र-पात्रादि का राग नहीं होता वह ऐसा सहज निमित्त-नैमित्तिक संबंध है।

अज्ञानी को सर्वज्ञ कथित वस्तु का भान नहीं है। वह केवली को आहार होना कहता है, मुनियों को वस्त्रसहित बताता है वह ये सब स्वरूप से विपरीत मान्यता है। केवलज्ञान दशा में आहार लेने का मोह नहीं हो सकता तथा मुनि अवस्था में वस्त्रादि का राग नहीं होता। वस्त्रादि का राग होवे तो मुनिपना ही नहीं है। राग अथवा वस्त्रादि से मुनिपना कहना या मानना तो अज्ञानी द्वारा स्थापित वस्तुस्वरूप है, सर्वज्ञ द्वारा स्थापित नहीं।

वस्त्रादि परिग्रह, आहार-विहार, धर्माधर्म में जो जीव ठहरता है, वह पापी है। उसकी अनुमोदना या अनुराग करनेवाले जीव भी पापी ही हैं। वे संसार से पार उतरने में कदापि निमित्त नहीं हो सकते; अतः कुदेव-कुगुरु जैसे विपरीत कारण होनेपर उनसे विपरीतता ही उत्पन्न होती है। मोक्षरूप फल नहीं मिलता। ●

तू सच्चिदानन्दस्वरूप आनन्द का नाथ आत्मा है। तुझमें केवलज्ञान व आनन्द ही आनन्द भरा हुआ है। तू तो उसमें ही एकत्व करके पर में से एकत्वबुद्धि छोड़ दे। तथा पर के आश्रय से होनेवाले दया-दानादि भावों में से भी अपनापन छोड़ दें; क्योंकि ये सब पर के आश्रय से होनेवाले दुःखरूप भाव हैं।

हृ प्रवचनरत्नाकर भाग-८, पृष्ठ-१९०

प्रवचनसार गाथा २५९

अब, अविपरीत फल का कारण ऐसा जो 'अविपरीत कारण' वह बतलाते हैं :ह

उवरदपावो पुरिसो समभावो धम्मिगेषु सव्वेसु ।
गुणसमिदिदोवसेवी हवदि स भागी सुमग्गस्स ॥२५९॥
(हरिगीत)

समभाव धार्मिकजनों में निष्पाप अर गुणवान हैं ।

सन्मार्गगामी वे श्रमण परमार्थ मग में मगन हैं ॥२५९॥

अन्वयार्थ :ह [उपरतपापः] जिसके पाप रूक गया है, [सर्वेषु धार्मिकेषु समभावः] जो सभी धार्मिकों के प्रति समभाववान् है और [गुणसमितितोपसेवी] जो गुणसमुदाय का सेवन करनेवाला है, [सः पुरुषः] वह पुरुष [सुमार्गस्य] सुमार्ग का [भागी भवति] भागी होता है । (अर्थात् समार्गवान् है) ।

टीका :ह पाप के रूक जाने से सर्वधर्मियों के प्रति स्वयं मध्यस्थ होने से और गुण-समूह का सेवन करने से जो श्रमण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के युगपत्पनेरूप परिणति से रचित एकाग्रतास्वरूप सुमार्ग का भागी (सुमार्गशाली-सुमार्ग का भाजन) है वह निज को और पर को मोक्ष का और पुण्य का आयतन (स्थान) है, इसलिये वह (श्रमण) अविपरीत फल का कारण ऐसा 'अविपरीत कारण' है, ऐसी प्रतीति करनी चाहिये ।

गाथा २५९ पर प्रवचन

इस गाथा में सच्चे मुनिराज का स्वरूप बताते हैं । मुनिराज स्व-पर मोक्ष तथा पुण्य में निमित्त हैं । वास्तव में योग्य फल का कारण योग्य निमित्त ही होता है ।

● कैसे हैं महामुनिराज?

(१) मुनिराज को मिथ्यात्वादि पाप रूक गये हैं ।

शरीर की क्रिया तथा पुण्य से धर्म माननेरूप सबसे बड़ा पाप जिनके

विराम हो चुका है, उन मुनिराज को अपने चैतन्य स्वभाव के आश्रय से धर्म होता है । वे शरीरादि को परपदार्थ, पुण्य-पाप को विकार तथा निर्विकारी स्वभाव को अपना मानते हैं । उनके मिथ्यात्वरूप पाप टल गया है और संसार के अन्य भी बहुत से पापभाव विराम हो चुके हैं ।

(२) नवदीक्षित मुनिराज आगे बढ़ने लगे तो उनके प्रति अन्य (पुराने) मुनिराज उल्लास रखते हैं ।

मुनिराज सभी के बीच मध्यस्थ हैं । स्वयं दीक्षा लेकर अधिक काल बीत चुका हो और कोई अन्य मुनिराज अभी-अभी दीक्षा लेकर पुरुषार्थ के बल से स्थिरतापूर्वक विशेष रीति से आगे बढ़ने लगे हों तो पुराने मुनिराजों को नवीन मुनियों के प्रति ईर्ष्या नहीं वर्तती । इस मुनि को मैंने दीक्षा दी और यह मुझसे आगे बढ़ रहा है हूँ ऐसा भाव उनको नहीं होता ।

कोई मुनिराज एक करोड़ वर्ष पूर्व दीक्षा लिये हों और कोई मुनिराज अभी-अभी दीक्षा लिये हों हूँ ऐसे नवदीक्षित मुनिराज हों अथवा पुराने मुनिराज हों, किसी मुनि के ज्ञान का उघाड़ कम या अधिक हो, कोई छठवें गुणस्थानवर्ती हों अथवा श्रेणी माँड रहे हों, किसी के दो ज्ञान हों या तीन ज्ञान, कोई चार ज्ञानधारी हों या किसी ने केवलज्ञान प्रगट किया हो हूँ सर्वत्र मुनिराज समभाव ही रखते हैं ।

नवीन मुनिराजों को आगे बढ़ता हुआ देखकर पुराने मुनिराजों को भी अन्तर से स्वयं उल्लास आता है कि अहो ! आत्मा में अनंत ज्ञानादि शक्तियाँ भरी पड़ी हैं । मैं भी पुरुषार्थपूर्वक इन नवीन मुनियों की भाँति आगे बढ़ूँ हूँ ऐसा प्रमोदभाव उन्हें उत्पन्न होता है । कल का दीक्षित यह मुनि आज मुझसे बड़ा हो गया है हूँ ऐसा ईर्ष्याभाव नहीं होता । आत्मा स्वयं सर्वज्ञशक्तवान् है और पर्याय में मैं स्वयं सर्वज्ञता प्राप्त करूँगा हूँ ऐसा पुरुषार्थधर्मी जीवों को होता है । इस रीति से समस्त धार्मिक जीवों के प्रति उन्हें समभाव वर्तता है ।

(३) ये मुनिराज सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकाग्रता स्वरूप हैं । गुणसमूह अर्थात् ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा, चारित्र, वीर्य आदि गुणों को सेवते

हैं। स्वभाव में रमणता करते हैं। पुण्य-पाप तथा विकार को नहीं सेवते। परपदार्थ आत्मा से भिन्न हैं। विकार आत्मा का स्वरूप नहीं हैं। आत्मा तो ज्ञान-दर्शन शुद्धस्वरूप है वह ऐसी प्रतीतिपूर्वक सम्यग्दर्शन, स्वसंवेदन ज्ञान और आत्मा की अन्तर वीतरागी स्थिरता ही एकाग्रतास्वरूप सन्मार्ग है।

जिसप्रकार सिद्ध भगवन्तों ने सिद्धपद पाया है, उसीप्रकार मुनिराज अपने एकाग्रस्वरूप मोक्षमार्ग को दर्शाते हैं। मुनिराज को सुमार्ग प्रगटा है। अन्तरस्वरूप लीनता बढ़ गई है। बाह्य-आभ्यन्तर वीतरागी नग्नदशा वर्तती है। उपकरण रूप में मात्र मयूरपीछी और कमण्डल होता है। आहार लेने का, व्याख्यान या शास्त्र रचने का अल्पराग वर्तता है। शेष अन्तर्दशा में अत्यधिक निर्मलता है।

● बाह्य आभ्यन्तर निर्ग्रन्थ मुनिराज स्व-पर को मोक्ष एवं पुण्य का स्थान है।

मुनिराज स्व एवं पर को मोक्ष एवं पुण्य का स्थान दर्शाते हैं। आप शुद्धस्वभाव में अत्यधिक उग्र पुरुषार्थ करते हैं। कदाचित् अल्पराग शेष रहे तो उसके फल में पुण्य बंधता है। अन्य मुनिराज और श्रावक ऐसे ज्ञानी मुनियों के पास तत्त्व समझकर सम्यग्दर्शनपूर्वक मोक्ष प्राप्त करते हैं। यदि वे जीव मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते तो शुभभाव के फल में पुण्य बंध अवश्य करते हैं; अतः मुनिराज अन्य के लिए मोक्ष तथा पुण्य के कारण हैं।

कोई कहता है कि पंचम काल में मोक्ष नहीं है, किन्तु भाई! सच्ची प्रतीति तो कर ! पुरुषार्थ कम होगा तो एक-दो भव का समय लगेगा; किन्तु श्रद्धान यथार्थ होना चाहिये।

● मोक्ष और पुण्यरूपी फल का कारण निर्ग्रन्थ मुनि है वह ऐसी प्रतीति करो।

वर्तमान में अनेक जीव वस्त्रसहित ही मुनिपना मानते हैं। वस्त्रादि अत्यधिक परिग्रह रखें तो मुनिदशा नहीं होती। मुनिराज को मोक्ष तो

हथेली में दिखाई देता है। अन्तरलीनतापूर्वक उन्हें बाह्य में नग्नदशा वर्तती है।

मुनिदशा का अत्यधिकपना होने से उनका राग घट गया है, वस्त्रादि का निमित्त नहीं है; किन्तु जो शरीर से नग्न होते हुये भी बाह्यक्रिया से धर्म मानते हैं, वे मुनि नहीं हैं।

शरीर और पुण्य-पापादि से रहित आत्मा का स्वरूप है। ऐसे स्वरूप में मुनिराज एकसमय में ही लीन हो जाते हैं और एकसमय पश्चात् ही उन्हें शास्त्रादि रचने का महान विकल्प भी उत्पन्न हो जाता है वह ऐसी मुनिदशा है। ऐसे मुनिराज स्व-पर को मोक्ष और पुण्य का स्थान दर्शाते हैं।

इससे विपरीत मुनिराज का स्वरूप माने तो फल भी विपरीत ही होता है। कुदेव-कुगुरु आदि काँटे के फल समान है। कुदेवादिक को माननेवाला पुण्य-पाप की ही रुचि करता है। इसका फल संसार ही है। शरीर या राग से धर्म नहीं होता। शरीर की अवस्था से धर्म होता हो तो शरीर एवं इन्द्रियों के शिथिल हो जाने पर धर्म नहीं होना चाहिये। उसीप्रकार राग के आधार से धर्म होता हो तो राग के अभाव होने पर धर्म के भी अभाव का प्रसंग आवे; अतः ये समस्त बातें मिथ्या हैं।

धर्म तो पुण्य-पाप रहित चैतन्य के आश्रय से प्रगट होता है वह ऐसा माननेवाला ही सच्चा मुनि है। जो सच्चे मुनिराज की श्रद्धा करता है, वह आत्मद्रव्य की सच्ची श्रद्धा करता है। वह जीव भविष्य में विशेषस्थिरता पूर्वक मोक्ष प्राप्त करता है और किंचित् राग रहे तो पुण्यबंध करता है।

इसप्रकार सच्चे फल का कारण अविपरीतता है अर्थात् सच्ची प्रतीति करने की आचार्य भगवान आज्ञा देते हैं। मोक्ष अथवा पुण्य स्वयं के परिणामों से निश्चित होता है।

यहाँ चरणानुयोग का अधिकार है, अतः मोक्षदशा में निमित्त का उपचार से कथन किया गया है।

●

प्रवचनसार गाथा २६०

अब, अविपरीत फल का कारण ऐसा जो 'अविपरीत कारण' है उसे विशेष समझाते हैं :ह

असुभोवयोगरहिदा सुद्धवजुत्ता सुहोवजुत्ता वा ।
णित्थारयंति लोगं तेसु पसत्थं लहदि भत्तो ॥२६०॥
(हरिगीत)

शुद्ध अथवा शुभ सहित अर अशुभ से जो रहित हैं ।
वे तार देते लोक उनकी भक्ति से पुणबंध हो ॥२६०॥

अन्वयार्थ :ह [अशुभोपयोगरहिताः] जो अशुभोपयोगरहित वर्तते हुए [शुद्धोपयुक्ताः] शुद्धोपयुक्त [वा] अथवा [शुभोपयुक्ताः] शुभोपयुक्त होते हैं, वे (श्रमण) [लोकं निस्तारयन्ति] लोगों को तार देते हैं; (और) [तेषु भक्तः] उनके प्रति भक्तियुक्त जीव [प्रशस्तं] प्रशस्त (पुण्य) को [लभते] प्राप्त करता है ।

टीका :ह यथोक्त लक्षणवाले श्रमण ही ह जो कि मोह, द्वेष और अप्रशस्त राग के उच्छेद से अशुभोपयोगरहित वर्तते हुए, समस्त कषायोदय के विच्छेद से कदाचित् शुद्धोपयुक्त (शुद्धोपयोग में युक्त) और प्रशस्त राग के विपाक से कदाचित् शुभोपयुक्त होते हैं वे ह स्वयं मोक्षायतन (मोक्ष के स्थान) होने से लोक को तार देते हैं और उनके प्रति भक्तिभाव से जिनके प्रशस्त भाव प्रवर्तता है ऐसे पर जीव पुण्य के भागी (पुण्यशाली) होते हैं ।

गाथा २६० पर प्रवचन

यहाँ चरणानुयोग का अधिकार है, अतः मुनिराजों की मुख्यता से बात की है । मुनि की बात में सम्यक्त्वी गृहस्थ को भी गौणरूप से स्वीकार किया है ।

मुनिराज को अशुभ परिणाम नहीं होते । उन्हें बाह्य-आभ्यन्तर निर्ग्रन्थदशा वर्तती है । निर्ग्रन्थदशा के बिना मुनिपना नहीं होता । मुनिराज कभी ध्यान में स्थिर होकर वीतरागी दशा में ठहरते हैं तो कभी पाँच महाव्रतादि के शुभ परिणामों में जुड़ते हैं । मुनिराज जगत के जीवों को तारने में निमित्त हैं । उनके प्रति भक्ति रखनेवाला जीव पुण्य को प्राप्त करता है ।

● मुनि के समान सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा भी अन्य को तारने में निमित्त है ।

मुनिराज जीवों को संसार से तारने में निमित्त है ह ऐसा कहा । यहाँ सम्यक्त्वी का निषेध नहीं किया गया है । यहाँ मुनिराज के प्रति विशेष बहुमान है, अतः उनकी मुख्यता से चर्चा की है । इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सम्यक्त्वी के प्रति अनादर है । सम्यक्त्वी जीव भी संसार से तारने में निमित्त है । सम्यग्दृष्टि को द्रव्यदृष्टि है, उसे भी निर्जरा वर्तती है, संसार नहीं वर्तता । सम्यग्दृष्टि भी एक-दो भव में मोक्ष पानेवाला है । जो पात्र जीव होते हैं, उसे संसार से तारने में सम्यक्त्वी निमित्त होते हैं ।

कोई साधु भगवान के समीप जाकर प्रश्न करे कि मेरे और इस गृहस्थ के कितने भव शेष हैं?

इसके उत्तर स्वरूप भगवान की दिव्यध्वनि में आया कि इस गृहस्थ के आठ भव बाकी हैं और तुम्हारे वृक्ष में स्थित पत्तों जितने भव बाकी हैं । अरे भाई ! मुनिपना स्वीकार करने पर भी साधु को पूछना पड़े कि कितने भव बाकी हैं, तो वह मुनि ही नहीं है ।

'रण में उतरा राजपूत चुप नहीं बैठा' उसीप्रकार स्वरूपलीनता युक्त साधु केवलज्ञान लेने की तैयारी से चूकते नहीं है । अन्तर में सहजदशा बढ़ गई हो तो मुनिराज को अन्तर्बाह्य निर्ग्रन्थदशा वर्तती है, फिर वस्त्र-पात्रादि का राग रहे ह ऐसा नहीं होता । वस्त्रादि से युक्त अथवा आत्मज्ञान के बिना मुनिपना हो ही नहीं सकता । ऐसा जीव सर्वज्ञ का भक्त नहीं है, वह तो गृहीत मिथ्यादृष्टि है ।

भावलिङ्गी मुनिराज मोक्ष में निमित्त हैं, उसमें गौणरूप से सम्यक्त्वी ग्रहस्थ भी आ जाते हैं। जिसे अपना हित करना है, उसे वैराग्यपूर्वक अधिकाधिक नम्रता-पात्रता लाकर बहुमानपूर्वक सर्वज्ञस्वरूप का श्रवण करना चाहिए।

शास्त्र में कहा है कि मिथ्यात्व के समान अन्य कोई पाप नहीं है। अतः हे भाई ! अपने को अन्य पापों में मत बाँधो। स्वच्छन्द होकर तीव्र पाप मत करो। पात्र जीव स्वच्छन्दी नहीं होता। पाप से रहित सरल जीव ही श्रवण का पात्र होता है।

● निर्ग्रन्थ मुनिराज कभी स्वरूपरमणता करते हैं तथा कभी शुभभाव में रहते हैं।

आत्मज्ञान सहित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकाग्रता से युक्त परिणति जिसे प्रगटी है, वह मुनि है। छठवें-सातवें गुणस्थान में वे झूलते हैं। सिद्धसमान आंशिक आनन्द उन्हें प्रगट है। अनंत केवली परमात्मा, अनंत गुण-पर्याय, कर्म आदि का यथार्थ स्वरूप जानकर अपने स्वरूप में ठहरे हैं, मुनिदशा भी ऐसी ही है। मुनियों को मिथ्यात्वरूपी मोह टल गया है। आसक्तिस्वरूप राग भी टला है। वे पुण्य-पाप के भावों को बुद्धिपूर्वक टालकर शुद्धोपयोग से जुड़े हैं। उन्हें कभी उपदेश देने का, महाव्रतादि के पालन का शुभोपयोग होता है तो कभी स्वरूप के अन्तर-निर्मलता की लगन होती है। मैं साधक मुनि हूँ हूँ ऐसे विकल्प से भी जो शांत है, वे अपूर्वदशा को प्राप्त करते हैं।

जिन्हें अन्तर में सातवाँ गुणस्थान हो वे ही मुनिराज जब छठवें गुणस्थान में आते हैं, तब उन्हें पूर्व की अनुभूत अपूर्वता का ख्याल आता है। छठवें-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज को ऐसी दशा वर्तती है।

इस बात की प्रतीति सम्यक्त्वी को ही होती है। दया-दान अथवा यात्रा आदि से धर्म माननेवाले मिथ्यादृष्टि जीव को इस बात का ख्याल नहीं होता। जब परपदार्थ से पुण्य हो ही नहीं सकता तो फिर धर्म कहाँ से होगा?

शत्रुंजय पर्वत पर डोलीवाले चढ़ते और उतरते हैं, फिर उन्हें भी धर्म होना चाहिए; किन्तु उन्हें धर्म नहीं होता। अरे भाई ! आत्मा की समझ बिना धर्म अथवा मोक्ष नहीं होता। स्व की यात्रा में ही धर्म है। यह चैतन्य ज्ञान का पर्वत है। उसका स्वरूप जानकर उसमें लीन हुए बिना संसार का नाश नहीं होगा। राग मंद हो तो पुण्य होता है; पर वास्तव में शुभाशुभभाव अधर्म है और शुभाशुभभाव रहित आत्मा में स्थिरता धर्म है।

● निर्ग्रन्थ भावलिङ्गी मुनिराज अन्य जीवों को मोक्ष और पुण्य में निमित्त होते हैं।

वस्तु के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन करनेवाले ही सच्चे मुनिराज हैं। शुभ से धर्म माने अथवा वस्त्रसहित मुनिपना माने तो मिथ्यादृष्टि है।

भावलिङ्गी महासमर्थ मुनिराज को अन्तरदशा में अधिकता भी वर्तती है और विकल्प उठने पर उनके द्वारा शास्त्र की रचना भी हो जाती है। ऐसे मुनिराज धर्म का स्थान हैं, वे लोक को तारते हैं।

लोक को तारते हैं अर्थात् जिसकी जैसी योग्यता है, वह अपने पुरुषार्थ से वैसा फल प्राप्त करता है। यद्यपि मुनिराज उन्हें तारते हैं हूँ ऐसा कहने में आता है, किन्तु यह उपचार का कथन है।

जो मुनिराज की भक्ति, वंदना, वैयावृत्ति आदि करते हैं, उन्हें लोकोत्तर पुण्य बँधता है।

प्रथम गाथा में मोक्ष की चर्चा की थी, उसका निमित्त पाकर जो स्वरूप में ठहरते हैं, वे मोक्षदशा को प्राप्त करते हैं तथा साथ में रागावस्था में जो पुण्य बँधता है, वह उच्च अवस्थारूप पुण्य होता है।

● तीनों काल बाह्याभ्यन्तर निर्ग्रन्थ मुनिपने का एकही स्वरूप होता है।

भावलिङ्गी मुनिराज ही यथार्थ मुनि कहलाते हैं। वर्तमान में अत्यधिक फेरफार हो रही है। लोग वस्त्रसहित तथा आत्मज्ञान बिना ही मुनिपना मानने लगे हैं, वे सब मिथ्यादृष्टि हैं। कुन्दकुन्दाचार्यदेव स्पष्ट रूप से कहते हैं कि वस्त्रसहित मुनिपना माने वह परम्परा से निगोद में जाता है। श्रीमद्

राजचन्द्रजी भी कहते हैं ह 'एक होय त्रणकाल मा परमारथनो पंथ' ।

एक निर्ग्रन्थपना ही सनातन मोक्षमार्ग है । श्रीमद् रायचन्द्रजी कुन्दकुन्दाचार्य को भक्तिभाव से नमस्कार करते हैं । वे कहते हैं कि हे कुन्दकुन्दादि आचार्यों ! आपके वचनमात्र भी इस पामरजीव को स्वरूप में ठहरने के लिए अनुष्ठान है, उपकारभूत हैं । मैं आपको अतिशय भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ ।

यहाँ निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनियों को नमस्कार किया है । श्री अमृतचन्द्राचार्य देव भी चरणानुयोग चूलिका के प्रारंभ में लिखते हैं कि "हे भाई ! यथानुभूत मार्ग की प्रतीति में हम खड़े हैं, हमने यह दशा स्वानुभव से प्राप्त की है और जिसे मोक्षमार्ग चाहिए हो वह हमारे पास चले आवें । हम यहाँ खड़े हैं ।" अरे भाई ! देखो ! कितनी दृढ़ता है ।

जब मुनिराज स्वभाव में झूलते हैं, तब "मैं मुनि हूँ, मैं आनन्द का अनुभव करता हूँ" हूँ ऐसा विकल्प भी उन्हें नहीं आता । समकिति को भी मुनिदशा की प्रतीति है । मुनिराज का जैसा स्वरूप केवली ने कहा है, उसका संत आदर करते हैं, इन्द्र बहुमान करते हैं । तीनों काल यही मुनिपना है, यही मोक्षमार्ग है ।

● गुणस्थान शुभभाव के आधार से नहीं टिकता; अपितु शुद्ध चैतन्य के आश्रय से टिकता है ।

जो समर्थ मुनिराज हैं, वे अन्य को तारने में निमित्त हैं । वे मुनिराज एक घड़ी में स्वरूपलीन होते हैं और एक घड़ी में शुभोपयोग होने पर शास्त्रादि की रचना करते हैं ।

महाव्रतादि के शुभोपयोग के कारण छठवाँ गुणस्थान टिकता है हूँ ऐसा नहीं है । छठवें में भी जितना चैतन्य का आश्रय वर्तता है, उसके कारण मुनिपना टिका है । राग के कारण गुणस्थान नहीं टिकता । राग के कारण गुणस्थान टिकता हो तो राग के नाश होते ही स्वभाव का भी नाश

होना चाहिए, बल्कि राग का अभाव होने पर निश्चय से प्रगट निर्मल दशा में और अधिक निर्मलता प्रगट होती है; अतः व्यवहार से निश्चय टिका हो हूँ ऐसा नहीं है ।

मुनिराज अन्य को तारने में निमित्त हैं । उनकी भक्ति करने वाला जीव पुण्यशाली है और स्वभाव में विशेष स्थिरता करके मोक्ष प्राप्त करता है ।

यथार्थ फल का कारण भी यथार्थ ही होता है । भावलिंगी मुनिराजों की प्रवृत्ति सामान्य और विशेष रूप होती है हूँ ऐसा कहें तो मुनिस्वरूप में दोरूपता प्रदर्शित होती है ।

कोई किसी की सेवा नहीं कर सकता; फिर भी मुनियों की सेवा का भाव धर्मी को आता है । सेवा से उन्हें लाभ हो ही ऐसा नियम नहीं है, लाभ तो स्वयं में योग्यता हो तभी होता है । चरणानुयोग का समस्त कथन निमित्त की अपेक्षा से ही समझना चाहिए । ●

भाई! तू राग को व विकल्पों को आत्मा में मिलावट करके मानता है, परन्तु यह तो मिथ्याबुद्धि है । यहाँ तो यह कहते हैं कि आत्मा चन्द्रमा की भाँति शीतल-शीतल-शीतल वीतरागी स्वभाव से भरा एकरूप जिनचन्द्र प्रभु है । वह निज के आलम्बन से ही प्राप्त होता है । आत्मानुभूति के बाद भूमिकानुसार बाह्य व्रत-तप-संयम आदि का राग भी बीच में आता है, परन्तु यदि कोई आत्मानुभूति के बिना केवल बाह्य संयम को मोक्षमार्ग माने और उसके धारण व पालन करने को ही मोक्षमार्ग की सरलता माने तो यह मान्यता मिथ्या है । यह कोई सच्चा मोक्षमार्ग नहीं है, इससे निजपद की प्राप्ति नहीं होगी, मिथ्यात्व का नाश भी नहीं होगा । राग के आलम्बन से तो राग की हूँ दुःख की हूँ चारगति के क्लेश की ही प्राप्ति होगी ।

हूँ प्रवचनरत्नाकर भाग-६, पृष्ठ-२३२

प्रवचनसार गाथा २६१

अब, अविपरीत फल का कारण ऐसा जो 'अविपरीत कारण' उसकी उपासनारूप प्रवृत्ति सामान्य और विशेषरूप से करने योग्य हैं ऐसा दो सूत्रों द्वारा बतलाते हैं :ह

दिट्ठा पगदं वत्थु अब्भुट्ठाणप्पधाणकिरियाहिं ।

वट्टु तदो गुणादो विसेसिदब्बो त्ति उवदेसो ॥२६१॥

(हरिगीत)

जब दिखें मुनिराज पहले विनय से वर्तन करो ।

भेद करना गुणों से पश्चात् यह उपदेश है ॥२६१॥

अन्वयार्थ :ह [प्रकृतं वस्तु] प्रकृत वस्तु^१ को [दृष्ट्वा] देखकर (प्रथम तो) [अभ्युत्थानप्रधानक्रियाभिः] अभ्युत्थान^२ आदि क्रियाओं से [वर्तताम्] (श्रमण) वर्तो; [ततः] फिर [गुणात्] गुणानुसार [विशेषितव्यः] भेद करना, [इति उपदेशः] ऐसा उपदेश है ।

टीका :ह श्रमणों के आत्मविशुद्धि की हेतुभूत प्रकृत वस्तु (श्रमण) के प्रति उसके योग्य (श्रमणयोग्य) क्रियारूप प्रवृत्ति से गुणातिशयता का आरोपण करने का निषेध नहीं है ।

भावार्थ :ह यदि कोई श्रमण अन्य श्रमण को देखे तो प्रथम ही, मानो व अन्य श्रमण गुणातिशयवान् हों इसप्रकार उनके प्रति (अभ्युत्थानादि) व्यवहार करने चाहिये । फिर उनका परिचय होने के बाद उनके गुणानुसार बर्ताव करना चाहिये ।

गाथा २६१ पर प्रवचन

● **भावलिङ्गी मुनियों के रोम-रोम से वैराग्य झलकता है ।**

आभ्यन्तर शुद्ध आत्मा की भावना को भानेवाले बाह्य निर्ग्रन्थ

१. प्रकृत वस्तु=अविकृत वस्तु: अविपरीत पात्र (अभ्यन्तर-निरुपराग-शुद्ध आत्मा की भावना को बतानेवाला जो बहिरंग-निर्ग्रन्थ-निर्विकाररूप है उस रूपवाले श्रमण को यहाँ 'प्रकृत-वस्तु' कहा है ।)

२. अभ्युत्थान = सम्मानार्थ खड़े हो जाना और सम्मुख जाना ।

निर्विकारस्वरूपी श्रमण की यहाँ चर्चा है । जिन्हें भावलिङ्ग प्रगटा है, अन्तरदशा विशेष बढ़ी है, जो वैराग्यमूर्ति है, उन मुनिराजों के रोम-रोम से वैराग्य झलकता है । अन्तर वीतरागी दशा होने पर नग्न शरीर की अवस्था भी भिन्न प्रतीत होती है ।

मिथ्यात्वदशायुक्त और वीतरागदशायुक्त शरीर में फरक हो ह्य ऐसा नहीं है । वीतरागता में निमित्त शरीररूप प्रत्येक परमाणु के पर्याय की योग्यता ही भिन्न जाति की होती है ।

बहिरंग लिंग से अन्तर शुद्धात्मा जाना जाता है । बाह्य में नग्न दिगम्बर दशा वैराग्य सहित वर्तती है, वह वैराग्य उनके रोम-रोम से दिखाई देता है । मुनिराज को वस्त्र नहीं होते, सहज नग्नदशा होती है । उपकरणरूप में मात्र मयूरपीछी और कमण्डल के अतिरिक्त अन्य कोई परिग्रह नहीं होता ह्य ऐसी बाह्य निर्विकारीदशा अंतर के भावलिङ्ग को स्पष्ट करती है । यहाँ चरणानुयोग है, अतः मुनियों के शरीर का भी वर्णन किया है ।

मुनिराज को देखते ही विनयपूर्वक खड़ा होना चाहिए, उनके समक्ष जाकर विनयादि करना चाहिए । पश्चात् परीक्षापूर्वक मुनिराज में विशेष निर्मलता है या नहीं आदि बातों की लक्षणों से पहिचान करना चाहिए । अन्यत्र कथन आता है कि मुनिराज की परीक्षा तीन दिन तक करना चाहिए, किन्तु प्रथम विनय-सत्कारादि अवश्य करो । उसके पश्चात् गुण-प्रमाण पूर्वक भेद करो ह्य ऐसा जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है ।

● **स्व विषय को भूलकर पर विषयों में सुख मानना अधर्मदृष्टि है ।**

आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है । आत्मा के श्रद्धा, ज्ञानपूर्वक रमणतारूप चारित्र से युक्त मुनिराज होते हैं । आत्मा की पहिचान बिना चारित्र कैसे हो? आत्मा एक समय में तीन लोक और तीन काल को जानने वाला पूर्ण ज्ञानस्वभावी है ह्य ऐसी प्रथमतः प्रतीति करना चाहिए । जीव सुखी होना चाहता है; किन्तु सुख किसमें है? यह बात पहले निश्चित करना चाहिए । वास्तव में पर में सुख नहीं है, अपने में ही परिपूर्ण सुख है ।

अज्ञानी जीव मानता है कि पाँच इन्द्रिय विषयों को भोगने से सुख हुआ है; पर भाई ! सुख स्वयं को हुआ या शरीर को? शरीर तो जड़ है, उसे सुख-दुःख नहीं हो सकता। आत्मा भ्रान्ति से उसमें सुख की कल्पना करता है। परपदार्थों से सुख हो तो अधिक पदार्थों की उपस्थिति से अधिक सुख की प्राप्ति हो और कम पदार्थों की उपस्थिति में सुख न हो; किन्तु ऐसा नहीं होता।

परपदार्थ में सुख हो तो अन्य पदार्थों के आधार से सुख होना चाहिये; किन्तु यह जीव केवल मिथ्याभ्रान्ति करता है कि परपदार्थ मुझे सुखकर हैं। कषाय घटाकर शुभभाव करें और शुभ को कल्याण का कारण माने हूँ ऐसा नहीं हो सकता।

अज्ञानी जीव आत्मज्ञान बिना मात्र प्रभुदर्शन से कल्याण और सुख मानकर आँखों से प्रभु के दर्शन करता है। अरे भाई ! यह तो आँख का शुभ विषय है। भगवान् समवशरण में विराजते हैं, उनकी भक्ति और वाणी से हमें लाभ अवश्य होता है, किन्तु स्वयं का भगवान् आत्मा स्वयं में ही विराजता है।

आत्मा स्वयं शक्तिस्वरूपी तत्त्व है, किन्तु यह जीव केवल शुभभाव और पाँच इन्द्रिय विषयों में ही सुख मानता है। यही इसकी अधर्मदृष्टि है।

काम-क्रोध-मान-माया-लोभादि के परिणाम प्रत्यक्ष आकुलतावाले हैं, उनसे सुख नहीं हो सकता; अतः परपदार्थ, अशुभभाव, शुभभाव में सुख नहीं है। सुख तो स्वयं के ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव में भरा है। स्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान से ही सुख होता है हूँ ऐसा न मानकर अज्ञानी जीव पर विषयों में सुख की मान्यता करता है; अतः वह मिथ्यादृष्टि, अधर्मदृष्टि है।

● सुख शोधनेवाले को अपनी आत्मा की ओर दृष्टि करना चाहिए।

सुख किसमें हैं और किससे होता है? इसका यथार्थ निश्चय होना चाहिए। लक्ष्मी, परिवार, देव-शास्त्र-गुरु आदि समस्त पदार्थ साक्षात् पर हैं, उनमें सुख नहीं है। शुभभावरूप विकार में भी सुख नहीं है। यह

भगवान् आत्मा अनंत शक्तिवान् तत्त्व है। उसमें सुख, आनन्द, ज्ञान आदि अनंत शक्तियाँ विराजमान हैं, जिनसे सुख की प्राप्ति होती है। अतः आत्मा की ओर लक्ष्य करके आत्मविशुद्धि करना चाहिए।

● शुद्धात्मा की ओर दृष्टि करने से सुख की उत्पत्ति होती है।

आत्मा को कैसा मानने से सुख की प्राप्ति होगी?

सभी पदार्थ (आत्मा) मिलकर आपस में सुख-दुःख भोगने लगे हूँ ऐसा नहीं होता। आत्मा का कोई कर्ता है हूँ ऐसा मानने से आत्मा पूर्ण सिद्ध नहीं होता। मेरी शक्ति मुझमें व्याप्त है, उसका कोई कर्ता नहीं है। पर्याय को पर का अवलंबन नहीं है। पर्याय स्वद्रव्य का अवलंबन लेवें तो धर्म प्रगट होता है। मेरा सिद्धपद मुझसे प्रगट होता है। परपदार्थ के अवलंबन बिना परिपूर्ण सुख अपने स्वयं से प्राप्त होता है हूँ ऐसी प्रतीति करना चाहिए। इस प्रतीतिपूर्वक ही चारित्र होता है। चारित्र ही धर्म है। चारित्र का मूल सम्यग्दर्शन है।

आत्मा ज्ञान-दर्शन स्वभाव से पूर्ण है। अनन्त ज्ञान और अनन्त-आनन्द की पर्याय प्रगट हो हूँ ऐसा निधीस्वरूप सुख की खान है। आत्मा की दृष्टि करने से सुख की प्राप्ति होती है, यही धर्मदृष्टि है।

उक्त प्रतीति के बिना नग्नदशा धारण करे तो चारित्र नहीं होता। आत्मा स्वयं शांतिरूप वस्तु है, उसमें एकाग्रता होने पर शांति स्वतः प्राप्त होती है। स्वयं की शांति को स्वीकार न करके पुण्य-पाप में एकाग्र होकर शांति माने उसे सच्ची प्रतीति नहीं हो सकती, धर्म अथवा सुख भी नहीं होता। पुण्य-पाप के अवलंबन से धर्मदशा या पूर्णदशा प्रगट नहीं होती। अपूर्णदशा हो वहाँ विकार और कर्मबंधन ही होता है; अतः संसारचक्र यथावत् रहता है।

यहाँ कितने ही जीव ऐसा मानते हैं कि अन्य जीवों से मेरा कल्याण होगा। वास्तव में समवशरण में विराजमान भगवान् की प्रार्थना करने से कल्याण होगा कि स्व आत्मा में एकाग्रता करने से कल्याण होगा? इसका यथार्थ निर्णय जीव को है ही नहीं।

यहाँ कोई समझता है कि भगवान स्वयं आकर संसार से तिरायेंगे, अतः जब तक भगवान नहीं आते, तब तक संसार में रहो, हम संसार से नहीं तिरेंगे तो उसका दोष भगवान पर आयेगा, किन्तु ऐसा नहीं होता। जीव अपने स्वयं के कारण संसार में परिभ्रमण कर रहा है।

अरे भाई ! अपने स्व भगवान आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान चारित्र से संसार से पार होता है, अन्य कोई इस संसार से तारने में समर्थ नहीं है।

आत्मा स्वयं चैतन्य वस्तु है। अपने सुख-शांति के लिए वह इन्द्रिय एवं शुभाशुभ भावों की ओर झुकता है; किन्तु यह अपराध है। इनसे मेरा कल्याण होगा हूँ ऐसी मान्यता ही अधर्म है।

धर्म तो अन्तरदृष्टि के आधार से है, उसके बिना ना सम्यक्त्व होता है और ना चारित्र होता है। आत्मा के भान बिना व्रत-तपादि सब मिथ्या हैं। अज्ञानी जीव निरर्थक ही पर की ओर लक्ष करके सुख और धर्म मान रहा है, अतः जिसे हित करना हो उसे निवृत्ति लेकर आत्मवस्तु का यथार्थ ज्ञान करना चाहिए।

जिसने अपने आत्मा को सर्वज्ञ शक्तिवान सुखस्वरूप माना है, उसकी विपरीत मान्यता का नाश होकर परिपूर्ण सुख दशा प्रगट होती है।

मैं सर्वज्ञ शक्तिवाला हूँ हूँ ऐसा मानने वाले जीव को हूँ

(१) मैं परपदार्थों को करता हूँ हूँ ऐसी मान्यता नहीं रहती।

(२) परपदार्थों के परिवर्तन में मैं निमित्त हूँ हूँ ऐसी दृष्टि नहीं रहती।

(३) सब आत्मा मिलकर एक सर्वव्यापक आत्मा है हूँ ऐसी मान्यता का नाश होता है।

(४) अपने सुख के लिए जीव परपदार्थों के आश्रित नहीं रहता।

(५) उसकी दृष्टि में विकार तथा अल्पज्ञता का निषेध वर्तता है। इसप्रकार क्रम से विभावभावों का नाश होकर वीतरागी सर्वज्ञपद की प्राप्ति होती है।

● एक मुनिराज को अन्य मुनिराज का यथायोग्य विनय करना चाहिए। आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान-लीनतापूर्वक, जिन्हें विशेष वीतरागी दशा

प्रगट होती है, उन्हें श्रमण कहते हैं। यहाँ चरणानुयोग का अधिकार है, अतः निमित्त से कथन किया है।

एक मुनिराज अन्य मुनि की विनय नहीं कर सकते हैं, किन्तु मुनिराज स्वयं स्वभाव के प्रति इच्छुक हों तो उन्हें अन्य श्रमणों को देखकर विनय आदि का भाव आता है। वास्तव में उन्हें स्व-स्वभाव का विनय है। नग्नदशा को धारण करने से उन पर ऐसा आरोप किया गया है।

सर्वप्रथम मुनिराज को देखते ही खड़े होकर, सामने जाकर उनका आदर करना चाहिए। यह चरणानुयोग की विधि है। श्रमणों के रोम-रोम से वैराग्य झलकता है; अतः उनके प्रति बहुमान आता है।

स्वभाव की श्रद्धा हो, किन्तु स्वभाव में लीनता न हो सके तो विनयादि करना उनकी सरलता है। दोषदृष्टि की ओर उनका झुकाव नहीं है, वे तो गुणदृष्टि का ही सदैव ध्यान रखते हैं।

अन्य श्रमण के योग्य क्रियानुरूप विनयादि करते हैं, किन्तु गृहस्थ के समान आहार-पानी की व्यवस्था नहीं करते; क्योंकि आहार-पानी की क्रिया श्रावक के योग्य है; मुनि के योग्य नहीं।

शुद्धता को बतानेवाले बाह्य वीतरागी लिंगस्वरूप मुनिराजों का आदर करना चाहिए, किन्तु वस्त्रसहित जीवों अथवा अज्ञानियों का आदर नहीं करना चाहिए।

भावार्थ पर प्रवचन

एक मुनिराज अन्य मुनिराज को देखें तो सर्वप्रथम “वे गुणवंत हैं” हूँ ऐसा मानकर मुनि के योग्य आदर सत्कार करना चाहिये, पश्चात् उनका परिचय होने पर गुणयोग्य आचरण करना चाहिए।

● अज्ञानी जीव व्यापार आदि की परीक्षा करता है, किन्तु आत्मा या मुनिसंबंधी परीक्षा नहीं करता।

जिसप्रकार व्यापारी पुरुष रुपया खोटा है कि सच्चा है, यह निश्चित करने के लिए विशेषज्ञ रखता है। व्यापार अथवा व्यवहार में कोई मुझे

ठग न लेंवे, इसका ख्याल रखता है। साहूकार के वेष में आकर कोई ठगना चाहे तो व्यापारी चेत जाता है कि यह साहूकार नहीं है; उसीप्रकार मुनिराज कैसे हैं? यह प्रथमतः जानना चाहिए। यह जाने बिना अनादिकाल से जीव ठगाता आ रहा है।

पुण्य-पाप रहित शुद्ध आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान से अन्तर में वीतरागी दशा वर्तती है। जिसकी बाह्य नग्न दिगम्बर दशा शुद्धता तथा वैराग्य को दर्शाती है, वे यथायोग्य मुनिराज हैं। उनके सिवाय अन्य कोई मुनिराज नहीं हैं, अतः मुनिराज की योग्य परीक्षा करना चाहिए।

परखे माणिक मोति और परखे स्वर्ण कपूर।

एक परखा नहीं आत्मा, अतः रहा दिग्मूढ़।।

माणिक, मोती, स्वर्ण आदि को सब परखते हैं, किन्तु इससे कोई लाभ नहीं है। आजतक इसने शुद्ध आत्मा को नहीं परखा है। शुद्ध आत्मा के साधक मुनिराज कैसे होते हैं? उनकी परीक्षा नहीं की है; अतः यथायोग्य मुनिस्वरूप को जानकर मुनिराज के प्रति व्यवहार करना चाहिए। गुणों की परीक्षा करना चाहिए। यदि गुण दृष्टिगत न हों तो द्वेष मत करो; किन्तु अज्ञानियों का आदर भी मत करो। ●

अरे! अज्ञानी अनादि से सन्मार्ग भटका हुआ है। पंचमहाव्रत एवं शरीर की नग्नदशा के परिणाम को चारित्र मानकर शुभराग के सेवन में ह्व आचरण में अटक गया है। परन्तु जिसप्रकार अशुभराग अशुचि है, उसीप्रकार शुभराग की अशुचि ही है, जिसप्रकार अशुभभाव दुःखरूप है, उसीप्रकार शुभभाव भी आकुलता रूप ही है। एकमात्र शुद्धोपयोग रूप परिणाम ही पवित्र और निराकुल है। आत्मा अन्दर में अतीन्द्रिय आनन्द का सागर पवित्रता का पिण्ड प्रभु है। उपयोग को वहीं स्थिर करके उसी में रमना वास्तविक प्रत्याख्यान एवं चारित्र है। **ह्व प्रवचनरत्नाकर भाग-१०, पृष्ठ-७७**

प्रवचनसार गाथा २६२

(इस प्रकार पहला सूत्र कहकर अब इसी विषय का दूसरा सूत्र कहते हैं:-)

अब्भुट्टाणं गहणं उवासणं पोसणं च सत्कारं।

अंजलिकरणं पणमं भणिदमिह गुणाधिगाणं।।२६२।।

(हरिगीत)

गुणाधिक में खड़े होकर अंजलि को बाँधकर।

ग्रहण-पोषण-उपासन-सत्कार कर करना नमन।।२६२।।

अन्वयार्थ : ह्व [गुणाधिकानां हि] गुणों में अधिक (श्रमणों) के प्रति [अभ्युत्थानं] अभ्युत्थान, [ग्रहणं] ग्रहण (आदर से स्वीकार), [उपासनं] उपासन (सेवा), [पोषणं] पोषण (उनके अशन, शयनादि की चिन्ता), [सत्कारः] सत्कार (गुणों की प्रशंसा), [अञ्जलिकरणं] अञ्जलि करना (विनयपूर्वक हाथ जोड़ना) [च] और [प्रणामः] प्रणाम करना [इह] यहाँ [भणितम्] कहा है।

टीका : ह्व श्रमणों को अपने से अधिक गुणवान (श्रमण) के प्रति अभ्युत्थान, ग्रहण, उपासन, सत्कार, अंजलिकरण और प्रणामरूप प्रवृत्तियाँ निषिद्ध नहीं है।

गाथा २६२ पर प्रवचन

प्रथमतः बाह्य में नग्नदशा आदि यथायोग्य लिंग देखकर सत्कारपूर्वक गुणों की परीक्षा करना चाहिए। अपने से गुण या दीक्षा में बड़े हों तो उनको देखकर खड़े होकर “अत्रो-अत्रो” कहना चाहिए। मुनिराज को थकान हो तो उनके पैर दबाना चाहिए। उनके आहार एवं शयन का विचार करना चाहिए। यह जगह मुनियों के लिए अनुकूल होगी या नहीं इसका भी विचार करना चाहिए। उनके गुणों की प्रशंसा करते हुए उन्हें विनयादि से हाथ जोड़कर प्रणाम करना चाहिए।

● एक मुनिराज अपने से अधिक गुणयुक्त मुनिराज के प्रति आदर-सत्कारादि करते हैं।

अनादिकालीन इस सनातन मार्ग में मुनिराज बाह्य नग्न ही होते हैं, उन्हें वस्त्रादि नहीं होते। उपकरण में मयूर पीछी और कमण्डल होते हैं। वे स्वभाव के आनंद में ही झूलते हैं। पूर्व में समस्त मुनिराज ऐसे ही थे। वर्तमान में भी महाविदेह क्षेत्र में ऐसे मुनिराज विचरण कर रहे हैं, भविष्य में भी इसप्रकार के अनंत मुनिराज होंगे।

वास्तव में एक मुनिराज अपने से अधिक गुणयुक्त मुनि को देखकर विनय से खड़े होते हैं। उनका आदर करते हैं। गृहस्थ उनकी सेवा करते हैं। उनके आहार, पानी, शयन इत्यादि का विचार करते हैं। उनके गुणों की प्रशंसा करके विनयभाव से हाथ जोड़ते हैं। प्रणामादि विधि आचरते हैं।

यदि मुनिराज निजस्वरूप में लीन हो तो कोई विधि नहीं करना चाहिए, किन्तु शुभोपयोग में हों तो सर्वज्ञ के कहे अनुसार मुनिस्वरूप को पहिचानकर उनका आदर-सत्कार अवश्य करना चाहिए।

●

अहाहा.....! आनन्द का नाथ अन्दर में पूर्णस्वरूप है। मात्र पर्याय जितना ही इसका अस्तित्व नहीं है। मोक्ष की पर्याय जितना भी यह नहीं है। यह तो पूर्ण चिदानन्दघन परमात्मा है। प्रभु! उस श्रद्धान और ज्ञान का होना ही ज्ञानस्वरूप आत्मा का होना है। राग तो अन्यद्रव्य का परिणामन है और ज्ञान के होने के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए यदि मोक्ष की इच्छा है तो व्यवहार के क्रियाकाण्ड से धर्म होना ह्व मानना छोड़ दे।

ह्व प्रवचनरत्नाकर भाग-१०, पृष्ठ-२२४

प्रवचनसार गाथा २६३

अब, श्रमणाभासों के प्रति समस्त प्रवृत्तियों का निषेध करते हैं :ह्व
अब्भुट्टेया समणा सुत्तत्थविसारदा उवासेया ।
संजमतवणाणड्ढा पणिवदणीया हि समणेहिं ॥२६३॥
(हरिगीत)

विशारद सूत्रार्थ संयम-ज्ञान-तप में आद्व्य हों।

उन श्रमणजन को श्रमणजन अति विनय से प्रणामन करें ॥२६३॥

अन्वयार्थ :ह्व [श्रमणैः हि] श्रमणों के द्वारा [सूत्रार्थविशारदाः] सूत्रार्थविशारद (सूत्रों के और सूत्रकथित पदार्थों के ज्ञान में निपुण) तथा [संयमतपोज्ञानाद्व्याः] संयम-तपज्ञानाद्व्य, (संयम, तप और आत्मज्ञान में समृद्ध) [श्रमणः] श्रमण [अभ्युत्थेयाः उपासेयाः प्रणिपतनीयाः] अभ्युत्थान, उपासना और प्रणाम करने योग्य हैं।

टीका :ह्व जिनके सूत्रों में और पदार्थों में विशारदपने के द्वारा संयम, तप और स्वतत्त्व का ज्ञान प्रवर्तता है उन श्रमणों के प्रति ही अभ्युत्थानादिक प्रवृत्तियाँ अनिषिद्ध हैं, परन्तु उनके अतिरिक्त अन्य श्रमणाभासों के प्रति वे प्रवृत्तियाँ निषिद्ध ही हैं।

गाथा २६३ पर प्रवचन

आदर करनेयोग्य मुनिराज कैसे हैं?

(१) आगम और पदार्थों के ज्ञान में निपुण हैं।

यहाँ सत्कार करनेयोग्य मुनिराज का स्वरूप कहते हैं।

प्रथमतः मुनिराज को सूत्र और सूत्रकथित ज्ञान में निपुण होना चाहिए। आत्मा का ज्ञान-ध्यान करके परिपूर्णदशा प्राप्त देवाधिदेव भगवान तीर्थकर की वाणी जीवों के कल्याण में निमित्तभूत है। उनकी वाणी के बिना अन्य जीवों को वस्तुस्वरूप का भान नहीं हो सकता।

मुनियों को दिव्यध्वनि में आये हुए सूत्रों में विशारद होना चाहिए। नवतत्त्वों को जानना चाहिए। त्रिकाल शुद्ध चैतन्यमय तत्त्व ही जीवतत्त्व है, शेष समस्त तत्त्व उससे भिन्न हैं। दया-दानादि के परिणाम पुण्य तथा हिंसा-झूठ-चोरी आदि पाप हैं। ये सभी आस्रव और बंध के कारण हैं;

अतः जो जीव पुण्य-पाप से पार आत्मतत्त्व का श्रद्धान करते हैं, उन्हें संवर-निर्जरा प्रकट होती है। इसके पश्चात् होनेवाली परिपूर्ण शुद्धदशा ही मोक्ष है।

परिपूर्णदशा को अनंत जीवों ने प्राप्त किया है। यह दशा प्राप्त होने पर सिद्ध जीव पुनः संसार में नहीं आते तथा मोक्ष में जाकर एक दूसरे को बाधा भी उत्पन्न नहीं करते ह्व ऐसे अनंत सिद्धजीव हैं और भविष्य में होंगे ह्व ऐसा मोक्षतत्त्व का स्वरूप है।

जिसप्रकार चेतन और जड़ भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं, उसीप्रकार एक जीव अन्य जीव से भिन्न है। मोक्ष में जाकर यदि कोई जीव अन्य जीव में मिल जायें तो उसकी स्वयं की सत्ता का नाश हो जाता है, किन्तु ऐसा होता नहीं है।

मुनिराज नवतत्त्व, छहद्रव्य को यथावत् स्वतंत्र जानते हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं करता, निमित्त उपादान में कुछ नहीं कर सकता आदि बातों को यथार्थ जानते हुये वे सूत्रज्ञान में निपुण है। आगम में आये हुए शब्दों का बराबर अर्थ करते हैं।

(२) मुनिराज संयम, तप और आत्मज्ञान से समृद्ध हैं।

मुनिराज ने पाँच इन्द्रिय के विषयों पर जय प्राप्त की है। छहकाय की हिंसा से निवृत्त हुए हैं। वे स्वस्वरूप की सम्यक् रूप से आराधना करते हैं। शुभाशुभ भावों का निरोध करके तप में आरूढ़ हुये हैं। आत्मज्ञान में समृद्ध हैं। नवतत्त्वों की यथार्थ श्रद्धा करने के उपरान्त, पर तथा विकल्प से हटकर अपने शांतस्वरूप ज्ञान में आरूढ़ हुये हैं।

हे भाई! जिन्हें नवतत्त्वों की व्यवहाररूप से भी श्रद्धा नहीं है, उनकी यहाँ बात नहीं है। प्रत्येक वस्तु अपने वर्तमान स्वरूप से स्वतः सिद्ध है। यदि वह स्वयं पदार्थरूप से नहीं हो तो उनका पदार्थपना कायम नहीं रहता। जीव परपदार्थ की क्रिया का कर्ता-भोक्ता नहीं है; अपितु मात्र ज्ञाता-दृष्टा है।

मुनिराज आत्मतत्त्व की सम्यक्प्रतीति करके निजवृत्ति के उत्थान के लिए स्वरूप में झूलते हैं। वे संयम, तप और ज्ञान में आरूढ़ हैं। नवतत्त्व की व्यवहार श्रद्धा में जो जीवतत्त्व की बात की है, वह रागसहित

जीव तत्त्व की बात है। “मैं सर्वज्ञ होनेयोग्य जीव हूँ” ह्व ऐसी रागसहित जीवतत्त्व की श्रद्धा प्रथम होती है, किन्तु यह सम्यग्दर्शन में कारण नहीं है।

अपने शुद्धस्वभाव के जोर से किसी भी प्रकार का विकल्प न उठाते हुए स्वरूप में लीनता करनेवाला शुद्ध जीव है। वह जीव नवतत्त्वों के विकल्प से भिन्न है। इसप्रकार मुनिराज संयम, तप और ज्ञान में समृद्ध हैं। नवतत्त्वों की व्यवहार श्रद्धा तो इस जीव ने बहुत बार की है। इस श्रद्धापूर्वक वह नवमें ग्रैवेयक तक भी अनंत बार गया है, किन्तु आज तक रागसहित शुद्धजीव तत्त्व की श्रद्धा नहीं की है। अतः भाई! अब तो रागसहित शुद्ध जीव तत्त्व की श्रद्धा करो और अन्तर में लीन हो।

(३) शुद्ध आत्मा का यथार्थ ज्ञान करना ही धार्मिक क्रिया है।

हे भाई! आत्मज्ञान में ही धार्मिक क्रिया का समावेश है। जड़ पदार्थों की क्रिया जड़ से होती है। यदि पुण्य-पाप आत्मा का स्वरूप हों तो वे आत्मा से कभी पृथक् ही नहीं होने चाहिये, किन्तु उनका अभाव होकर ही शुद्ध आत्मा प्रगट होता है। पुण्य-पाप क्षणिक उपाधि हैं; आत्मा का यथार्थ स्वरूप नहीं।

शुद्ध आत्मा के स्वरूप में लीनता करना ही शुद्ध, धार्मिक क्रिया है। अज्ञानी पर के कार्य को अपना कार्य मानता है, किन्तु भाई! परपदार्थ स्वतंत्र है। उसमें कोई जीव कुछ नहीं कर सकता।

मिथ्यादृष्टि को धर्म समझाने की ताकत तीर्थकरदेव में भी नहीं है। परपदार्थ और परक्रिया पर के लिए है। पुण्य-पाप विकृत उपाधिरूप है ह्व ऐसा जानकर शुद्ध चिदानन्द स्वभाव के आश्रय से स्वरूप में लीनता करना ही शुद्ध क्रिया है।

धार्मिक क्रिया से युक्त श्रमण तपादि में आरूढ़ हैं। ह्व ऐसे परम मुनिराजों को देखकर अन्य मुनिराज भी खड़े होकर आदर सत्कार करते हैं। उन्हें प्रणाम करते हैं।

(४) आत्मज्ञान सहित चारित्रवाले मुनियों का योग्य आदर सत्कार करो।

मुनिराज सूत्र और पदार्थों के ज्ञान में निपुण है। प्रत्येक आत्मा भिन्न-

भिन्न है। वस्तु का नवीन उत्पाद नहीं होता, इसलिये प्रत्येक पदार्थ एक दूसरे से भिन्न हैं ह्व ऐसी व्यवहार श्रद्धा करो।

हे भाई ! नवतत्त्वों का यथार्थ ज्ञान करो। रुपया-पैसा पुण्य-पाप तो धर्म का कारण नहीं होता। दया-दानादि भाव पुण्य हैं। कुछ लोग इसे पाप कहते हैं तथा कुछ जीव धर्म का कारण मानते हैं, किन्तु ये दोनों ही बातें यथार्थ नहीं है। पुण्य को पाप मानें अथवा पुण्य से संवर माने तो नवतत्त्वों के अभाव का प्रसंग आयेगा, अतः नवतत्त्वों को यथावत् जानना चाहिए।

प्रथम विकल्परहित शुद्ध जीव का श्रद्धान-ज्ञान होना चाहिए। इसके पश्चात् विशेषलीनता पूर्वक तपादि में आरूढ़ जीवों के प्रति विशेष श्रद्धा करना चाहिये। तपादि में आरूढ़ होने पर भी यदि आत्मज्ञान नहीं हो तो वह व्यर्थ है?

जो मुनिराज आत्मज्ञानपूर्वक तप एवं संयमादि में प्रवर्तन करते हैं, उन मुनिराजों का आदर-सत्कार करना चाहिए। आदर करनेयोग्य वे मुनिराज भावलिङ्गी होते हैं।

जबतक, स्वस्वरूप में स्थिरता नहीं होती, तबतक अन्य मुनिराजों के प्रति आदर का विकल्प उठता है। यद्यपि मुनिराज जानते हैं कि यह शुभविकल्प है, मेरी शांति को नष्ट करनेवाले विष के कुंभ है। इससे मुझे धर्म नहीं हो सकता, तथापि जबतक विकल्पयोग्य भूमिका होती है, तबतक अन्य मुनिराजों के प्रति बहुमान आये बिना नहीं रहता।

(५) आत्मज्ञानशून्य मुनिराजों का आदर-सत्कार नहीं करना चाहिये।

जिन मुनिराजों को बाह्य में नग्नदशा वर्तती है। अनेकप्रकार के तप और संयम वर्तता है, किन्तु अन्तरलीनतापूर्वक आत्मा की श्रद्धा नहीं वर्तती वे मुनि श्रमणाभास हैं। वे आदरयोग्य नहीं हैं।

जिन जीवों को नवतत्त्वों का ज्ञान नहीं है, वे मुनि भूमिका से भी अत्यन्त दूर हैं। सब पदार्थ मिलकर एक हो जाते हैं अथवा ज्योति में ज्योति मिल जाती है ह्व ऐसी बात यहाँ नहीं है।

लोक में प्रत्येक पदार्थ का अस्तित्व है, यदि उसे किसी ने किया ह्व ऐसा कहें तो पदार्थ की स्वतंत्रता खण्डित होती है। पदार्थ को पर से स्थित कहें तो उसका अस्तित्व खण्डित होगा। प्रत्येक पदार्थ नित्य है, अतः उसका कोई कर्ता नहीं है।

पर मुझसे है और मैं पर से हूँ ह्व ऐसा कहें तो वर्तमान में ही पराधीनता आवे और यदि एक समयमात्र को भी पराधीन माने तो त्रिकाल में पराधीनता आती है। अनादि-अनंतकाल तक समस्त पदार्थ त्रिकालरूप से स्वतंत्र है।

“मैं हूँ और परपदार्थ भी हैं”, “मैं ज्ञाता हूँ और अन्य ज्ञेय हैं” “कोई पदार्थ एक दूसरे के लिए नहीं है” ह्व इसप्रकार नवतत्त्व और छहद्रव्यों को जानना चाहिए।

निज आत्मा स्वयं स्वतंत्र ध्रुव पदार्थ है ह्व ऐसी श्रद्धा न करके जीव का लक्ष शुभभावों की ओर जाए तो वह श्रमणाभास है। उनका सत्कार-विनय करने का निषेध है।

अज्ञानी जीव समस्त पदार्थों को एक मानता है। ज्योति में ज्योति मिल जाती है अर्थात् निर्वाण को समर्पण, पुण्य-पाप को धर्म का कारण मानता है, जीव-अजीव को परस्पर एक मानता है, वस्त्रसहित मुनिपना मानता है ह्व ऐसे जीवों का समावेश तो श्रमणाभासों में भी नहीं है। इनके आदर-सत्कार की तो यहाँ बात ही नहीं है।

हमें किसी व्यक्ति से विरोध या द्वेष नहीं है। स्वयं के गुणों का बहुमान आते ही उन गुणों से युक्त जीवों के प्रति भी बहुमान आता है, किन्तु अन्य के प्रति बहुमान नहीं आता। विचार-विरोध जगत में होते हैं, पदार्थ में नहीं। अतः उस ओर लक्ष नहीं करना चाहिए।

वस्तुस्वरूप को यथावत् जानना चाहिए। आत्मज्ञान बिना मुनिपना हो तो वह सत्कारयोग्य मुनिपना नहीं है। वीतरागमार्ग में मुनिस्वरूप कैसा है? और कौन आदर करनेयोग्य है? उसका विवेक होना चाहिए। मूल तत्त्व को जानने में किसी के प्रति द्वेष नहीं है, किन्तु वस्तुस्वरूप का ज्ञान तो यथार्थ ही होना चाहिए। ●

प्रवचनसार गाथा २६४

अब, कैसा जीव श्रमणाभास है, सो कहते हैं :ह

ण हवदि समणो त्ति मदो संजमतवसुत्तसंपजुत्तो वि ।

जदि सदहदि ण अत्थे आदपधाणे जिणक्खादे ॥२६४॥

(हरिगीत)

सूत्र संयम और तप से युक्त हों पर जिनकथित ।

तत्त्वार्थ को ना श्रद्धहैं तो श्रमण ना जिनवर कहें ॥२६४॥

अन्वयार्थ :ह [संयमतपः सूत्रसंप्रयुक्तः अपि] सूत्र, संयम और तपसे संयुक्त होने पर भी [यदि] यदि (वह जीव) [जिनाख्यातान्] जिनोक्त [आत्मप्रधानान्] आत्मप्रधान [अर्थात्] पदार्थों का [न श्रद्धते] श्रद्धान नहीं करता तो वह [श्रमणः न भवति] श्रमण नहीं है, [इति मतः] ऐसा (आगम में) कहा है ।

टीका :ह आगम का ज्ञाता होनेपर भी, संयत होनेपर भी, तपमें स्थित होने पर भी, जिनोक्त अनन्त पदार्थों से भरे हुए विश्व को ह जो कि (विश्व) अपने आत्मा से ज्ञेयरूप से पिया जाता होने के कारण आत्मप्रधान^१ है उसका ह जो जीव श्रद्धान नहीं करता वह श्रमणाभास है ।

गाथा २६४ पर प्रवचन

● जो मुनिराज निज आत्मा की श्रद्धा नहीं करते, वे शास्त्र को जाननेवाले एवं संयमी होने पर भी श्रमण नहीं है ।

जो जीव तीर्थकर द्वारा कथित सूत्रों को नहीं मानता, उनकी यहाँ बात नहीं है; अपितु भगवान की वाणी को माननेवाले जीवों की यहाँ चर्चा है । षट्खण्डागम, समयसार आदि शास्त्रों की बात भगवान की वाणी के साथ संधीवाली है । यह आत्मा के प्रमाण से सिद्ध होता है । जो मुनिराज सर्वज्ञकथित शास्त्रों को जानते हैं, अव्रतादि परिणाम टालते हैं,

१. आत्मप्रधान = जिसमें आत्मा प्रधान है ऐसा; (आत्मा समस्त विश्व को जानता है इसलिये वह विश्व में विश्व के समस्त पदार्थों में ह प्रधान है ।)

ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, उपवास-व्रत-तपपूर्वक कषायमंदता के परिणाम करते हैं, उपसर्ग होने पर भी स्वरूप से च्युत नहीं होते वे यदि तीनलोक के नाथ जिनेन्द्र भगवान द्वारा कथित आत्मा की श्रद्धा नहीं करते तो वे श्रमण नहीं; अपितु श्रमणाभास हैं । यहाँ परपदार्थ, पुण्य-पाप के भाव गौण और अपनी आत्मा मुख्य है ।

मुख्य पदार्थभूत शुद्धात्मा को जो अनुभवता नहीं है, वह श्रमण नहीं है ह ऐसा आगम में कहा है । चारित्र का पालन करनेवाले होने पर भी जिसे आत्मा का भान नहीं, वे साधु नहीं है । सम्यग्दर्शन और ज्ञानपूर्वक आचरण से ही चारित्र यथार्थ होता है । मुनिराजों को आगम का ज्ञान है । छह द्रव्य-गुण-पर्याय, नवतत्त्व आदि वस्तुस्वरूप को वे यथार्थ जानते हैं । ज्ञानावरण के क्षयोपशम के अनुसार धारणा करते हैं ।

कुदेवादि को माननेवाले जीव को अधमपुण्य बंधता है, यह बात पूर्व में ही कह चुके हैं । जिसे सर्वज्ञ और सर्वज्ञ के आगम की पहिचान नहीं है, उसे आत्मा का निर्णय नहीं है । पुरुष प्रमाण हो तो वचन भी प्रामाणिक होते हैं । सर्वज्ञ भगवान को वीतरागीदशा वर्तती है । वे एक समय में तीन लोक और तीन काल को प्रत्यक्ष जानते हैं ।

सर्वज्ञ भगवान द्वारा कथित शास्त्रों के यथार्थ ज्ञानपूर्वक मुनिराज छहकाय के जीवों का घात नहीं करते, ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, व्रतादि में योग्य आचरण करते हैं, वे ही सच्चे श्रमण हैं ।

इससे विपरीत जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित समस्त पदार्थों में मुख्य, आत्मा की जो श्रद्धा नहीं करते, वे श्रमणाभास है ।

● जीव सुख प्राप्त करना चाहता है, इससे यह सिद्ध होता है कि वर्तमान प्रगट पर्याय में सुख नहीं है ।

जीव धर्म करना चाहता है; किन्तु धर्म कब और कैसे होता है? यह नहीं जानता । वह अपना हित करना चाहता है, किन्तु हित का अर्थ नहीं जानता । अपनी वर्तमान दशा में सुख नहीं है, यदि सुख हो तो सुख को प्राप्त करने की इच्छा नहीं होती । यह जीव दुःखदशा को टालकर सुख प्राप्त करना चाहता

है। यदि सुख का अनुभव पूर्व से ही स्थित हो तो वह होना चाहिए, किन्तु सुख अनुभव में नहीं आता, अतः सुख प्राप्त किया जाता है।

अब, सुख किसप्रकार प्राप्त होता है? यह निश्चित करते हैं।

● संयोगों में सुख हो तो अधिक संयोगों में अधिक सुख होना चाहिए; किन्तु ऐसा नहीं है।

रुपये-पैसे में सुख हो तो अधिक पैसेवाले को अधिक सुख होना चाहिए, करोड़पति बड़ा सुखी दिखाई देना चाहिए; किन्तु ऐसा नहीं होता, अतः पैसा आदि में सुख नहीं है।

लड्डू खाने से सुख मिलता हो तो अधिक लड्डू खाने पर सुख होना चाहिये, किन्तु तीन-चार लड्डू खाते ही यह जीव बस ! करता है, अतः लड्डुओं में सुख नहीं है। सुन्दर स्वस्थ शरीर में सुख हो तो सुन्दर, स्वस्थ शरीर प्राप्त होने पर सुख होना चाहिए। 'पहला सुख निरोगी काया' हूँ ऐसा अज्ञानी कहता है। स्वयं का शरीर स्वस्थ हो; किन्तु अपने पुत्रादि का वियोग हो जावे अथवा स्वस्थ शरीर में रोग हो जावे तो यह दुःखसागर की रचना कर देता है, अतः स्वस्थ शरीर में सुख नहीं है।

गुणगान सुनने में सुख हो तो दिनभर किसी का गुणगान करते रहे, पर वह सुनते-सुनते भी जीव त्रस्त हो जाता है, अतः गुणगान सुनने में भी सुख नहीं है। नाटक आदि में सुख हो तो खूब नाटक देखने पर सुख की प्राप्ति हो; किन्तु नाटक देखने पर भी सुख नहीं मिलता है।

यदि पुत्र, पैसा, नाटक, स्वस्थ शरीर आदि में सुख हो तो उनकी उपस्थिति में जीव को सुखी होना चाहिए, दुःख नहीं मानना चाहिए; किन्तु हे भाई ! यह जीव तत्काल कहता है कि मुझे दुःख है अर्थात् परपदार्थों में सुख नहीं है हूँ यह निश्चित होता है।

● जिसप्रकार बालक को चॉकलेट-गोली में सुख की मान्यता है, उसीप्रकार अज्ञानी को शरीरादि में सुख की मान्यता है।

कोई बालक चॉकलेट खरीदकर लाता है और उसे चूसते हुए सुख

मानता है। कोई उससे चॉकलेट छीन लेवे तो वह रोने लगता है। अरे भाई ! शरीर, पैसा आदि में भी सुख मानना चॉकलेट को चूसने जैसा है, इसमें कोई सुख नहीं है। जब ज्ञानी पुरुष ऐसा कहते हैं तो अज्ञानी जीव रोने लगता है, क्योंकि परपदार्थों में सुख नहीं होने पर भी वह उनमें सुख मानता है, यही उसकी मिथ्या भ्रान्ति है। अज्ञानी जीव शरीर के आश्रित ही सुख चाहता है।

अनादिकाल से जीव सुख के लिए ही भटक रहा है। सुख के लिए शरीर को कष्ट देना पड़े तो भी देता है। सास के कारण संत्रस्त बहू शरीर को जलाकर सुख चाहती है, शरीर से रहित होने पर सुख होगा हूँ ऐसा मानती है, किन्तु उसे सुख की खबर ही नहीं है।

संसारी जीव अज्ञानता के कारण ही शरीर में सुख की सत्ता स्वीकार करता है, किन्तु शरीर में सुख नहीं है। जीव सुख को प्राप्त करना चाहता है, किन्तु सुख कहाँ है? यह उसे पता नहीं।

● अज्ञानी सुख की सत्ता संयोगों के कारण मानता है; अपने शुद्ध स्वभाव के कारण नहीं।

जिसप्रकार लेंडीपीपर का तीखापन लेंडीपीपर में व्याप्त है। वह तीखापन पत्थर अथवा घिसनेवाले हाथ में नहीं है। चने की मिठास उसके अन्दर व्याप्त है, बाहर में नहीं। अग्नि के प्रगट होने की शक्ति माचिस में नहीं है; अपितु उसकी टोपी में है, उसीप्रकार आत्मा का सुख आत्मा में है; शरीर, वाणी, मन, लक्ष्मी आदि में नहीं।

अज्ञानी जीव संयोगों में सुख मानता है, अपनी आत्मा में नहीं। आत्मा ज्ञानानन्दमय है। आत्मा में ही यथार्थ सुख है, किन्तु वह उसे स्वीकार नहीं करता।

● आत्मा का स्वभाव जानने-देखने योग्य है, उसमें ही यथार्थ सुख है।

जिसप्रकार नींबू का स्वभाव खट्टापन, अग्नि का स्वभाव उष्णता,

नीम का स्वभाव कड़वापन है, उसीप्रकार आत्मा का स्वभाव जानने-देखने रूप है। जानने-देखने से युक्त स्वभाव में ही आनन्द है। जाननेवाले में आनन्द नहीं हो हूँ ऐसा नहीं हो सकता।

अज्ञानी जीव कहता है कि सिगरेट, चाय, लड्डू में आनन्द आता है। हे भाई ! तुझमें आनन्द है कि नहीं? तू अन्य वस्तुओं में सुख देखता है। किन्तु जड़द्रव्य को अपने स्वभाव का पता नहीं है। जड़ के स्वभाव को मैं जान सकता हूँ और जानने में आनेवाली समस्त चीजों में आनन्द है हूँ ऐसा अज्ञानी मानता है। अरे ! जरा विचार तो कर ! यदि जानने में आनेवाले पदार्थों में आनन्द है तो क्या जाननेवाले में आनन्द नहीं होगा ? अरे भाई ! एक ज्ञाता द्रव्य में ही सुख है। मैं निर्धन और अन्य धनिक ऐसी मान्यता दुःखस्वरूप है।

आत्मा की अवस्था से शुभाशुभभाव होते हैं। यह सब कृत्रिमता है। विगत अवस्था में किये हुए विकारीभाव वर्तमान में याद आते हैं; किन्तु वे विकारी भाव वर्तमान में नहीं हैं। कदाचित् अभी शुभभाव हो रहे हों तो कुछ देर में अशुभभाव होते हैं, इसप्रकार शुभाशुभ परिणामन होता है, किन्तु ज्ञान यथावत् रहता है। कृत्रिम अवस्था आत्मा का स्वरूप नहीं है। जानने-देखनेरूप जो कायमस्वरूपी भाव है, वह आत्मा का स्वभाव है, उसमें ही सुख विद्यमान है।

● ज्ञान की परिपूर्णता के साथ स्थिरता ही परिपूर्ण सुखस्वरूप सर्वज्ञदशा है।

जीव सुखी होना चाहता है। अशान्ति टालकर शांति प्रगट करना चाहता है। ज्ञान का विकास होकर जितनी अभेदता प्रगट होती है, उतनी ही अन्तर में निराकुलता होती है। ज्ञान और शांति दोनों का अविनाभावी संबंध है। जो ज्ञान विकारीभावों से सर्वथा छूटकर परिपूर्ण होता है, वह समस्त विकार, संगरहित होकर केवलज्ञानमात्र रहता है।

सम्पूर्ण आनन्द और सुखयुक्त दशा को सर्वज्ञदशा कहते हैं। सर्वज्ञ भगवान ने निज अनुभव द्वारा आत्मा के सुख को प्रगट किया है। उनकी वाणी को समझनेवाले गुरु सर्वज्ञपद को साधनेवाले हैं, अतः सर्वज्ञदेव, निर्ग्रन्थगुरु और वाणी के आधार से सुख के साधक जीवों को सुख प्रगट होता है।

● सुख के इच्छुक जीवों को परपदार्थ तथा विकारी भावों का माहात्म्य छोड़कर अपने आत्मा का माहात्म्य करना चाहिए।

सर्वज्ञ भगवान की वाणी में ऐसा आया है कि जबतक आत्मा को स्वयं का माहात्म्य प्रगट नहीं होगा, तबतक पर का माहात्म्य नहीं छूटेगा। जड़ पदार्थ, पैसा, शरीर, इन्द्रियों का माहात्म्य अज्ञानदशा में वर्तता है; किन्तु आत्मा का माहात्म्य करे तो सुखदशा उत्पन्न होती है; अतः पर से दृष्टि हटाकर स्व-दृष्टि करना चाहिए।

जीव अशुभभावों को घटाना चाहता है। आत्मस्वरूप ख्याल में हो तो अशुभभाव घटते हैं और आत्मस्वरूप ख्याल में न हो तो वे नहीं घटते। अविकारी स्वभाव के लक्ष बिना तीव्रकषाय टालकर मंदकषाय करे तो पुण्य होता है, धर्म नहीं होता। दया-दानादि भाव विकार हैं। यदि इन भावों में शान्ति हो तो इन भावों को पलटाना नहीं पड़ेगा।

एक समय में दया का भाव और एक समय में व्यापार का भाव होता है अर्थात् विकार भी प्रतिसमय पलटते हैं; किन्तु इनमें सुख नहीं है। अतः विकारी भावों का माहात्म्य छोड़कर अपने आत्मा का माहात्म्य करना चाहिए।

लोक में भी कहते हैं कि पराधीनता में सुख नहीं है। वास्तव में अपना सुख व आनन्द स्वयं में न मानकर पर में मानना ही पराधीन दृष्टि है। अज्ञानी बाह्य पदार्थों को अनुकूल अथवा प्रतिकूल मानता है; किन्तु ये प्रतिसमय बदलते रहते हैं, कायमस्वरूपी वस्तु नहीं है।

शरीर, लक्ष्मी आदि समस्त परपदार्थ, शुभाशुभ भाव छूट जाते हैं; किन्तु अकेला शुद्ध ज्ञानस्वभाव बना रहता है। अतः समस्त विकारीभावों

का अभाव कर मैं सुखस्वरूपी हूँ हूँ ऐसा निर्णय करें तो पराधीनता टलती है और जीव सुखी होता है। अपने स्वभाव का माहात्म्य ऐसे ही आता है।

● आत्मा स्व-रूप से है और पर रूप से नहीं है हूँ ऐसा अनेकान्त स्वरूप ख्याल में लेनेपर दृष्टि स्व की ओर जाती है।

जिसे सुख की प्राप्ति करना है, उसे यह स्वीकार करना चाहिए कि आत्मा सुखस्वरूपी है और शरीरादि जड़ परपदार्थ सुखस्वरूपी नहीं हैं। यह दोनों मिलकर एक आत्मवस्तु नहीं हैं। मेरा स्वरूप भिन्न है और परपदार्थों का स्वरूप भिन्न है। मैं अन्य पदार्थों के लिए नहीं और अन्य परपदार्थ मेरे लिए नहीं। मैं समस्त पदार्थों को जाननेवाला हूँ, करनेवाला नहीं। वस्तु का नवीन उत्पाद या नाश नहीं होता। वस्तु स्वयं कायमस्वरूपी रहती है और उसकी अवस्था में समय-समय परिवर्तन होता है। मैं पर में अभावस्वभावरूप और स्वयं में स्व-स्वभावरूप स्थित हूँ। शरीर, लक्ष्मी, विकार से भिन्न हूँ हूँ ऐसे यथार्थ निर्णयपूर्वक परपदार्थ और विकार से दृष्टि हटाकर स्व की दृष्टि करना चाहिए।

● आत्मा का सर्वज्ञस्वभाव अनंत पदार्थों को अक्रम से एक समय में जानता है।

आत्मा को सुख रुपये-पैसे के कारण प्राप्त होता हो तो पैसा भिन्न होते ही सुख भी भिन्न होना चाहिए; किन्तु सुख भिन्न नहीं होता। जो जिसका स्वभाव होता है, वह कभी भिन्न नहीं होता, अतः सुखस्वरूपी आत्मस्वभाव आत्मा से कभी भिन्न नहीं होता। अपना सुख अपने स्वयं के कारण है। पर का ज्ञान करने की शक्ति स्वयं आत्मा में विद्यमान है। पर का ज्ञान करने से कोई बोझ नहीं होता।

पचास वर्ष पूर्व की बात याद करने के लिए पचास वर्ष नहीं लगते, वह अल्पसमय में ही याद आ जाती है, उसीप्रकार ज्ञान अनंतपदार्थों को जान सकता है। ज्ञान काल के भेद को स्वीकार नहीं करता। एकसमय में त्रिकालवर्ती पदार्थों को अक्रमरूप से जानने की शक्ति उसमें विद्यमान है। जहाँ ज्ञान परिपूर्ण है, वहाँ सुख भी परिपूर्ण है।

● एक ज्ञान ही समाधानकारक है। स्व की ओर झुका ज्ञान निराकुल सुख को प्राप्त कराता है।

जीव को अपने ज्ञान और सुखस्वभाव की प्रतीति नहीं है, अतः अपने आप भूलकर हैरान हो गया।

किसी साहूकार के पुत्र ने जुए में पचास हजार रुपया नष्ट कर दिया और पिताजी की डाँट से बचने के लिए उसने अपने मित्र के द्वारा कहलाया कि “मैं पचास हजार रुपये जुए में हार गया, यदि आप माफ नहीं करोगे तो मैं अपनी जान दे दूँगा।” यह सुनकर वह साहूकार प्रथम तो बहुत क्रोधित होता है, पश्चात् विचार करता है कि यदि लड़का जान दे देगा अथवा मैं उसकी इस बात का ढिंढोरा पीटूँगा तो मेरी ही इज्जत चली जाएगी। मेरा ही पुत्र मर जाएगा। फिर जो भी सम्पत्ति है, वह सब उसकी ही तो है हूँ ऐसा सोचकर पुत्र को माफ कर देता है।

देखो ! यहाँ ज्ञान ने समाधान किया; किन्तु वह समाधान धीरे-धीरे प्राप्त हुआ है। प्रतिकूल संयोगों में भी ज्ञान धीरे-धीरे निर्णय करता है।

रुपया अथवा पुत्र समाधान का कारण नहीं है, अपितु एक ज्ञान ही अनुकूल और प्रतिकूल दोनों ही संयोगों में समाधान प्राप्त कराता है। अशान्ति हीनता है, द्वेष विभाव भाव और ज्ञान स्वभाव भाव है।

संसार में परलक्ष से जीव समाधान करें तो कदाचित् तीव्र आकुलता मंद होती है। जो जीव स्वयं अपने आधार से समाधान करता है, वह यथार्थ शांति और सुख को प्राप्त करता है।

परपदार्थों का परिणामन, सुख-दुःख मेरे आधीन नहीं है। अशुभभाव मुझे दुःखरूप हैं और शुभभाव मंद आकुलतायुक्त होने पर भी मेरे लिए कार्यकारी नहीं हैं। मेरे ज्ञानस्वभाव में ही सुख है हूँ ऐसा समाधान करके पर से दृष्टि हटाना है। स्वयं आत्मा की दृष्टि करके अपना ज्ञान और सुख स्वयं से मानना चाहिए। इसप्रकार यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान जिन्हें वर्तता है, उन्हें शांति प्राप्त होती है और यही धर्म है।

● जो जीव ज्ञानस्वभावी आत्मा की श्रद्धा करता है वह सुखी होता है। अनादिकाल से जीव की दृष्टि पराधीन ही है। इस परदृष्टि के कारण जीव अपनी ही भूल से भटका हुआ है और अपनी भूल टालकर मैं स्वयं स्वतंत्र हूँ हूँ ऐसा निर्णय करें तो सुख की प्राप्ति करता है।

प्रश्न : हूँ कैसा है भगवान आत्मा?

उत्तर : हूँ आत्मा समस्त पदार्थों को जाननेवाला ज्ञानस्वरूपी है। शरीरादि जड़ और शुभाशुभभावों को जाननेवाला है। अनंत पदार्थ और प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय को स्वयं पीने की शक्तिवाला है। जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित समस्त विश्व और पदार्थों का ज्ञाता है। हे भाई ! विश्व के समस्त पदार्थों में एक आत्मा ही मुख्य है।

जो मुनिराज मुख्य आत्मा को यथार्थ जानते हैं, वे सुख की प्राप्ति करते हैं तथा जो मुनिराज आत्मा की श्रद्धा नहीं करते, वे व्रत-तपादि में लीन होनेपर भी साक्षात् श्रमणाभास है।

जो मुनिराज सर्वज्ञ कथित आगम को जानते हैं; जिन्हें छह द्रव्य और नवतत्त्वों की व्यवहार श्रद्धा है। छहकाय के जीवों की हिंसा का त्याग वर्तता है। उपवास, व्रत तपादि का पालन हैं; किन्तु अपनी आत्मा का श्रद्धान नहीं हैं, वे मुनिराज श्रमणाभास है।

ऐसे मुनिराजों की दृष्टि परसन्मुख है। शास्त्र और निमित्तसन्मुख दृष्टि रखकर वे राग को जानते हैं; किन्तु स्वसन्मुखता नहीं करते, अतः वे श्रमणाभास हैं तथा जो जीव सर्वज्ञकथित शास्त्र को नहीं मानता, व्यवहाररूप नवतत्त्वों के ज्ञान में भी भूल करता है, वह जीव तो श्रमणाभास भी नहीं है।

● जिनेन्द्र भगवान द्वारा कथित अनन्त पदार्थों से भरा हुआ यह विश्व है।

“जिनोक्त अनन्त पदार्थों से भरे हुए विश्व को हूँ जो कि (विश्व) अपने आत्मा से ज्ञेयरूप से पिया जाता होने के कारण आत्मप्रधान है।”

जिनेन्द्र भगवान द्वारा कथित अनंत पदार्थों को जानने वाला

ज्ञानस्वभाव मात्र आत्मा है। वे अनन्त पदार्थ कैसे हैं? यहाँ उसका वर्णन करते हैं।

(१) जीव स्वयं परिपूर्ण सुख की प्राप्ति करना चाहता है। जो जीव आजतक राग, अपूर्णदशा और परपदार्थों में अटका था, अब वह सच्ची श्रद्धा-ज्ञान स्थिरतापूर्वक विकार का नाश करके स्थिर हुआ है। वीतरागी को इच्छा नहीं होती। उन्हें इच्छारहित परिपूर्णदशा प्रगट हुई है। विकार का सर्वथा नाश होने पर सर्वज्ञदशा प्रगट हुये बिना नहीं रहती। सर्वज्ञदशायुक्त जीव एक समय में तीन लोक और तीन कालवर्ती समस्त पदार्थों को जानते हैं। अपने ज्ञान में अनन्तानन्त पदार्थों के अतिरिक्त वे स्वयं को भी जानते हैं।

(२) जिनोक्त अर्थात् जिनेन्द्र द्वारा कथित। जिनेन्द्रदेव को इच्छारहित वाणी होती है। केवली का निर्णय होने पर उनकी वाणी का भी निर्णय होता है।

(३) केवली का निश्चय होने पर बिना वाणी के मूककेवली का भी निर्णय होता है।

(४) केवली भगवान अपनी आयु पूर्ण करके सिद्धदशा की प्राप्ति करते हैं; अतः अनन्त सिद्ध भगवन्तों का भी निश्चय होता है।

(५) सर्वज्ञ की वाणी को समझने पर आत्मस्वभाव की प्रतीति करके रमणता करनेवाले मुनि, सम्यग्दृष्टि और श्रावक जीवों का भी निश्चय होता है।

(६) सर्वज्ञ की वाणी को समझने पर निज स्वभाव और सर्वज्ञ को न मानने वाले अनन्तानन्त अज्ञानी जीवों का भी निश्चय होता है।

(७) जीव जबतक अविकारी अवस्था नहीं पाता, तबतक विकार करता है। यदि वर्तमान में विकार न हो तो वीतरागता प्रगट होना चाहिए; किन्तु वर्तमान में विकार प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। वे विकार निजात्मा के लक्ष्य से नहीं होते; अपितु परलक्ष्य से होते हैं, अतः स्वयं के अतिरिक्त अन्य अनंत परपदार्थ हैं, उनका भी निश्चय होता है।

(८) एक जीव एक दिन में स्थूलरूप से असंख्य और सूक्ष्मरूप से अनन्त प्रकार के विकार करता है, फिर अनंतकाल में अनंत प्रकार के विकार होने के कारण विकार के अन्तरंग निमित्त, द्रव्यकर्म की अनेक प्रकार की तारतम्यतारूप प्रकृतियाँ और बहिरंग निमित्त नोकर्मादि का भी निश्चय होता है।

इसप्रकार विकार, कर्म, नोकर्म की विविधता और विचित्रता निश्चित होती है।

(९) जो पर के लक्ष्य से विकार करते हैं। उन परपदार्थों में जीव और जड़ हूँ ऐसे दो परपदार्थ हैं। जीवों में केवली से लेकर मिथ्यादृष्टि सभी जीव आ जाते हैं। एक जीव में अनन्त प्रकार के विकार हैं तो अनन्त जीवों में अनन्तानन्त प्रकार के विकार हुये तथा अनंत प्रकार से कर्म-नोकर्म का संबंध भी है।

(१०) जड़ पुद्गल के निश्चय में धर्म, अधर्म, आकाश काल का निश्चय हो जाता है। इसप्रकार जिनेन्द्र द्वारा कथित अनन्तपदार्थों से भरा हुआ यह विश्व है।

इस बात को समझने से सभी मिलकर एक आत्मा है हूँ ऐसी मान्यता का भी निराकरण हो जाता है।

● अनन्त पदार्थों को जानने की ताकत आत्मा में है।

अनन्त पदार्थों को एक साथ जानने की ताकत आत्मा में विद्यमान है, अतः समस्त पदार्थों में आत्मा ही प्रधान है।

“आत्मा पी जाता है।” अर्थात् आत्मा किसी निमित्त, शुभराग या देव-शास्त्र-गुरु के आधार से पदार्थों को जानता है हूँ ऐसा नहीं; अपितु निजात्मा के आश्रय से जानता है, अतः किसी अन्य पदार्थों के आश्रय से जाननपना होता है, यह भ्रान्ति भी निकल जाती है तथा अनन्त पदार्थ हैं, इसलिये आत्मा जानता है हूँ ऐसा भ्रम भी निकल जाता है।

टीका में “पी जाता है” हूँ ऐसा कहा अर्थात् यहाँ बताते हैं कि अनन्तानन्त पदार्थों को यह आत्मा जानता है; किन्तु यदि उससे भी अनन्तगुणे पदार्थ हों तो उनको भी जानने की ताकत आत्मा में विद्यमान है।

● अनन्त पदार्थों को जानने की प्रतीति द्रव्यदृष्टि से होती है।

अनन्त पदार्थों की ओर लक्ष्य से, पुण्य या इन्द्रियादि से आत्मा पदार्थों को नहीं जानता; अपितु आत्मा स्वयं स्व-पर प्रकाशक है। उसकी ओर दृष्टि करके, एकाग्र होकर स्व-पर प्रकाशक शक्ति परिपूर्ण विकास पाती है, तब समस्त पदार्थ जानने में आते हैं।

परसन्मुखता के कारण अनन्त पदार्थ जानने में आते हों हूँ ऐसा नहीं है। आत्मसन्मुख दृष्टि करने पर अनंत ज्ञेयों का यथार्थ ज्ञान होता है। जबतक आत्मा परसन्मुख दृष्टि रखेगा, तबतक ज्ञान की विकारी और हीनदशा का अभाव नहीं होगा, सर्वज्ञपद की प्राप्ति नहीं होगी। मुझमें सर्वज्ञ होने की ताकत है हूँ ऐसी प्रतीतिपूर्वक ही आत्मसन्मुखता की दशा होती है। द्रव्यदृष्टि के बिना अनन्त पदार्थों को जाननेरूप शक्ति की प्रतीति नहीं होती।

● स्वसन्मुख दृष्टि होने से पर और विकार की रुचि का नाश होता है।

इसप्रकार स्व सन्मुखतापूर्वक ही सच्ची दृष्टि होती है। जीव को आत्मज्ञान की महिमा आती है। मेरे ज्ञान सामर्थ्य में अनन्त केवली और सिद्ध भगवन्तों का ज्ञान समा जाता है; अतः ज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ है हूँ इस प्रकार की प्रतीति चतुर्थ गुणस्थानवर्ती गृहस्थ भी करते हैं।

अरहंतदेव शास्त्र, वाणी या निमित्तादि से मुझे ज्ञान प्राप्त नहीं होता। देव-शास्त्र-गुरु से मुझे लाभ होगा, अधिक ग्रन्थों को पढ़ने से ज्ञान होगा हूँ ऐसी दृष्टि का ज्ञानियों को नाश हुआ है। उनके पर और विकार की रुचि नष्ट हो गई है।

हे भाई ! अपने स्वभाव के विकास हेतु परसन्मुख होने की आवश्यकता

नहीं है। स्व की ओर दृष्टि करते ही ज्ञान परिपूर्ण होता है और स्वयं को परिपूर्ण जानते ही अनंत परपदार्थ जानने में आ जाते हैं। स्वयं को जानना निश्चय है और पर को जानना व्यवहार है।

● विकार के सद्भाव में ज्ञान हीन वर्तता है और अविकारी दशा में सर्वज्ञपना व्यक्त होता है।

बहुत से लोग कहते हैं कि यह कठिन बात है। अरे भाई! यह कठिन बात नहीं, अपितु प्रतीति करने योग्य बात है।

सर्वप्रथम हमें जैन का निर्णय करना चाहिये।

जो सर्वज्ञसत्ता को स्वीकार करता है, वह जैन है। अनादिकाल से अनंतभव में अनन्तप्रकार के विकार किये हैं। वे विकार और उनके निमित्त भी अनन्त प्रकार के हैं। इसलिये अब तो अनन्त पदार्थों को जानने पर भी विकार सन्मुख दृष्टि नहीं करना चाहिए।

विकार की ओर दृष्टि करने से ज्ञान हीन होता है। जीव विकार में रहकर क्रम-क्रम से पदार्थों का ज्ञान करता है; किन्तु विकार से पराङ्गमुख होकर स्वभावसन्मुखता करें तो अनंत पदार्थों को एकसाथ अक्रम से जानने लगता है। ऐसी सामर्थ्य स्वयं आत्मा में विद्यमान है।

जहाँ रुचि होती है, वहाँ ज्ञान अटकता है। मैं कर्मसन्मुख नहीं हूँ, ज्ञानसन्मुख हूँ हूँ ऐसी प्रतीति होने पर ज्ञान की सर्वज्ञशक्ति का वेदन होता है।

(१) जब तक परसन्मुख दृष्टि है, तब तक स्वसन्मुखता नहीं होती। विकार और परपदार्थों का जो थोड़ा जाननपना होता है, वह यथार्थ ज्ञान नहीं कहलाता।

(२) स्वभावसन्मुख दृष्टि होने पर अपने आत्मस्वभाव की प्रतीति होती है। अनंत पदार्थों को अक्रम से जाननेरूप शक्ति का वेदन होता है। स्व-पर समस्त पदार्थों का ज्ञान यथार्थ होने पर अनंत पदार्थों से रहित एक ज्ञानस्वभाव का ही यथार्थ आश्रय होता है।

देखो ! अभी आत्मा के सर्वप्रदेशों में प्रत्यक्ष जानने की शक्ति प्रगट नहीं हुई, किन्तु प्रतीति हुई है। ज्ञानशक्ति का भावभासन हुआ है; इसलिये परोक्षरूप से क्रमपूर्वक पदार्थ जानने में आते हैं।

(३) साधकदशा में जबतक विकार है, तबतक अपूर्णता और परोक्षपना है। स्व-सन्मुख दृष्टि और स्थिरता करने पर वीतरागता होती है, केवलज्ञान व्यक्त होता है, अनन्त पदार्थों का प्रत्यक्ष अक्रमपूर्वक जानना होता है।

● अपनी सर्वज्ञशक्ति का स्वीकार स्वयं करना चाहिए, जिनेन्द्रदेव अथवा शास्त्र कहते हैं, इसलिये नहीं।

जिन भगवान द्वारा कथित पदार्थों का स्वरूप चल रहा है। 'जिन' शब्द से ही निश्चित होता है कि उनके भी पहले जिनेन्द्रपना न होकर अज्ञानदशा थी। विकार के तारतम्यता की विविधता थी, कर्म-नोकर्म आदि विविधता से युक्त अनंत पदार्थों का संयोग था, पश्चात् सच्ची दृष्टि होने पर आत्मा के साथ अंशरूप में एकता हुई। पहले अस्थिरता के कारण विकार और अल्पज्ञता थी, पश्चात् परिपूर्ण एकता होने पर सर्वज्ञजिन हुए। इसप्रकार आत्मस्वरूप को यथार्थ श्रद्धा में लेना चाहिए।

वर्तमान विकारी दशा में विकार मंद होते हैं, यह प्रत्यक्ष दिखाई देता है, अतः विकार का अभाव होकर वीतरागी दशा प्रगट होती है और वीतरागतापूर्वक सर्वज्ञता भी प्रगट होती है, इसका निर्णय होता है। इस बात को स्वयं आत्मा जाने और प्रतीति करे तो यथार्थता होवे। भगवान ने कहा इसलिये अनन्त पदार्थ हैं हूँ इस प्रकार ऊपर-ऊपर निर्णय करना यथार्थता नहीं है। भगवान तो परपदार्थों को बताते हैं। आत्मा स्वयं अपनी शक्ति के कारण अनन्त पदार्थों को जानता है। इसप्रकार स्वभावसन्मुख दृष्टि करके स्व को जाने तो अपना आत्मा अनन्त ज्ञेयों को जान लेता है हूँ इसप्रकार ज्ञानशक्ति की प्रतीति और समस्त ज्ञेयों में आत्मा प्रधान है हूँ ऐसी निश्चित प्रतीति होती है।

● जो श्रमण आगम के ज्ञाता, संयमी होने पर भी अपनी आत्मा की श्रद्धा नहीं करते, वह श्रमणाभास हैं।

जो जीव अनन्त पदार्थों को स्वीकार न करके समस्त पदार्थ एक ही मानता है, उसे समस्त ज्ञेयों में आत्मा के प्रधानपने की श्रद्धा नहीं होती। वे जीव स्थूल-भूल में ही व्यस्त हैं। जो जीव अपनी दशा को अल्पज्ञ मानते हैं, वे जीव भी आत्मा को प्रधान नहीं मानते, वे भी स्थूल भूलवाले हैं।

अनंत सिद्ध, केवली, साधक, कर्म, नोकर्म, अनेक प्रकार के जीव और अजीव हूँ इन समस्त पदार्थों का जो व्यवहार से भी निर्णय नहीं करता, वह स्थूल मिथ्यादृष्टि है। आगम का ज्ञाता नहीं है।

आचार्यदेव कहते हैं कि मुनिराज सर्वज्ञकथित छह द्रव्य, नवतत्त्वों को व्यवहार से जानते हैं। छह काय की हिंसा के भाव को त्यागते हैं, तप और संयमादि में लीन रहते हैं, फिर भी विश्व के अनन्त पदार्थों में मेरा आत्मा मुख्य है, मैं अपनी आत्मा के आश्रयपूर्वक समस्त पदार्थों को जान सकता हूँ हूँ इस श्रद्धा से स्वसन्मुख दृष्टि न करके परसन्मुख दृष्टि करते हैं, वे मुनि सच्चे मुनि नहीं हैं, अपितु श्रमणाभास हैं।

शास्त्र का जाननपना तब होता है, जब उसका रहस्य ध्यान में हो। जीव स्वयं अकेला ज्ञाता है और ज्ञेय अनन्तानंत पदार्थ हैं। अनन्त ज्ञेयों में तन्मय हुए बिना ही आत्मा सभी को जाननेवाला है हूँ ऐसी जो श्रद्धा नहीं करता वह श्रमणाभास है।

● जिसे धर्म करना है, उसे समस्त ज्ञेयों में एक आत्मा ही प्रधान है हूँ ऐसी दृष्टि करना चाहिए।

देखो ! आचार्यदेव चरणानुयोग में भी आत्मप्रधानता से कथन करते हैं। प्रत्येक गाथा में द्रव्यदृष्टि रखकर ही चर्चा करते हैं। आत्मज्ञान बिना शास्त्रज्ञान, व्रत, तप, संयम; सब व्यर्थ हैं। ऐसे तपश्चर्यायुक्त जीव को धर्म लेशमात्र भी नहीं है।

हे भाई! तुझे धर्म करना है, इससे ही यह निश्चित होता है कि तेरी वर्तमान पर्याय में धर्म नहीं है। अधर्म करनेवाला तू स्वयं है और धर्म करनेवाला भी तू स्वयं ही है। वर्तमान दशा में यदि धर्म व्यक्त होता तो धर्म करने की आवश्यकता नहीं रहती तथा धर्म प्रगट करने की स्वभाव में शक्ति न हो तो धर्म प्रगट नहीं हो सकता; अतः धर्म दशा प्रगट हो हूँ ऐसी शक्ति के भण्डारस्वरूप निज आत्मा की प्रतीति कर।

आत्मा ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि अनन्त गुणों का भण्डार है। वह आत्मा अनंतज्ञेयों को एक समय में जानने की शक्तिवाला है। पदार्थों की उपस्थिति के कारण जीव जानता है हूँ ऐसा नहीं, किन्तु उन्हें जानने की स्वयं की ऐसी शक्ति है। यह बात स्वीकारने के लिए स्वयं ज्ञान करना होगा। जिसे वर्तमान में सर्वज्ञशक्ति की प्रतीति नहीं आती वह आगे कैसे जा सकता है? मुनिपना कैसे ग्रहण कर सकता है? अतः सभी ज्ञेयों में एक आत्मा ही प्रधान है हूँ ऐसी प्रतीति ही सम्यग्दर्शनरूपी धर्म है। जो मुनि निजात्मा का श्रद्धान नहीं करते, वे श्रमणाभास हैं।

प्रश्न : हूँ सभी मतों का समन्वय करके गुणग्रहण करना चाहिए?

उत्तर : हूँ जिसप्रकार अमृत और विष का समन्वय नहीं हो सकता; उसीप्रकार सर्वज्ञदेव के यथार्थ मत और अन्यमत का मेल नहीं हो सकता।

यद्यपि अपेक्षा दृष्टि से समन्वय है; क्योंकि सर्वज्ञ की वाणी में 'है' की विवक्षा प्राप्त होती है। जिसके कारण सम्यक्त्व है, मिथ्यात्व है, सिद्धजीव है, संसारीजीव हैं, सर्वज्ञ को मानने वाले जीव हैं और विकार तथा अल्पज्ञता को भी माननेवाले जीव हैं हूँ ऐसा वर्णन आता है। इस 'है' की अपेक्षा से समन्वय है।

मैं स्वयं ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि गुणों का पिण्ड हूँ हूँ ऐसा निश्चित होने पर अन्य जीव और जड़ पदार्थों के गुणों को जानने से गुणग्राहीपना भी आ जाता है।

प्रश्न : हूँ आप इतनी बड़ी-बड़ी बातें करते हो, पहले एक सच्चे मनुष्य होकर तो बताओ?

उत्तर : ह्म मनुष्यपर्याय में यथार्थ निमित्त मिलने पर भी जो आत्मा की श्रद्धा नहीं करता, वह मूर्ख है। जो जीव अपनी आत्मा का यथार्थ श्रद्धान नहीं करता, वह मिथ्यादृष्टि है। आत्मश्रद्धा से विपरीत श्रद्धा का सम्पूर्ण व्यवहार मनुष्य व्यवहार है तथा जो जीव आत्मश्रद्धानपूर्वक अपने ज्ञान-चारित्र को प्रगट करता है, उसका समस्त व्यवहार आत्मव्यवहार है।

आत्मा का ज्ञान कर सकें ऐसा मनुष्यभव, जैनधर्म, सच्चे निमित्त प्राप्त होने पर भी जो जीव मनुष्यपर्याय की दृष्टि छोड़कर आत्मा की दृष्टि नहीं करता है, वह मूर्ख है।

जो जीव सच्चे निमित्त और अपने ज्ञान का उघाड़ मिलने पर भी बाहर में भटकता है, अपने आत्मस्वभाव का निर्णय नहीं करता, वह मूर्ख है। संसार में रति करनेवाला ऐसा जीव मनुष्यपर्याय पाकर भी आत्मा को प्राप्त नहीं करता और चार गति में परिभ्रमण करता है।



जिसने राग की रुचि छोड़ी और स्वभाव की रुचि की, उसे स्वभाव की प्राप्ति न हो ह्म ऐसा होता ही नहीं है। जो स्वरूप प्राप्त न हुआ हो तो यह समझना चाहिए कि अभी स्वभाव की तरफ के पुरुषार्थ में कुछ कमी है, त्रुटि है। हाँ, परवस्तु के प्रयत्न में ह्म पुरुषार्थ में परवस्तु की प्राप्ति न हो तो कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि पर में तो पुरुषार्थ चलता ही नहीं है; परन्तु स्वरूप में पुरुषार्थपूर्वक अनुभव का अभ्यास करे तो उसकी प्राप्ति अवश्य होती ही है। आत्मा में वीर्य नाम का गुण है, उसका कार्य स्वरूप की ही रचना करना है। इसकारण अंतर्मुख होकर आत्मा में पुरुषार्थ करने पर स्वरूप की रचना निर्मल होती ही है, इसमें किंचित् भी संदेह नहीं करना।

ह्म प्रवचनरत्नाकर भाग-२, पृष्ठ-१९६

प्रवचनसार गाथा २६५

अब, जो श्रामण्य से समान है, उनका अनुमोदन (आदर) न करनेवाले का विनाश बतलाते हैं :ह्म

अपवददि सासणत्थं समणं दिट्ठा पदोसदो जो हि ।

किरियासु णाणुमण्णदि हवदि हि सो णट्टचारित्तो ॥२६५॥

(हरिगीत)

जो श्रमणजन को देखकर विद्वेष से वर्तन करें।

अपवाद उनका करें तो चारित्र उनका नष्ट हो ॥२६५॥

अन्वयार्थ :ह्म [यः हि] जो [शासनस्थं श्रमणं] शासनस्थ (जिनदेव के शासन में स्थित) श्रमण को [दृष्ट्वा] देखकर [प्रद्वेषतः] द्वेष से [अपवदति] उसका अपवाद करता है और [क्रियासु न अनुमन्यते] (सत्कारादि) क्रियाओं के करने में अनुमत (प्रसन्न) नहीं है [सः नष्टचारित्रः हि भवति] उसका चारित्र नष्ट होता है।

टीका :ह्म जो श्रमण द्वेष के कारण शासनस्थ श्रमण का भी अपवाद करता है और (उसके प्रति सत्कारादि) क्रियायें करने में अनुमत नहीं है, वह श्रमण द्वेष से कषायित^१ होने से उसका चारित्र नष्ट हो जाता है।

गाथा २६५ पर प्रवचन

● जो मुनिराज अन्य मुनियों का आदर नहीं करते; द्वेष करते हैं, उनका चारित्र नष्ट है।

जो भावलिंगी मुनिराज अन्य भावलिंगी मुनिराज के प्रति अपशब्द बोलते हैं, द्वेष करते हैं, वे मुनि चारित्र से भ्रष्ट हैं। स्वयं दोषयुक्त होनेपर भी जो दोष को दोषरूप स्वीकार नहीं करते, वे श्रद्धा से भ्रष्ट हैं।

यहाँ वस्त्रसहित अथवा द्रव्यलिंगी मुनियों की बात नहीं; अपितु

१. कषायित = क्रोधमानादिक कषाय वाले; रंगित; विकारी।

सर्वज्ञदेव द्वारा कथित स्व-स्वरूप की अन्तर श्रद्धा करके जिन्होंने चारित्र प्रगट किया है ह्व ऐसे भावलिंगी संतों की बात है। भावलिंगी मुनिराजों के प्रति कोई ईर्ष्याभाव करे तो चारित्र में दोष आता है।

किसी मुनि के ज्ञान का उघाड़ कम हो, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान नहीं हो तथा मतिज्ञान-श्रुतज्ञान का भी कम उघाड़ हो। द्रव्यवचन में निमित्तभूत भाववचन नहीं हो तो मुनिराज को क्षोभ नहीं होता; क्योंकि केवलज्ञान प्रगट करने का मूल स्वयं के हाथ में है, जिसे ग्रहणकर केवलज्ञान प्रगट किया जाता है।

जिसप्रकार कोई राज्य का पैसा लूटकर ले जावे, किन्तु राज्य स्वयं के हाथ में हो तो पुनः कमाई कर सकते हैं, उसीप्रकार किसी मुनिराज को मति-श्रुतज्ञान का उघाड़ कम हो, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान नहीं हो तो चल सकता है। चैतन्यस्वभाव हाथ में होनेपर वे अन्तर्मुहूर्त मात्र में ही शुक्लध्यान प्रगट कर केवलज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

अतः मुनिराज के ज्ञान का उघाड़ कम या अधिक हो, बाह्य में उनकी प्रतिष्ठा अधिक हो या कम हो, भावलिंगी मुनि एक ही जाति के होते हैं।

जिसप्रकार माला में मोती एक के पीछे एक होते हैं, उसीप्रकार केवलज्ञान ग्रहण करने आये हुए भावलिंगी मुनि एक के पीछे एक होते हैं, किन्तु केवलज्ञान ग्रहण करने के लिये एक भावलिंगी मुनि, अन्य भावलिंगी मुनि की राह नहीं देखते। वे केवलज्ञान लेने के लिए सदैव तत्पर रहते हैं।

वर्तमान के नामधारी मुनि, मुनि के यथार्थ स्वरूप को लजाते हैं। एक मुनिराज जहाँ वह ठहरे हों उस स्थान में अन्य मुनि को आने नहीं देते। जमीन आदि के मालिक हो जाते हैं। अरे ! यहाँ तो व्यवहार स्वरूप का भी ठिकाना नहीं है। उन्हें अपने स्वरूप में लीन रहकर शांति रखना चाहिए, किसी के प्रति द्वेष नहीं करना चाहिये। जिस भावलिंगी मुनि को

अन्य भावलिंगी मुनि के प्रति आदर-सत्कार नहीं है, वह द्वेष में रचा-पचा है, उसे चारित्र नहीं हो सकता।

स्वयं की कमजोरीवश जो द्वेष हुआ उसे दोष न मानकर गुण माने तो श्रद्धा भी स्थिर नहीं रहती; पामरता आ जाती है। मेरी प्रभुता में ऐसी पामरता नहीं है; क्योंकि पामरता आनेपर वीतरागी समता नहीं रहती। अतः वीतरागता का विचार करके पुरुषार्थ द्वारा स्वरूपलीनता करना चाहिए।

यहाँ चरणानुयोग का अधिकार है। मुनिराज भूल करें तो उनके चारित्र में कमजोरी आती है। इसप्रकार साधकदशा का यथार्थ ज्ञान कराया है। यही वीतरागमार्ग है। वीतराग के मार्ग में रंचमात्र भी दोष नहीं होता।

भाई! ऐसा जो यह मनुष्य भव और उत्तम अवसर मिला है, इसमें यदि आत्मा की बात, धर्म प्रगट करने की बात नहीं समझी तो फिर कब समझेगा? और तेरी क्या गति होगी? जब यह भव समाप्त हो जायेगा, तब तू कहाँ जायेगा? जरा इसका भी तो गंभीरता से विचार कर। यह विनाशीक देह तेरी नहीं है। तू तो अविनाशी तत्त्व है। यदि तूने अपने को नहीं जाना और राग में ही तेरी रुचि रही तो नरक-निगोद में रखड़ता हुआ अनन्तकाल तक मिथ्यात्व दशा में अनन्त आकुलता में ही रहना पड़ेगा, क्योंकि राग की रुचि व मिथ्यात्व का फल ही ऐसा है, इसमें कोई कर ही क्या सकता है?

ह्व प्रवचनरत्नाकर भाग-६, पृष्ठ-२००

प्रवचनसार गाथा २६६

अब, जो श्रामण्य में अधिक हो उसके प्रति जैसे कि वह श्रामण्य में हीन (अपने से मुनिपने में नीचा) हो ऐसा आचरण करनेवाले का विनाश बतलाते हैं :ह

गुणदोधिगस्स विणयं पडिच्छो जो वि होमि समणोत्ति ।

होज्जं गुणाधरो जदि सो होदि अणंतसंसारी ॥२६६॥

(हरिगीत)

स्वयं गुण से हीन हों पर जो गुणों से अधिक हों ।

चाहे उनसे नमन तो फिर अनंतसंसारी हूँ वे ॥२६६॥

अन्वयार्थ :ह [यः] जो श्रमण [यदि गुणाधरः भवन्] गुणों में हीन होनेपर भी [अपि श्रमणः भवामि] 'मैं भी श्रमण हूँ' [इति] ऐसा मानकर अर्थात् गर्व करके [गुणतः अधिकस्य] गुणों में अधिक (ऐसे श्रमण) के पास से [विनयं प्रत्येषकः] विनय (करवाना) चाहता है [सः] वह [अनंतसंसारी भवति] अनंतसंसारी होता है ।

टीका :ह जो श्रमण स्वयं जघन्य गुणोंवाला होने पर भी 'मैं भी श्रमण हूँ' ऐसे गर्व के कारण दूसरे अधिक गुणवालों (श्रमणों) से विनय की इच्छा करता है, वह श्रामण्य के गर्व के वश से कदाचित् अनन्तसंसारी भी होता है ।

गाथा २६६ पर प्रवचन

● जो मुनिराज अपने से अधिक गुणवाले मुनियों से विनय की इच्छा रखते हैं, वह अनंतसंसारी है ।

यह चरणानुयोग का अधिकार है । आत्मा की दृष्टि शुद्धस्वभाव पर है । स्वरूपलीनतारूप चारित्रदशा होने पर गुणस्थान योग्य भूमिका के अनुसार उन्हें योग्य विनयादि भी मुनिदशा में वर्तते हैं; किन्तु यदि कोई मुनिराज भूमिका का भान न करके अन्य मुनिराजों के प्रति विनयभाव नहीं करें अथवा अपने से अधिक गुणयुक्त मुनिराजों से स्वयं विनय

कराना चाहे तो उन्हें चारित्र नहीं होता ।

आत्मा शुद्ध है ऐसी द्रव्यदृष्टिपूर्वक प्रति-समय की पर्याय का विवेक मुनिराजों को होता है । विवेक नहीं रखे तो वे चारित्रभ्रष्ट हैं तथा सर्वथा विवेक से भ्रष्ट हों तो दर्शन से भी भ्रष्ट हो जाते हैं ।

अन्य अधिक गुणयुक्त मुनिराजों की अपेक्षा अपनी निर्मलता कम होने पर भी "मैं मुनि हूँ" ऐसे अहंकार की इच्छा करके जो स्वयं के विनयादि की इच्छा करता है, उसे अपने भूमिका एवं पर्याय का विवेक नहीं है, अतः वह चारित्रभ्रष्ट है तथा वे मुनिराज अपने सर्वथा विवेक को ही भूल जाए तो दर्शन से भी भ्रष्ट हैं । अनंतसंसारी हैं ।

● सभी को समान मानना यह समदर्शीपना नहीं, अपितु प्रगट पर्याय के प्रति विवेक का नाम समदर्शीपना है ।

यहाँ, कोई कहता है कि हमें सभी के साथ समानभाव रखना चाहिए । अरे भाई ! जो वस्तुस्वरूप हो वह समझना चाहिए । पुण्य अथवा निमित्त से धर्म माननेवाले के प्रति समानभाव रखना तो मिथ्यादृष्टिपना है ।

विपरीत मान्यतायुक्त जीवों के प्रति आदर और द्वेष का भाव छोड़कर जो मध्यस्थभाव रखते हैं, वे पुरुष पर्याय में सर्वज्ञदशा को प्राप्त करते हैं, वे ही पूज्य बनते हैं ।

जबतक सर्वज्ञपना पर्याय में प्रगट नहीं होता तबतक पूज्यता नहीं आती । शक्तिरूप से सभी समान हैं । निगोद, एकेन्द्रिय, द्विन्द्रिय सभी जीव सिद्धसमान हैं । इनमें जिस जीव की पर्याय आगे बढ़कर व्यक्तरूप से प्रगट होती है, उन जीवों का आदर होता है, अन्य जीवों का नहीं ।

निगोदिया अथवा पञ्चेन्द्रिय जीव को कोई कुछ नहीं करता । कुदेव और सुदेव, कुगुरु-सुगुरु, पात्र-अपात्र, सज्जन-दुर्जन आदि समस्त भेदों को राग-द्वेष से रहित होकर यथावत् जानने का नाम समदर्शिता है तथा इन वस्तुओं को भेदरूप मानना समदर्शीपना न होकर मिथ्याभ्रान्तिपना है ।

माता और पत्नी दोनों नारी जाति ही हैं, फिर भी दोनों के प्रति विवेक रखना चाहिये । रोटी और अभक्ष्यादि पदार्थ दोनों ही पुद्गल

परमाणु के स्कन्ध हैं, फिर भी धर्मी जीव का लक्ष रोटी पर होता है, अभक्ष्य पदार्थों पर नहीं; क्योंकि दोनों की वर्तमान पर्याय में फेर है, अतः पर्याय का भी विवेक रखना चाहिए।

जो मुनिराज अधिक गर्व करते हैं और अधिक निर्मलतायुक्त मुनियों से अपने विनय आदि की भावना करते हैं, उन्हें वस्तुस्वभाव एवं धर्मात्मा जीवों के प्रति अनादर है। वे जीव शास्त्रों का अध्ययन करते हों, व्रत-तपादि का पालन करते हों फिर भी अनंतसंसारी हैं।

कुन्दकुन्दाचार्य देव तो एकदम कडक सत्य बात कहते हैं। वे मुनिपने का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि चारित्रदशा में वस्त्र का राग नहीं होना चाहिए। वस्त्रादि का राग रखकर कोई मुनिपना माने तो निगोद में जायेगा। जो जीव पर्याय का विवेक नहीं रखता, गर्व करता है, अधिक गुणयुक्त मुनियों से अपना आदर चाहता है, उसे नम्रता नहीं है, पर्याय का विवेक नहीं है, वह तो अनंत संसारी है।

यहाँ मुनिराज की मुख्यता से बात की है, किन्तु यह स्वरूप समकिति पर भी लागू होता है। वे सम्यक्त्वी जीव भी अपने से अधिक गुणयुक्त मुनियों से विनय चाहते हैं तो अनंतसंसारी हैं।

प्रश्न :हम आचार्य कुन्दकुन्ददेव को मानें अथवा अन्यमत के ज्ञानी विद्वानों को मानें ?

उत्तर :हम अरे भाई ! सर्वज्ञ से विपरीत जितने भी मत हैं, वे सब एकांत कूटस्थ है। द्रव्य के परिवर्तन को स्वीकार न करें, वह एकांत मान्यतावाला मिथ्यादृष्टि है। यहाँ उसकी बात नहीं हैं; क्योंकि एकांत मान्यता को माननेवाला सर्वज्ञमत को माननेवाला नहीं हो सकता।

यहाँ तो सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को माननेवाले भावलिंगी मुनि स्व-स्वरूप को भूलकर स्वयं की गर्वपुष्टी करें तो वह अनंतसंसारी है, यह स्पष्ट किया है।



प्रवचनसार गाथा २६७

अब, जो श्रमण श्रामण्यसे अधिक हों वह, जो अपनेसे हीन श्रमण के प्रति समान जैसा (अपने बराबरी वाले जैसा) आचरण करें तो उनका विनाश बतलाते हैं :ह

अधिगुणा सामण्ये वदंति गुणाधरेहिं किरियासु।

जदि ते भिच्छुवजुत्ता हवंति पबभट्टचारित्ता।।२६७।।

(हरिगीत)

जो स्वयं गुणवान हों पर हीन को वंदन करें।

दृग्मोह में उपयुक्त वे चारित्र से भी भ्रष्ट हैं।।२६७।।

अन्वयार्थ :ह [यदि श्रामण्ये अधिकगुणाः] जो श्रामण्य में अधिक गुणवाले हैं, तथापि [गुणाधरैः] हीनगुणवालों के प्रति [क्रियासु] (वंदनादि) क्रियाओं में [वर्तन्ते] वर्तते हैं, [ते] वे [मिथ्योपयुक्ताः] मिथ्या उपयुक्त होते हुए [प्रभ्रष्टचारित्राः भवन्ति] चारित्र से भ्रष्ट होते हैं।

टीका :ह जो स्वयं अधिक गुणवाले होनेपर भी अन्य हीनगुणवालों (श्रमणों) के प्रति (वंदनादि) क्रियाओं में वर्तते हैं, वे मोह के कारण असम्यक् उपयुक्त होते हुए (मिथ्याभावों में युक्त होते हुए) चारित्र से भ्रष्ट होते हैं।

गाथा २६७ पर प्रवचन

● बाह्य वेश अथवा त्याग को देखकर जिस किसी की विनय करें ह वह जीव विनय मिथ्यादृष्टि है।

एक राजा केशरिया वस्त्रों से युक्त कोई भी व्यक्ति दिखाई देवें तो उसके पैर पड़ता था। उसे किसी ने अज्ञानतावश कह दिया था कि केशरिया वस्त्र युक्त साधुओं के पैर पड़ना चाहिए तो राज्य का कल्याण होगा। एकबार कोई भगवा वस्त्रधारी साधु गधे पर बैठकर जा रहा था, उसे देखकर यह राजा अपने हाथी से नीचे उतरकर उसके पैर पड़ता है, तब कोई सज्जन व्यक्ति राजा से कहता है कि हे राजन् ! केशरिया वस्त्र कोई

साधु का लक्षण नहीं है। यह साधु ढोंगी है, इसलिये इसे गधे पर बैठाया गया है।

जिसप्रकार आम और खजूर दोनों ही के वृक्ष होते हैं। आमवृक्ष के नीचे व्यक्ति को छाया मिलती है, खजूरवृक्ष के नीचे नहीं। उसीप्रकार बाह्य नाममात्र से कोई साधु नाम धारण करें तो वह साधु नहीं हो सकता। उसके आश्रय में जीव को यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं होता।

जो जीव बाह्यत्याग देखकर चाहे जिसे नमन करे तो वह ज्ञानी नहीं; अपितु विनय मिथ्यादृष्टि है।

● जो मुनिराज अपने से हीन मुनिराज का आदर-सत्कार करते हैं, वे चारित्र से भ्रष्ट हैं।

जो मुनिराज अधिक गुणयुक्त होने पर भी अपने से हीन मुनियों का आदर-सत्कारादि करते हैं, वे निजस्वरूप की सावधानी से चूक जाते हैं। पर्याय का विवेक भूलकर मिथ्याभाव में जुड़ते हैं और चारित्र से भ्रष्ट होते हैं।

अन्य मतावलंबी लोग त्यागी होकर साधु नाम धारण करते हैं अथवा वस्त्रसहित मुनिपना मानते हैं, उनकी यहाँ बात नहीं है। उनके आदरभाव की बात नहीं है। यहाँ, तो यथाजात भावलिंगी मुनियों की बात है।

अधिक गुणवाले मुनिराजों को अपने से कम गुणवाले मुनिराजों की वंदनादि नहीं करना चाहिए, तथापि कोई जीव मोह के वशीभूत होकर निम्नदशावाले को प्रसन्न करने के लिए वन्दनादि करें तो वह चारित्र से भ्रष्ट है। ●

ध्यान रहे सती पर्याय से छेड़-छाड़ करने अर्थात् उसे बदलने की वृत्तिवाले अपराधियों को भी उसका दण्ड भोगना होगा, अनंतकाल तक संसार में भ्रमण करना होगा। पर्याय के सत् का अपमान करने के इस महापाप (मिथ्यात्व) से वे बच सकेंगे।

ह्र क्रमबद्धपर्याय, पृष्ठ-३८

प्रवचनसार गाथा २६८

अब, असत्संग निषेध्य है ह्र ऐसा बतलाते हैं :ह्र

णिच्छिदसुत्तत्थपदो समिदकसाओ तवोधिगो चावि।

लोगिगजणसंसर्गं ण चयदि जदि संजदो ण हवेदि।।२६८।।

(हरिगीत)

सूत्रार्थविद जितकषायी अर तपस्वी हैं किन्तु यदि।

लौकिकजनों की संगति न तजे तो संयत नहीं।।२६८।।

अन्वयार्थ :ह्र [निश्चितसूत्रार्थपदः] जिसने सूत्रों और अर्थों के पद को ह्र अधिष्ठान को (अर्थात् ज्ञातृत्व को) निश्चित किया है, [समितकषायः] जिसने कषायों का शमन किया है, [च] और [तपोऽधिकः अपि] जो अधिक तपवान् है ह्र ऐसा जीव भी [यदि] यदि [लौकिकजनसंसर्ग] लौकिकजनों के संसर्ग को [न त्यजति] नहीं छोड़ता, [संयतः न भवति] तो वह संयत नहीं है (अर्थात् असंयत हो जाता है)।

टीका :ह्र (१) विश्व के वाचक, 'सत्' लक्षणवान् ऐसा जो शब्दब्रह्म और उस शब्दब्रह्म के वाच्य 'सत्' लक्षणवाला ऐसा जो सम्पूर्ण विश्व उन दोनों के ज्ञेयाकार अपने में युगपत् ग्रंथ जाने से (ज्ञातृत्व में एक ही साथ ज्ञात होने से) उन दोनों का अधिष्ठानभूत^१ ऐसा 'सत्' लक्षणवाले ज्ञातृत्व का निश्चय किया होने से 'जिसने सूत्रों और अर्थों के पद को (अधिष्ठान को) निश्चित किया है ऐसा' हो, (२) निरुपराग उपयोग के कारण 'जिसने कषायों को शमित किया है ऐसा' हो, और (३) निष्कंप उपयोग का बहुशः^२ अभ्यास करने से 'अधिक तपवाला' हो ह्र इसप्रकार (इन तीन कारणों से) जो जीव भलीभाँति संयत हो, वह भी लौकिक

१. ज्ञातृत्व स्वभाव शब्दब्रह्म को और उसके वाच्यरूप विश्व को युगपत् जानने का है, इसलिये उस अपेक्षा ज्ञातृत्व को शब्दब्रह्म का तथा विश्व का अधिष्ठान-आधार कहा गया है। संयत जीव को ऐसे ज्ञातृत्व का निश्चय होता है।

२. बहुधा = (१) बहुत; खूब (२) बारंबार।

(जनों के) संग से असंयत ही होता है, क्योंकि अग्नि की संगति में रहे हुए पानी की भाँति उसे विकार अवश्यभावी है। इसलिये लौकिक संग सर्वथा निषेध्य ही हैं।

भावार्थ :ह जो जीव संयत हो, अर्थात् (१) जिसने शब्दब्रह्म को और उसके वाच्यरूप समस्त पदार्थों को जाननेवाले ज्ञातृत्व का निर्णय किया हो, (२) जिसने कषायों को शमित किया हो (३) और जो अधिक तपवान् हो, वह जीव भी लौकिकजन के संग से असंयत ही होता है; क्योंकि जैसे अग्नि के संग से पानी में उष्णतारूप विकार अवश्य होता है, उसीप्रकार लौकिकजन के संसर्ग को न छोड़नेवाले संयत के असंयततारूप विकार अवश्य होता है। इसलिये लौकिकजनों का संग सर्वप्रकार से त्याज्य ही है।

गाथा २६८ पर प्रवचन

● वस्तुस्वरूप से विपरीत प्ररूपणा करनेवाले लौकिक स्वच्छन्दी जीवों का समागम नहीं करना चाहिए।

जिन मुनिराजों ने वीतरागतापूर्वक पदार्थों और नवतत्त्वों का यथार्थ निश्चय किया है, क्रोध-मान-माया-लोभादि के परिणाम घटाये हैं और जो मुनिदशा में अधिक हैं, फिर भी लौकिकजनों के प्रति राग तथा उनका संसर्ग नहीं छोड़ते, वे मुनि नहीं हैं।

लौकिकजन मुनिराज को चारित्र से भ्रष्ट नहीं करते, किन्तु लौकिक जनों का समागम करके वे स्वयं अपना भावचारित्र नष्ट करते हैं। पुरुष प्रमाण हो तो वचन भी प्रामाणिक होते हैं अर्थात् पुरुष वीतराग और सर्वज्ञ हों तो उनके वचन भी प्रामाणिक होते हैं; किन्तु जो जीव सर्वज्ञ और वीतराग को नहीं मानते, उन्हें व्यवहार श्रद्धा भी नहीं वर्तती। संसार सुधारने की बात करे, वह जैन नहीं हैं, लौकिकजन हैं। ऐसे लोगों के साथ जो संग करते हैं, वे जीव निम्न श्रेणी में आते हैं।

कोई कहता है कि रात्रि में थोड़ा खाना खा लेवें तो क्या दोष है? वे

जीव धीरे-धीरे कहेंगे कि कंदमूल खाने में भी क्या बाधा है? इसप्रकार वे जीव धीरे-धीरे निम्न भूमिका में चले जाते हैं।

कोई जीव स्वच्छन्दी होकर स्त्री के संग में रहकर ब्रह्मचर्य पालन करना चाहता है। अरे भाई ! ब्रह्मचर्य का पालन नव बाड़ोंपूर्वक किया जाता है। स्त्री के संग का भाव भी नुकसानदायक है। आजतक जीव बाह्य ब्रह्मचर्यादि पालन में ही अटका है। अरे भाई ! जब दया-दानादि के भाव भी छोड़ने के लिए कहे हैं तो स्त्री का संग क्या है ? यह तो छोड़ना ही है।

लौकिक में जिनका चरित्र खराब है वह ऐसे स्त्री-पुरुष असंगी कहलाते हैं। जो माँस खाता है, दारू पीता है, कुचेष्टा करता है, उनका समागम भी करनेयोग्य नहीं है।

कोई जीव देव-शास्त्र-गुरु की आज्ञा का उल्लंघन कर स्वच्छन्दी वर्तता है। धर्म के नाम पर ज्ञान का उधाड़ करके कदाचित् उपदेश देता है, तो भी उसका उपदेश समझनेयोग्य नहीं हैं; क्योंकि वह असंगी है, अतः सभी प्रकार के असत्संग छोड़ने चाहिए।

मुनिराज शास्त्र में निपुण हों, संयमी हों तो लौकिकजनों के संग को छोड़ देते हैं; किन्तु यदि लौकिकजनों का संग नहीं छोड़ें तो असंयमी कहलाते हैं वह यह बात गाथा में स्पष्ट की है और टीका में मुनिराज के स्वरूप का विस्तार किया है।

गाथा २६८ की टीका पर प्रवचन

● मुनिराज शास्त्रों का भाव तथा पदार्थों का स्वरूप जानकर निजज्ञानस्वभाव में निःशंक वर्तते हैं।

शब्दब्रह्म = भगवान की वाणी। जिसमें चारों अनुयोग का समावेश है वह ऐसा शब्दब्रह्म विश्व का वाचक है। जगत् के समस्त पदार्थों का यथावत् स्वरूप बताता है। छहद्रव्य, उनके द्रव्य-गुण-पर्याय, स्वभाव, विभाव, संयोग, निमित्त आदि समस्त पदार्थों को शब्दब्रह्म स्पष्ट करता है।

अनंतानंत पदार्थों के रहस्य को बतानेवाली सत्स्वरूपी भगवान की वाणी शब्दब्रह्म है। वह वाणी जिन पदार्थों को बताती है, वे सारे

पदार्थ भी सत् लक्षण से युक्त है। वाणी और पदार्थ दोनों का ही स्वरूप ज्ञान में जानने में आता है।

भावलिङ्गी मुनि को भगवान की वाणी अथवा भगवान के द्वारा कहे हुए आगम के भाव तथा पदार्थों का ज्ञान होना चाहिए। मैं स्वयं ज्ञायकशुद्ध हूँ हूँ ऐसी दृष्टि से सूत्र, शब्द तथा पदार्थों का ज्ञान एकसाथ होता है। मुनिराज को भान है कि मेरा ज्ञान मेरे आधार से है, शास्त्र अथवा ज्ञेयों के आधार से नहीं। सूत्र के पद और पदों का यथार्थ निश्चय करनेवाला मैं स्वयं हूँ। मेरी आत्मा में उन शब्दों (शास्त्रों का भाव) तथा ज्ञेयों को जानने की ताकत है। एक समय में तीनकाल और तीनलोकवर्ती पदार्थों को जानने की मुझमें शक्ति है। मैं स्वयं त्रिकाल ज्ञायकस्वभावी हूँ हूँ ऐसा मुनिराजों को यथार्थ निश्चय वर्तता है। मेरा ज्ञान मेरी आत्मा के आधार से है; शास्त्र-शब्द अथवा पदार्थों के आधार से नहीं। इसप्रकार मुनिराज निज सर्वज्ञस्वभाव में निःशंक वर्तते हैं।

● शुद्धोपयोग में बारंबार लीनता करनेवाले मुनिराज तपप्रधानी हैं।

जिन मुनिराजों ने रागरहित शुद्धोपयोग के आधार से क्रोध-मान-माया-लोभ का उपशम करके वर्तमान राग की उपाधि को नष्ट किया है, वे मुनि ज्ञातृत्व के भानवाले हैं। शुद्धोपयोग में बारंबार लीनता करने से निष्कंप हुए हैं। उनका उपयोग कंपित नहीं होता, शुभाशुभभावों में नहीं जाता, अतः वे निष्कंपोपयोगी कहलाते हैं। ऐसे निष्कंपने के कारण उनका ज्ञानतत्त्व अधिक उपयोगवाला हुआ है।

हे जीवों ! यहाँ चरणानुयोग में अधिक तप किसे कहा है?

शुभपरिणाम तथा उपवास-व्रतादि को अधिक तप नहीं कहा, अपितु शुभाशुभभावों में न जाकर निष्कंपरूप शुद्धता में जो रहता है, उस ज्ञातृत्व को अधिक तप होता है। इसप्रकार जो मुनिराज अपने शुद्धोपयोग में बारंबार लीन होते हैं, वे ही अधिक तपवाले हैं।

● यदि कोई मुनि लौकिक-स्वच्छन्दी तथा विपरीत मान्यतावालों का संग करे तो वह चारित्र से भ्रष्ट है।

यहाँ भावलिङ्गी मुनियों की बात है, किन्तु जो मुनिराज लौकिकजनों का संग करते हैं, उनको संयम नहीं वर्तता।

(१) जिनका लौकिक आचरण भी निंद्य है। योग्य आचरण का ठिकाना नहीं है। लौकिक में बड़ा कहलाने के लिए यदि किसी का भी संग करते हैं तो वह असत्संगी है।

(२) सर्वज्ञ के अतिरिक्त रागी देव, कुशास्त्र और कुगुरुओं का जो संग करें, वह असत्संगी है। कितने ही लोग जगत की उत्पत्ति का कर्ता ब्रह्मा को मानते हैं, विष्णु को पालनकर्ता और महेश को नाश करनेवाला मानते हैं, किन्तु यह बात मिथ्या है।

यह तीनों कोई व्यक्ति नहीं हैं। अपनी सृष्टि और पर्याय का कर्ता आत्मा स्वयं है। पूर्वपर्याय का नाश करनेवाला, नवीनपर्याय को उत्पन्न करनेवाला तथा ध्रुवरूप से स्वभाव को टिकाये रखनेवाला आत्मा स्वयं है। वस्तु का यथार्थ स्वरूप न जानकर जगत के कर्ता, नाशक और उत्पत्ति का कारण किसी को मानना असत्संगपना है। ऐसे जीव की व्यवहार श्रद्धा का भी ठिकाना नहीं है।

सर्वज्ञ ने छहद्रव्यों तथा उनके स्वरूप का यथावत् ज्ञान किया है। सर्वज्ञस्वरूप से विरुद्ध कहनेवाला, एकांत मान्यता रखनेवाला, लौकिक में निंद्य आचरण करनेवाला जीव असंगी है। वह चारित्र से भ्रष्ट है, अतः मुनिराजों को उक्त असंग छोड़कर धर्मदृष्टि करना चाहिए।

प्रश्न : हूँ एकद्रव्य अन्य द्रव्य को नुकसान नहीं करता, फिर लौकिक-जनों का समागम करने में क्या हानि है ?

उत्तर : हूँ सिद्धान्त तो सदैव एक ही होता है। जो मुनिराज भ्रष्ट होते हैं, वे लौकिकजनों के संग से नहीं, अपितु अपने भाव से भ्रष्ट होते हैं। मुनि होकर भी यदि लौकिकजनों के संग का भाव करें तो वह मुनि चारित्रदशा से च्युत है।

वास्तव में लौकिकजनों के साथ किया हुआ समागम का भाव भी

नष्ट करनेयोग्य है। चरणानुयोग में निमित्ताधीन कथन किया जाता है; किन्तु उसकी अपेक्षा समझना चाहिए।

भगवान सर्वज्ञ द्वारा कथित अनंतपदार्थों तथा उसको कहनेवाली वाणी का जिन्हें यथार्थज्ञान है, वह ज्ञातृतत्त्व है। मुनिराज निश्चयनय द्वारा निश्चित करते हैं कि मैं स्वयं जाननेवाला तत्त्व हूँ तथा अनंत ज्ञेय जानने में आनेवाले तत्त्व हैं।

ज्ञेय तथा वाणी के कारण मेरा जाननपना नहीं होता, अपितु मेरा जाननपना मेरे स्वयं के कारण है ह्व ऐसे यथार्थ निर्णयपूर्वक मुनिराजों ने कषायमंदता की है, ज्ञानाभ्यास किया है। अन्तर्दशा की अधिकता होने पर भी यदि मुनिराज लौकिकजनों का परिचय करें तो उनको संयमपना नहीं रहता।

जिसप्रकार अग्नि के संयोग से पानी विकाररूप उष्णता को प्राप्त होता है, उसीप्रकार लौकिकजनों के संग से मुनिराज चारित्रभ्रष्टरूप विकार को प्राप्त होते हैं, अतः लौकिकजनों के संग का निषेध है।

भावार्थ पर प्रवचन

● तत्त्व के श्रद्धालु एवं अधिक तपयुक्त मुनिराज लौकिकजनों का संग करें तो उन्हें संयतपना नहीं वर्तता।

जिसप्रकार शक्कर एक पदार्थ है, शक्कर शब्द भी है और शक्कर का ज्ञान भी वर्तता है। यह तीनों सत् हैं, फिर भी पदार्थ में शब्द नहीं है, शब्द में पदार्थ नहीं है, ज्ञान में शब्द या शब्द में ज्ञान नहीं है तथा पदार्थ में भी ज्ञान नहीं है। इसप्रकार तीनों का परस्पर अभाव समझना चाहिए।

भगवान की वाणी शब्दब्रह्म सत् है। वाणी जिन पदार्थों का स्वरूप बताती है, वे पदार्थ सत् हैं तथा वाणी और पदार्थ दोनों को ज्ञान में धारणकरनेवाला ज्ञातृतत्त्व भी सत् है। कोई एकदूसरे के आधीन नहीं है।

तीनों लोक के समस्त पदार्थों को सर्वज्ञ ने प्रत्यक्ष देखा है और उनका स्वरूप वाणी द्वारा स्पष्ट किया है। अरे भाई ! वस्तुस्वरूप ऐसा ही है और साधकजीव उसकी प्रतीति करते हैं। राग अथवा निमित्त के

आधार से वस्तुस्वरूप का ज्ञान नहीं होता, अपितु निश्चयनय द्वारा वस्तुस्वरूप का ज्ञान होता है।

जिन मुनिराजों ने कषायों का उपशम किया है। अन्तरलीनता द्वारा कषायों को शोषित किया है, वे मुनिराज लौकिकजनों का संग करें तो चारित्र से भ्रष्ट होते हैं। ज्योतिष, मंत्र-तंत्रादि या स्वयं के मानपोषण के लिये लौकिकजनों का संग करना मुनियोग्य आचरण नहीं है। भाग्य जड़ है, आत्मा भाववान चेतन है।

भाग्य में होगा तो जड़पदार्थों का संयोग मिलेगा ह्व ऐसे भाग्य पर दृष्टि नहीं करना चाहिये। भाग्य को जानने की इच्छा न करके भगवान आत्मा को जानना चाहिए। ब्रह्मचारी होकर भी स्त्री का संग करे तो वह जीव स्वच्छंदी है, चारित्र से भ्रष्ट है; अतः लौकिक जीवों का संग छोड़ना चाहिए। निमित्त के कारण जीव भ्रष्ट नहीं होता; किन्तु अपना भाव भ्रष्ट करे तो स्वयं भ्रष्ट होता है, अतः अशुभभाव और असत्संग में प्रवर्तन का निषेध किया है। ●

हे भगवान! तू स्वभाव से तो अतीन्द्रिय आनन्दरूप अमृत से भरा अकेला अमृत का सागर है; परन्तु परद्रव्य के संयोग से, परद्रव्य की ओर के झुकाव से उत्पन्न यह इन्द्रियों का सुख तो दुःख का-जहर का प्याला है। आत्मा से विरुद्ध जो शुभ विकल्प उठते हैं, वे भी जहर हैं तथा ये भाव ठीक हैं ह्व ऐसा हर्ष का भाव भी जहर है। अतः यह तेरे ठहरने का रहने का स्थान नहीं है, यह तो तेरे लिए अपद है। तेरा पद तो अन्तर में विराजमान शुद्ध चैतन्य धातुमय है। वहाँ जा, उसमें निवास कर! भाई, जो तेरा स्वपद है, वह चिदानन्दघन प्रभु आत्मा बाहर में अन्य द्रव्य की मिलावट बिना तथा अन्दर में पुण्य-पाप भाव के विकार से रहित सदा ही शुद्ध है। ऐसे केवल चैतन्य-चैतन्यमात्र अपने अविनाशी निज आत्मद्रव्य में निवास कर! वही तेरा स्वपद है। ह्व प्रवचनरत्नाकर भाग-६, पृष्ठ-२०७-२०८

प्रवचनसार गाथा २६९

अब, 'लौकिक' (जन) का लक्षण कहते हैं :ह

णिगंथं पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहिं कम्महिं ।

सो लोगिगो त्ति भणिदो संजमतवसंपजुत्तो वि।।२६९।।

(हरिगीत)

निर्ग्रन्थ हों तपयुक्त संयमयुक्त हों पर व्यस्त हों ।

इहलोक के व्यवहार में तो उसे लौकिक ही कहा ।।२६९।।

अन्वयार्थ :ह [नैर्ग्रन्थ्यं प्रव्रजितः] जो (जीव) निर्ग्रन्थरूप से दीक्षित होने के कारण [संयमतपः संप्रयुक्तः अपि] संयमतपसंयुक्त हो उसे भी, [यदि सः] यदि वह [ऐहिकैःकर्मभिः वर्तते] ऐहिक कार्यों सहित वर्तता हो तो, [लौकिकः इति भणितः] 'लौकिक' कहा गया है ।

टीका :ह परमनिर्ग्रन्थतारूप प्रव्रज्या की प्रतिज्ञा ली होने से जो जीव संयमतप के भार को वहन करता हो उसे भी, यदि उस मोह की बहुलता के कारण शुद्धचेतन व्यवहार को छोड़कर निरंतर मनुष्यव्यवहार के द्वारा चक्कर खाने से ऐहिक^१ कर्मों से अनिवृत्त हो तो, 'लौकिक' कहा जाता है ।

गाथा २६९ पर प्रवचन

● जो मुनि मोह के वशीभूत होकर ख्याति, लाभ, पूजा, निमित्त, ज्योतिष, मंत्रादि में लीन रहते हैं, वे मुनि होनेपर भी सामान्य व्यक्ति हैं ।

मुनिराज परम वीतरागीदशा को प्राप्त करने की प्रतिज्ञा लेकर संयम और तपादि में लीन हुये हैं, किन्तु जो मुनिराज अपने शुद्ध चैतन्य स्वभाव के आश्रय से उत्पन्न निर्मलता का आश्रय छोड़कर, स्वरूप सावधानी को भूलकर, निरंतर मनुष्य व्यवहाररूप पूजा, ख्याति, लाभ आदि कार्यों में लीन रहते हैं, वे मुनि न होकर लौकिकजन हैं ।

सांसारिक कार्य अर्थात् ज्योतिष सीखकर ज्योतिषी बनना, मंत्र-तंत्र को सिद्ध करना, वचनसिद्धि करना, राजा को मंत्रादि सिखाना,

१. ऐहिक = लौकिक ।

जिससे स्वयं मान पुष्ट हो, सर्प-बिच्छु के विष दूर करने संबंधी मंत्र सीखना आदि सब कार्य मुनियोग्य नहीं हैं ।

साधु होनेपर भी रोग का उपचारादि बतावे । यह कार्य करोगे तो ठीक रहेगा आदि क्रिया का उपदेश देवें तो ये सब कार्य लौकिक हैं । मुनिराज अपने स्व-स्वभाव में लीनता नहीं कर सकें तो शुभभाव में आते हैं, किन्तु ख्याति-पूजा आदि अशुभभावों में जुड़ें तो वह लौकिकजन कहलाते हैं, मुनि नहीं ।

● मुनि अनेक बार धर्मप्रभावना हेतु वैद्यशास्त्रादि ग्रन्थ लिखते हैं, किन्तु उन्हें मानादि का भाव नहीं होता ।

मुनिराज को अनेकबार शासन प्रभावना अथवा ग्रन्थादि रचने का विकल्प आता है । जिसप्रकार आचार्य पूज्यपादस्वामी मुनिराज को विकल्प आया और वैद्यशास्त्र की रचना हो गई । इसमें आचार्यदेव विकल्प, वाणी या शास्त्र के कर्ता नहीं हैं । द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अनुसार अनेक बार विकल्प आते हैं; किन्तु वे विकल्प मान-पूजा-ख्याति के हेतु नहीं हैं । वे मुनि उन विकल्पों में लीन नहीं रहते । विकल्प आवें तो आवें ।

कोई पूछे की यह ग्रन्थ किसने बनाया? तो सहजभावपूर्वक कहते हैं कि हे भाई ! जड़ की अवस्था जड़ के कारण हुई है । हम उसके कर्ता नहीं हैं, अतः यह सिद्ध होता है कि मुनिराज को मान-ख्याति आदि विकल्प नहीं हैं, अपितु धर्म प्रभावना ही एकमात्र हेतु है ।

यहाँ शुभोपयोग का प्रकरण है । मुनिराज को लौकिक कार्यों में जुड़कर अशुभभावों में नहीं जाना चाहिये तथा जब वे शुद्धभाव में स्थिर न हो सकें तो उन्हें शुभ में रहना चाहिए यह समझाया है ।

● गृहस्थ भी कुदेवादि का संग करें तो संसार में परिभ्रमण करता है ।

प्रश्न ह्व शरीरादि परपदार्थों की पर्याय कौन सुधार सकता है?

उत्तर ह्व कोई नहीं । जीव में विद्यमान मिथ्याभ्रान्तिरूप पर्याय को साक्षात् तीर्थकर देव भी सुधार नहीं सकते । भगवान की वाणी समझकर यदि जीव सुधरें तो वहाँ वाणी निमित्त कहलायें । जिसप्रकार मुनिराज

लौकिक कार्यों में नहीं जुड़ते; उसीप्रकार गृहस्थों को भी लौकिक कार्यों में अधिक नहीं जुड़ना चाहिए।

रुपया-पैसा, दानादि, संसार-परिवार की इच्छा करें तो धर्म नहीं हो सकता। कुदेवादि जीव को संसार रूपी गड्ढे में ले जाते हैं, अतः जीव को उनकी श्रद्धा नहीं करना चाहिए।

● जीव का आत्मा की निर्मलपर्याय के साथ संबंध है, विकार अथवा परपदार्थों के साथ नहीं।

कितने ही जीव मानते हैं कि अधिक रुपया-पैसा हो तो संसार से निवृत्ति ले सकते हैं; किन्तु यह मान्यता मिथ्या है। यहाँ, आत्मलक्ष्मी की प्राप्ति की बात है। रुपये-पैसे की ममतायुक्त जीव को बाह्य परपदार्थों से ममता घटाने के लिए कहते हैं। एक परमाणु तक को उपस्थित करने की शक्ति जीव में नहीं है, फिर पैसा आदि तो अनन्त परमाणुओं का स्कंध है, उसे जीव अपनी योग्यता से कैसे ला सकता है? अरे भाई! यह बात मिथ्या है।

पूर्व पुण्योदय के कारण पैसा आदि मिलता है; किन्तु जीव उसे प्राप्त नहीं करा सकता। पैसे आदि के साथ जीव का संबंध नहीं है। आत्मा में त्रिकाल परपदार्थों का अभाव है। पुण्य-पापादि भावों के साथ भी आत्मा का संबंध नहीं है; क्योंकि ये समस्त भाव विकार हैं; आत्मा का यथार्थ स्वरूप नहीं है।

मेरा आत्मा परपदार्थ और पुण्य-पाप से रहित शुद्ध है हूँ ऐसा जो निर्णय करता है, वह निर्मल वर्तमान पर्याय के साथ आत्मा का मेल करता है। द्रव्य में अभेदता है। यही यथार्थ संबंध है, अतः जीवों को असत्संग से लक्ष हटाना चाहिए।

यहाँ मुनिराजों को असत्संग का भाव छोड़कर शुभोपयोग में रहने का उपदेश दिया गया है; क्योंकि यह शुभोपयोग अधिकार है।

●

प्रवचनसार गाथा २७०

अब, सत्संग विधेय (करनेयोग्य) है, ऐसा बतलाते हैं :ह
तम्हा समं गुणादो समणो समणं गुणेहिं वा अहियं।
अधिबसदु तम्हि णिच्चं इच्छदि जदि दुक्खपरिमोक्खं।।२७०।।

(हरिगीत)

यदि चाहते हो मुक्त होना दुखों से तो जान लो।

गुणाधिक या समान गुण से युक्त की संगति करो।।२७०।।

अन्वयार्थ :ह [तस्मात्] (लौकिकजन के संग से संयत भी असंयत होता है) इसलिये [यदि] यदि [श्रमणः] श्रमण [दुःखपरिमोक्षम् इच्छति] दुःख से परिमुक्त होना चाहता है तो वह [गुणात्समं] समान गुणोंवाले श्रमण के [वा] अथवा [गुणैः अधिकं श्रमणं तत्र] अधिक गुणोंवाले श्रमण के संग में [नित्यम्] सदा [अधिवस्तु] निवास करो।

टीका :ह आत्मा परिणामस्वभाववाला है इसलिये अग्नि के संग में रहे हुए पानी की भाँति (संयत के भी लौकिकसंग से विकार अवश्यभावी होने से संयत भी) असंयत ही हो जाता है। इसलिये दुःखमोक्षार्थी (दुःखों से मुक्ति चाहनेवाले) श्रमण को (१) समान गुणवाले श्रमण के साथ अथवा (२) अधिक गुणवाले श्रमण के साथ सदा ही निवास करना चाहिये। इसप्रकार उस श्रमण के (१) शीतल घर के कोने में रखे हुए शीतल पानी की भाँति समान गुणवाले की संगति से गुणरक्षा होती है और (२) अधिक शीतल हिम (बरफ) के संपर्क में रहनेवाले शीतल पानी की भाँति अधिक गुणवाले के संग से गुणवृद्धि होती है।

गाथा २७० पर प्रवचन

● मुनिराज लौकिकजनों के साथ संग करें तो मुनिपने से भ्रष्ट हो।

आत्मा परिणामस्वभावी है। स्वयं कायमस्वरूपी रहकर अवस्थारूप में परिवर्तन करता है। आत्मा कूटस्थ हो तो श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र की पर्याय में परिणमन नहीं हो सकता।

जिसप्रकार अग्नि के संग में आया हुआ पानी विकार अर्थात् उष्णता को प्राप्त करता है। अग्नि ने पानी को गरम नहीं किया, किन्तु पानी स्वयं अग्नि का संग करें तो उष्णता को प्राप्त होता है। उसीप्रकार मुनिराज लौकिकजन अर्थात् राजा, सेठ, ज्योतिषी, मंत्र-तंत्र जाननेवालों का समागम करें तो असंयमी होते हैं।

लौकिक जन मुनिराज को भ्रष्ट नहीं करते, किन्तु लौकिकजनों के साथ समागम करनेरूप स्वयं का भाव मुनिराज को संयमीदशा से च्युत करता है। मुनिराज जब स्वरूप में नहीं ठहर सकते, तब उन्हें अवश्य ही शुभोपयोग में रहना चाहिए, किन्तु अशुभभावों में नहीं।

● मुनिराज को अपने समान अथवा अधिक गुणयुक्त मुनिराजों के साथ सदैव रहना चाहिए।

जो मुनिराज संसार के दुःख से मुक्त होना चाहते हैं, उन्हें अपने समान या अपने से अधिक गुणयुक्त मुनियों के साथ रहना चाहिए। दुःख तो स्वयं की अज्ञानदशा से है। राजा, सेठ, सेनाधिपति आदि संयोगों में सुख माननेवाले सभी अत्यन्त दुःखी हैं। वीतरागी मुनिराज एकांत सुखी हैं। मुनियों को मुनियों का परिचय करना चाहिए। स्वयं की अपेक्षा ज्ञान, पुरुषार्थ आदि में अधिक गुणयुक्त आचार्यादि को पहिचानना चाहिए।

यहाँ, कोई यह कहे कि अपने समान गुणवाले को पहिचान पायेंगे या नहीं? तो कहते हैं कि हाँ ! उनका निर्णय श्रद्धा, वैराग्य आदि के आधार से करेंगे।

प्रश्न : हूँ किसी आचार्य के अनेक शिष्य होनेपर उसमें किसी नवदीक्षित का संग करना चाहिए कि नहीं?

उत्तर : हूँ किसी शिष्य का ज्ञान का उधाड़ कम हो, वर्तमान में राग वर्तता हो, किन्तु यदि वह मोक्ष का इच्छुक वैरागी है, उसे चैतन्यस्वभाव के अतिरिक्त निमित्त और रागादि का संबंध अच्छा नहीं लगता है, शुद्ध आत्मा और शुद्ध पर्याय में ही वह मग्न है तो ऐसे नवदीक्षित मुनिराज का ज्ञान कम होने पर भी वे उत्तम ही हैं; अतः उनके साथ परिचय अथवा संग का निषेध नहीं है।

इसप्रकार मुनिराज को अपने समान या अपने से अधिक गुणयुक्त मुनियों का संग करना चाहिए।

● मुनियों के सत्संग से गुणों की रक्षा और वृद्धि होती है।

यहाँ, मुनिराज को सत्संग करने की बात कह रहे हैं। मुनिराज को सदैव अपने से अधिक अथवा अपने समान मुनियों के साथ संग करना चाहिए।

जिसप्रकार ठंडी जगह रखा हुआ पानी शीतलता को प्राप्त करता है तथा शीतल गुणयुक्त बर्फ का संयोग मिलने पर वह जल और भी शीतल हो जाता है, उसीप्रकार अपने समान गुणयुक्त मुनियों के संग से मुनिराज के गुणों की रक्षा होती है और अपने से अधिक गुणयुक्त मुनियों के संग से श्रमण के गुणों में वृद्धि होती है।

पहले मुनिराज को सत्संग करने के भाव होते हैं, पश्चात् उस विकल्प की पूर्ति में अन्य मुनिराज निमित्त होते हैं, यह आरोपित कथन नहीं है।

अपने गुणों का स्थिरीकरण और उनकी वृद्धि अपने चैतन्य स्वभाव के आश्रित है। निमित्त, विकल्प अथवा निर्मल पर्याय की उपस्थिति से निर्मलता नहीं बढ़ती; अपितु घटती ही है। अपने स्वभाव में एकाग्र होने पर निर्विकल्पदशा की वृद्धि होती है।

(अब श्लोक द्वारा यह कहते हैं कि श्रमण क्रमशः परम निवृत्ति को प्राप्त करके शाश्वत ज्ञानानन्दमयदशा का अनुभव करो :ह)

(शार्दूलविक्रीडित)

इत्यध्यास्य शुभोपयोगजनितां कांचित्प्रवृत्तिं यतिः

सम्यक् संयमसौष्ठवेन परमां क्रामन्निवृत्तिं क्रमात्।

हेलाक्रान्तसमस्तवस्तुविसारप्रस्ताररम्योदयां

ज्ञानानन्दमयीं दशामनुभवत्वेकान्ततः शाश्वतीम् ॥१७॥

(मनहरण कवित्त)

इसप्रकार शुभ उपयोगमयी किंचित् ही।

शुभरूप वृत्ति का सुसेवन करके ॥

सम्यक्प्रकार से संयम के सौष्टव से।
 आप ही क्रमशर निरवृत्ति करके ॥
 अरे ज्ञानसूर्य का है अनुपम जो उदय।
 सब वस्तुओं को मात्र लीला में ही लख लो ॥
 ऐसी ज्ञानानन्दमयी दशा एकान्ततः।
 अपने में आप ही नित अनुभव करो ॥१७॥

अर्थ : ह्य इसप्रकार शुभोपयोगजनित किञ्चित् प्रवृत्ति का सेवन करके यति सम्यक् प्रकार से संयम के सौष्टव (श्रेष्ठता, सुन्दरता) से क्रमशः परम निरवृत्ति को प्राप्त होता हुआ; जिसका रम्य उदय समस्त वस्तुसमूह के विस्तार को लीलामात्र से प्राप्त हो जाता है (जान लेता है) ऐसी शाश्वत ज्ञानानन्दमयी दशा का एकान्ततः (केवल, सर्वथा, अत्यन्त) अनुभव करो।

कलश १७ पर प्रवचन

अब, श्रमण क्रमशः परम वीतरागीदशा को पाकर शाश्वत ज्ञानानन्दमय दशा को अनुभवते हैं, यह श्लोक द्वारा कहते हैं।

मुनिराज क्रमशः परमदशा को प्राप्त करके समस्त पदार्थों को जानते हैं और शाश्वत ज्ञानानन्दमयदशा का अनुभव करते हैं।

शुभोपयोगी मुनिराज सम्यक्प्रकार से आराधना करते हुए परम वीतरागी दशा को प्राप्त करते हैं। मुनिराज को शुभोपयोग की मंद और शुद्धोपयोग की मुख्य प्रवृत्ति है।

मुनिराज शुभप्रवृत्ति के कारण वीतरागदशा को प्राप्त नहीं करते। शुभोपयोग उनके लिये आदरणीय नहीं है, क्योंकि वह पुण्य है; किन्तु जब स्वभावस्थिरता नहीं होती, तब उन्हें शुभपरिणाम आते हैं। शुभ का सेवन करने पर वीतरागदशा प्राप्त होती है यह कथन उपचारवश किया गया है।

अरे भाई ! वीतरागदशा शुभस्वभाव के कारण नहीं; अपितु शुद्धस्वभाव के कारण प्राप्त होती है, किन्तु यह शुभोपयोग अधिकार है; अतः शुभोपयोग पर आरोप किया गया है। वे मुनिराज क्रम-क्रम से वीतरागदशा को पाकर सर्वज्ञदशा को प्रगट करते हैं। आत्मस्वरूप में

शाश्वत विद्यमान ज्ञानानन्दमयी मोक्षदशा का एकांत अनुभव ही यथार्थ अनुभव है। अन्य कोई अनुभव करने योग्य नहीं है।

इसप्रकार शुभोपयोग प्रज्ञापनाधिकार पूर्ण हुआ।

अब पंचरत्न हैं (अर्थात् पाँच रत्नों जैसी पाँच गाथायें कहते हैं)। वहाँ पहले, श्लोक द्वारा उन पाँच गाथाओं की महिमा कहते हैं।

(शार्दूलविक्रीडित)

तन्त्रस्यास्य शिखण्डमण्डनमिव प्रद्योतयत्सर्वतो-

द्वैतीयीकमथार्हतो भगवतः संक्षेपतः शासनम्।

व्याकुर्वञ्जगलो विलक्षणपथां संसारमोक्षस्थितिं

जीयात्मंप्रति पञ्चरत्नमनघं सूत्रैरिभैः पञ्चभिः ॥१८॥

(मनहरण कवित्त)

अब इस शास्त्र के मुकुटमणि के समान।

पाँच सूत्र निरमल पंचरत्न गाये हैं ॥

जो जिनदेव अरहंत भगवन्त के।

अद्वितीय शासन को सर्वतः प्रकाशें हैं ॥

अद्भुत पंचरत्न भिन्न-भिन्न पंथवाली।

भव-अपवर्ग की व्यतिरेकी दशा को ॥

तप्त-संतप्त इस जगत के सामने।

प्रगटित करते हुये जयवंत वर्तो ॥१८॥

अर्थ : ह्य अब इस शास्त्र के कलंगी के अलङ्कार जैसे (चूड़ामणि-मुकुटमणि समान) यह पाँच सूत्ररूप निर्मल पंचरत्न ह्य जोकि संक्षेप से अर्हन्त भगवान के समग्र अद्वितीय शासन को सर्वतः प्रकाशित करते हैं ह्य विलक्षण^१ पंथवाली संसार-मोक्ष की स्थिति को जगत के समक्ष प्रकट करते हुए जयवन्त वर्तो।

१. विलक्षण= भिन्न-भिन्न (संसार और मोक्ष की स्थिति भिन्न-भिन्न पंथवाली है; अर्थात् संसार और मोक्ष का मार्ग अलग-अलग हैं।)

कलश १८ पर प्रवचन

अद्वितीय जैनशासन का सर्वतः प्रकाश करनेवाली पाँच रत्नमय गाथायें (सूत्र) जयवंत वर्ते ।

अब, इस शास्त्र की कलंगी अर्थात् मस्तक पर शोभित चूड़ामणी के समान निर्मल रत्नरूपी पाँच सूत्र कहते हैं । इन पाँच सूत्रों में समग्र जैनशासन का सार संक्षेप में समाहित है ।

ये गाथायें बेजोड़ जैनशासन का प्रकाशस्तंभ है, मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी संसार और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी मोक्षमार्ग की प्रकाशक हैं ।

जिस मार्ग से संसार की प्राप्ति हो, उस मार्ग से मोक्ष नहीं और जिस मार्ग से मोक्ष की प्राप्ति हो उस मार्ग से संसार नहीं, ह्व इसप्रकार दोनों ही विलक्षण पंथों का यहाँ स्पष्टीकरण किया है ।

अब, संसार-मोक्ष की स्थिति को पाँच सूत्रों के माध्यम से प्रकाशित करते हैं; अतः संसार-मोक्ष की स्थिति प्रगट करनेवाली ये गाथायें जयवंत वर्ते ।

भगवान आत्मा चारित्र की अपेक्षा वीतरागस्वभावी है, ज्ञान की अपेक्षा ज्ञानस्वभावी है और आनन्द की अपेक्षा आनन्दस्वभावी है । ऐसे ज्ञान, आनन्द और वीतरागता आदि स्वभावों से भरपूर अखण्ड एकरूप चैतन्य भगवान है । यहाँ कहते हैं कि हे भव्यात्मा! एक, अखण्ड, अविनाशी आत्मा का आत्मा में ही अभ्यास करो! साक्षात् अनुभव करो!! अहाहा! भगवान आत्मा में तो माल ही माल भरा है, परन्तु अनादिकाल से यह आत्मा पुण्य-पाप के व्यवहारिक भावों में उलझ गया है, जकड़ गया है । अतः आचार्यदेव समझाते हैं कि सर्व व्यवहारिकभावों का लक्ष छोड़कर चित्शक्ति-स्वरूप आत्मा का आत्मा में ही साक्षात् अनुभव करो ।

ह्व प्रवचनरत्नाकर भाग-२, पृष्ठ-२४५

अब, संसारतत्त्व को प्रकट करते हैं :ह्व

गाथा २७१ की उत्थानिका पर प्रवचन

अनादिकालीन संसार को जैसा है, वैसा जानकर उसका अभावकर मोक्षदशा प्रगट होती है ।

प्रश्न :ह्व संसार, घर-परिवार में है, आत्मा की कमी में है या कोई भ्रम है?

समाधान :ह्व संसार भ्रम नहीं है । संसार घर-परिवार, परपदार्थों अथवा आत्मा की कमी में भी नहीं है । संसार जगत का एकतत्त्व है । यदि संसार सर्वथा भ्रम हो अर्थात् नहीं हो तो उसका अभाव करके मोक्षदशा कैसे प्रगट होगी?

वास्तव में संसार जीव के अज्ञानभाव में है । यहाँ यही बात स्पष्ट करते हैं ।

प्रवचनसार गाथा २७१

जे अजधागहिदत्था एदे तच्च त्ति णिच्छदा समये ।

अच्चंतफलसमिद्धं भमंति ते तो परं कालं ॥२७१॥

(हरिगीत)

यथार्थग्राही तत्त्व के हों भले ही जिनमार्ग में ।

कर्मफल से आभरित भवभ्रमे भावीकाल में ॥२७१॥

अन्वयार्थ :ह्व [ये] जो [समये] भले ही समय में हों (भले ही वे द्रव्यलिंगी के रूप में जिनमत में हों) तथापि वे [एते तत्त्वम्] 'यह तत्त्व है (वस्तुस्वरूप ऐसा ही है)' [इति निश्चिताः] इस प्रकार निश्चयवान् वर्तते हुए [अयथागृहीतार्थाः] पदार्थों को अयथार्थरूप से ग्रहण करते हैं (जैसे नहीं हैं वैसा समझते हैं), [ते] वे [अत्यन्तफलसमृद्धम्] अत्यन्तफलसमृद्ध (अनन्त कर्मफलों से भरे हुए) ऐसे [अतः परं कालं] अबसे आगामी काल में [भ्रमन्ति] परिभ्रमण करेंगे ।

टीका : ह्म जो स्वयं अविवेक से पदार्थों को अन्यथा ही अंगीकृत करके (अन्य प्रकार से ही समझकर) 'ऐसा ही तत्त्व (वस्तुस्वरूप) है' ऐसा निश्चय करते हुए, सतत एकत्रित किये जानेवाले महा मोहमल से मलिन मनवाले होने से नित्य अज्ञानी हैं, वे भले ही समय में (द्रव्यलिंगी रूप से जिनमार्ग में) स्थित हों तथापि परमार्थ श्रामण्य को प्राप्त न होने से वास्तव में श्रमणाभास वर्तते हुए अनन्त कर्मफल की उपभोगराशि से भयंकर ऐसे अनन्तकाल तक अनन्त भावान्तररूप परावर्तनों से अनवस्थित^१ वृत्तिवाले रहने से, उनको संसारतत्त्व ही जानना ।

गाथा २७१ पर प्रवचन

वस्तुस्वरूप की विपरीत मान्यतावाला जीव अज्ञानी है ।

जगतजन वस्तुस्वरूप का विवेक नहीं होने के कारण पदार्थों का स्वरूप अन्यथा समझते हैं । वे जीव कर्म का उदय होने से वस्तुस्वरूप को अन्यथा समझते हैं ह्म ऐसा नहीं है । देखो ! चरणानुयोग का अधिकार होने पर भी यहाँ कर्मों को याद नहीं किया है ।

“स्वयं अविवेकी” शब्द का प्रयोग किया है अर्थात् वस्तु स्वरूप का स्वयं को विवेक नहीं है; अतः अन्यथा समझना होता है । धर्मदशा स्व-पर विवेक से उत्पन्न होती है ।

एक आत्मा के साथ अन्य समस्त पदार्थ आकाश के एक क्षेत्र में ही रहते हैं; किन्तु वह आत्मा को लाभ-हानि नहीं पहुँचाते । निमित्त होवे तो उपादान में कार्य होगा और निमित्त नहीं होवे तो उपादान में कार्य नहीं होगा ह्म ऐसा अज्ञानी मानता है । उपादान में कार्य होने पर निमित्त पर उसका आरोप आता है, इस वस्तुस्थिति को अज्ञानी नहीं समझता । आत्मा में ज्ञान स्वभाव और पुण्य-पापरूप विकारी दोनों ही भिन्न-भिन्न

१. अनवस्थित = अस्थिर । मिथ्यादृष्टियों ने भले ही द्रव्यलिंग धारण किया हो तथापि उनके अनन्तकाल तक अनन्त भिन्न-भिन्न भावरूप से भावान्तररूप से परावर्तन होते रहने से वे अस्थिर परिणतिवाले रहेंगे और इसलिए वे संसारतत्त्व ही हैं ।

लक्षणवाले हैं । पुण्य-मददकर्ता नहीं है, फिर भी अज्ञानी जीव पुण्य को मददकर्ता अथवा धर्म का कारण मानता है ।

प्रत्येक द्रव्य में प्रति समय जो पर्याय हो रही है, वह व्यवस्थित है; फिर भी अज्ञानी जीव पर्याय को व्यवस्थित नहीं मानकर निमित्त के होने पर पर्याय का बदलना मानता है ।

अज्ञानी व्यवहार से धर्म होना मानता है । वह एक पल भी व्यवहार के बिना धर्म का स्वरूप स्वीकार नहीं करता ।

निमित्त, संयोग, परपदार्थ तथा पुण्य-पाप विभावभाव होने पर अज्ञानी इनसे धर्म मानता है । देव-शास्त्र-गुरु के प्रति राग से धर्म होता है ह्म ऐसा मानकर वह राग को महत्त्व देता है; किन्तु यथार्थधर्म चैतन्यस्वभाव के आश्रय से होता है । उसका महत्त्व न समझकर वस्तुस्वरूप से विपरीत धर्म का निश्चय करता है ।

● स्वरूप से विपरीत कुतर्क निकालकर जो महामोहमल से मलिन है, वह नित्य अज्ञानी है ।

“सतत् एकत्रित किये जाने वाले महामोहमल से मलिन मनवाले होने से नित्य अज्ञानी हैं”

अज्ञानी जीव सदैव विपरीत तर्क करते हैं । शास्त्र में निमित्तपरक कथन प्राप्त होते हैं । उन कथनों के माध्यम से इसकी विपरीत मान्यता को अधिक बल मिलता है । वह शास्त्र को पढ़कर शास्त्र में से ही विपरीत भाव निकलता है ।

शास्त्र में आता है कि 'जो गुरु की सेवा नहीं करता, वह धर्म नहीं पा सकता ।' अरे भाई ! यह वाक्य गुरु के प्रति अपने में सेवाभाव जगाने के लिए है । गुरु का स्वरूप स्वयं समझा जाता है, तब गुरु निमित्त कहलाते हैं ह्म ऐसा न मानकर वह धर्म को गुरु के अधीन मानता है । यह जीव शास्त्रों से कुतर्कों को निकालने के लिए ही बैठा है । चैतन्य का आश्रय करने की बात न करके पुण्य और संयोगों से ही लाभ मानता है ।

पुनश्च वह जीव कुतर्क करता है कि कुम्भकार के बिना घड़ा हुआ हो अथवा गुरु बिना शिष्य को धर्म प्राप्त हुआ हो वह ऐसा कोई उदाहरण बताओ?

अरे भाई ! मिट्टी में घड़ा होने की पर्याय है; अतः घड़ा बनता है और कुम्भकार निमित्त कहलाता है। शिष्य स्वयं की योग्यता से समझता है, तब गुरु निमित्त कहलाते हैं।

अज्ञानी जीव उक्त स्वरूप को न जानकर द्रव्य-गुण को स्वतंत्र मानता है; किन्तु पर्याय के होने में निमित्त को स्वीकार करता है और अनेकों कुतर्क करता है। आत्मा और जड़ की पराधीनता देखता है। पर्यायगत विकल्पों में निरन्तर अज्ञानी घुटता रहता है। कर्म का उदय आवे तो विकार होता ही है वह ऐसी अनेकों विपरीत मान्यतायें करता है। बुद्धिमान हुआ तो पैसा मिलेगा, बुद्धिमान नहीं तो पैसा भी नहीं मिलेगा। अच्छे निमित्त का अच्छा प्रभाव और बुरे निमित्त का बुरा प्रभाव आदि बातें मानता है।

यदि धर्मात्मा व्यक्ति को देखकर प्रभाव होता हो तो सभी पर अच्छा प्रभाव होना चाहिए। कभी-कभी किसी महान पुरुष का प्रभाव ऐसा भी होता है कि उसे देखकर सामने उपस्थित व्यक्ति डर जाता है, बोल भी नहीं सकता; किन्तु भाई ! महान पुरुष आतप का कारण नहीं है। स्वयं भयसहित है, इसलिये भय लगता है। इस बात का यथार्थ ज्ञान उसे नहीं है।

समय-समय पर्याय सुव्यवस्थित है तो पुरुषार्थ कहाँ रहा वह ऐसा भी कुतर्क अज्ञानी करता है?

अरे भाई! पर्याय की व्यक्त दशा तो जैसी होनी है, वैसी होती है, किन्तु अज्ञानी सतत् विपरीत तर्कों को ढूँढ़ने में ही अपना समय नष्ट करता है।

इसप्रकार सतत् एकत्रित करने में आये हुए महामोहमल से मलिन

मनवाले होने के कारण वे जीव नित्य अज्ञानी हैं और अज्ञान के कारण संसार से नहीं छूटते; संसार में ही घुट रहे हैं।

● निमित्त और पुण्य से धर्म माननेवाला बाह्य में मुनि होनेपर भी श्रमणाभासी है।

अज्ञानी जीव बाह्य में नग्न दिगम्बर मुनि हुआ हो, हजारों रानियों को छोड़कर पाँच महाव्रतादि का पालन करता हो; तथापि परपदार्थ और पुण्य से धर्म माननेवाली पराधीन दृष्टि के कारण परमार्थ श्रमणता को प्राप्त नहीं करता; अतः वह वास्तव में श्रमणाभास है।

व्यवहार सुधारो पश्चात् धीरे-धीरे धर्म होगा वह ऐसा अज्ञानी मानता है। जिसप्रकार कोयले को पानी में धोने से उसका काला वर्ण नहीं छूटता; अपितु वह चमकने लगता है, उसीप्रकार विकार करते-करते अविकारी दशा की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती।

‘मैं दूसरे को सुधार सकता हूँ’, ‘अन्य को सुधारने से मेरा कल्याण होगा’ वह ऐसी मान्यता भ्रम है। परवस्तु, निमित्त, पुण्य अथवा अपूर्ण पर्याय के आश्रय से धर्म नहीं होता।

एक चैतन्यस्वभाव की रुचि करने पर निमित्त की रुचि छूटती है, पुण्य की रुचि छूटती है, अधूरापन भी छूटता है वह यही एकमात्र यथार्थ उपाय है। अज्ञानी की दृष्टि संयोग पर होने से वह चाहे जो क्रिया करें, किन्तु वह श्रमणाभास है।

● द्रव्यलिंगी मुनि अनंतकाल तक अनन्तप्रकार से भिन्न-भिन्न भावरूप परिवर्तन करता है; अतः अस्थिर परिणतिवाला है।

‘मैं चिदानन्द ज्ञाता-दृष्टा हूँ’ वह ऐसी खबर अज्ञानी मुनिराज को नहीं है। निमित्त, पुण्य-पापादि भाव आत्मा को मददगार नहीं हैं। हर्ष-शोक, दया-दानादि के परिणाम शांति के कारण नहीं हैं वह ऐसी सच्ची दृष्टि अज्ञानी को नहीं वर्तती।

चैतन्य के आश्रय से अनन्त शांति का फल प्राप्त होता है; किन्तु

अपनी अनन्त शांति का वेदन न करके यह जीव हर्ष-शोक का भोग करता हुआ चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करता है।

मिथ्यादृष्टि जीव भले ही द्रव्यलिंग धारण करे, फिर भी अन्तर विद्यमान मिथ्याभावों के कारण वे अनन्तकाल भिन्न-भिन्न भावरूप से परिवर्तन करते हुये अस्थिर परिणतिवाले ही रहेंगे और इसीलिये वे संसारतत्त्व हैं।

प्रत्येक पदार्थ की पर्याय उसके स्वकाल में स्वतंत्ररूप से न मानकर निमित्त होने पर होगी ह्व ऐसी मान्यता होने से उसे चैतन्य की रुचि नहीं है; चैतन्य के विरुद्ध शुभाशुभ भावों की रुचि है। ऐसा जीव प्रतिसमय शुभ-अशुभ में ही उलझा रहता है।

किसी भव में हिंसा, झूठ, चोरी आदि के भाव करता है, किसी भव में दिगम्बर मुनि होकर पाँच महाव्रतादि का पालन करते हुए तपादि करता है तो किसी भव में बड़ा कसाई बनकर प्राणियों का घात करता है ह्व इसप्रकार अनेक भवांतररूप संसार में ही परावर्तन करता रहता है।

स्वभाव को छोड़कर जो पुण्य के आश्रित धर्म मानता है, वह स्थिर नहीं होता। शुभाशुभभाव करनेवाला, दया-दानादि शुभभावों में ही लीन रहनेवाला ह्व द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव की अनुकूलता से कल्याण मानता है। अरहन्त भगवान और उचित संहनन के बिना त्रिकाल केवलज्ञान नहीं हो सकता; अतः उसको पराश्रित मानता है। स्वभाव से चूकनेवाला जीव मोह की मलिनता में ही पुष्ट होता है।

● तत्त्व से विरुद्ध मान्यतावाले द्रव्यलिंगी मुनि संसारतत्त्व हैं।

अज्ञानी जीव निगोद, मनुष्य, देव, नारकी इत्यादि समस्त भव धारण करता है तथा मनुष्य भव में दिगम्बर साधु बनकर परिग्रहादि का सेवन करें तो वह भी संसार में ही परिभ्रमण करता है।

अज्ञानी जीव आत्मा के ज्ञान-दर्शनमयी स्वभाव को न मानकर अस्थिर परिणतियुक्त होने के कारण संसारी है। संसारतत्त्व है। एक-एक आत्मा शक्ति से परिपूर्ण है। प्रत्येक परमाणु ऐश्वर्यवान है। अपनी शक्ति

से परिपूर्ण है; किन्तु अज्ञानी का आत्मा स्व-स्वभाव को भूलकर विभाव में रत होने से पूर्ण विभावेश्वर बना हुआ है।

अज्ञानी को चैतन्येश्वर और जड़ेश्वर की खबर नहीं है; अतः वह विभावभावों का ईश्वर बना बैठा है। साक्षात् इन्द्र और जिनेन्द्रदेव स्वयं उपस्थित हों तो उनकी भी बात वह नहीं मानता, ऐसी उसकी दृष्टि पूर्णतः संयोगाधीन है।

जिसप्रकार बीज को पानी, खाद आदि मिले तो फल प्राप्ति होती है। वहाँ उपादान और संयोग दोनों की उपस्थिति से फल प्राप्त होता है; किन्तु अज्ञानी इसे पराधीन मानता है। उपादान और निमित्त दोनों की सहज योग्यता को वह स्वीकार नहीं करता। उसीप्रकार द्रव्यलिंगी मुनि उत्कृष्ट तप और वैराग्य से युक्त होने पर भी तत्त्व को अतत्त्व मानने के कारण संसारतत्त्व ही हैं, उसी में अग्रसर हैं। निगोद से लेकर पंचेन्द्रिय तक जितने भी जीव तत्त्व का यथार्थ स्वरूप न मानकर कुतर्क करते हैं, वे सब संसारतत्त्व हैं।

इसप्रकार संसारतत्त्व का वर्णन किया। ●

यह शरीर तो हाड़-माँस और चमड़ा है। जिससे इस शरीर का आकर्षण है, उसे निराकुल आनन्द की प्राप्ति नहीं होती। तथा जहाँ आत्मा के अनुभव का स्वाद आया, वहाँ पर का आकर्षण छूट जाता है। बस, इसी का नाम सम्यग्दर्शन व धर्म है। अज्ञानी तो मात्र दान-शील-तप-भक्ति में ही धर्म मान बैठा है; परन्तु भाई! दान देना, शरीर से ब्रह्मचर्य व संयम पालना, उपवास आदि करना और भगवान की भक्ति करना ये सब तो रागभाव हैं और राग में धर्म माननेवाले की निजनिधि तो लुट ही रही है। अतः अब तो तुझे सम्हालने की जरूरत है। अन्यथा यह मनुष्यभव चला जायेगा और तेरी ज्ञाननिधि लुट जायेगी। ह्व प्रवचनरत्नाकर भाग-६, पृष्ठ-२२०

अब, मोक्षतत्त्व को प्रकट करते हैं :ह

गाथा २७२ की उत्थानिका पर प्रवचन

प्रवचनसार की अन्तिम पाँच गाथायें समस्त जैनशासन का प्रकाश करती हैं। सर्वज्ञ भगवान द्वारा कथित संसारतत्त्व और उसके साधनतत्त्व तथा मोक्षतत्त्व और मोक्ष के साधनतत्त्व, सर्व मनोरथ के स्थानभूत भगवान आत्मा तथा शास्त्रानुकूल द्रव्यानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और प्रथमानुयोग का सार इन पाँच गाथाओं में आ जाता है। ये पाँच गाथायें जयवंत वर्ते।

संसारतत्त्व अर्थात् संसारतत्त्व का ज्ञान जयवंत वर्ते। जो जीव पदार्थों का स्वतंत्र निर्णय नहीं करता, उसकी दृष्टि स्व की ओर नहीं है, परसन्मुख है। निमित्त और कर्माधीन दृष्टि ही संसार का कारण है। शरीर आदि में संसार नहीं है; आत्मा की विपरीत अवस्था में संसार है।

आत्मस्वरूप की विपरीत मान्यतावाले एवं विपरीत आचरण से युक्त मिथ्यादृष्टि जीव की पर्याय संसारतत्त्व है तथा आत्मा की परिपूर्ण शुद्धावस्था ही मोक्ष है।

प्रवचनसार गाथा २७२

अजधाचारविजुत्तो जधत्थपदणिच्छिदो पसंतप्पा।

अफले चिरं ण जीवदि इह सो संपुण्णसामण्णो।।२७२।।

(हरिगीत)

यथार्थग्राही तत्त्व के अर रहित अयथाचार से।

प्रशान्तात्मा श्रमण वे ना भवभ्रमे चिरकाल तक।।२७२।।

अन्वयार्थ :ह [यथार्थपदनिश्चितः] जो जीव यथार्थतया पदों का तथा अर्थों (पदार्थों) का निश्चयवाला होने से [प्रशान्तात्मा] प्रशान्तात्मा^१ है और [अयथाचारवियुक्तः] अयथाचार

१. प्रशांतात्मा = प्रशांतस्वरूप; प्रशांतमूर्ति; उपशांत; स्थिर हुआ।

(अन्यथाआचरण अयथार्थआचरण) रहित है, [सः संपूर्णश्रामण्यः] वह संपूर्ण श्रामण्यवाला जीव [अफले] अफल (कर्मफल रहित हुए) [इह] इस संसार में [चिरं न जीवति] चिरकाल तक नहीं रहता (अल्पकाल में ही मुक्त होता है)।

टीका :ह जो (श्रमण) त्रिलोक की चूलिका (कलंगी) के समान निर्मल विवेकरूपी दीपिका के प्रकाशवाला होने से यथास्थित पदार्थ निश्चयसे उत्सुकता निवर्तन करके स्वरूपमन्थर^१ रहने से सतत 'उपशांतात्मा' वर्तता हुआ, स्वरूप में एक में ही अभिमुखरूप से विचरता (क्रीड़ा करता) होने से 'अयथाचार रहित' वर्तता हुआ नित्य ज्ञानी हो, वास्तव में उस सम्पूर्ण श्रामण्यवाले साक्षात् श्रमण को मोक्षतत्त्व जानना, क्योंकि पहले के सकल कर्मों के फल उसने लीलामात्र से नष्ट कर दिये हैं इसलिये और वह नूतन कर्मफलों को उत्पन्न नहीं करता इसलिये पुनः प्राणधारणरूप दीनता को प्राप्त न होता हुआ द्वितीय भावरूप परावर्तन के अभाव के कारण शुद्धस्वभाव में अवस्थित^२ वृत्तिवाला रहता है।

गाथा २७२ पर प्रवचन

अब मोक्षतत्त्व प्रगट होता है। यहाँ मोक्षतत्त्व अर्थात् सिद्ध पर्याय नहीं लेना है; किन्तु जो मुनि स्वरूप में रमणता कर रहे हैं, शुभभाव से दूर हैं, सर्वज्ञदशा के निकटवर्ती हैं तथा अप्रतिहत भावपूर्वक नियम से मोक्ष लेनेवाले हैं, उन मुनिराजों को मोक्षतत्त्व कहा है।

● वे मुनिराज निर्मलज्ञान से पदार्थों के स्वरूप का निश्चय करके उत्सुकतारूप हैं।

जिन मुनिराज को मोक्षतत्त्व कहा गया है, वे मुनिराज कैसे हैं?

१. स्वरूपमन्थर = स्वरूप में जमा हुआ (मन्थर का अर्थ है सुस्त, आलसी। यह श्रमण स्वरूप में तृप्त होने से मानो वह स्वरूप से बाहर निकलने को सुस्त या आलसी हो। इस प्रकार स्वरूपप्रशांति में मग्न होकर रहा है।

२. अवस्थित = स्थिर, (इस संपूर्ण श्रामण्यवाले जीव को अन्यभावरूप परावर्तन (पलटन) नहीं होता, वह सदा एक ही भावरूप रहता है ह् शुद्धस्वभाव में स्थिर परिणतिरूप से रहता है; इसलिये वह जीव मोक्षतत्त्व ही है।)

उसकी बात चल रही है। वे मुनिराज तीनलोक के चूड़ामणि हैं। निर्मल विवेकरूपी दीपक के प्रकाशस्तंभ हैं। इस प्रकाश में उन्हें समस्त वस्तुओं का यथार्थ भान वर्तता है। आत्मा पुण्य-पाप से रहित सहजानन्दस्वरूप है। आत्मप्रकाश में उन्होंने समस्त पदार्थों का यथावत् निर्णय किया है।

जीव चैतन्यरूप, शुद्धरूप स्थित है। जड़, जड़ के द्रव्य-गुण-पर्याय में स्थित है। पुण्य-पाप विकाररूप स्थित हैं वह ऐसा निश्चय होने पर उन मुनिराजों को कैसी उत्सुकता वर्तती है, उसका यहाँ वर्णन किया है।

व्यवहार कैसे होगा? निमित्त क्या है? भगवान ने जो कहा, क्या वह सत्य है? आत्मा के अनन्तगुण कैसे हैं? ईश्वर इस जगत का कर्ता है या नहीं? आदि समस्त प्रकार के सन्देह से रहित होकर उन्होंने विकल्पों के डाँवाडोलपने को नष्ट किया है तथा परपदार्थों की सावधानी और स्वरूप की असावधानी से रहित हुए हैं।

क्या आत्मा सर्वज्ञ हो सकता है? सर्वज्ञ होकर अल्पक्षेत्र में व्याप्त रहेगा कि नहीं? इत्यादि सन्देह उन्हें नहीं वर्तते। मेरे आत्मा से बाहर जाने पर मेरा विकास नहीं होता; अपितु अन्तर-एकाग्र होने पर सम्पूर्ण विकास होता है, सर्वज्ञता प्रगट होती है।

आत्मा शरीर प्रमाण है, किन्तु सर्वज्ञदशा प्रगट होते ही तीनलोक और त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों का जानना होता है। निमित्त, वाणी, भगवान आदि से आत्मा को लाभ नहीं है। सब वस्तुयें मिलकर एक वस्तु हो वह ऐसा भी नहीं है। अनन्त आत्मा, कर्म आदि जड़ पदार्थ संसार में हैं। मैं उन जड़ कर्मों, जड़ पदार्थों, अन्य आत्मा, सर्वज्ञदेव आदि समस्त परपदार्थों से दृष्टि हटाकर स्वयं का आश्रय करता हूँ, तभी मुझे सर्वज्ञदशा प्रगट होती है वह ऐसा यथायोग्य निर्णय होने से उन्हें उत्सुकता वर्तती है।

● जो शुद्धस्वरूप में तृप्त होने से सतत् उपशांत रहते हैं।

वे मुनिराज कैसे हैं? मुनिराज स्वरूपगुप्त हैं, स्वरूपतृप्त हैं। वे स्व-स्वरूप में इसप्रकार मस्त हैं कि मानों स्वरूप से बाहर आने में उन्हें प्रमाद वर्तता हो। वे निज आत्मस्वरूप में प्रशांततापूर्वक मग्न होकर व्याप्त होते

हैं। व्यवहार रत्नत्रय की एकाग्रता और उत्सुकता को टालकर वे स्वरूप में जम गये हैं। इसप्रकार स्व-स्वरूप की लीनता होने से वे मुनिराज आत्मा में उपशांत रहते हैं।

व्यवहार, निमित्त अथवा विकल्प आदि का आश्रय लेने से उपशांतता प्रगट नहीं होती; अपितु स्वरूपाश्रय से उपशांतता प्रगट होती है। ये महामुनिराज पर्यायबुद्धि टालकर स्वभावबुद्धि में ढले हैं। व्यवहार विकल्पों को छोड़कर, पर की आकांक्षा टालकर स्व में उग्र पुरुषार्थ करनेवाले उपशांतस्वरूपी हैं। किसी कर्म ने मार्ग दिया, इसलिये उपशांत हुए हों वह ऐसा नहीं है, वे तो स्वयं सतत् उपशांत वर्तते हैं।

● जो मुनिराज केवल शुद्धात्मा में लीन हैं, अयथाचार रहित वर्तते हैं, वे नित्य ज्ञानी हैं।

और कैसे हैं महामुनिराज? जो स्वयं के शुद्धस्वभाव में ही अभिमुखपने विचरते हैं। पहले मिथ्यात्वावस्था में पुण्य-पाप और निमित्तों के अभिमुख होकर विचरण करते थे, व्यवहार रत्नत्रय से कल्याण मानते थे, अतः वे संसारतत्त्व थे। अब, सच्ची श्रद्धा करके स्व-आत्मस्वरूप में ही रमणता करते हैं। एक में ही वर्तते हैं वह ऐसा कहकर यहाँ सम्यक् एकान्त कहा है।

सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का निमित्त संयोगीतत्त्व है। नवतत्त्वों में रागरूप श्रद्धा संयोगीभाव है, इससे जीव को लाभ नहीं है। उन्हें स्वरूप तथा व्यवहार दोनों का आश्रय हो वह ऐसा भी नहीं है। वे जीव केवल स्वरूप के अभिमुख होकर विचरण करते हैं।

स्वभावसन्मुखतापूर्वक द्रव्य के आश्रय से विचरण करनेवाले ज्ञानी जीव व्यवहार और निमित्तों का आश्रय नहीं लेते। अयथाचार से रहित होकर वर्तते हुए वे नित्य ज्ञानी होते हैं अर्थात् किसी भी समय उन्हें स्वरूप एकाग्रता का आश्रय नहीं छूटता। इससे विपरीत जो व्यवहार या निमित्त से लाभ मानता है, वह संसारतत्त्व है।

परसन्मुख हो तो संसार और स्वभावसन्मुख हो तो मोक्ष प्राप्त होता है। व्यवहाररत्नत्रय के परिणाम अयथाचार परिणाम हैं, अतः व्यवहार की सन्मुखता छोड़कर जीव को स्वभावसन्मुख होना चाहिये।

धर्म के लिए निमित्तों की राह देखना पड़े, केवलज्ञान के लिए उचित संहनन एवं योग्य समय की राह देखना पड़े, कर्म कम हो तो अशुभभाव टलेंगे, उपवास करूँगा तो धर्म होगा आदि समस्त भाव परसन्मुख हैं ह यह अयथाचारपना है।

जिन ज्ञानी मुनिराजों ने समस्त परवस्तुओं से दृष्टि हटाकर अनन्त-गुणरूपी आत्मपिण्ड की ओर अभिमुखपना किया है, वे वास्तव में स्वरूपपरमणता में ही विचरण करते हैं। श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते थे “अनेकान्तिक मार्ग सम्यक् एकांतरूप निजपद की प्राप्ति कराने के अतिरिक्त अन्य किसी हेतु से उपकारी नहीं है।”

आत्मा स्व-भाव है, परपदार्थ तथा परभावरूप नहीं ह ऐसे अनेकान्त को निश्चित करनेवाले स्वरूप में अभिमुखपने विचरना सम्यक्-एकान्त है। ये मुनिराज ही नित्य ज्ञानी हैं।

शुद्धोपयोगी मुनिराज को एकसमय भी ज्ञानत्व और स्वरूपएकता का विरह नहीं है, प्रतिसमय निजज्ञानत्व को टिकाते हुए वे स्वरूपलीन रहते हैं।

● सम्पूर्ण श्रामण्यवाले साक्षात् श्रमण मोक्षतत्त्व हैं।

यहाँ कहा है कि जो मुनिराज स्व में स्थित हैं, अयथाचार से रहित हैं, स्वरूप की अन्तर वीतरागता वर्तती होने से सम्पूर्ण श्रामण्य को प्राप्त हुए हैं ह वे मुनिराज मोक्षतत्त्व हैं।

जिन जीवों ने मोक्षदशा को प्राप्त किया है, यहाँ उनकी बात नहीं है, अपितु जो स्वरूपलीन हैं, शुभभाव में न आकर नियम से मोक्षदशा पाने के लिये प्रयासरत हैं ह ऐसे स्वरूपलीनता युक्त मुनिराज की चर्चा है। यहाँ, उन्हें मोक्षतत्त्व कहा है।

वस्तुरूप से आत्मा मोक्षस्वरूप ही है। आत्मा की पर्याय में विकार हैं और उस विकार को टालकर मोक्ष प्रगट हो ह ऐसी अपेक्षा वस्तुस्वभाव या द्रव्यदृष्टि में नहीं है। द्रव्यदृष्टि से आत्मा सदैव मुक्त ही हैं अर्थात् मोक्षस्वरूप ही है। ‘मोक्ष प्राप्त करना है’ ह यह बात भी वस्तुस्वरूप में

नहीं है। आत्मा विकार या संगस्वभावी नहीं है, अपितु असंग मोक्षस्वरूप निरूपाधिस्वभावी है।

यह दृष्टि पहले से ही विद्यमान थी; किन्तु छठवें गुणस्थान में कमजोरीवश शुभाशुभवभावों से जो जुड़ाव वर्तता था। अब उस ओर का लक्ष हटाकर वे स्व में स्थित हुए हैं। स्वसन्मुख होकर वीतरागी पर्याय प्रगट करने की ओर लालायित हुये हैं। शुभाशुभभाव टल गये हैं और स्वरूपलीनता वर्त रही है; अतः ऐसे मुनिराज को मोक्षतत्त्व कहा है।

● मुनिराज को स्वभाव में लीनता होने से विकार उत्पन्न नहीं होते तथा कर्मों का सहज नाश होता है।

अज्ञानी जीव धर्म तथा चारित्र को दुःखदायक मानता है। वह सोचता है ह किसी विशिष्ट तप में इतने उपवास करेंगे तो धर्म होगा और किसी प्रकार की भूल हो जाये तो प्रायश्चित्त लेना पड़ेगा। ऐसे जीव के शुभभावरूप चारित्र का कोई ठिकाना नहीं है। स्वभाव में श्रद्धा-ज्ञान-पूर्वक शुद्धता की प्रगटता ही चारित्र है।

ऐसे चारित्रवंत जीवों को मोक्षतत्त्व जानना चाहिए; क्योंकि पूर्व के सकल कर्मों के फल उन्होंने लीलामात्र में नष्ट कर दिये हैं और नूतन कर्म को उत्पन्न नहीं करते हैं। अपने शुद्धस्वभाव में लीनता होने पर विकार उत्पन्न नहीं होते, कर्म अथवा कर्मफल भी उत्पन्न नहीं होते।

जगत की रचना करना, पुण्य पाप का आश्रय करना अथवा निमित्तों को उपस्थित करना आत्मा की लीला नहीं है; अपितु शुद्धस्वभाव रूप आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान में लीनता होना आत्मा की लीला है। पुण्य और निमित्त से धर्म मानना अज्ञान की लीला है। इस अज्ञानलीला का अनेकान्त द्वारा निर्णय करके अर्थात् आत्मा स्वरूप से है, पररूप से नहीं, निर्विकारीदशा निर्विकाररूप है, विकाररूप नहीं, स्वभाव स्वभाव के कारण है, विभाव के कारण नहीं, आत्मा अखण्डरूप है, खण्डरूप नहीं ह इसप्रकार आत्मस्वभाव में श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता करने से कर्मों की लीला नष्ट होती है। अनेक कष्ट, दुःख सहन किये, इसलिये कर्म नष्ट हुए

हूँ ऐसा नहीं है। स्वभाव की उग्रता से कर्म का नाश होता है। कर्मफल तो जड़फल है, वह स्वयं अपने कारण से नष्ट होता है, उसे आत्मा नष्ट नहीं करता।

प्रश्न : हूँ विकार का नाश किसप्रकार करना चाहिए?

उत्तर : हूँ अपने शुद्धस्वभाव में एकाग्र होने पर विकार उत्पन्न नहीं होते। ज्ञानी जीवों ने पूर्व के सकल कर्मफल को नष्ट किया है तथा नवीन कर्मफल को उत्पन्न नहीं करते हूँ ऐसा कहा जाता है। संहनन और काल पर दृष्टि रखने से मोक्षतत्त्व प्रगट नहीं होता; उसके प्रति दृष्टि का अभाव करने से मोक्ष प्रगट होता है अर्थात् शुद्धस्वभाव में ठहरते हुए पर का लक्ष छूट जाता है और पूर्वकर्मों का नाश होता है।

● **मुनिराज पुनः प्राणधारण नहीं करते, उनके अशुद्धभाव का अभाव है, वे शुद्धस्वभाव में स्थिर रहते हैं; अतः वह मोक्षतत्त्व हैं।**

मुनिराज मोक्षतत्त्व कैसे हैं? उसे दर्शाते हैं।

वे मुनिराज पुनः प्राणधारण करनेरूप दीनता को प्राप्त नहीं करते, अशुद्धभावरूप परावर्तन के अभाव के कारण शुद्धस्वभाव में स्थिर रहते हैं। इस सम्पूर्ण श्रामण्यवाले जीव का अन्य भावरूप परावर्तन नहीं होता। वह सदा एक ही भावरूप रहता है। शुद्धस्वभाव में स्थिर परिणतिरूप रहते हैं; अतः ऐसे जीव मोक्षतत्त्वरूप हैं।

यहाँ, प्राणधारण करने को दीनता कहा है। पाँच इन्द्रिय, मन-वचन-काय बल, श्वासोच्छ्वास और आयु हूँ ये दस प्राण तो जड़ हैं; किन्तु उनका निमित्तरूप संयोग हो हूँ ऐसी आत्मा में योग्यता है। अरे भाई ! यह योग्यता लज्जास्पद दीनता है। अन्य भाव की क्या बात करें; तीर्थकररूप प्राण धारण करके जन्म लेना भी लज्जास्पद है।

यहाँ तो स्वरूपगुप्त मुनिराजों की बात कर रहे हैं। स्वरूप में सावधान रहनेवाले और शुभभाव न करनेवाले उत्कृष्ट मुनियों की बात है। ऐसे मुनिराज स्वभाव में स्थिर रहते हैं, संसार में अवतार नहीं लेते। तीर्थकर का शरीर, सर्वार्थसिद्धि के देव का शरीर अथवा आहारकादि शरीर राग के कारण मिलता है। जीव दस प्राण धारण करता है हूँ यह ज्ञान तथा वीर्य

की हीनता है। यदि जीव हीनता से युक्त हो तो भविष्य में भी दस प्राण धारण करता है; किन्तु स्वरूपगुप्त मुनिराजों ने स्वरूपस्थिरता करके ज्ञान तथा वीर्य की हीनता को रोका है।

शुद्धता से विपरीत समस्त पुण्य-पापरूप अशुद्धभाव हूँ द्वितीयभाव है, चैतन्य से विपरीतभाव हैं। मुनिराज को शुभभावों में पुनः आने का निषेध वर्तता है। जो आत्मा के शुद्ध, अरागी, अद्वेषी स्वभाव में अवस्थित निश्चय परिणतिरूप रहते हैं, वे ही नियम से मोक्ष पाते हैं। वास्तव में मुनिदशा ही मोक्षतत्त्व है।

शुभोपयोगी मुनि विकल्प में वर्तते हैं; अतः वे साक्षात् मोक्षतत्त्व नहीं हैं, वे परम्परा से मोक्षतत्त्व कहलाते हैं। जो स्वभाव की लीनता से उतरकर छठवें गुणस्थानरूप शुभोपयोग में आते हैं हूँ उन्हें मोक्षतत्त्व नहीं कहा है। अरे भाई ! शुभराग और निमित्त शुद्धता में मदद करते हैं हूँ ऐसा कहना तो स्थूल अज्ञान है। यहाँ, आचार्यदेव कहते हैं कि मुनिराज शुभभाव में आते ही नहीं हैं, वे तो शुद्धस्वभाव में ही लीन रहते हैं। इसप्रकार जो मुनिराज पुनः प्राणधारणरूप दीनता को प्राप्त नहीं होते, वे परममुनि मोक्षतत्त्व हैं। ●

भाई! रंग-राग-भेद से तो पुद्गल को ही तन्मयपना है। यदि संसार-अवस्था में आत्मा को इससे तन्मयपना मानेंगे तो आत्मा रूपी-पुद्गल ही हो जायेगा, फिर संसार-अवस्था से पलटकर जब मोक्ष होगा तो किसका मोक्ष होगा? पुद्गल का ही मोक्ष होगा अर्थात् मोक्ष में पुद्गल ही रहेगा, जीव नहीं रहेगा। एक अवस्था में यदि रंग-राग-भेद जीव से तन्मय हो तो दूसरी अवस्था में भी वे जीव से तन्मय अर्थात् एकमेक ही रहेंगे। अतः जब संसार-अवस्था में जीव पुद्गल से तन्मय है तो मोक्ष-अवस्था में भी पुद्गल से तन्मय ही रहेगा अर्थात् पुद्गल का ही मोक्ष होगा। अहो! दिगम्बर सन्तों ने गजब वस्तुस्वरूप बताया है।

हूँ प्रवचनरत्नाकर भाग-२, पृष्ठ-३४०

अब, मोक्षतत्त्व का साधनतत्त्व प्रकट करते हैं :ह

गाथा २७३ की उत्थानिका पर प्रवचन

अब, मोक्षतत्त्व का साधनतत्त्व कहते हैं। अन्य शास्त्रों में निमित्त की अपेक्षा बात की है तथा निमित्त और पुण्य को मोक्ष का साधन कहा है। मनुष्यभव, उत्तम संहनन, चतुर्थकाल आदि को केवलज्ञान का साधन बताया गया है, किन्तु वे यथार्थ साधन नहीं हैं। मोक्ष का यथार्थ साधन तो मुनिदशा है।

अब, अंतर साधन का यथार्थ स्वरूप इस गाथा में कहते हैं।

प्रवचनसार गाथा २७३

सम्मं विदिदपदत्था चत्ता उवहिं बहिथ्मज्झत्थं।

विसयेसु णावसत्ता जे ते सुद्धा त्ति णिद्धिटा।।२७३।।

(हरिगीत)

यथार्थ जाने अर्थ दो विध परिग्रह को छोड़कर।

ना विषय में आसक्त वे ही श्रमण शुद्ध कहे गये।।२७३।।

अन्वयार्थ :ह [सम्यग्विदितपदार्थाः] सम्यक् (यथार्थतया) पदार्थों को जानते हुए [ये] जो [बहिःस्थमध्यस्थम्] बहिरंग तथा अन्तरंग [उपधिं] परिग्रह को [त्यक्त्वा] छोड़कर [विषयेषु न अवसक्ताः] विषयों में आसक्त नहीं हैं, [ते] वे [शुद्धाः इति निर्दिष्टाः] 'शुद्ध' कहे गये हैं।

टीका :ह अनेकान्त के द्वारा ज्ञात सकल ज्ञातृत्व और ज्ञेयतत्त्व के यथास्थित स्वरूप में जो प्रवीण हैं, अन्तरंग में चकचकित होते हुए अनन्तशक्तिवाले चैतन्य से भास्वर (तेजस्वी) आत्मतत्त्व के स्वरूप को जिनने समस्त बहिरंग तथा अन्तरंग संगति के परित्याग से विविक्त (भिन्न) किया है और (इसलिये) अन्तःतत्त्व की वृत्ति (आत्मा की परिणति) स्वरूप गुप्त तथा सुषुप्त (जैसे कि सो गया हो) समान (प्रशांत) रहने से जो विषयों में किंचित् भी आसक्ति को प्राप्त नहीं होते ह ऐसे जो सकल-

महिमावान् भगवन्त 'शुद्ध' (शुद्धोपयोगी) हैं, उन्हें ही मोक्षतत्त्व का साधनतत्त्व जानना। (अर्थात् वे शुद्धोपयोगी मोक्षमार्गरूप हैं), क्योंकि वे अनादि संसार से रचित-बन्द रहे हुए विकट कर्मकपाट को तोड़ने-खोलने के अति उग्र प्रयत्न से पराक्रम प्रगट कर रहे हैं।

गाथा २७३ पर प्रवचन

● बाह्याभ्यन्तर परिग्रह रहित निर्ग्रन्थ मुनि की शुद्धता ही मोक्ष का साधन है।

मुनिराज समस्त पदार्थों को यथावत् जानते हैं। उन्हें शुद्धस्वभाव में श्रद्धा-ज्ञान सहित अन्तरंग लीनता बढी है तथा तीव्र आसक्ति का नाश हो गया है। स्वभाव का भान होने से अन्तर में राग की परिणति घट जाने से वस्त्रादि का बाह्य परिग्रह भी छूट गया है।

मिथ्यात्व, राग-द्वेष अन्तरंग परिग्रह है तथा धन-धान्य, दास-दासी, कपड़े आदि बाह्य परिग्रह राग के निमित्त हैं। इन सबसे दृष्टि हटाकर, शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्शरूप विषयों से आसक्ति घटाकर वे निजस्वरूप को साध रहे हैं ह ऐसे मुनिराज शुद्ध कहलाते हैं।

बहिरंग परिग्रह छूटना मात्र साधन नहीं है। अन्तर में जो शुद्धता प्रगट हुई, वही मोक्ष का साधन है। आत्मा के भान सहित अन्तर में पूर्ण पवित्रदशा का प्रगट होना ही मोक्ष है और शुद्धोपयोग में लीन रहनेवाले मुनि को मोक्षतत्त्व कहा है।

यहाँ मोक्षतत्त्व के साधनतत्त्व कहे हैं अर्थात् शुद्धोपयोगी मुनियों को ही साधनतत्त्व कहा है। वे शुद्धोपयोगी मुनिराज कैसे हैं? वह कहते हैं।

मुनिराज अनेकान्त द्वारा ज्ञात ज्ञातृत्व और ज्ञेयतत्त्व में प्रवीण हैं।

ज्ञातृत्व अर्थात् जानने-देखनेवाला आत्मा और ज्ञेयतत्त्व अर्थात् जानने में आनेयोग्य पदार्थ ह इन दोनों का स्वरूप अनेकान्त द्वारा जानने में आता है। इसमें मुनिराज प्रवीण हैं।

आत्मा जानने-देखनेवाला है। आत्मा में शरीर, मन, वाणी आदि ज्ञेयों का अभाव है। आत्मा जाननेवाला है, वह परज्ञेयरूप नहीं होता

तथा जानने में आनेवाले पदार्थ आत्मरूप नहीं होते। शरीरादि की क्रिया आत्मा के कारण नहीं होती। प्रत्येक पदार्थ की क्रिया अपने स्वयं के कारण होती है। आत्मा उसका ज्ञातामात्र है। शरीर, मन, वाणी की अवस्था मेरे आधार से नहीं है और मैं आत्मा परद्रव्य के आधार से नहीं हूँ; कर्म की अवस्था जड़ परमाणु के कारण होती है। आत्मा के कारण नहीं। ये पर्यायें आत्मा को लाभ-हानि नहीं कराती। आत्मा स्वरूप से है और पररूप से नहीं है। आत्मा का ज्ञानगुण, ज्ञानगुण के कारण है; अन्य गुण के कारण नहीं। वर्तमान पर्याय वर्तमानरूप है, पूर्व अथवा भविष्य की पर्यायरूप नहीं। शांत अवस्था शांतरूप है; शुभरूप नहीं। शरीर, मन, वाणी, स्त्री, कुटुंब, परिवार, देव-शास्त्र-गुरु सभी पररूप हैं; आत्मरूप नहीं।

ज्ञानस्वभावी आत्मा बोल नहीं सकता। वाणी, वाणी के लिए है; आत्मा के लिए नहीं। ज्ञान, ज्ञान के कारण है; वाणी के कारण नहीं। दया-दानादि विकल्प, विकल्प के कारण है; शरीर के कारण नहीं। पर की क्रिया पर से होती है; मेरे कारण नहीं। दया-दानादि के परिणाम पुण्य है, धर्म नहीं। धर्म धर्म है; पुण्य नहीं। शुद्ध स्वभाव के आश्रय से धर्म होता है, शुभस्वभाव के आश्रय से धर्म नहीं होता। विकार पर के कारण नहीं है; किन्तु मैं पर का अवलंबन लेता हूँ तो विकार उत्पन्न होते हैं। विकार दुःखदायक है और स्वभाव सुखदायक है।

आत्मा अनन्त गुणों के पिण्डरूप एक है और अपने गुण-पर्याय के कारण अनेकरूप है। आत्मा स्वयं कायम रहता है; अतः नित्य है और अवस्थारूप परिवर्तन करता है; अतः अनित्य है। आत्मा शुद्धस्वभाव की अपेक्षा परमपवित्र है और प्रतिसमय उत्पन्न होनेवाले विकार की अपेक्षा विकारी है। विकार, विकाररूप है; शुद्धतारूप नहीं और शुद्धता, शुद्धतारूप है विकार रूप नहीं हूँ ऐसे अनेक प्रकार से अनेकान्त का रहस्य जाननेवाले मुनिराज ज्ञान में अत्यधिक निपुण हैं।

अहो ! चैतन्यस्वभाव सत् चिदानन्द है। मेरे सुख और धर्म के लिए मेरा स्वभाव ही अवलंबन है, पुण्य-पाप का अवलंबन कार्यकारी नहीं है। प्रत्येक पदार्थ मेरा ज्ञेय है और प्रत्येक ज्ञेय वस्तुरूप से कायम है। यद्यपि पर्यायरूप से परिवर्तन होता है, किन्तु परपदार्थ के द्रव्य-गुण-पर्याय और मेरे द्रव्य-गुण-पर्याय भिन्न-भिन्न हैं हूँ ऐसे अनेकान्ततत्त्व को ख्याल में रखकर भेदज्ञान करें तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है।

गृहस्थाश्रम में धर्म करना हो तो इतना भेदज्ञान अवश्य होना चाहिए। स्त्री, पुत्र, परिवार, पैसे का नाम संसार नहीं है। यदि इनका नाम संसार हो तो मृत्यु के समय जीव इन सबको छोड़ देता है, फिर उसे मोक्ष होना चाहिए।

अरे भाई ! स्त्री, पुत्र, परिवार मेरे हैं, दया-दानादि से धर्म होता है हूँ ऐसी मिथ्याभ्रान्ति रूप मान्यता ही संसार है। देव-शास्त्र-गुरु, सम्मेदशिखर की वंदना आदि इस जीव को संसार से तारने में समर्थ नहीं हैं हूँ ये सब आत्मा के ज्ञेयतत्त्व हैं हूँ ऐसा भेदविज्ञान ही प्रथम धर्म है। यह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। इसके बिना कभी भी धर्म नहीं हो सकता।

● मुनिराजों ने अपने चैतन्यस्वरूप को समस्त बहिरंग तथा अन्तरंग संगति से भिन्न किया है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों मिलकर मोक्षमार्ग है। ज्ञानपूर्वक होनेवाली अरागी, अरूपी, निर्विकल्पदशा मोक्षमार्ग कहलाता है। यहाँ, चारित्र की बात है।

“अन्तरंग में चकचकित होते हुये अनन्त शक्तिवाले चैतन्य से भास्वर आत्मतत्त्व के स्वरूप को जिसने समस्त बहिरंग तथा अन्तरंग संगति के परित्याग से विविक्त किया है।”

वस्त्रादि त्यागना, बाह्य क्रियाकाण्ड अथवा दया-दान करने में चारित्र नहीं है। जिसप्रकार अग्नि उष्णता से शोभायमान होती है, उसीप्रकार आत्मा ज्ञानादि अनंतगुणों से शोभायमान होता है। पैसा, शरीर तथा दया-दानादि के भाव से आत्मा तेजस्वी नहीं है। शरीर रूपवान स्वस्थ

हो, व्याख्यान अच्छा देता हो अथवा उत्कृष्ट चारित्र हो; किन्तु यह आत्मा का तेजस्वीपना नहीं है।

शरीरादि तथा शुभाशुभभावों से भिन्नता का भान होने से धन-धान्य, दास-दासी आदि बहिरंग परिग्रह के प्रति मोह स्वयमेव छूटा है अर्थात् बाह्य के निमित्त छूट गये हैं। यथार्थरूप से विचार करें तो निमित्तरूप द्रव्यमन की संगति का भी त्याग करके जीव राग से भिन्न हुआ है; अतः 'त्याग किया' हूँ ऐसा कहा जाता है। वर्तमान में परभाव तथा परपदार्थों से भिन्नता का भान है; किन्तु विशेष अरागीदशा प्रगट होने पर स्त्री-पुत्र-परिवारादि से संबंधित शेष राग भी छूट जाता है।

दो रोटी खायें और सादे वस्त्र पहनने का नाम चारित्र नहीं है। अनंत शक्तिवान् चैतन्यस्वभाव के जोर से पुण्य-पाप रहित स्वरूप में स्थित होने का नाम चारित्र है।

विकार को अपना माननेवाला जीव अधर्मी है, उसे सम्यग्दर्शन नहीं है। सम्यग्दर्शन बिना सम्यक्चारित्र और सम्यक्चारित्र बिना मोक्ष के साधनतत्त्व सिद्ध नहीं हो सकते।

परपदार्थ तथा विकार से आत्मा भिन्न है हूँ ऐसा ज्ञान गृहस्थाश्रम में होने के उपरान्त विषयों की आसक्ति घटाकर जीव स्वभाव में लीनता करता है हूँ यही मोक्षतत्त्व का साधनतत्त्व है।

जगतजन शरीरादि बाह्य पदार्थों को धर्म के साधन के लिए आवश्यक कहते हैं, किन्तु यह बात मिथ्या है। शरीर जड़ है, उसकी क्रिया आत्मा नहीं कर सकती। आत्मा परदया पालन नहीं कर सकती; क्योंकि यह सब विकल्प, राग हैं। रागरहित अन्तर वीतरागी परिणमन ही चारित्र है, धर्म है, प्रत्याख्यान और सामायिक है।

ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव अनेकान्त रूप शोभित है, सूर्यसमान तेजस्वी है, इसमें लीनता होने पर परिग्रह की ओर लक्ष नहीं जाता और अन्तर वीतरागी परिणति अत्यधिक वृद्धि को प्राप्त होती है।

● मुनिराज की प्रवृत्ति अन्तर्लीन होने से वे विषयों में आसक्ति नहीं करते।
“इसलिये अन्तःतत्त्व की वृत्ति (आत्मा की परिणति) स्वरूप गुप्त तथा सुषुप्त (जैसे कि सो गया हो) समान (प्रशांत) रहने से जो विषयों में किंचित् भी आसक्ति को प्राप्त नहीं होते.....।”

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होने पर आत्मा परपदार्थों से भिन्न वर्तता है तब 'आत्मा के आश्रय से ही ज्ञान तथा मोक्ष होता है' हूँ ऐसा जीव को यथार्थ भान वर्तता है। आजतक अज्ञानता के कारण जीव की परिणति पुण्य-पाप में अटकती थी, किन्तु अब मुनिपने में वह परिणति पुण्य-पाप में नहीं अटकती। स्वरूप में गुप्त होने पर परिणति मानों सो जाती है।

जिसप्रकार गाढ़ निद्रा में मस्त व्यक्ति को बाहर में होने वाले कार्यों की खबर नहीं होती; उसीप्रकार मुनिराज मोक्षमार्ग के निर्विकल्प आनन्द में मस्त है, उन्हें बाह्य बातों की खबर नहीं है।

जिन्होंने अनेकान्त को जानकर प्रतीतिपूर्वक निजस्वरूप की लीनता की है, वे अब पुनः पाँच इन्द्रियादि विषयों में वृत्ति उत्पन्न नहीं करते।

● सकल महिमावंत शुद्धोपयोगी मुनिराज ही मोक्षमार्गरूप हैं।

“.....ऐसे जो सकल महिमावान् भगवान् 'शुद्ध' (शुद्धोपयोगी) हैं, उन्हें ही मोक्षमार्ग का साधन तत्त्व जानना। (अर्थात् वे शुद्धोपयोगी ही मोक्षमार्गरूप हैं)।”

दया-दानादि के भाव अशुद्धोपयोग हैं और चैतन्य के आश्रय से उत्पन्न शुद्धोपयोग-मोक्षतत्त्व का साधनतत्त्व अथवा मोक्षमार्ग है। देव-शास्त्र-गुरु की व्यवहार श्रद्धा, नवतत्त्वों का व्यवहार ज्ञान, कषाय मंदतारूप चारित्र आदि व्यवहार रत्नत्रय मोक्षतत्त्व का साधनतत्त्व नहीं है।

किसी स्थान पर पुण्य तथा निमित्तों को मोक्षमार्ग का साधनतत्त्व कहा गया हो तो वहाँ मात्र निमित्तों और संयोगों का यथार्थ ज्ञान कराने के लिए यह कथन किया है हूँ ऐसा समझना।

व्यवहार, पुण्य और निमित्त रहित शुद्धदशा को मोक्षमार्ग कहा है। मोक्षमार्ग निर्दोष वीतरागीदशा है। दशा दशावान से भिन्न नहीं रहती हूँ

ऐसी दशा के धारक सकल महिमावंत शुद्धोपयोगी मुनि को मोक्षमार्ग का साधन तत्त्व अथवा मोक्षमार्ग जानना चाहिए।

प्रश्न : हू बहुत काल से यात्रा, उपवास, दानादि धार्मिक क्रिया करते आये हैं, क्या ये धार्मिक क्रियाएँ नहीं हैं।

● **पुण्य-पाप रहित शुद्ध आत्मा में रमणता ही धार्मिक क्रिया और मोक्ष का उपाय है।**

उत्तर : हू हे भाई ! तेरा साधन अन्तर में है; बाह्य में नहीं। शरीर के क्षेत्रान्तर होने अथवा रुपये-पैसे की क्रिया से पुण्य अथवा धर्म नहीं होता; क्योंकि ये सब परपदार्थ हैं। अन्तर में जितना रागभाव घटा उतना पुण्य है; किन्तु राग का घटना भी विभावभाव है। अशुभ से बचने के लिये शुभभाव आते हैं किन्तु वे धर्म नहीं हैं। परपदार्थ और विकार से आत्मा तेजस्वी नहीं होता; अपितु परपदार्थ और विकार से भिन्न होकर अन्तर रमणता करने से तेजस्वी होता है।

परपदार्थ की क्रिया आत्मा नहीं कर सकता। पुण्य-पाप के भाव विकारी क्रिया है, उससे रहित अन्तरस्वरूप में रमणता ही धार्मिक क्रिया है, इसके अतिरिक्त अन्य क्रिया से धर्म नहीं हो सकता।

नौ लाख बार णमोकार मन्त्र का जाप करने से दो-तीन भव में जिनेन्द्रपद प्राप्त होता है हू ऐसा अज्ञानी मानता है। अरे भाई! अनंतबार णमोकार मंत्र का जाप करें तो भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती। राग घटाने से पुण्य हो सकता है; पर धर्म नहीं।

प्रश्न : हू जो दूसरों की सेवा करता है, कष्टादि आने पर भी शांति रखता है, उसे धर्म होता है या नहीं?

समाधान : हू (१) अरे भाई ! प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि शरीर की क्रिया शरीर के कारण और आत्मा की क्रिया आत्मा के कारण होती है, फिर भी मेरे कारण शरीर या अन्य की सेवा होती है हू ऐसा मानना मूढ़ता है, अज्ञान भाव है; क्योंकि परद्रव्य की कोई भी अवस्था आत्मा नहीं कर सकता।

(२) लकड़ी जड़ है, उससे मेरी आत्मा को कष्ट होता है हू ऐसी मान्यता भी महा अज्ञान है; क्योंकि लकड़ी और आत्मा में अत्यन्ताभाव है।

(३) अन्य की सेवा में राग का घटाना पुण्यास्रव है, फिर भी उससे मुझे धर्म होगा ऐसा मानना भ्रान्ति है। ऐसे भ्रान्तिपूर्वक कार्य को धर्म माने, उसकी पर्याय हीन है। वह हीन गति में जाता है।

(४) कोई क्षमादि भाव धारण करे तो उसकी क्षमा सच्ची नहीं है। पूर्व प्रारब्ध ऐसे थे कि स्वयं को परिषहादि हुए, वहाँ परिषहादि को सहनेवाला अन्य जीवों के प्रति क्षमाभाव धारण करे तो यह कषायमंदता के कारण परलक्ष से क्षमा धारण करना है। यह सच्ची क्षमा नहीं है।

(५) परिषहादि के समय परपदार्थ और पुण्य-पाप की क्रिया से रहित अन्तरलीनता हो, राग-द्वेष की उत्पत्ति न होते हुए अन्तर में वीतरागी अपूर्व शांति वर्ते यही सच्ची क्षमा है।

(६) हे जीवो! मुनिराजों को चित्र में देखो! किसी को सिंहनी खा रही है, किसी को अग्नि का संयोग है, किन्तु बाह्य से लक्ष छूट गया है। मैं दूसरे को क्षमा करूँ हू ऐसा विकल्प भी उन्हें नहीं आता और अन्तरस्वभाव में लीन रहते हैं, वे जीव ही सच्ची क्षमा को धारण करनेवाले हैं।

(७) बाह्य संकटादि का मुनिराजों को भान नहीं है। बाह्यपदार्थों में इष्ट-अनिष्टवृत्ति, पाप बुरा और पुण्य अच्छा आदि भाव का भी नाश हो गया है। बाह्य के समान अन्तर परिग्रह भी नष्ट हुये हैं। शुभाशुभभावों की पकड़ से रहित स्वरूप में लीनता हो रही है, अतः स्वभाव के भानसहित अन्तर शुद्धतापूर्वक सकल महिमावंत शुद्धोपयोगी मुनियों को ही मोक्ष का मार्ग जानो !

● **वे मुनिराज अन्तर शुद्धता की वृद्धि और निमित्तरूप कर्म को तोड़ने का उग्र पुरुषार्थ करते हैं, अतः वे मुनिराज मोक्ष का साधनतत्त्व है।**

शुद्धोपयोगी मुनिराज को मोक्षमार्ग कहा उसका प्रमुख कारण यह है कि अनादि संसार में रमे हुए, बंधे हुए विकट कर्मरूपी डोरी को खोलने का वे अति उग्र प्रयत्न/पराक्रम कर रहे हैं।

यह संसार अनादि से है। यह जीव निगोदावस्था में एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि भवों में अज्ञान के कारण कर्म बाँधता है तथा पंचेन्द्रिय मनुष्य होकर द्रव्यलिंगी मुनि होने पर भी व्यवहार और निमित्त से धर्म होता है ह्व ऐसी मिथ्याभ्रान्ति के कारण कर्मबंधन करता है।

अनन्त भवों में बाँधे हुये इस कर्मद्वार को खोलने का मुनिराज अत्यन्त उग्र पुरुषार्थ करते हैं। जिसप्रकार चक्रवर्ती छह खण्ड को जीतने के लिये जाते समय वैताडपर्वत की गुफा में स्थित १८ कोडाकोडी सागरोपम काल से बन्द लोहे के दरवाजे को अपने दण्ड से तोड़ देता है, उसीप्रकार मुनिराज अपने निज स्वभाव में श्रद्धा, ज्ञान और एकाग्रतारूपी साधन से कर्मों के द्वार को तोड़ने का प्रयत्न करते हैं।

यहाँ कर्म को तोड़ता है ह्व ऐसा कहा। अरे भाई ! कर्म जड़ हैं। उन्हें आत्मा न बाँधता है और न छोड़ता है तथा जो विकारादि होते हैं, उन्हें भी कौन तोड़ेगा? अपने शुद्धस्वभाव में लीन होने पर विकार की उत्पत्ति नहीं होती। नवीन कर्म नहीं बाँधते तथा पुराने कर्म उदय में आकर नष्ट हो जाते हैं। कर्म जुड़कर के नहीं रहते, इसे ही कर्मों को तोड़ा ह्व ऐसा कहते हैं।

जबतक जीव अज्ञानदशा में है, वह स्वयं की कमजोरी है, वहाँ कर्म का जोर है, किन्तु अपने स्वभाव की दृष्टि करके लीनता करते ही कर्म मंद पड़ते हैं।

इसप्रकार अन्तरवीर्य सहित शुद्धता को प्राप्त करने और निमित्तरूप कर्म को तोड़ने का प्रयत्न करनेवाले महामुनिराज को मोक्षमार्ग अथवा मोक्ष का साधनतत्त्व कहा है। ●

अहो! कैसी दो टुक और सारभूत बात है। जिन भावों से बंधन हो, वे सब भाव अचेतन हैं। अतः जिनमें चैतन्यशक्ति का अभाव है ह्व ऐसे अनेक प्रकार के अचेतन शुभाशुभभावों का लक्ष छोड़ दे और शुद्ध चित्शक्तिमात्र भाव को ग्रहण कर!

ह्व प्रवचनरत्नाकर भाग-२, पृष्ठ-२४४

अब, मोक्षतत्त्व के साधनतत्त्व का (अर्थात् शुद्धोपयोगी का) सर्व मनोरथों के स्थान के रूप में अभिनन्दन (प्रशंसा) करते हैं :ह्व

गाथा २७४ की उत्थानिका पर प्रवचन

निज शुद्धस्वभाव का श्रद्धान-ज्ञान और आचरण ही मोक्ष का सुलभ मार्ग है, इस मार्ग पर चलनेवाला ही मोक्ष प्राप्त करता है।

आत्मा की पूर्णदशा का साधन शुद्धोपयोग है। पुण्य-पाप रहित निर्मलदशा को शुद्धोपयोग कहते हैं। केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य प्रगट करने के लिए शुद्धोपयोग ही साधन है। एक शुद्धोपयोग के अतिरिक्त अन्य कुछ भी करने योग्य नहीं है।

जिसप्रकार पर्वत आदि की चढ़ाईवाला कठिन रास्ता हो; किन्तु गाड़ी और ड्राईवर कुशल हो तो शीघ्र ही गंतव्य स्थान पर पहुँचा जा सकता है तथा यदि गाड़ी खराब हो, ड्राईवर भी अच्छा नहीं हो तो व्यक्ति बीच रास्ते में ही अटक जाता है, उसीप्रकार पुण्य-पाप से रहित शुद्ध ज्ञानस्वभाव में एकाग्रतापूर्वक मोक्षमार्ग में गति करे तो मोक्षस्थान अर्थात् मोक्षदशा की प्राप्ति होती है, किन्तु शरीर, पुण्य-पाप आदि क्रियाओं में धर्म मानकर पुरुषार्थ करे तो वह जीव खराब गाड़ी की भाँति बीच मार्ग में ही अटक जाता है, संसार में ही परिभ्रमण करता है।

मोक्ष आत्मा की पूर्ण पवित्रतम दशा है और उसका साधन शुद्धोपयोग है।

अब, सर्व मनोरथ के स्थानरूप शुद्धोपयोग का यहाँ अभिनन्दन करते हैं।

प्रवचनसार गाथा २७४

सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं ।
सुद्धस्स य णिव्वाणं सो च्विय सिद्धो णमो तस्स ॥२७४॥
(हरिगीत)

है ज्ञान-दर्शन शुद्धता निज शुद्धता श्रामण्य है।

हो शुद्ध को निर्वाण शत-शत बार उनको नमन है ॥२७४॥

अन्वयार्थ : ह [शुद्धस्य च] शुद्ध (शुद्धोपयोगी) को [श्रामण्य भणितं] श्रामण्य कहा है, [शुद्धस्य च] और शुद्ध को [दर्शनं ज्ञानं] दर्शन तथा ज्ञान कहा है, [शुद्धस्य च] शुद्ध के [निर्वाणं] निर्वाण होता है; [सः एव] वही (शुद्ध ही) [सिद्धः] सिद्ध होता है; [तस्मै नमः] उसे नमस्कार हो ।

टीका : ह प्रथम तो, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के युगपदपनेरूप से प्रवर्तमान एकाग्रता जिसका लक्षण है ऐसा जो साक्षात् मोक्षमार्गभूत श्रामण्य, 'शुद्ध' के ही होता है; समस्त भूत-वर्तमान-भावी व्यतिरेकों के साथ मिलित (मिश्रित), अनन्त वस्तुओं का अन्वयात्मक जो विश्व उसके (१) सामान्य और (२) विशेष के प्रत्यक्ष प्रतिभासस्वरूप जो (१) दर्शन और (२) ज्ञान वे 'शुद्ध' के ही होते हैं; निर्विघ्न-खिले हुए सहज ज्ञानानन्द की मुद्रावाला (स्वाभाविक ज्ञान और आनन्द की छापवाला) दिव्य जिसका स्वभाव है ऐसा जो निर्वाण, वह 'शुद्ध' के ही होता है; और टंकोत्कीर्ण परमानन्द-अवस्थारूप से सुस्थित आत्मस्वभाव की उपलब्धि से गंभीर ऐसे जो भगवान सिद्ध, वे 'शुद्ध' ही होते हैं (अर्थात् शुद्धोपयोगी ही सिद्ध होते हैं), वचनविस्तार से बस हो ! सर्व मनोरथों के स्थानभूत, मोक्षतत्त्व के साधनतत्त्वरूप, 'शुद्ध' को, जिसमें परस्पर अंगअंगीरूप से परिणमित भावक-भाव्यता^१ के कारण स्व-पर का विभाग अस्त हुआ है ऐसा भावनमस्कार हो ।

गाथा २७४ पर प्रवचन

● मुनिदशा से लेकर सिद्धदशा तक कारणरूप शुद्धोपयोग को नमस्कार हो ।

जैनदर्शन अर्थात् सर्वज्ञ भगवान के अद्वितीय शासन में जीव के समस्त मनोरथ किसप्रकार पूर्ण होते हैं? इसपर प्रकाश डालनेवाली यह अद्वितीय गाथा है ।

१. भावक (भावनमस्कार करनेवाला) वह अंग (अंश) हैं और भाव्य (भावनमस्कार करने योग्य पदार्थ) वह अंगी (अंशी) है, इसलिये इस भावनमस्कार में भावक तथा भाव्य स्वयं ही है । ऐसा नहीं है कि भावक स्वयं हो और भाव्य पर हो ।

देखो! चरणानुयोग के अधिकार में व्यवहार की बात बताते हैं ।

जीव को शुभ तथा शुभ के निमित्तभूत स्थान मनोरथ करने योग्य नहीं है । मनोरथ तो शुद्धोपयोग का ही करना चाहिए । इस तत्त्व को दर्शानेवाली प्रवचनसार में यह अन्तिम महान गाथा है ।

आत्मा चैतन्यमूर्ति है, उसमें श्रद्धा-ज्ञान और रमणतारूप शुद्धोपयोग का नाम ही साधुपद है । पाँच महाव्रतादि के पालन का शुभभाव साधुपना अथवा १२ व्रतादि के पालन का शुभपरिणाम श्रावकपना नहीं है ।

आत्मा में तीनकाल और तीनलोकवर्ती समस्त पदार्थों को जानने की अपूर्व शक्ति विद्यमान है, वह शुद्धात्मा के आश्रय से ही प्रगट होती है । दया-दानादि के परिणाम से केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं होती । निज आत्मा के अवलंबन से शुद्धोपयोग की प्राप्ति होती है, अतः शुद्धोपयोगी जीव ही निर्वाण प्राप्त करता है ।

यहाँ, सिद्धपद को प्राप्त जीवों को नमस्कार अर्थात् शुद्ध को नमस्कार हुआ है । समस्त भावों को प्रगट कराने का मूल, समस्त कार्यों का कारण, विपरीत भावों के नाश का उपाय, पुण्यरूप मनोरथ को टालने का उपाय एक शुद्धोपयोग ही है; अतः उसका ही मनोरथ करना चाहिये ।

● शुद्धात्मा का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण ही मुख्य है; दया-दानादि के परिणाम मुख्य नहीं हैं ।

व्यवहारशास्त्रों में भक्ति करो, दया पालन करो आदि निमित्ताधीन कथन प्राप्त होते हैं । इन कथनों को सुनकर-पढ़कर अज्ञानी जीव इनकी ही वाहवाही करता है, किन्तु द्रव्यानुयोग के शास्त्रों में आये हुये कथन जैसे ह 'दया-दान-व्रतादि परिणाम शुभ हैं, आस्रव-बंध हैं, अतः उनका मनोरथ नहीं करना चाहिए ।' चिदानन्द आत्मा के आश्रय से उत्पन्न शुद्धोपयोग की ही भावना करनी चाहिए, इस बात पर ध्यान नहीं देता ।

उक्त बात को सुनने पर अज्ञानी कहता है कि भाईसाहब! आत्मा की बात हमें समझ में नहीं आती । दया-दान-भक्ति-पूजादि तो समझ में आते हैं; किन्तु आत्मा समझ में नहीं आता ।

अरे भाई ! जो आत्मा का श्रद्धा-ज्ञान नहीं करता तथा शुभभावों की ही बड़ाई करता है, वह संसार में ही रखड़ता है, उसे त्रिकाल में धर्म नहीं हो सकता ।

यहाँ अर्थात् चरणानुयोग चूलिका अधिकार एवं अन्य व्यवहार शास्त्रों में शुभ को धर्म का मददगार उपचार से कहा है । शुभभावों का स्वरूप उसके ज्ञानमात्र के लिए कहा है । मुख्य बात तो चैतन्य के आश्रय से प्रगट शुद्धभावना की है ।

● शुद्धोपयोगी जीव को एकाग्रता लक्षणस्वरूपी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य से मोक्षमार्ग प्राप्त होता है ।

“प्रथम तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य के युगपदपनेरूप से प्रवर्तमान एकाग्रता जिसका लक्षण है वह ऐसा साक्षात् मोक्षमार्ग भूत श्रामण्य ‘शुद्ध’ के ही होता है ।”

परपदार्थ तथा विकार से भिन्न अखण्ड परिपूर्ण चिदानन्दस्वरूप आत्मा है । आत्मा की प्रतीति का नाम सम्यग्दर्शन, राग से रहित स्वसंवेदन ज्ञान का नाम सम्यग्ज्ञान तथा स्वरूप में रमणता सम्यक्चारित्र्य है ।

सम्यक्त्व की प्रवृत्ति तथा विकार से निवृत्ति जिसका लक्षण है, जिन्होंने केवल शुद्धात्मा को ही अग्र किया है वह ऐसा मोक्षमार्गभूत साक्षात् मुनिपना केवल शुद्धोपयोगी को ही होता है ।

अपने शुद्धस्वभाव में जो रमणता करें वह शुद्धोपयोगी ही मुनि है । पाँच महाव्रतादि के परिणाम मुनिपना नहीं है, आस्रवभाव है, अतः सिर्फ शुद्धता की ही भावना करनी चाहिए । आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान में ही जीव का कल्याण है ।

जो वस्त्रसहित मुनिपना माने, वह मुनि नहीं है तथा नग्न दिगम्बर दशा धारण कर शुद्धता को स्वीकार न करे वह भी शुद्धोपयोगी मुनि नहीं है । शरीरादि की क्रिया पर है, पुण्य-पाप अशुद्धभाव हैं, आत्मा इन सबसे रहित त्रिकाली शुद्ध है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान करके वीतरागी लीनता करना ही मोक्षमार्ग और मुनिपना है ।

● शुद्धोपयोग के फल में अशरीरी सिद्धदशा और अशुद्धोपयोग के फल में निगोदशा प्राप्त होती है ।

प्रश्न है क्या मोक्षमार्ग निश्चय और व्यवहाररूप है?

समाधान है जहाँ निश्चय और व्यवहाररूप मोक्षमार्ग की चर्चा है, वहाँ शुभभाव और उसके निमित्तों को उपचार से व्यवहार मोक्षमार्ग कहा है । निश्चय अर्थात् सच्चा मोक्षमार्ग एक ही है, जिसका वर्णन इस गाथा में किया है ।

आत्मा कर्म, विभावादि से रहित परिपूर्ण शुद्ध अखण्डवस्तु है । अनंत आत्माओं का स्वरूप सर्वज्ञ की वाणी में आया है । शास्त्र में भी ऐसा ही कहा है और गुरुओं ने भी वैसा ही अनुभव किया है ।

जो जीव व्यवहार तक को नहीं मानते उनकी यहाँ बात नहीं है, यहाँ तो जो जीव सर्वज्ञदेव, सत्शास्त्र और गुरु को मानते हुये भी पाँच महाव्रतादि के परिणाम को मोक्षमार्ग मानते हैं, उनके मनोरथ को व्यर्थ कहा है ।

जिसप्रकार छिल्कों (टरफल) को देखने से फल की प्राप्ति नहीं होती, उसीप्रकार पाप-पुण्य के भावों को देखने से शुद्धात्मा की प्राप्ति नहीं होती ।

लालप्रदेश में स्थित जमीन अत्यधिक नरम होती है, उसमें कोई जगह अत्यन्त पोली होती है, यदि वहाँ कोई आदमी फँस जाए तो वह मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, उसीप्रकार पाँच महाव्रतादि के परिणाम लाल जमीन के समान पोले हैं, उसमें एकाग्र होने पर आत्मा ही गुम हो जाता है । हे भाई ! शांति के भण्डारस्वरूप आत्मा में एकाग्र होने पर ही मोक्षमार्ग है वह ऐसा केवली भगवान की वाणी में आया है, अतः उसका अनुमोदन करके शुद्धस्वरूप को प्राप्त करना चाहिए ।

ज्ञानस्वभावी आत्मा के अवलंबन से ही मोक्षमार्ग और मोक्ष प्रगट होता है । अनित्य पुण्य-पाप से मोक्षमार्ग प्राप्त नहीं होता ।

● शुद्धोपयोग के फल में अशरीरी सिद्धदशा और विरोध में निगोदशा प्राप्त होती है ।

सकरकंद के राई जितने टुकड़े में असंख्यात शरीर हैं और एक-एक शरीर में अनंत आत्मा हैं। स्वभाव का अनादर और व्यवहार का आदर करनेवाले को निगोद अवस्था में जन्म लेना पड़ता है। वहाँ अन्तर्मुहूर्त में शरीर बदल जाता है, यह व्यवहार का फल है शुद्धस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक रमणता करे तो चारित्र्य होता है। शुक्लध्यानपूर्वक केवलज्ञान प्राप्त होकर अशरीरी मोक्षदशा की प्राप्ति होती है।

● शुद्धोपयोगी को समस्त पदार्थों के सामान्य अवलोकनरूप केवलदर्शन और विशेष जाननेरूप केवलज्ञान प्रगट होता है।

“..... समस्त भूत, वर्तमान, भावी व्यतिरेकों के साथ मिलित (मिश्रित) अनन्त वस्तुओं का अन्वयात्मक जो विश्व उसके १. सामान्य और २. विशेष के प्रत्यक्ष प्रतिभासस्वरूप जो १. दर्शन और २. ज्ञान वे शुद्ध के ही होते हैं.....”।

अब, प्रथम विश्व का स्वरूप कहते हैं। इस जगत में अनंत आत्मा और अनंतानन्त जड़पदार्थ हैं। वे सब मिलकर एक वस्तु नहीं है, यदि सब मिलकर एक आत्मा हो तो उपदेश नहीं हो सकता। समझानेवाला तथा समझनेवाला नहीं रहेगा।

आत्मा के कारण जीव को दुःख नहीं हो सकता। आत्मा जब परपदार्थों का लक्ष करता है तो भूल होती है, अतः परपदार्थ हैं, यह निश्चित होता है।

इस जगत में अनंतानंत वस्तुयें नित्य हैं और उनकी अवस्था भी पलटती है। प्रत्येक पदार्थ की भूत, वर्तमान, भविष्य की पर्याय के साथ उसका सामान्यपना-अन्वयपना कायम रहता है। अनंत आत्मा और जड़ पदार्थ ध्रुवरूप रहते हैं तथा समय-समय उसमें उत्पाद-व्यय भी होता है। अनंतगुणों के पिण्डस्वरूप आत्मा कायम रहता है तथा उसकी अवस्था में परिवर्तन होता है।

इस प्रकार विश्व के सामान्य और विशेष के प्रत्यक्ष प्रतिभास स्वरूप दर्शन-ज्ञान शुद्ध के ही होते हैं। इस विश्व के अनंत पदार्थों के भेद किये बिना सामान्य अवलोकनरूप जो शक्ति उसे दर्शन-शक्ति कहते हैं

तथा उन अनन्त पदार्थों में विशेष भेद करके जानने की शक्ति को ज्ञान कहते हैं।

समस्त पदार्थों के सामान्य अवलोकनरूप शक्ति को दर्शनशक्ति कहते हैं, इसमें यह जीव है कि अजीव है, यह द्रव्य है कि पर्याय है ह्व ऐसे भेदपूर्वक देखना नहीं होता; किन्तु ज्ञानशक्ति सभी में भेद करके देखती है। यह जीव है, यह पुद्गल है, यह द्रव्य है, यह पर्याय है आदि भेद-प्रभेद पूर्वक जानना ही ज्ञानशक्ति का कार्य है।

जो एकसमय में अनंत पदार्थों को सामान्यरूप से देखता है, वह केवलदर्शन है तथा अनंतपदार्थों को भेदरूप-विशेषरूप जो जानता है वह केवलज्ञान है। इन दोनों की प्राप्ति शुद्धोपयोग से ही होती है।

● शुद्धोपयोगी को स्वाभाविक ज्ञान और आनन्द की छाप से युक्त निर्वाणपद प्राप्त होता है।

“..... निर्विघ्न खिले हुए सहज ज्ञानानन्द की मुद्रावाला (स्वाभाविक ज्ञान और आनन्द की छापवाला) दिव्य जिसका स्वभाव है ह्व ऐसा जो निर्वाण, वह 'शुद्ध' के ही होता है....”।

अब, मोक्ष किसे होता है? उनका स्वरूप बताने के पूर्व मोक्ष कैसा है? वह बताते हैं।

आत्मा सहज ज्ञानानन्दस्वरूपी है। जिसप्रकार सरोवर में कमल सहज खिलते हैं, उसीप्रकार आत्मा में ज्ञानानन्दस्वरूपी कमल सहज खिलते हैं। सभीप्रकार के विघ्न-बाधाओं से रहित सहज ज्ञानानन्दस्वभाव है। संयोग, निमित्त अथवा पुण्य-पापादि के कारण आनन्द की प्राप्ति नहीं होती। व्यवहाररत्नत्रय से भी निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती। स्वाभाविक ज्ञान और आनन्द की मुद्रा से युक्त निर्वाणपद की प्राप्ति शुद्धोपयोग से ही होती है।

निर्वाणपद बाह्य अथवा सिद्धशिला में नहीं है। जिसप्रकार व्यापार में निश्चित माल की निश्चित छाप होती है, उसीप्रकार निर्वाण का ट्रेडमार्क (छाप) ज्ञान और आनन्द है। ऐसी दशा शुद्धोपयोगी को ही प्राप्त होती है। एकबार निर्वाण की प्राप्ति होने पर भगवान भक्तों की सहायता के लिए संसार में नहीं आते।

● व्यवहार रत्नत्रयरूप शुभपरिणाम मनोरथ करने योग्य नहीं है ।

संसारी जीवों को वस्तुस्वरूप की जानकारी नहीं है । कोई व्यक्ति चोरी का माल सस्ते में खरीदकर अपने घर में रख ले और पुलिस को पता चले तो माल और रूपया दोनों की हानि होती है, सरकार जेल में भी डाल देती है, अतः सस्ता समझकर चोरी का माल नहीं लेना चाहिए अन्यथा विपरीत परिणाम भुगतना पड़ता है; उसीप्रकार अज्ञानी जीव सस्ते में ही धर्म करना चाहते हैं । दया-पालन, पुण्य आदि में ही धर्म मानते हैं; किन्तु यह स्वयं की हानि है ।

शरीरादि की क्रिया और विकार पर हैं मेरे घर के नहीं, फिर भी यह जीव उन्हें अपना मानकर स्वतः ही मिथ्यात्व की गाँठ पक्की करता है । शुभाशुभभावों की भावना व्यर्थ है, इससे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती । स्वभाव में स्थिरता न हो तब शुभभाव उत्पन्न होते हैं, यह बात भिन्न है; किन्तु उसका मनोरथ करने योग्य नहीं है ।

जिसप्रकार कोई हल्की चीज हवा के झोंके से उड़ जाती है, उसीप्रकार पुण्य-पाप के मैदान में आत्मा उड़ जाता है अर्थात् परिभ्रमण करता है । कितने ही अज्ञानी जीव कहते हैं कि ओम् का जाप करो, माला जाप करो इससे संयोग की प्राप्ति होगी । अरे भाई ! यह सब झूठे मनोरथ हैं; अतः व्यवहार, राग और पंच महाव्रत की भावना भानेयोग्य नहीं है ।

समस्त पदार्थों में एक शुद्धोपयोग ही सर्व मनोरथ का स्थान है, वह अभिनन्दन का पात्र है ।

लौकिक में किसी बड़े सेठ ने खूब दानादि दिया हो तो समाज उसे अभिनन्दन पत्र अर्पण करती है, उसकी प्रशंसा करती है; उसीप्रकार आचार्य भगवान् शुद्धोपयोग का अभिनन्दन करते हैं, प्रशंसा करते हैं ।

वे पुण्य-पापादि से रहित, चिदानन्द शुद्धस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान से युक्त अन्तर रमणता करनेवाले शुद्ध जीवों को सर्व मनोरथ के स्थान रूप अभिनन्दते हैं ।

अन्तर में शुभभाव उत्पन्न होते हैं, किन्तु वे उसका अभिनन्दन नहीं

करते । विकल्पादि तो उत्पन्न होते ही हैं; किन्तु फिर भी वे निमित्त तथा शुभभावों की भावना का आदर नहीं करते । देव-शास्त्र-गुरु की भावना का भी अभिनन्दन नहीं करते हैं ।

वे तो परपदार्थ और विकल्पादि से रहित चिदानन्दस्वरूपी आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान और रमणतारूप शुद्धोपयोग को ही अभिनन्दते हैं । शुद्धोपयोग पर्याय है, किन्तु वह आत्मा के आश्रय से प्रगट होती है; इसलिये शुद्धपर्याय की भावना में शुद्धस्वभाव की भावना आ जाती है । वास्तव में शुद्धोपयोग ही मोक्षमार्ग अथवा मुनिपना है । इससे ही केवलदर्शन और केवलज्ञान प्रगट होता है, निर्वाणपद की प्राप्ति होती है और सिद्धदशा कायमस्वरूपी रहती है; अतः दुनिया में अभिनन्दन की प्राप्ति करना हो तो शुद्धोपयोग की ही भावना करना चाहिये; क्योंकि एक शुद्धोपयोग ही अभिनन्दन का पात्र है । हमें भी शुद्धोपयोग का अभिनन्दन करना चाहिए ।

● पुण्य-पाप में एकाग्रता बंधमार्ग है और ज्ञानस्वभाव में एकाग्रता मोक्षमार्ग है ।

आत्मा की सिद्धि का साधन एक ज्ञानस्वभाव ही है । पुण्य-पापरूप विकारी भाव मोक्षमार्ग का साधन नहीं है, बंध का कारण है । ज्ञानस्वभाव में एकाग्रता ही मोक्ष का साधनतत्त्व है, सर्व मनोरथ के स्थानभूत है । चैतन्यस्वभाव में एकाग्रता से ही सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूपी मोक्षमार्ग प्राप्त होता है । शुक्लध्यान, केवलज्ञान और निर्वाणपद/सिद्धदशा की प्राप्ति भी इसी के माध्यम से होती है ।

संसारी जीव राग-द्वेष परिणाम, खान-पान, व्यापारादि में अनेक प्रकार से एकाग्र दिखाई देता है । अरे भाई ! हिंसा, झूठ, चोरी आदि भावों में एकाग्रता पाप की एकाग्रता है । दया-दान-यात्रा आदि में एकाग्रता पुण्य की एकाग्रता है तथा आत्मस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान-पूर्वक आत्मा में ही रमणता शुद्धता की एकाग्रता है, इसे ही शुद्धोपयोग कहते हैं ।

आत्मा शुद्धवस्तु है। शरीर, मन, वाणी बाह्य हैं। पुण्य-पाप के भाव विकार हैं, वे आत्मा का मूलस्वभाव नहीं है। आत्मा का मूलस्वभाव जानना-देखना है। पुण्य-पाप में एकाग्रता बंधमार्ग है। जानने-देखने का स्वभाव एकाग्रतारूप मोक्षमार्ग अर्थात् शुद्धोपयोग है; अतः शुद्धोपयोग ही अभिनन्दन का पात्र है।

● बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा हूँ ऐसे तीन प्रकार के आत्मा का स्वरूप हूँ

(क) जो जीव शरीर, मन, वाणी तथा उनकी क्रियाओं का कर्ता आत्मा को मानता है, वह अज्ञानी है। इससे आत्मा को कुछ लाभ नहीं होता। चैतन्यस्वभाव से चूककर जो पुण्य-पापादि विभावभावों में एकाग्र होता है, वह बहिरात्मा है।

(ख) शरीर, मन, वाणी, पुण्य, पाप मैं नहीं हूँ। मैं तो ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ हूँ ऐसी श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक जो ज्ञानस्वभाव में एकाग्र होता है, वह साधक जीव अन्तरात्मा है। यह एकाग्रता ही शुद्धोपयोग और साधुपद की द्योतक है।

(ग) ज्ञानस्वभाव में एकाग्र होने पर पूर्ण विकासरूप केवलज्ञानादि अनन्तगुण प्रकट होते हैं, वह परमात्मावस्था है। वहाँ पूर्णता प्रगट हो गई है, अब उन्हें एकाग्रता नहीं करनी पड़ती।

● पुण्य-पाप के भाव डाँवाडोल होते हैं, अतः उनमें एकाग्रता करना अशुद्धता है।

आजतक संसारी जीवों ने मुख्य बात ध्यान में नहीं ली है। मुख्य बात को ध्यान में लिये बिना एकाग्रता नहीं हो सकती। अज्ञानी जीव बाह्य पदार्थ रूपया-पैसा आदि को अपना मानकर अशुद्धता में एकाग्रता करता है। स्वभाव को भूलकर पुण्य-पाप में रूकना धर्म नहीं है। पुण्यस्थान से मनोरथ अथवा शांति की प्राप्ति नहीं होती। पुण्य-पाप के भाव अस्थिर है। एक के बाद एक नवीन उत्पन्न होते हैं। ये भाव झूले के समान अस्थिरतास्वरूप हैं, इनमें कभी भी स्थिरता नहीं आ सकती; अतः अशुद्ध परिणाम संसार का कारण है।

(१) ज्ञानस्वभाव नित्य स्थिर है, उसमें एकाग्रता करने से शुद्धता प्रगट होती है, यही मोक्षमार्ग है।

आत्मा ज्ञानस्वभावी है। उसे जानने-देखने के लिये इन्द्रिय-मन की आवश्यकता नहीं है। देह, मन, वाणी, इन्द्रिय, पुण्य, पाप आदि से रहित मात्र जानने-देखनेरूप मेरा स्वभाव है, उसमें एकाग्रता करने पर सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र प्रगट होते हैं। यही सर्व मनोरथ का स्थान है। पवित्र पर्याय प्रगट करने का स्थान है। पूर्ण मोक्षदशारूप अन्तरस्वभाव के आश्रय को जो साधते हैं साधु हैं। जानने-देखने रूप स्वभाव आत्मा का तत्त्व है, सत्त्व है। ज्ञान में एकाग्रता ही साक्षात् मोक्षमार्ग है।

(२) शुद्धोपयोग से केवलदर्शन और केवलज्ञान प्रगट होते हैं।

मैं त्रिकाली शुद्ध आत्मा हूँ। मेरा तत्त्व पर से भिन्न है। ज्ञानस्वभावी ध्रुवतत्त्व में एकाग्र होने पर शुद्धता प्रगट होती है, केवलदर्शन और केवलज्ञान प्रगट होता है। अनन्त पदार्थों को एक समय में अभेदरूप से देखनेवाला केवलदर्शन है तथा उसीसमय समस्त पदार्थों को भेदपूर्वक जाननेवाला केवलज्ञान है।

केवलज्ञान अपने ज्ञानस्वभाव में एकाग्र होने पर प्रगट होता है, पुण्य-पाप अथवा महाव्रत के परिणामों से प्रगट नहीं होता। जो स्वयं को जाननेवाला है, वह किसे नहीं जानेगा?

वह जीव सम्पूर्ण पदार्थों को जानता है। यह सम्पूर्णज्ञान अपने आत्मस्वभाव में से आता है। ॐ का जाप करें, ध्यान करें, तीर्थकर का लक्ष करें तो केवलज्ञान प्रगट नहीं होता। किसी गुरु अथवा भगवान की कृपा से भी केवलज्ञान प्रगट नहीं होता; अपितु शुद्धोपयोग से केवलज्ञान प्रगट होता है।

(३) शुद्धोपयोग से ही ज्ञान और आनन्द की छापवाला निर्वाणपद प्राप्त होता है।

निर्वाण अर्थात् शीतलीभूतदशा। पुण्य-पाप के भाव कषायाग्नि है। कषायरहित आत्मा की शांति प्रगट करना अनाकुलदशा है। केवलज्ञान

और केवलदर्शन प्रगट होने पर ज्ञान और आनन्द की छापवाला निर्वाण प्रगट होता है। निर्वाण प्राप्त होने पर पुनः संसार में जन्म नहीं लेना पड़ता। अनाकुल, शांत, उपशम रस से परिपूर्ण, निर्विघ्न खिले हुए ज्ञान और आनन्द की प्राप्ति निर्वाणपद में होती है।

स्वभाव में जो आनन्द है, वह शक्तिरूप में व्याप्त है। जिसप्रकार लेंडीपीपर का ६४ पुटी तीखापन उसके अन्तरंग में व्याप्त है और पश्चात् बाहर में प्रगट होता है, उसीप्रकार खिले हुए गुलाब की कली के समान ज्ञान और आनन्द की शक्ति अन्तर से प्रगट होती है। वह ज्ञानदशा किसी निमित्त अथवा पुण्य-पाप के आधार से विकसित नहीं हुई है, वह तो स्वयं निर्विघ्न रूप से खिली है।

केवली भगवान् सम्पूर्ण लोकालोक को जानते हैं; अतः उन्हें आनन्द की प्राप्ति होती है वह ऐसा नहीं है; अपितु वह आनन्द स्वयं से प्रगट होता है। मुक्ति की प्राप्ति हो; किन्तु पूर्ण आनन्द प्राप्त ना हो तो वह मुक्ति नहीं है। मुक्ति के साथ ही पूर्ण परमानन्ददशा का अनुभव होता है वह ऐसे ज्ञान और आनन्द की छापवाला निर्वाणपद शुद्धोपयोगी को ही प्राप्त होता है, अतः शुद्धोपयोगी की पहिचान करना चाहिये। इसके अतिरिक्त अन्य कोई मोक्षमार्ग नहीं है।

लाखों शास्त्र पढ़े, योगादि क्रिया करें, फिर भी निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती, अतः ज्ञान और आनन्द की छापवाले निर्वाण पद की प्राप्ति के लिए शुद्ध निज आत्मस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र्य से शुद्धोपयोग प्रगट करो।
(४) शुद्धोपयोग से नित्य परमानन्दरूप सिद्धदशा की प्राप्ति होती है।

निर्वाणदशा प्राप्त होने पर वह यथावत् बनी रहती है। सिद्धदशा कृतकृत्यदशा है, वह शुद्धोपयोग से ही प्राप्त होती है। वह सिद्धदशा कैसी है?

सिद्धदशा टंकोत्कीर्ण अर्थात् चैतन्यस्वभाव की एकाग्रतारूप टाँकी से टंकित है, वह बाह्य पुण्य, निमित्त, संयोगादि की सहायता से प्रगट नहीं हुई है, अपितु अपने चैतन्यस्वभाव के आश्रय से सहज प्रगट हुई है। यह सिद्धदशा परमानन्दरूप है। सिद्धदशा में विकार अथवा संयोगों का

अनुभव नहीं है। अपरिमित आनन्द को अनुभवते हैं वह ऐसी सिद्धदशा का अनुभव शुद्धोपयोगी को ही होता है।

● समस्त पवित्रदशायें शुद्धोपयोग से ही प्रगट होती है, अतः शुद्धोपयोग का ही मनोरथ करना चाहिए।

हमें देश को सुधारना चाहिए वह ऐसा अज्ञानी कहता है। अरे भाई! देश को सुधारना या बिगाड़ना तुम्हारे हाथ में नहीं है। देश मेरा है और मैं उसे सुधार या बिगाड़ सकता हूँ वह ये मान्यता भ्रम है, पाखण्ड है। जब स्वयं के शरीर की अवस्था को ही सुधारने में मैं स्वयं समर्थ नहीं हूँ तो फिर बाह्यपदार्थों में सुधार कैसे कर सकता हूँ? ऐसे विकल्पों से स्वयं की एकाग्रतारूप शांति नष्ट होती है।

स्वयं को शुभाशुभभाव होते हैं वह यह बात अलग है; किन्तु इससे शांति या आनन्द प्रगट नहीं होते। परमानन्दरूप सिद्धदशा मनुष्य देह, उत्तम संहनन, चतुर्थकाल या किसी के आशीर्वाद से प्राप्त नहीं होती; अपितु शुद्धोपयोग से ही प्रगट होती है।

आत्मा त्रिकाल सत् है, उसके आधार से पवित्रता, मुनिपना प्रगट होता है। निर्वाण होने पर पुनः संसारदशा नहीं होती। सिद्धदशा होने पर प्रति समय नवीन पर्यायों में आनन्द प्रगट होता है, अतः शुद्धोपयोग ही मनोरथ करनेयोग्य है। अन्य कुछ भी मनोरथ करनेयोग्य नहीं है।

अज्ञानी जीव मानता है कि यात्रा आदि शुभभाव करने से मोक्ष प्रगट होता है; किन्तु भाई ! यात्रा आदि राग हैं। मैं पर का कार्य नहीं करता तथा पर से मेरी पर्याय प्रगट नहीं होती। अज्ञानी भी स्वयं की भूत-वर्तमान और भविष्य की पर्याय सहित अन्वयरूप से रहनेवाला ध्रुव पदार्थ है।

कोई एक पदार्थ किसी अन्य पदार्थ की पर्याय को फेरने में समर्थ नहीं है। समस्त शास्त्रों का एक ही सार है कि अन्तरस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता करो तो समकित की प्राप्ति होगी, चारित्र्य प्राप्त होगा, मोक्षमार्ग प्रगट होकर केवलज्ञान प्रगट होगा; फिर निर्वाणपद प्राप्त होकर सिद्धदशा में अनंतकाल तक यथावत् रहोगे।

● शुद्धस्वभाव में ही श्रद्धा, ज्ञान, रमणता करने पर संसाररूपी पंक्ति का नाश होता है।

ज्ञानस्वभाव की एकाग्रता से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। बाह्य ग्रहादि केवलज्ञान को नहीं रोकते। देह की क्रिया, पुण्य-पापादि विकारी भावों से धर्म मानना मिट्टी के ढेलेसमान है। इससे कभी भी सुख की प्राप्ति नहीं होती।

हे जीव ! यदि तुझे दुःख का अभाव कर सुख की प्राप्ति करना हो तो विपरीत मान्यतारूपी गाँठ को तोड़कर चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान कर तो अवश्य सिद्धदशा प्रगट होगी। यही निर्विघ्न सिद्धदशा है, अतः शुद्धोपयोग का ही पुरुषार्थ करना चाहिये।

● सर्व मनोरथ के स्थानभूत शुद्धोपयोग को भावनमस्कार हो।

अब, आचार्यदेव कहते हैं। वचनविस्तार से बस होओ। सर्व मनोरथ के स्थानभूत, मोक्षतत्त्व का साधनतत्त्व शुद्धोपयोग है। शुद्धोपयोग से समस्त मनोरथ सिद्ध होते हैं। जिसप्रकार योग्य काली भूमि में भिन्न-भिन्न जातियों के फलों की प्राप्ति होती है, उसीप्रकार शुद्धोपयोग से साधुपद, केवलदर्शन-केवलज्ञान, निर्वाण तथा सिद्धदशा की प्राप्ति होती है ह इसलिये ऐसे शुद्धोपयोग को भावनमस्कार हो।

प्रश्न ह्व भावनमस्कार कैसा है?

उत्तर ह्व भावक अर्थात् भावनमस्कार करनेवाला वह अंग (अंश) है और भाव्य अर्थात् भावनमस्कार करनेयोग्य पदार्थ वह अंगी (अंशी) है, इसलिये भावनमस्कार में भावक तथा भाव्य स्वयं ही है। भावक स्वयं और भाव्य पर ऐसा नहीं है।

अरहन्त भगवान नमस्कार करनेयोग्य और मैं नमस्कार करनेवाला ह्व ऐसा नहीं है। मेरा त्रिकाली शुद्धस्वभाव भाव्य और मेरी शुद्धपर्याय भावक ह्व ऐसे त्रिकाली स्वभाव तथा पर्याय के भेद का राग अर्थात् भाव्य-भावक के भेद का राग भी पर है।

आत्मा स्व है और राग का उत्पन्न होना पर है, अतः स्व-पर के भेद का नाश करके अर्थात् स्वयं शुद्धोपयोग में स्थिर होने पर किसीप्रकार का राग उत्पन्न नहीं होता।

मेरी पर्याय मुझ स्वयं में निर्विघ्न रूप से स्थिर है। पर्याय द्रव्य के साथ अभेद है। इसप्रकार आचार्य भगवान शुद्धोपयोग को भावनमस्कार करते हैं।

● शुद्धोपयोग का मनोरथ करनेयोग्य है, संयोग तथा पुण्य का मनोरथ करनेयोग्य नहीं है।

“..... सर्व मनोरथ के स्थानभूत, मोक्षतत्त्व के साधन तत्त्व रूप, ‘शुद्ध’ को, जिसमें परस्पर अंग-अंगीरूप से परिणमित भावक-भाव्यता के कारण स्व-पर का विभाव अस्त हुआ है ह्व ऐसा भाव नमस्कार हो।”

मोक्षमार्ग शुद्धोपयोगरूप है। वह सर्वमनोरथ का स्थान मात्र है। यह आत्मा शुद्धस्वभावी है, उसका श्रद्धान-ज्ञान और रमणता मोक्षमार्ग है। आत्मवस्तु सत् है, उसका स्वभाव निर्मल ज्ञानानन्दरूप है। विकारादि अवस्था में होते हैं, वे क्षणिक हैं। विकार का लक्ष छोड़कर स्वभाव-सन्मुख दृष्टि करके एकाग्रता करे तो साधुपद अथवा मोक्षमार्ग प्रगट होता है।

केवलदर्शन, केवलज्ञान, अनंतसुख तथा अनंतवीर्य की प्राप्ति का और सादि-अनंतकाल तक सहज परिपूर्ण आनन्ददशारूप रहने का कारण शुद्धोपयोग ही है। शुद्धोपयोग ही सभी मनोरथों का स्थान है।

रुपया-पैसा, पुण्य, स्वर्गादि की भावना सच्चा मनोरथ नहीं है ह्व ये समस्त मनोरथ दुःखदायक हैं। परपदार्थों की भावना तो अंगारे को हाथ में लेने के समान है। पर, पुण्य तथा स्वर्गादि का मनोरथ करनेवाला चौरासी के अवतार में ही परिभ्रमण करता है। जीव का मनोरथ एक शुद्धोपयोग है और उस शुद्धोपयोग को यहाँ भावनमस्कार किया है।

● शुद्धोपयोग शुद्धात्मा के लक्ष से प्रगट होता है, निमित्त अथवा विकारी पर्यायों से नहीं।

नमस्कार करनेयोग्य अंगी सम्पूर्ण द्रव्य है तथा नमस्कार करनेवाली पर्याय है, अतः वस्तुस्वरूप को दोनों दृष्टि से जानना चाहिए। प्रयोजनभूत का मेल करके अप्रयोजनभूत को दूर करना ही सारभूत तत्त्व है।

प्रयोजन = विशेष उद्देश्य। आत्मा का कल्याण ही जीव के लिए प्रयोजनभूत है। आत्मा की पर्याय अखण्ड आत्मा का अवलंबन लेवे तो उसमें स्थिरता प्रगट होती है, किन्तु विकल्प, निमित्त अथवा पर्याय के लक्ष से स्थिरता प्राप्त नहीं होती। स्थिरता अथवा राग-द्वेष की अवस्था का व्यय-उत्पाद निरन्तर चलता रहता है।

प्रश्न हूँ जिस अवस्था का व्यय होता है, क्या नवीन पर्याय उसमें से उत्पन्न होती है? अभाव में से सद्भाव होता है?

समाधान हूँ नहीं! नवीन पर्याय का कारण द्रव्य स्वयं है, इसका अज्ञानी जीव को भान नहीं है। जैसे किसी के द्वारा कही गई कोई बात सुनने पर ख्याल में नहीं आती, किन्तु बाद में समझ आती है। यहाँ, समझने की नवीन पर्याय, पुरानी पर्याय में से उत्पन्न नहीं होती। पुरानी पर्याय में से समझने की नवीन पर्याय प्रगट नहीं होती, ध्रुवस्वभाव के अन्तर से पर्याय प्रगट होती है। उत्पाद-व्यय का लक्ष करने से तो राग होता है, क्योंकि यह भेद है, अतः अभेद ध्रुव आत्मा के अवलंबन से ही सम्यग्दर्शन पर्याय प्रगट होती है तथा शुद्धोपयोग भी प्रगट होता है।

● वस्तु किसी न किसी के कारण है हूँ ऐसा नहीं।

वस्तु को परद्रव्य का अवलंबन नहीं है। स्व की अपेक्षा से युक्त वह स्वावलम्बी है। वस्तु किसी काल, क्षेत्र, द्रव्य या भाव के कारण नहीं होती; वह तो त्रिकाल है। कोई ईश्वर वस्तु का कर्ता नहीं है तथा वस्तु किसी दिन विशेष की भी मोहताज नहीं है। वस्तु अनादिअनंत, स्वयंसिद्ध सत् है। अत्यन्त सीधी बात होनेपर भी जीव कहते हैं कि हमें यह बात समझ में नहीं आती। समझ में नहीं आया, यही सन्देह का घर है। संदेह ही आत्मा को समझने नहीं देता है। आत्मा को समझे बिना दया-दान-व्रत-तपादि किये; किन्तु संसार का अंत प्राप्त नहीं हुआ।

वस्तु गुण-पर्याय बिना नहीं होती और गुणपर्याययुक्त वस्तु को जाननेवाला न हो ऐसा नहीं होता।

कोई व्यक्ति कहे कि हमने अपने घर की वास्तुपूजा बहुत धूमधाम से की। उससे कोई पूछे कि वास्तु (घर) कितने में लिया? पूजा में कितने आदमी थे? इसपर वह कहता है कि वास्तुपूजा करते हुए आदमी भी नहीं थे और घर भी नहीं था। अरे भाई ! तुम स्वयं थे या नहीं? तो वह कहता है, मैं स्वयं भी नहीं था।

देखो ! स्वयं उपस्थित नहीं था। आदमी और घर भी नहीं था तो वास्तुपूजा कैसी? धूमधाम कैसी? यह समस्त बात झूठी है, क्योंकि मकान, मकान को जाननेवाले लोग और तुम्हारे स्वयं के बिना वास्तुपूजा कैसे हो सकती है? उसीप्रकार आत्मा है हूँ कोई ऐसा कहे, किन्तु उसमें कौन रहता है? उसे जाने बिना और जानने वाला मैं स्वयं हूँ, यह समझे बिना 'मुझे आत्मा समझ में आया' हूँ ऐसा कहें तो यह बात झूठी है।

(१) आत्मा कहने के पश्चात् उसके गुण-पर्यायों में मैं नहीं हूँ ऐसा कहना यह बात झूठी है।

(२) आत्मा में गुण-पर्याय हैं, किन्तु मैं उसे नहीं जानता हूँ ऐसा कहना भी झूठा है।

(३) आत्मवस्तु गुण-पर्याय से रहित है हूँ ऐसा कहनेवाला व्यक्ति भी आत्मा को नहीं जानता तथा आत्मा गुण-पर्यायवाला है; किन्तु मैं उसे जानता नहीं हूँ हूँ ऐसा कहनेवाला व्यक्ति भी आत्मा को नहीं जानता।

● अनंतशक्तियों का भण्डार आत्मा समस्त शक्तियों एवं पर्याय को जाननेवाला स्वयं है।

आत्मवस्तु अनंतशक्तियों का भण्डार है। वस्तु एवं स्वभाव दोनों ही कायमस्वरूपी है। जितना विकास करना चाहे, उतना विकास होता है। आत्मा में अनन्त गुण-पर्याय निवास करते हैं और आत्मा उसे यथार्थ जानता है। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, स्वच्छत्व, प्रभुत्व, विभुत्व आदि अनंत शक्तियाँ आत्मा में व्याप्त हैं।

- (१) कर्ता शक्ति मुझमें विद्यमान है, मेरी निर्मलता का कर्ता मैं स्वयं हूँ।
 (२) कर्म शक्ति मुझमें विद्यमान है, अतः निर्मलतारूप कर्म मैं स्वयं हूँ।
 (३) करणशक्ति के कारण अपनी निर्मलता का साधन भी मैं स्वयं हूँ।
 (४) सम्प्रदानशक्ति स्वयं की होने से अपनी निर्मलता का दान मैं स्वयं को देता हूँ।

(५) अपादान शक्ति स्वयं में विद्यमान होने से पूर्व की मलिन अवस्था का नाश करके, निर्मल अवस्था की प्राप्तिरूप मैं स्वयं ही ध्रुव हूँ।

(६) आधारशक्ति के कारण अपनी निर्मलता का आधार मैं स्वयं हूँ।
 ऐसी अनंतशक्तियों का पिण्ड आत्मा मैं स्वयं हूँ, उसमें विद्यमान ज्ञान गुण के कारण वह अनन्त शक्तियों तथा पर्याय को जानता है।

● पर्याय निर्विकल्प रूप से द्रव्य में अभेद होती है, यही भावनमस्कार है। शुद्धोपयोग को भी भावनमस्कार है।

आत्मा को गुण-पर्यायों से युक्त जानकर प्रतीति करे, उसमें ही लीनता करे तो स्वयं के कार्य की सिद्धि अथवा मनोरथ पूर्ण होता है। यदि ज्ञान पुण्य-पापादि विकल्प और निमित्तों में अटक जाये तो मनोरथ की सिद्धि नहीं होती, अतः सर्व मनोरथ के स्थानभूत, मोक्षतत्त्व के साधनरूप शुद्धोपयोग को भावनमस्कार किया है।

● कैसा है भावनमस्कार?

जिसमें से परस्पर अंग-अंगीरूप, भावक-भाव्यपना के कारण स्व-पर का विभाग अस्त हो गया है। अरहन्त भगवान नमस्कार करनेयोग्य और मैं नमस्कार करनेवाला ऐसी भेदरूपता की बात अस्त हो गई है। मैं स्वयं त्रिकालवस्तु हूँ और वह पर्याय नमस्कार करनेवाली है। द्रव्य अंगी और पर्याय अंग है। द्रव्य तथा पर्याय के भेद का विकल्प निर्विकल्प शुद्धोपयोग में ठहरता नहीं है; क्योंकि शुद्धोपयोग की पर्याय द्रव्य में अभेद होती है ह्व ऐसे निर्विकल्परूप शुद्धोपयोग को भावनमस्कार किया है, यही सच्ची वस्तु है।

अब, (भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव) शिष्यजन को शास्त्र के फल के साथ जोड़ते हुए शास्त्र समाप्त करते हैं :ह

गाथा २७५ की उत्थानिका पर प्रवचन

प्रवचन के सार को यथार्थ समझनेवाले शिष्य को यथार्थ फल की प्राप्ति होती है, यह बताते हैं।

अब, आचार्य कुन्दकुन्ददेव शिष्यजन को शास्त्र के फल के साथ जोड़ते हुए शास्त्र समाप्त करते हैं। यहाँ, आचार्यदेव कहते हैं कि हमने प्रवचनसार की इन २७५ गाथाओं में जो तत्त्व कहा है, उसे शिष्य यथार्थ ग्रहण करें तो उन्हें यथार्थ फल की प्राप्ति होती है।

आचार्य भगवान को शास्त्र लिखने का विकल्प उत्पन्न हुआ और उनके समक्ष योग्य शिष्य उपस्थित ना हो ऐसा नहीं होता। शास्त्र का सार अच्छी तरह से समझकर उसका फल शिष्य को अवश्य प्राप्त होता है ह्व ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। जिसका स्वरूप यहाँ बताते हैं।

प्रवचनसार गाथा २७५

बसुज्झदि सासणमेयं सागारणगारचरियया जुत्तो।

जो सो पवयणसारं लहुणा कालेण पप्पोदि॥२७५॥

(हरिगीत)

जो श्रमण-श्रावक जानते जिनवचन के इस सार को।

वे प्राप्त करते शीघ्र ही निज आत्मा के सार को॥२७५॥

अन्वयार्थ :ह्व [यः] जो [साकारानाकारचर्यया युक्तः] साकार-अनाकार चर्या से युक्त वर्तता हुआ [एतत्शासनं] इस उपदेश को [बुध्यते] जानता है, [सः] वह [लघुना कालेन] अल्पकाल में ही [प्रवचनसारं] प्रवचन के सार को (भगवान आत्मा को) [प्राप्नोति] पाता है।

टीका :ह्व सुविशुद्धज्ञानदर्शनमात्र^१ स्वरूप में अवस्थित परिणति में लगा होने से साकार-अनाकार चर्या से युक्त वर्तता हुआ, जो शिष्यवर्ग

१. आत्मा का स्वरूप मात्र सुविशुद्ध ज्ञान और दर्शन है। (इसमें ज्ञान साकार है और दर्शन अनाकार है।)

स्वयं समस्त शास्त्रों के अर्थों के विस्तारसंक्षेपात्मक^१ श्रुतज्ञानोपयोगपूर्वक प्रभाव द्वारा केवल आत्मा को अनुभवता हुआ, इस उपदेश को जानता है, वह वास्तव में भूतार्थस्वसंवेद्य-दिव्य^२ ज्ञानानन्द जिसका स्वभाव है, पूर्वकाल में कभी जिसका अनुभव नहीं किया, ऐसे भगवान् आत्मा को प्राप्त करता है हू जो कि (जो आत्मा) तीनों काल के निरवधि प्रवाह में स्थायी होने से सकल पदार्थों^३ के समूहात्मक प्रवचन का सारभूत है।

गाथा २७५ पर प्रवचन

प्रवचनसार को समझनेवाले शिष्यवर्ग कैसे हैं? यह बताते हैं।

“सुविशुद्धज्ञानदर्शन मात्र स्वरूप में अवस्थित परिणति में लगा होने से साकार-अनाकार चर्या से युक्त वर्तता हुआ।....”

आत्मा का स्वरूप सुविशुद्ध ज्ञान-दर्शन है। इसमें ज्ञान साकार और दर्शन अनाकार है। शिष्यवर्ग स्वभाव परिणति में अर्थात् परम वीतरागी दशा की प्राप्ति में लीन है। शिष्यवर्ग शरीर, मन, वाणी, पुण्य-पाप आदि क्रियाओं में न लगकर तीर्थकर की वाणी का सार समझकर ज्ञान-दर्शन और चारित्र में वर्तन करते हैं।

जिसप्रकार भोजन बनाने से पहले कोई भी वस्तु बाजार से खरीदकर लाते हैं; किन्तु खाते समय उसका मूल्य ध्यान में न लाकर मात्र पदार्थ का अनुभव करते हैं, उसीप्रकार प्रथम भगवान की वाणी समझकर उस वाणी का सार यहाँ बताया है, अतः तीर्थकर की वाणी का लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञान-स्वभाव की एकाग्रता में लगना चाहिए।

समस्त पदार्थों का भेदरहित सामान्य अवलोकन अनाकार उपयोग है तथा समस्त पदार्थों को भेद-प्रभेद सहित जानना साकार उपयोग है।

१. विस्तारसंक्षेपात्मक = विस्तारात्मक या संक्षेपात्मक।

२. भूतार्थ पारमार्थिक हू (सत्यार्थ) स्वसंवेद्य और दिव्य ऐसे जो ज्ञान और आनन्द वह भगवान् आत्मा का स्वभाव है।

३. प्रवचन सकल पदार्थों के समूह का प्रतिपादन करता है, इसलिये उसे सकल पदार्थों का समूहात्मक कहा है। (निज शुद्धात्मा प्रवचन का सारभूत है, क्योंकि प्रवचन जो सर्वपदार्थसमूह का प्रतिपादन करता है, उसमें एक निजात्मपदार्थ ही स्वयं को ध्रुव है, दूसरा कोई पदार्थ स्वयं को ध्रुव नहीं।)

इसप्रकार ज्ञानी जीव साकार-अनाकार चर्या से युक्त है। वे दया-दान, वैयावृत्ति आदि के भावों को जानते हैं; किन्तु उसमें लीन नहीं हैं। एक शुद्धोपयोग ही लीनता का परमश्रेष्ठ स्थान है।

● समस्त शास्त्रों के भाव को जानते हुए शुद्धात्मा का अनुभव करते हुए शिष्यवर्ग उपदेश को समझता है।

प्रश्न हू कैसा है शिष्यवर्ग?

“..... जो शिष्यवर्ग स्वयं समस्त शास्त्रों के अर्थों के विस्तारसंक्षेपात्मक श्रुतज्ञानोपयोगपूर्वक प्रभाव द्वारा केवल आत्मा को अनुभवता हुआ, इस उपदेश को जानता है।....”

उत्तर हू समस्त शिष्यवर्ग शास्त्र के भाव को विस्तार अथवा संक्षेप में अपने श्रुतज्ञान में धारण करते हैं। ज्ञान के कम-अधिकपने की बात यहाँ गौण है; किन्तु ज्ञान आत्मा में लगा है, यह बात मुख्य है।

समस्त शास्त्रों में जो कहा है, उसका भाव भावश्रुतज्ञान में आ गया। पश्चात् किसी शिष्य ने विस्तारपूर्वक अथवा संक्षेप में उसका सारांश अपने मन में ग्रहण कर स्वयं ने भावश्रुतज्ञान प्रगट किया है। समस्त शास्त्रों के सार को जाना है। उसमें चार अनुयोग का सार सम्मिलित है।

द्रव्यानुयोग के शास्त्र उपादानशक्ति की मुख्यता से वर्णन करते हैं। चरणानुयोग के शास्त्र निमित्त तथा शुभभावों की प्रधानता से वर्णन करते हैं। करणानुयोग के शास्त्र सूक्ष्म परिणामों की प्रधानता से कथन करते हैं और प्रथमानुयोग के शास्त्र महानपुरुषों के जीवनचरित्र की प्रधानता से कथन करते हैं।

इन समस्त अनुयोगों का सार उन्होंने जाना है। चारों अनुयोग का ध्येयमात्र एक शुद्ध आत्मा है हू ऐसे भावपूर्वक शिष्य ने ज्ञान-दर्शन में ही रमणता की है। समस्त शास्त्रों का सार वीतरागता है और वे समस्त शास्त्रों के सार को जानते हैं।

पंचास्तिकाय में दो प्रकार के तात्पर्य कहे हैं हू १. सूत्रतात्पर्य २. शास्त्र तात्पर्य।

(१) प्रत्येक गाथा का यथार्थ अर्थ जानना सूत्रतात्पर्य है और सम्पूर्ण

शास्त्र का सारांश जानना शास्त्रतात्पर्य है।

यहाँ भी समस्त शिष्यवर्ग सम्पूर्ण शास्त्रों को विस्तार अथवा संक्षेपपूर्वक जानते हुए मात्र आत्मा का अनुभव करते हैं। आत्मा का अनुभव करना शास्त्रज्ञान करने का तात्पर्य है।

भाई ! इस चरणानुयोग में भी आचार्य भगवान ने यह तात्पर्य बताया है, उनका सम्पूर्ण जोर 'केवल' शब्दपर है। केवल शुद्धात्मा का अनुभव करना है, राग अथवा अन्य पदार्थों का नहीं।

(२) श्रुतज्ञानोपयोगपूर्वक प्रभावयुक्त आत्मा को अनुभवो हूँ ऐसा कहा है; किन्तु भगवान, उनकी वाणी तथा द्रव्यश्रुत के विकल्पों का अनुभव करो हूँ ऐसा नहीं कहा है। पदार्थों के स्वरूप को जानो। अन्तर में भावश्रुतज्ञान प्रगट है, उसके प्रभाव का अनुभव करो। मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान के प्रयोग से आत्मानुभव नहीं होता; किन्तु श्रुतज्ञान के कारण आत्मानुभव होता है।

(३) यहाँ, श्रुतज्ञान के प्रभाव से अनुभवते हैं हूँ ऐसा कहा, क्योंकि चरणानुयोग का अधिकार है। वास्तव में अपने त्रिकाली शुद्धात्मा के प्रभाव से ही जीव आत्मा का अनुभव करता है। श्रुतज्ञान तो पर्याय है। पर्याय के प्रभाव से आत्मानुभव नहीं होता, किन्तु यहाँ चरणानुयोग में भावश्रुतज्ञान की पर्याय पर आरोप किया है, अन्य समस्त निमित्त (भगवान, वाणी, विकल्पादि) को दूर किया है। त्रिकाली शुद्ध आत्मा निश्चय और निर्मल पर्याय व्यवहार है। यहाँ भावश्रुतज्ञान की पर्याय पर आरोप करके श्रुतज्ञान के प्रभाव से आत्मा का अनुभव होता है हूँ ऐसा कहा।

(४) शिष्यवर्ग आत्मा को अनुभवते हुए, इस उपदेश को जानते हैं। हे जीवो! इसमें नवीनता है। जिसे आत्मा का अनुभव हुआ अर्थात् निश्चय प्रगट है हूँ उसका उपदेश समझो, यहाँ ऐसा कहा है। उसके बिना उपदेश समझ में नहीं आता।

प्रश्न हूँ शिष्य उपदेश को समझते हैं, फिर भी उपदेश को जाना कब कहा जाता है?

उत्तर हूँ जब, स्वयं आत्मा का अनुभव करे तो उपदेश को जानते हैं।

यहाँ, प्रथम उपदेश को समझे फिर अनुभव करें हूँ ऐसा नहीं कहा है जो शिष्य आत्मा को जानते हैं, वे ही उपदेश को समझते हैं तथा जो शिष्य वर्ग आत्मा को नहीं जानते, वे उपदेश को समझे हुए होने पर भी उपदेश को जानते नहीं हैं।

वे चार अनुयोग, द्रव्य-गुण-पर्याय का सार अपने ज्ञानोपयोग में लेकर अन्तर में झुके हैं। यहाँ, उपदेश को जानते हैं हूँ ऐसा निमित्त से कहा जाता है। वास्तव में स्वशक्ति के विकास से जाननपना होता है, किन्तु उपदेश को निमित्तरूप कहा जाता है।

● विशुद्ध दर्शन-ज्ञानपूर्वक वीतरागी परिणति की प्रगटता ही प्रवचन का सार है।

हे जीवो ! वस्तुस्वरूप ऐसा ही है। आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-रमणता ही कार्यकारी है। परमात्मा और तुझमें शक्तिरूप से कोई अन्तर नहीं है। एक बार अन्तर से आवाज देकर देख तो सही ! परमात्मा और तुझमें कोई अन्तर है तो वह तेरा स्वयं का दोष है। तेरी विपरीत मान्यता का दोष है।

विशुद्ध ज्ञान-दर्शनस्वरूपी मैं हूँ उसमें लीनता करना ही प्रवचन का सार है। जिसप्रकार छाँछ को बिलोनेरूप सम्पूर्ण क्रिया का सार एक मक्खन की प्राप्ति है, उसीप्रकार शरीर बाह्य में स्थित है, इसके साथ हमारा कोई संबंध नहीं है। पुण्य-पाप के भाव भी दूर करने योग्य हैं। एक मात्र विशुद्ध दर्शन-ज्ञान स्वभाव की प्रतीति, ज्ञान और रमणता ही करने योग्य है। यही प्रवचन का सार है।

जिनमन्दिर बनने के पश्चात् ऊपर स्वर्णकलश विराजमान करते हैं, उसीप्रकार यह अन्तिम गाथा प्रवचनसार पूर्ण होने पर स्वर्णकलश के समान है।

प्रश्न हूँ आप निश्चय की बात को स्वीकार करते हो और व्यवहार की बात को उड़ाते हो हूँ ऐसा क्यों?

उत्तर हूँ व्यवहार अथवा शुभभाव कार्यकारी नहीं हैं। ये सब संसार के लिए हैं। दर्शन-ज्ञानस्वभाव एक ही कार्यकारी है। यहाँ शिष्यवर्ग

बहुत ज्ञानवान है अथवा रागवान है, यह बात नहीं है; किन्तु शिष्यवर्ग केवल आत्मा को अनुभवते हैं और उपदेश को जानते हैं ह्व यह बात कही है। देखो ! चरणानुयोग में भी अन्तिमसार द्रव्यानुयोग का ही है।

यहाँ, शिष्य व्यवहार या शुभभाव करता है ह्व ऐसा नहीं कहा। प्रवचनसार का सार समझनेवाले शिष्य केवल आत्मा को ही अनुभवते हैं तथा उपदेश को भी जानते हैं। कितनी स्पष्ट, सरल और सीधी बात है।

वे शिष्यवर्ग भूतार्थ, स्वसंवेद्य, दिव्यज्ञानानन्दस्वभावी, अपूर्वानुभूत ह्व ऐसे भगवान आत्मा को प्राप्त करते हैं।

“वे शिष्यवर्ग वास्तव में भूतार्थ स्वयंसंवेद्य-दिव्य ज्ञानानन्द जिसका स्वभाव है, पूर्वकाल में कभी जिसका अनुभव नहीं किया, ऐसे भगवान आत्मा को प्राप्त करता है।”

वे शिष्यजन भूतार्थ = सत्यार्थ, स्वसंवेद्य = स्वयं के द्वारा वेदन किया हुआ, दिव्य ज्ञान और आनन्दस्वभावी, जिसका पूर्व में कभी अनुभव नहीं किया हो ह्व ऐसे भगवान आत्मा को अनुभवते हैं।

(१) भगवान आत्मा भूतार्थ है।

भूतार्थ = सत्यार्थ, कायम रहने वाला पदार्थ। आत्मा एक कायमस्वरूपी पदार्थ है, शेष समस्त अपदार्थ हैं। दया-दान-काम-क्रोध आदि भाव अभूतार्थ हैं, कायम रहनेवाले नहीं हैं।

(अ) स्वर्ग के देवादि इन्द्र की सेवा करते हैं, अनेक अप्सरायें इन्द्र की सेवा में उपस्थित रहती हैं, उनमें रति करते हुए इन्द्र सुखी होता है। चक्रवर्ती राजा ९६,००० रानियों के संग सुखी होता है। कोई मनुष्य ५० लाख रुपया प्राप्त होने पर सुखी होता है, किन्तु यह सब अशुभभाव हैं, अभूतार्थ हैं। अपने चैतन्य स्वभाव के अतिरिक्त अन्य पदार्थ में सुख की मान्यता अभूतार्थ है।

(ब) शरीर कमजोर हो, भूख-प्यास के कारण द्वेष पूर्वक दुःख का वेदन हो रहा हो, तब प्रतिकूल संयोग दुःख के कारण नहीं है। शरीर की प्रतिकूलता से मुझे प्रतिकूलता होती है ह्व ऐसी मान्यता दुःखदायी है।

इसप्रकार पर तथा स्वयं को एक मानकर अशुभभावों में अरति के कारण दुःख मानना अभूतार्थ है।

(स) कोई मंदकषायी जीव दया-दानादि के परिणामों में सुख मानता है। शुभभाव आकुलतामय है, फिर भी उसमें निराकुलता का अनुभव करता है। शुभभाव से रहित मेरा स्वभाव सुखस्वरूपी है ह्व ऐसा न मानकर शुभभावों में सुख मानना अभूतार्थपना है।

इसप्रकार अज्ञानी जीव अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को भूलकर अशुभरति, अशुभ अरति, शुभरति इत्यादि में सुख मानता है, किन्तु ये तीनों ही आकुलतामय भाव होने से अभूतार्थ हैं।

संयोगादि, शुभाशुभरति-अरति से रहित अपना शुद्ध ज्ञान-दर्शनमय आत्मा भूतार्थ है, सत्यार्थ है तथा पुण्य-पापरूप आकुलता का वेदन असत्यार्थ स्वरूप संसार है।

(२) भगवान आत्मा स्वसंवेद्य है।

आत्मा स्वयं स्वयं के द्वारा वेदन किया जा सकता है। देव-शास्त्र-गुरु, अन्य निमित्त, व्यवहार रत्नत्रय, शुभभाव आदि से आत्मा का वेदन नहीं हो सकता। आत्मा वचनातीत, मनातीत और विकल्पातीत है।

(३) भगवान आत्मा दिव्य ज्ञानानन्दस्वभावी है।

आत्मा का स्वभाव दिव्य/अचिन्त्य ज्ञान और आनन्दस्वरूप है। ज्ञान समस्त पदार्थों को जानता है, अतः वह अचिन्त्यशक्तिवाला है। आत्मा दिव्य आनन्दस्वरूपी है। अज्ञानी पुण्य के संयोगादि में आनन्द मानता है; किन्तु यह आकुलता है। आत्मा निराकुल परमानन्दमय स्वभाववाला है।

(४) अपूर्वानुभूत भगवान आत्मा को प्राप्त करते हैं।

संसारी जीव ने अनादि संसारदशा में दया-दान-काम-क्रोधादि विकारों का ही अनुभव किया है। आत्मा त्रिकाल शुद्ध है, इस बात को भूलकर विकार का ही अनुभव किया है।

प्रत्येक भव में अज्ञानी की दशा आकुलतायुक्त थी। पर के साथ

एकत्वबुद्धि करने से अशुभरति, अरति और शुभभाव करने से आकुलता का वेदन होता है, अतः अनाकुल शांतदशा का अनुभव नहीं हो पाता। अब, आत्मा का भान हुआ, अतः पूर्ण निराकुलता का अनुभव होता है।

इसप्रकार प्रवचन का सार ग्रहणकर शिष्यवर्ग, सत्यार्थ, स्वसंवेद्य, ज्ञानानन्द स्वभाव से युक्त आत्मा को पाते हैं।

प्रश्न हूँ भगवान जब हमें कुछ नहीं देते तो उनकी भावना क्यों करें?

उत्तर हूँ भाई ! जो स्व स्वरूप को समझकर पूर्ण भगवान हुए हैं, वे पर के कर्ता-हर्ता नहीं हैं। वे किसी को कुछ नहीं देते। उनकी दिव्यध्वनि सहज निकलती है और समझनेवाला सहजतापूर्वक समझ लेता है।

भगवान कहते हैं कि हे भाई ! तुम्हें हमारी कोई आवश्यकता नहीं है, तुम्हारा भगवान तुम्हारे स्वयं में विराजमान है। तुम अपनी शक्ति की ओर देखोगे तो तुम्हें स्वयं का अनुभव होगा। विकार, व्यवहार अथवा निमित्तों से आत्मा जानने में नहीं आता। आत्मा का अनुभव स्वयं से होता है। देव-शास्त्र-गुरु उसमें सहायक नहीं हैं, अतः अपने ज्ञानानन्द-स्वभाव का ही अनुभव करो।

प्रश्न हूँ आत्मा की बात बार-बार करते हो तो पुनरुक्ति दोष नहीं लगता क्या?

समाधान हूँ आत्मा की बारंबार बात करने से पुनरुक्ति दोष नहीं लगता; अपितु ज्ञान की दृढ़ता होती है।

प्रत्येक समय की पर्याय भिन्न-भिन्न है। एक समयवर्ती पर्याय अन्य समय की नहीं और अन्य-समयवर्ती पर्याय पूर्व समयवर्ती नहीं है। आत्मा की बात तो केवलज्ञान होने पर ही पूर्ण होती है।

जिसप्रकार पशु घास खाते हैं और मनुष्य अनाज खाते हैं। देखो ! दोनों को प्रतिदिन एक ही एक वस्तु बारम्बार खाने में प्रमाद नहीं आता। मनुष्य कभी अनाज को छोड़कर घास नहीं खाते हैं। शरीर स्थिरता के निमित्तभूत पदार्थों को खाने में इसे कभी प्रमाद नहीं आता; किन्तु वास्तव में इन पदार्थों के निमित्त से शरीर टिकता नहीं है।

उसीप्रकार आत्मा शुद्ध ज्ञान-दर्शनमय है। यह प्रयोजनभूत बात बारंबार सुनने पर प्रमाद नहीं आना चाहिए। शुद्ध आत्मा की ज्ञान-दर्शनमय परिणति ही बारंबार अनुभव करनेयोग्य है। आत्मा को बारंबार सुनने-समझने में मुमुक्षु को प्रमाद नहीं आता, किन्तु इससे ज्ञान की दृढ़ता होती है, अतः जो शिष्य प्रमादरहित होकर प्रवचन का सार समझते हैं, वे निज ज्ञानानन्द आत्मा का अनुभव करते हैं।

अब, इस शास्त्र को समझने का फल शिष्यवर्ग को अवश्य प्राप्त होता है हूँ ऐसा कहकर शास्त्र पूर्ण करते हैं।

शिष्यवर्ग का स्वरूप हूँ जो आत्मा की शुद्ध परिणति में लीन है। ज्ञान-दर्शनमय चर्या से युक्त हैं। शास्त्रों के भाव को भावश्रुतज्ञान से जानकर आत्मा को अनुभवते हैं, उपदेश के स्वरूप को जानते हैं हूँ ऐसे शिष्य भूतार्थ, स्वसंवेद्य, दिव्य ज्ञानानन्दमय स्वभावयुक्त, पूर्व में अनुभूत नहीं हूँ ऐसे भगवान आत्मा को प्राप्त करते हैं। अनादिकाल से आजतक जीव को अज्ञान और राग का ही अनुभव था, अब निराकुल आनन्ददशा का अनुभव हुआ है।

प्रश्न हूँ भगवान आत्मा की पहिचान किसप्रकार करें?

उत्तर हूँ पुण्य-पाप के भाव आकुलतारूप है। स्व की ओर दृष्टि रखना अनाकुलता है। प्रथमतः वस्तु अचिन्त्य ज्ञानस्वभावी है हूँ ऐसी प्रतीति होना चाहिये।

परद्रव्य का राग छोड़कर स्वद्रव्यमें श्रद्धा-ज्ञान और रमणता करे तो शांति की प्राप्ति होती है। ज्ञानस्वभावी आत्मा स्वतंत्र है, वह दुःखी कैसे होगा? स्वावलम्बी प्राणी दुःखी नहीं हो सकता। परावलम्बी प्राणी दुःखी होता है। स्वावलम्बन और परावलम्बन में अन्तर करे तो स्वरूप स्पष्ट हो।

स्वयं को जानने से ही स्व-स्वरूप की प्राप्ति होती है, अन्य कोई धर्म प्राप्त करानेवाला नहीं है।

● निज शुद्धात्मा स्वयं ध्रुवपदार्थ है, यही प्रवचन का सार है।

जो शिष्यवर्ग प्रवचन का सार ग्रहण कर आत्मा को अनुभवते हैं, वे

दिव्य, ज्ञानानन्द स्वभावी, अपूर्वानुभूत भगवान् आत्मा को प्राप्त करते हैं।

“..... जो (आत्मा) तीनों काल के निरवधि प्रवाह में स्थायी होने से सकल पदार्थों के समूहात्मक प्रवचन का सारभूत है।”

शिष्यवर्गों ने जिस भगवान् आत्मा को प्राप्त किया है। वह भगवान् आत्मा कैसा है?

तीनों काल के अवधिरहित प्रवाह में आत्मा कायमस्वरूपी रहनेवाला पदार्थ है। शरीर, मन, वाणी, कुटुंब, देव, शास्त्र, गुरु कायमस्वरूपी पदार्थ नहीं हैं। काल के निरवधि प्रवाह में उक्त पदार्थ साथ में नहीं रहते। शुभाशुभभाव भी कायमस्वरूपी रहनेवाले नहीं हैं। ये समस्त पदार्थ नश्वर, मर्यादित हैं। संसार के ये समस्त पदार्थ मर्यादित ही है।

अमर्यादित तो स्वयं साथ रहनेवाला एक ध्रुव पदार्थ निज भगवान् आत्मा ही है। प्रवचन (दिव्यध्वनि) सकल पदार्थों के समूह का प्रतिपादन करता है, इसलिये उसे सकल पदार्थों का समूहात्मक कहा है। निज शुद्धात्मा प्रवचन का सारभूत है, क्योंकि सर्वपदार्थसमूह का प्रतिपादन करनेवाले प्रवचन में एक निजात्मपदार्थ ही स्वयं ध्रुवस्वरूपी है, दूसरा कोई पदार्थ ध्रुव नहीं है।

वाणी समस्त पदार्थों को कहती है, अतः समस्त पदार्थों का स्वरूप वाणी में आ जाता है। वाणी में समस्त पदार्थ आ जाने से उन पदार्थों को जाननेवाला ज्ञान भी नित्य वर्तता है। सिद्धभगवान् में द्रव्य, क्षेत्र, काल से परिवर्तन नहीं होता; किन्तु उनकी पर्याय में परिवर्तन होता है। स्वयं के लिए स्वयं का भगवान् आत्मा ही ध्रुव है हूँ ऐसे निज ज्ञानानन्दमय भगवान् आत्मा में स्थिर होकर वीतराग दशारूप परिणति करना ही इस प्रवचनसार का सार है।

इसप्रकार श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य देव प्रणीत श्री प्रवचनसार शास्त्र की श्रीमदमृतचन्द्राचार्यदेव विरचित तत्त्वप्रदीपिका नामक टीका में चरणानुयोगसूचक चूलिका नामक तृतीय श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।

